संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

षोडश-खण्ड
ज्योतिषशास्त्र

प्रवर प्रधान सम्पादक

स्व. पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय

प्रधान सम्पादक

प्रो. श्रीनिवास रथ

सम्पादक

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

जीवनवृत्त

प्रधान सम्पादक

श्रीनिवास रथ

'श्रीलीला'
१२, उदयन मार्ग,
उज्जैन-४५६०१०
फोनः ०७३४-२५१७३५५

श्रीनिवास रथ पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, निदेशक, कालिदास अकादेमी, उज्जैन तथा उपाध्यक्ष, महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन। कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९९० (१.११.१९३३) को पुरी (ओड़िशा) में जन्म। माताः-श्रीमती लक्ष्मी देवी, पिता-सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पं. जगन्नाथ शास्त्री।

एम.ए. (संस्कृत) का.हि.वि.वि. वाराणसी तथा साहित्याचार्य, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, (क्वींस कालेज) वाराणसी। मूलतः पारम्परिक पद्धति से व्याकरण तथा साहित्य का अध्ययन।

कविता संग्रह-'तदेव गगनं सैव धरा' तथा काव्य 'बलदेवचरितम्'। (सर्ग १-५) मेघदूत तथा उरुभगं -हिन्दी अनुवाद के अतिरिक्त अनेक आलेख प्रकाशित।

म.प्र. साहित्य परिषद, भोपाल द्वारा राजशेखर पुरस्कार- १९८५। संस्कृत के लिये राष्ट्रपति सम्मान पत्र-१९९५। संस्कृत कविता के लिये साहित्य अकादेमी पुरस्कार-१९९९।

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली द्वारा 'महामहोपाध्याय'- २००६।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ द्वारा 'विश्वभारती' पुरस्कार- २००८।

महाराष्ट्र शासन द्वारा 'महाकवि कालिदास साधना' पुरस्कार- २००८। राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति द्वारा मानद 'महामहोपाध्याय'- २००९।

सम्प्रति-स्वाध्याय, रचनात्मक लेखन, सम्पादन।
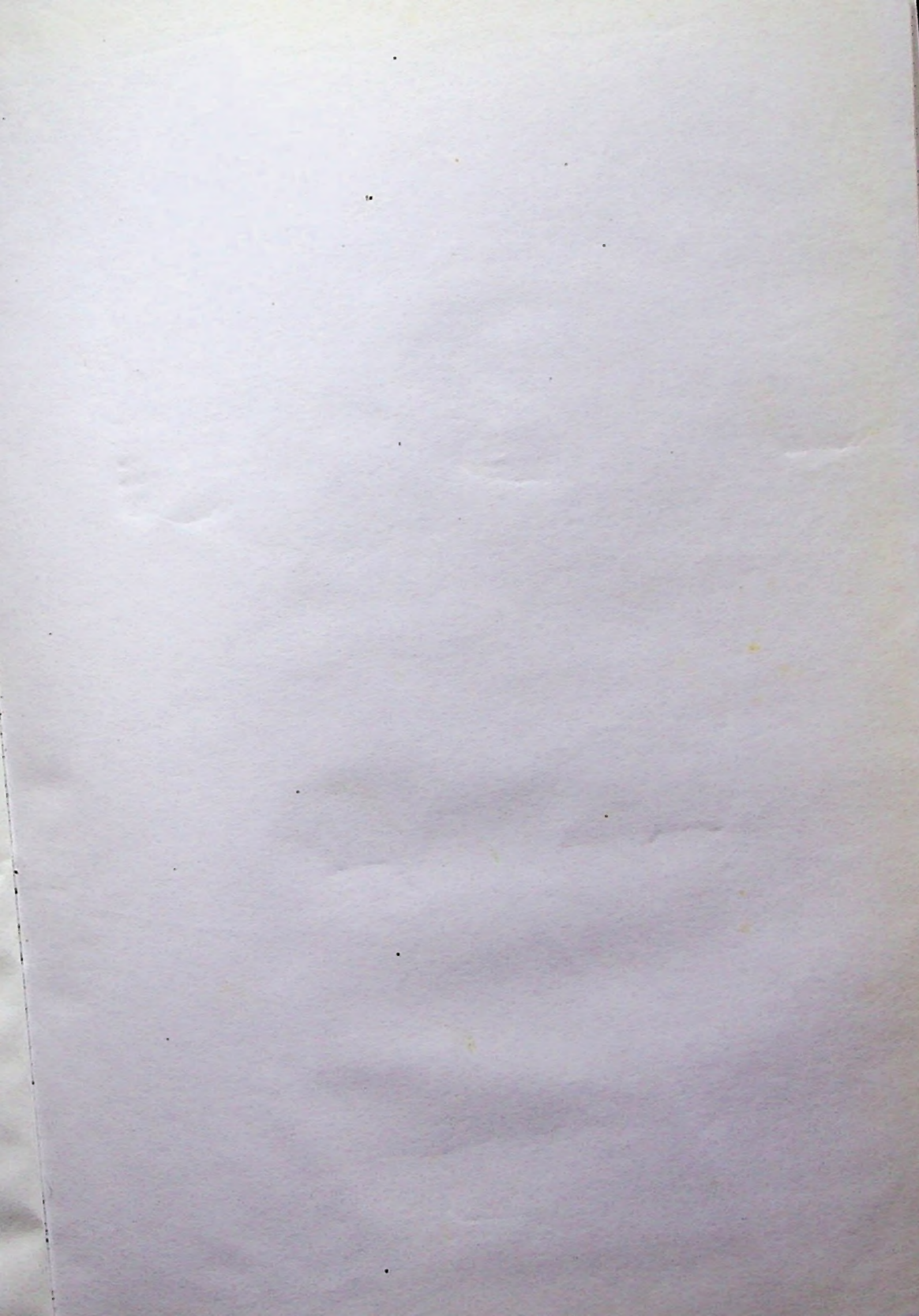
संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

षोडश-खण्ड
ज्योतिषशास्त्र

प्रवर प्रधान सम्पादक
स्व. पद्मभूषण श्री बलदेव उपाध्याय

प्रधान सम्पादक
प्रो. श्रीनिवास रथ

सम्पादक
प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

संस्कृत-वाङ्मय-बृहदितिहासं परिभाषिताष्टदशाश्वासम्।
मनसि विभाव्याकलितोपायाः श्रीयुतबलदेवोपाध्यायाः।।

प्रवर प्रधान सम्पादक

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

(संवत् १९५६-२०५६ : १८९९-१९९९ ई.)

प्रकाशकीय

ज्योतिष शास्त्र का उत्स वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है। भास्कराचार्य ने इसकी श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहा है कि-

शब्दशास्त्रं मुखं ज्यौतिषं चक्षुषी श्रोतमुक्तं निरुक्तं च कल्पः करौ।
या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिक पादपदमद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः।।

वेदांगों में ज्योतिष शास्त्र को नेत्र स्थान प्राप्त है। आचार्य वराहमिहिर के बृहत्संहिता के अनुसार ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख तीन स्कन्ध हैं-

१. सिद्धान्त २. होरा ३. संहिता। सिद्धान्त स्कन्ध में त्रुटिकाल से लेकर प्रलय तक की गणना की जाती है। कितने दिनों का महीना तथा कितने महीनों का एक वर्ष होता है आदि का विवेचन सिद्धान्त ग्रन्थों में किया गया। ग्रहलाघव जैसे ग्रन्थों का प्रणयन ग्रह गणित हेतु किया गया। होरा स्कन्ध को जातक अथवा फलित नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसके द्वारा जातक के जीवन सम्बन्धी फल कथन किया जाता है। होरा स्कन्ध के मुख्यतः पाँच भेद हैं-जातक, ताजिक, मुहूर्त, प्रश्न तथा संहिता। बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर के अनुसार गणित एवं फलित के मिश्रित रुप को संहिता ज्योतिष कहा गया।

वेदांग ज्योतिष के प्रणेता लगध, वसिष्ठ, सौर, पौलिशं, रोमक सिद्धान्त से होते हुए सूर्य सिद्धान्त तक आकर यह शास्त्र अत्यन्त स्पष्ट हो गया। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त भास्कराचार्य प्रभृति प्रमुख आचार्यों ने इसे विस्तार दिया।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा संस्कृत वाङ्मय का बृहद इतिहास के षोडश ज्योतिष शास्त्र खण्ड का प्रकाशन किया जा रहा है। इस खण्ड के लिए लेखन कार्य करने वाले उन समस्त विद्वान् लेखकों का आभार मानता हूँ, जिनके परिश्रम से ही यह ग्रन्थ अपना स्वरूप पा सका। वर्तमान सम्पादक प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने इस खण्ड के लेखन और सम्पादन में विशेष अभिरुचि लेकर इस खण्ड को पूर्ण किया है।

जिनकी प्रेरणा और साधना से इस अट्ठारह खण्डों में प्रकाश्यमान 'संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास', विद्वान् पाठकों के समक्ष आ रहा है ऐसे पूज्य स्व. बलदेव उपाध्याय जो इस ग्रन्थ-माला के प्रवर-प्रधान-सम्पादक हैं, उनके चरणों में अपने प्रणामांजलि अर्पित करता हूँ। उन्हीं की अपरोक्ष प्रेरणा से उनके प्रिय शिष्य प्रो. श्री निवासरथ जी प्रधान सम्पादक के गुरुतर दायित्व का निर्वहण कर रहे हैं। मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

विद्वान्-लेखकों, सम्पादक तथा मुद्रक से सदैव सम्पर्क बनाकर इस कार्य को पूर्णता प्रदान कराने वाले संस्थान के अधिकारियों/कर्मचारियों को भी हार्दिक शुभकामना एवं साधुवाद देता हूँ। 'शिवम् आर्टस्' के प्रबन्धक तथा उनके सहयोगियों को अमूल्य सहयोग हेतु धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में इस खण्ड के प्रकाशन में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से जुड़े सभी महानुभावों का आभारी हूँ, जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है।

गुरुपूर्णिमा सं. २०६६

विद्वत्कृपाभिलाषी
अशोक घोष
निदेशक

नैवेद्यम्

उपाध्यायाय वन्द्याय बलदेवाय धीमते।
कृष्णज्येष्ठाय सोल्लासं प्रणमाञ्जलिरर्प्यते।।

सुविदितमेव विदुषां यथाधीतिवोधाचरणप्रचारण-विधिसंवर्धिता भारतीया विद्याभ्यसनसरणिः परामृष्टाऽभूत् कपटशताचारचतुरैः वैदेशिकैः शासनाध्यक्षैः। ततश्च राजभाषेति कृत्वाऽऽङ्ग्लभाषाप्रचारपरा प्राथमिक-माध्यमिक-स्नातक-स्नातकोत्तर-क्रमनियोजिता शिक्षणपद्धतिरासूत्रिता। नवजागरणोत्साहकरम्बितमतिभिः कैश्चन भारतीयैरपि समर्थिता सती सेयमभिनवा शिक्षानीतिः सुलभावकाशा सर्वत्र कृतास्पदा चाजायत। तदनु संस्कृतविद्यासु यथामति कृतश्रमैः कैश्चित् पाश्चात्यविपश्चिद्भिः ग्रथितानां तत्तद्विषयकसाहित्येतिहासग्रन्थानां पाठ्यग्रन्थतयाध्यापनं प्रावर्तत। तेषु च तत्तदभीष्टप्रामाण्याकलनपराः नैके वैदेशिका विद्वांसः भारतीयवैदुष्यमितिहासदृष्टिविकलकिति प्रख्यापयांचक्रुः। अपरे च केचनांग्लसाम्राज्य हितरक्षणनिरताः सन्तः भारतीयसाहित्यालोचनासु प्रभूततरं कार्पण्यमेवाऽऽविष्कुर्वते स्म। तथात्वे अस्मद्गुरुचरणाः श्रीमन्तः बलदेवोपाध्यायमहोदया एव महामनसां मदनमोहनमालवीयानां, स्वातन्त्रसिद्धिमन्त्रदीक्षागुरूणां श्रीबालगंगाधरतिलकमहाभागानां, भारतोत्कर्षगीतांजलिपुलकितचेतसां श्रीरवीन्द्रनाथठाकुरमहोदयानां, सत्याग्रहग्रहिलानां श्रीमन् मोहनदासगान्धीमहाभागानां, इतरेषामपि स्वाराज्यार्जनपथिकानां स्वदेशमहिमोत्थानप्रयतनपदवीमवलम्ब्य भारतीयविद्येतिहासादिविषयेषु प्रमाणानुसन्धानपुरःसरं याथार्थ्योपदेशविधिना बहूपकृतवन्तः अस्मादृशानां छात्राणाम्। निगमादिभारतीयविद्यासु स नास्ति विषयः यो न नीतः शास्त्रदृशा प्रामाण्यववेचनपथं श्रीमदुपाध यायवर्यैः।

उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानेन सुचिरमुपकल्पितानां संस्कृतवाङ्मय-बृहदितिहासग्रन्थानां दुर्वहं निर्मितिधुरं निजायुषः द्वानवतितमे वर्षेऽपि वोढुं सोत्साहमङ्गीकृतवन्तः श्रीमदाचार्यबलदेवोपा-ध्यायवर्याः। अनुपदमेव विद्यासंख्याष्टादशभागविभक्तमुपकल्य सामान्यजनताबोधगम्यं महाग्रन्थं प्रतिभाजुषः स्वशिष्यान् तत्तत्सम्पादनकर्मणि विनियुक्तवन्तः। कतिपयैरेवाब्दैः करबाणनभोनेत्रमितवैक्रमवत्सरवसन्तपंचम्यां भूमिकालेखपुरःसरं प्रकाशतामनायि वेदसंज्ञकः प्रथमः खण्डः। तदनु चतुर्भिरेववर्षैः निजायुषः शततमाब्दप्रवेशेन समं महाग्रन्थस्यैकादशखण्डानां प्रायशः पूर्णतामधिगतवद्भिः आचार्यवर्यैः श्रीभोलाशङ्करव्याससम्पादितार्षकाव्यखण्डस्य विमर्शहृद्या भूमिका श्रीजगन्नाथपाठकसम्पादिताधुनिसंस्कृतसाहित्यखण्डस्यांजसैवालिखिता पुरोवाक् चेति लेखद्वयं युगपदलेखि ऋतुबाणनभोनेत्रमितवैक्रमवत्सर-गुरुपूर्णिमापर्वणि। तत्र चार्षकाव्यखण्ड भूमिकायां-''न खलु महाभारतं महाकाव्यं प्रत्युत इतिहासः इति प्रसङ्गेन-''नानाविधेषु प्रपंचेषु अनासक्तः सन् लोकः परमात्मज्ञानस्वरूपं मोक्षं प्राप्नुयादित्येव महाभारतस्य विद्यते मूलशिक्षा''

इति व्याख्यानपूर्वकं काव्यशास्त्रखण्ड-सम्पादकं श्रीवायुनन्दपाण्डेयमहोदयं स्वमनोगताभिराशीर्वचोभिरेवाभिषिच्य श्रीमदाचार्यवर्याः परब्रह्मसायुज्यपदवीपथिकत्वमगाहन्त।

उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानप्रयुक्तः संस्कृतवाङ्गमयबृहदितिहासमहाग्रन्थस्य अष्टादशखण्डेषु प्रकाशनोद्योगः मूलत एवं नवभिः पद्यैः "ज्ञानमहासत्रम्" इति निरूपितमभूदाचार्यचरणैः। अधुना प्रासंगिकतयौचित्यमावहति पौनःपुन्येन तदनुस्मरणम्।

ज्ञानमहासत्रम्

"संसारेष्वप्रतिमं सम्पूर्णैर्गौरवैर्जुष्टम्।
सर्वविधानैः पुष्टं प्रणमामो संस्कृतेषु साहित्यम्।।१।।

स्वातन्त्र्यानन्तरमथ तदिदं किंचिंद्विनिर्मलं ज्योतिः।
समुदेत्यन्तःसलिलं समुत्सुकं दर्शनं दातुम्।।२।।

संस्थानासंस्थया या संस्कृतसेवा सुसंदृब्धा।
उत्तरदेशविभूषातयेदमारब्धमथ महासत्रम्।।३।।

अष्टादशभागेष्वथ सुबृहत्काय-प्रकृष्टेषु।
संस्कृतसाहित्यस्था दीप्ततरा काऽपि चित्रवियदालिः।।४।।

प्रत्येकस्मिन् भागे विद्यासंख्यामहत्त्वसुख्याते।
मूर्धन्या विद्वांसः सश्रममेतन्निर्वर्तयन्त्यार्याः।।५।।

इतिहासमहाग्रन्थः सोऽयं वा कल्पनातीतः।
आद्यात्कालादधुनापर्यन्तं सर्वमामृशति।।६।।

उत्तरमुत्तरमेतत्सर्वं संस्कृतविरुद्धानाम्।
मित्रं मित्रं चैतत्सदनुष्ठानं वरेण्यानाम्।।७।।

गुरुगुरुरूपं निखिलं सहस्रशो जागरूकाणाम्।
आगामिनि सन्ताने रिक्थं गीर्वाणवाणीनाम्।।८।।

दूरस्थान् विज्ञान्प्रति सारल्यैर्वाऽथ गाम्भीर्यैः।
निखिलं संस्कृत-वाङ्मयमालोडितवैभवं जयति"।।९।।

–बलदेवोपाध्यायः।

अथ च,

तज्ज्ञान-महासत्रं
यथा तथा पूर्णतामानीयते।
गुरूपदिष्टेन पथा
मन्दमतिभिरपि तन्नियोज्यैः।।१।।

ज्यौतिषशास्त्रैतिह्यं
नामाभिज्ञैः सङ्कलितः खण्डः।
षोडशतया मितोऽयं
सानति निवेद्यतेऽत्र गुरवे ।।२।।

गुरुपूर्णिमा
सम्बत् २०६६
३/७/२०१२

श्रीनिवासरथः

अस्मदीयम्

मानव जीवन में अविरल अनुभूयमान वर्तमान प्रतिपल घनीभूत अतीत में संकलित होता है। घनीभूत अतीत में पौर्वापर्य का निर्धारण भी सुकर नहीं होता है। ज्योतषशास्त्र वेदांगों में भी परिगणित है। अनादि एवं अपौरुषेय की परिधि में अवस्थित वेदों के मन्त्रद्रष्टा, युगानुरूप मन्त्र-निधि की रक्षा के लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष के रूप में अंगों की दिशा भी निर्धारित कर रहे थे। इसी कालक्रम में मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र तथा पुराण के साथ चतुर्दश विद्याओं की संख्या का परिगणन भी सम्पन्न हुआ। अध्यात्म चिन्तन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये सुप्रसिद्ध भारतीय तपोवन तथा आश्रमों ने विश्वभर के दार्शनिक और वैज्ञानिकों को आकृष्ट किया। 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' के साथ 'सत्यं ज्ञानामनन्तं ब्रह्म' की उपासना में अग्रेसर भारतीय मनीषा, ज्ञान विज्ञान के आदान प्रदान पर किसी प्रकार की कार्पण्य बुद्धि से प्रायशः मुक्त रहती आई है। न्याय शास्त्र में शब्द को आकाश का गुण कहा गया है।

वैज्ञानिक ध्वनि और प्रकाश के गति की चर्चा करते हैं, परन्तु महर्षि वाल्मीकि ने मोरों की आवाज को पीछे छोड़ कर तीव्रतर गति से वहती पहाड़ी नदी की जलधारा को अपनी आँखों से देखा था-

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति।।
(वा.रा. ४/२८/१८)

ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में द्रष्टा और दृष्टि दोनों का महत्त्व होता है। यूं तो प्रत्येक दर्शक के लिये दृश्य जगत समान है, परन्तु उसमें कुछ विशेष तत्त्व का साक्षात्कार केवल किसी कवि या वैज्ञानिक को ही होता है। सूर्य को उगते या अस्त होते देखना सभी के लिये समान है, परन्तु इस जड़ जंगम सृष्टि में सूर्य का आत्मा के रूप में साक्षात्कार केवल मन्त्रद्रष्टा ऋषि को ही सम्भव हुआ था।

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।।
(ऋग्वेद, १/११५/१.)

ज्योतिष की वैज्ञानिकता के साथ गणित भी जुड़ा हुआ है। गणित की दृष्टि में शून्य का आकलन और शून्य में पूर्णता की अन्तर्दष्टि ही निरूपित करती है कि -

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'

हम अधुनातन जीवन में विश्व के सिकुड़ने या पूरे विश्व का एक गाँव के धरातल पर देखने की बात करते हैं परन्तु किसी मन्त्रद्रष्टा की चेतना में यह कव और कैसे अंकित हो गया था कि - यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्"- सम्पूर्ण विश्व किसी एक घौंसले के समान है।

उज्जयिनी और वाराणसी आदि कुछ नगरों की गणना विश्व के प्राचीनतम आवासीय केन्द्रों में की जाती है। महाकाल तथा विश्वनाथ की गणना द्वादश ज्योतिर्लिगं के रूप में भी होती है। उज्जयिनी में, १६८० में सम्पन्न सिंहस्थ (कुंभ) पर्व के समय स्थानीय मन्दिरों के लिये प्रकाशित विवरण के संग्रह में एक सूचना प्राप्त हुई कि आदि काल में महाकाल के शिवलिंग की स्थापना कुछ इस प्रकार की गयी थी कि सूर्योदय पर सूर्य की प्रथम तथा सूर्यास्त पर उसकी अन्तिम किरण उस पर पड़ती थी। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह सूचना नितान्त अविश्वसनीय इसलिये भी थी कि महाकाल की लिंग प्रतिमा के ऊपर भूमि की सतह पर प्रतिष्ठित प्रतिमा को ओंकारेश्वर के रूप में माना जाता है तथा महाकाल की प्रतिमा तक सूर्य की किरणों के प्रवेश का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

स्थानीय वेधशाला के अधीक्षक श्री जोशी जी के द्वारा संकलित सूचना हम को इसलिये भी विवेचनीय प्रतीत हुई कि किसी तत्सम सन्दर्भ में प्रख्यात विदुषी श्रीमती कपिला वात्स्यायन का अभिमत था कि परम्परागत सूचना अर्थहीन प्रतीत होने पर भी संग्रहणीय होती है। अतएव इस अनुश्रुति में ज्योतिष शास्त्र के कुछ ऐतिहासिक सन्दर्भ भी हमें इस प्रकार अनुस्यूत दिखने लगे, जिसकी चर्चा हमने श्री किरीट जोशी जी द्वारा महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान की ओर से दिल्ली में आयोजित ज्योतिष सम्मेलन में की थी।

शैव सम्प्रदाय पौराणिक परिवेश में साकार वृषभध्वज, चन्द्रमौलि, गंगाधर शिवशंकर की पूजा शिवलिंग के रूप में करता है। शिवपूजा में रुद्राभिषेक तथा रुद्राष्टाध्यायी का पाठ शिव आराधना को रुद्र से सम्बद्ध करते हैं। रुद्र की संख्या एकादश मानी गयी है, परन्तु इसी क्रम में आज हम बारह ज्योतिर्लिगों की गणना भी करते हैं। ज्योतिर्लिंग के साथ द्वादश की संख्या हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है। बारह राशियों पर संक्रमणशील आदित्य द्वादश गिने गये हैं। संभवतः ज्योतिर्लिंगों के पीठ मूलतः ग्रह नक्षत्रों का या सौरमण्डल के अध्ययन के लिये प्रयुक्त प्रायोगिक पीठ ही रहे हों।

लिंगमहापुराण में द्वादश ज्योतिर्लिंग की चर्चा नहीं है। पूर्वभाग के चौवनवें अध्याय से निरन्तर आठ अध्यायों में भुवनकोश के अन्तर्गत ज्योतिःसन्निवेश का वर्णन उपलब्ध है। इस विवरण में पद पद पर ज्योतिषशास्त्र के वैदिक आधार का परिचय मिलता है। ज्योतिश्चक्र में सूर्य की गति, मास, ऋतु, अयन, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारागण के साथ बारह मास के बारह सूर्य- इन्द्र, धाता, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्यमा, अंशु, विवस्वान्, त्वष्टा पर्जन्य तथा विष्णु के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं, परन्तु बारह ज्योतिर्लिगों का उल्लेख नहीं

किया गया है। शिवपुराण में भी अष्टमूर्ति के रूप में-"भूम्यम्भोऽग्निमरुद्व्योम-क्षेत्रज्ञार्कनिशाकराः" का परिचय प्राप्त होता है। लिंग महापुराण में ज्योतिः सन्निवेश की पृष्ठभूमि भी वेदांग-ज्योतिष काल के निकट प्रतीत होती है। लिंगपुराण मास गणना के लिये चैत्र, वैशाख आदि के स्थान पर मधु, माधव आदि वैदिक अभिधान ही प्रस्तुत करता है और नक्षत्रों के प्रमाण स्वरूप चक्षु, शास्त्र, जल, लेख्य तथा गणित को आधार निर्धारित करता है। हमारी दृष्टि में वेद तथा वेदांग अविभाज्य हैं। पर्जन्य सूक्त में - "संवत्सरं शशयाना" या "देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य" वेदवाणी में अन्तर्हित ज्योतिषशास्त्र के प्रायोगिक गणित के परिचायक हैं। अतएव एकादश रुद्र तथा अष्टमूर्ति शिव के साथ द्वादश ज्योतिर्लिंग की अन्विति में अन्तःसम्बन्ध विवेचनीय वन पड़ता है।

ज्योतिर्लिंग पद में ज्योतिस् ग्रह नक्षत्र का वाचक है। उज्जयिनी क्षेत्र में सुमेरु से लंका को जोड़ती देशान्तर रेखा तथा कर्क रेखा के विन्दु पर परिगणित काल पूरे भारत के लिये मानक (वर्तमान ग्रीनविच समय के समान) बन गया था। इसीलिये उज्जयिनी के ज्योतिर्लिंग को महाकाल कहा गया है। द्वादश आदित्य तथा सप्ताह के सात दिन अथवा सूर्य की सात रश्मि के गणित से चौरासी शिवलिंग मन्दिर भी उज्जैन में प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि पुराण लिंग पूंजा की मूल प्रकृति से सम्बन्ध अनेक कथानक प्रस्तुत करते हैं परन्तु वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा सूर्य, चन्द्र तथा ग्रह नक्षत्रों की गति गणना के लिये प्रयुक्त प्राचीनतम यन्त्र शंकु का अपने महत्त्व के कारण लिंग के रूप में भुवन मण्डल का नियामक होना अधिक सहज और स्वाभाविक प्रतीत होता है। यद्यपि पुराण यत्र तत्र भुवनकोश की चर्चा करते हैं, परन्तु लिंग पुराण में शुद्ध रूप से ज्योतिष शास्त्र का गणित पक्ष तथा गरुड पुराण में फलित ज्योतिष का विवरण जितना सहज है उतना अन्य पुराणों में नहीं है। वैदिक रुद्र के पास शतायु होने की औषधि है- "त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः" (ऋग्वेद-२/३३-२) परन्तु उसकी कोई प्रतिमा नहीं है। परवर्ती रूपायन में औषधीपति चन्द्र उनके भाल पर अवस्थित है। अष्टमूर्ति शिव पंचमहाभूत के साथ उनके संवलित रूप क्षेत्रज्ञ यजमान एवं सूर्य तथा चन्द्र में प्रतिष्ठित हैं। इसी गणना से सचराचर विश्व में व्याप्त प्रलयंकर शंकर लिंग रूप में उस शंकु में समाहित या प्रकट हो सकते है जिससे गणक शिव सूर्य और चन्द्र की गति में काल का आकलन करते हैं। हमारी दृष्टि में एकादश रुद्र, द्वादश ज्योतिर्लिंग तथा अष्टमूर्ति शिव की अन्विति में ज्योतिषशास्त्र का अनितरसाधारण महत्त्व है।

अस्तु। संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास के अन्तर्गत ज्योतिषशास्त्र के लिये संकलित यह षोडश खण्ड अनेकानेक बाधाओं को पार कर अन्ततः प्रकाशनोन्मुख हो सका है।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान के द्वारा प्रवर्तित बृहद् इतिहास के प्रकाशन की योजना को व्यावहारिक धरातल पर आचार्य प्रवर पद्मविभूषण स्व. पं. बलदेव उपाध्याय जी ने मूर्त रूप दिया था। प्रस्तावित अठारह खण्डों में से ग्यारह खण्डों को पूर्णता तक पहुँचाया।

सम्पादकीय के रूप में अपने आशीर्वचनों को लेखबद्ध कराते समय वे अपनी आयु के सौवें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे। तदुत्तर काल में आलेख, लेखक तथा सम्पादक सभी के समक्ष समन्वय की विषम परिस्थितियों में तीन खण्ड प्रकाशित हो गये। सहयोग समन्वय के लिये संस्थान के वर्तमान निदेशक श्री अशोक घोष संस्थान की सार्थक प्रगति के प्रति निरन्तर जागरुक प्रहरी हैं। सभी सहयोगी कर्मचारी साधुवाद के पात्र हैं। गणित एवं अंकनिर्देशन के साथ रेखा चित्र आदि मुद्रण के सूक्ष्म विन्दुओं के संयोजन में 'शिवम आर्टस्' के प्रबन्धक तथा उनके सहयोगी गण के प्रति धन्यवाद अर्पित करते हुए संपूर्ण योजना के प्रवर प्रधान सम्पादक गुरुवार आचार्य बलदेव उपाध्याय जी के स्नेहसिक्त आशीष के बल पर निवेदन है कि-

श्रीरामचन्द्रपाण्डेयदृष्टिपूतो यथायथम्।
ज्यौतिषैतिह्य-खण्डोऽयं सन्धत्तां सुधियां मुदम्।। इतिशम्

-श्रीनिवास रथ

गुरुपूर्णिमा
संवत् २०६८
३/७/२०१२

किञ्चिन्निवेदनम्

उत्तर पद्रेश संस्कृत संस्थान द्वारा प्रायोजित महती परियोजना "संस्कृत वाङ्मय का वृहद इतिहास" के सोलहवें खण्ड, जो ज्योतिषशास्त्र पर आधारित है, को प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। यह खण्ड शास्त्रीय एवं लौकिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। वेदांगों में ज्योतिष को शीर्षस्थ स्थान दिया गया है। अतः इस महान यज्ञ की पूर्णता के लिए भी इसकी सम्पूर्ति आवश्यक थी। आचार्य श्री रथ जी के कुशल नेतृत्व तथा विद्वानों के सहयोग से मैं इस कार्य को सम्पन्न कर पाया।

प्रस्तुत खण्ड में ज्योतिष के सिद्धान्त-संहिता-होरा इन तीनों स्कन्धों के प्रमुख विषयों का समावेश किया गया है। ज्योतिषशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण है। इसके सभी विषयों को एक स्थान पर एक साथ प्रस्तुत करना अत्यन्त दुष्कर है, फिर भी यथा सम्भव त्रिस्कन्ध ज्योतिष के समग्र स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

सावधानी के बाद भी त्रुटियाँ सम्भव है।

इस खण्ड को पूर्णता की ओर लाने में सर्वाधिक प्रेरणा के लिए प्रधान सम्पादक विद्वन्मूर्धन्य प्रो. श्रीनिवास रथ जी के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इनके सहज स्नेह और सत्यसंकल्प से मुझे कार्य सम्पादन हेतु प्रबल उत्साह प्राप्त हुआ। साथ ही इसमें योगदान देने वाले विद्वान लेखकों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सक्रिय सहयोग से यह कार्य पूर्णता को प्राप्त होसका।

इसी लम्बी यात्रा में हमने कुछ महान् विभूतियों को भी खोया है। इस अवसर पर उन्हें स्मरण करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। सर्वप्रथम महा मनीषी पद्मविभूषण स्व. पं. बलदेव उपाध्याय का स्मरण करते हुए उनके चरणों में श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ। उन्होंने ने ही इस कार्य के लिए मुझे प्रोत्साहित किया था। अनन्तर पद्मभूषण पं. विद्यानिवास मिश्र जी के प्रति आदरभाव व्यक्त हुए श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ। हमें समय समय पर इन महा मनीषियों से कार्य करने की प्रेरणा मिलती रहती थी। इसी क्रम में मेरे मित्र एवं सक्रिय लेखक स्व. चौ. श्रीनारायणसिंह के प्रति भी श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ। मुझे विश्वास है इस खण्ड की सम्पूर्ति से इन विभूतियों की आत्मायें अवश्य तृप्त होंगी।

-रामचन्द्र पाण्डेय

भूमिका

भारतीय ज्योतिषशास्त्र वेदांग के साथ-साथ जीवन पद्धति के रूप में भी माना जाता है। मनुष्य के जीवन में ज्योतिष की उपयोगिता पग-पग पर दिखलाई देती है। उदाहरण के लिए दिन-रात, मास, वर्ष आदि के रूप में काल की गति निरन्तर जीवन के साथ-साथ रहती है।

प्राणी किसी भी देश का हो किसी भी स्थान का हो, किसी भी धर्म या जाति का हो काल की सीमा में आबद्ध है। काल के नियामक प्रमुख रूप से सूर्य और चन्द्रमा हैं। इनकी स्थिति एवं गति का ज्ञान करने वाला शास्त्र ज्योतिषशास्त्र है। इसीलिए इसे कालविधानशास्त्र भी कहते हैं। भारतीय ज्योतिशास्त्र की प्रमुख विशेषता यह रही है कि यह गणितागत मान एवं वेध द्वारा तदनुरूप ग्रहों की स्थिति को देख कर ही उनके स्पष्टमान (भोगांश) एवं गति का निरूपण करता है। यह किसी अन्य संसाधनों का मुखपेक्षी नहीं रहा है। इसीलिए "कमलाकर भट्ट" ने निःसंकोच यह घोषणा की थी यदि प्रत्यक्ष विरुद्ध बात मुनि भी कहता है तो उसका इस शास्त्र में कोई महत्व नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष विरुद्ध परिणाम ज्योतिष को स्वीकार्य नहीं है।[1] इसीलिए ज्योतिष को प्रत्यक्ष शास्त्र भी कहा जाता है। यहां तक की अन्य शास्त्रों में ईश्वर की सत्ता में भी विवाद है किन्तु ज्योतिष में विवाद का अवसर नहीं है। यदि सूर्योदय होना है तो सूर्योदय होगा ही और उसका अनुभव एवं प्रत्यक्षीकरण विश्व के समस्त लोग करेगें। किसी को यह समझाने की अथवा प्रमाण देने की आवश्यकता नही होगी। यदि पूर्णिमान्त मास की गणना करते है तो चन्द्रमा आकाश में उपस्थित होकर स्वयं बतायेगा आज पूर्णिमा है और आज मासान्त है। इसी प्रकार अमान्त मास में भी चन्द्रमा आकाश से अदृश्य होकर अमावस्या की पुष्टि करता है। चन्द्रमा की कलाओं को देख कर हम एक-एक चान्द्रदिन (तिथि) का ज्ञान कर सकते हैं। यह जीता जागता प्राकृतिक कैलेन्डर है। अगर तिथियों के ज्ञान में किसी प्रकार की गणितीय त्रुटि आ जाय तो रात्रि में चन्द्र दर्शन से इस त्रुटि का ज्ञान हो जायेगा। प्राक्वैदिककाल में मनुष्य को सूर्य-चन्द्रमा और तारों का उनकी आवश्यकताओं के अनुसार ही ज्ञान हुआ क्योंकि अधिकांश प्राणियों को सूर्य के साथ-साथ दिन होने की प्रतीक्षा रहती थी, तथा रात्रि में चन्द्रमा के उदय होने की प्रतीक्षा होती थी। धीरे-धीरे लोगों में सूर्य के उदय होने एवं अस्त होने तथा चन्द्रमा के उदय होने एवं अस्त होने का स्थूल ज्ञान होने लगा। इसी प्रकार चन्द्रमा की कलाओं के क्रमशः ह्रास

---

१. सुयुक्ता न मुन्युक्तिरप्यत्रशास्त्रे, भवेत् कार्यवर्यस्य या दृग्विरुद्धा।। सि.त.वि.

एवं विकास क्रम को एक काल की ईकाई मान ली गयी, जिसको बाद में मास शब्द से जाना गया। इसी क्रम में सूर्य के उदय स्थल को क्रमशः दक्षिण की तरफ बढ़ता हुआ पुनः वापस आकर उत्तर की तरफ बढ़ता हुआ देखा गया तथा इसके साथ-साथ वातावरण में परिवर्तन का भी अनुभव किया गया। शनैः-शनैः एक निश्चित अवधि में सूर्य का उत्तर से दक्षिण तथा दक्षिण से उत्तर आने का एक निश्चित काल चक्र ज्ञात हो गया। इस काल चक्र को कालान्तर में अयन, गोल तथा इनके संयुक्त रूप को वर्ष संज्ञा दी गयी। इस प्रकार काल की अवधारण मानव मस्तिष्क में उद्भूत हुई, तथा शनैः-शनैः इसका विकास होता गया। काल की उक्त अवधारणाओं से यह स्पष्ट है कि कालचक्र शाश्वत है तथा जगत की उत्पत्ति और विनाश कालाधीन है।[1] ज्येतिष कालचक्र का निरूपण प्रकृति के साथ पूर्णतः सन्तुलन रखते हुये करता है। क्योंकि प्रकृति ने ही काल की सत्ता से परिचित कराया है। प्रकृति का भी नियमन करने वाल भगवान भास्कर हैं। इसीलिए इन्हें सृष्टि का कारक कहा गया है।[2]

ज्योतिषशास्त्र के समग्र स्वरूप को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करना होगा। क्योंकि ज्योतिषशास्त्र सभी (छः) वेदांगों में शीर्षस्थ है।[3] इसलिए इसके विकास क्रम को हम प्रमुख विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. वैदिक काल, २. वेदांग काल एवं ३. सिद्धान्त काल

वैदिक काल-सर्वविदित है। भारतीय वाङ्मय में सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक साहित्य वेद हैं। वेदों में सृष्ट्यारम्भ से लेकर काल-विभाजन तक, पृथ्वी से अन्तरिक्ष तक अनेक प्राकृतिक परिवर्तनों का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। इसीलिए इसे वेदविज्ञान भी कहा जाता है। सृष्टि की रचना आज भी रहस्य बनी हुई है। वैदिक काल में भी यह विषय रहस्यमय था फिर भी वेद ने सृष्ट्यारम्भ के विषय में कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। सृष्टिक्रम को बतलाते हुये ऋक् संहिता में कहा गया है-'ऋतं च सत्यं चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायत' (ऋ. सं.१०.१९०) किन्तु इस प्रसिद्ध उक्ति में वर्णित क्रम से पूर्व भी कुछ अंश रहा होगा ऐसा सकेंत मिलता है। उस निहित आशय को सुस्पष्ट करते हुये तैत्तिरीयोपनिषत् में कहा गया है-

---

१. कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।

२. नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठायोनिरेव च चन्द्रऋक्षग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः।

३. वेदस्य निर्मलं चक्षुः ज्योतिःशास्त्रमकल्मषम्।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम् अन्नात् पुरुषः।।" तैत्तिरीयोपनिषत् (२/१)

अर्थात सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की, जल से पृथ्वी की, पृथ्वी से ओषधि की, ओषधी से अन्न की तथा अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुयी। भारतीय दर्शनशास्त्र भी इसी क्रम को स्वीकार करता है।

यह क्रम बतलाने के बाद उपनिषद् कहता है[1] कि सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश का क्रम अनवरत चलता रहता है। एक बार सृष्टि सत्ता में आने के बाद नियत कालान्तर में विलीन हो जाती है। पुनः नवीन सृष्टि की रचना होती है किन्तु एक सृष्टि के अवसान तथा दूसरी सृष्टि के निर्माण के मध्य अर्थात् नव सृष्टि के पूर्व 'सत्' नहीं था, असत् नहीं था। इसी प्रकार आकाश-वायु-पृथ्वी, मृत्यु, अमृतत्व, दिन-रात्रि, सूर्य और चन्द्र कुछ भी नहीं था। इन मूलभूत प्रश्नों को प्रस्तुत करने के बाद पुनः प्रश्न उठता है 'को अद्धा वेद' इस सृष्टि प्रक्रिया को वस्तुतः कौन जानता है। किसलिए इसकी सृष्टि हुई? किससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई तथा पृथ्वी पर वनस्पतियों की उत्पत्ति किससे किस प्रकार हुई आदि अनेक प्रश्नों को उठाकर एक वैज्ञानिक उदार दृष्टि का परिचय दिया है। अन्त में चुनौती पूर्ण शब्दों में कहा है-**"इह ब्रवीतु त उ तच्चिकेतत्"**।

अर्थात् उक्त प्रश्नों को जानने वाला कोई है तो मुझे बतावे। इसका स्पष्ट आशय यही है कि इनका उत्तर देने वाला कोई नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि सृष्टि का रहस्य पहले भी अनसुलझा था तथा आज भी रहस्य ही बना हुआ है। विगत वर्षों से अनेक देशों के वैज्ञानिक भूमिगत प्रयोगशाला में सृष्टि के रहस्य को ज्ञात करने हेतु प्रयत्नशील हैं। वे लोग कृत्रिम विस्फोट से महाविस्फोट कालीन परिस्थितियों को जानने का प्रयास कर रहे हैं। प्रयोग की सफलता कालाधीन है। यदि कोई निष्कर्ष निकल सका तो निःसन्देह यह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

ब्रह्माण्ड

वेदों में पृथ्वी-अन्तरिक्ष और द्यौः। यही विराट पुरुष का स्वरूप है, जैसा कि इस ऋचा से व्यक्त होता है-

"नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत पद्भ्यां भूमिः।"[2]

---

१. तै.ब्रा. २/८/६

२. ऋ.सं. १०.९०.१४

पुरुष शरीर में पैर नीचे, नाभि मध्य में तथा सिर सबसे ऊपर होता है। इसी प्रतीक द्वारा ब्रह्माण्ड के तीनों विभागों को दर्शाया गया है। उक्त वर्णन से दो तथ्य प्रकाश में आते हैं-१. पृथ्वी का निराधारत्व, २. भूकेन्द्रिक ब्रह्माण्ड की परिकल्पना।

अन्तरिक्ष में कौन सा स्थान नीचे कौन सा ऊपर है यह निर्णय सम्भव नहीं है। ऊँचाई एवं नीचाई का ज्ञान किसी पिण्ड के सापेक्ष ही सम्भव हो पाता है। पृथ्वी को पैरों में सबसे नीचे मान लेने से यह स्पष्ट हो जा रहा है कि किसी भी तरफ से देखा जाय तो पृथ्वी वासियों के लिए पृथ्वी नीचे आयेगी, उससे ऊपर अन्तरिक्ष (सभी दिशाओं में) तथा अन्तरिक्ष से ऊपर द्यौ की स्थिति है। जब पृथ्वी के चतुर्दिक अन्तरिक्ष है तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी आकाश में निराधार अन्य ग्रह पिण्डों की भाँति स्थित है। इसी एक दृष्टि से यह भी सिद्ध होता है कि पृथ्वी वासियों ने अपने स्थान (पृथ्वी) को ही केन्द्र मान कर गणना करना प्रारम्भ किया। यही परम्परा आगे भी चलती रही। ग्रहों की कक्षाओं के क्रम निर्धारण में भी भूकेन्द्रिक ग्रहकक्षाओं का ग्रहण किया गया।

पृथ्वी से ऊपर का आकाश जहाँ पक्षियाँ उड़ती हैं, विद्युत और मेघों का संचरण होता हैं तथा मेघों को भ्रमण कराने वाली वायु का भ्रमण होता है, ब्रह्माण्ड का वह भाग अन्तरिक्ष कहा जाता है। सूर्य और चन्द्र तथा नक्षत्रों की स्थिति द्युलोक में होती है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के तीन भागों की कल्पना की गई। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में ब्रह्माण्ड के विभागों को परिभाषित करते हुये कहा गया है-

"द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठितान्तरिक्षि पृथिव्याम्।।" ऐ.ब्रा. ११.६

अर्थात पृथ्वी और द्यौ के बीच अन्तरिक्ष है। इससे ब्रह्माण्ड के तीनों विभागों का ऊर्ध्व-उर्ध्व क्रम से स्पष्ट विभाजन हो जाता है।

अर्थात पृथ्वी के ऊपर या पृथ्वी से ऊपर चारों अन्तरिक्ष के ऊपर चारों तरफ द्यौः प्रतिष्ठित है।

पृथ्वी

वैदिककाल में ही पृथ्वी के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया था। वृत्र की कथा के निम्नलिखित प्रसंग से पृथ्वी का गोलत्व और निराधारत्व दोनों ही व्यक्त हो जाता है।

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वमानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण।।[1]

अर्थात वृत्र के सैनिक, जो स्वर्ण अलंकारों से सुशोभित थे, पृथ्वी की परिधि के चारों ओर क्रोध में दौड़ते हुये भी इन्द्र को परास्त नहीं कर पाये। यहाँ पृथ्वी की परिधि का उल्लेख उसके गोलत्व को तथा चारों तरफ दौड़ना उसके निराधारत्व को प्रतिपादित कर रहा है।

इसी प्रकार सूर्य के उदय एवं अस्त का वर्णन करते हुये कहा है कि सूर्य ने तो कभी अस्त होता है न कभी उदय होता है। दिन में (प्रातः से सायं तक) सूर्य सीधा भ्रमण करता है तथा रात्रि में अपने को विपरीत दिशा में घुमाता है।[2] इसका स्पष्ट आशय है कि सूर्य रात्रि में पृथ्वी के दूसरे भाग में विपरीत भ्रमण करता हुआ पुनः उसी उदय क्षितिज पर आता है।

यदि यहाँ सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सूर्य न कभी अस्त होता है न उदय होता है इससे यही सिद्ध होता है कि सूर्य अपने स्थान पर ही रहता है। अपने स्थान पर रहते हुये ही वह पृथ्वी पर दिन और रात्रि को उत्पन्न करता है। अर्थात् पृथ्वी के स्थान विशेष ही सूर्य के सम्मुख जाकर दिन तथा विपरीत दिशा में जाकर रात्रि की स्थिति को उत्पन्न करते है।

सूर्य

वैदिक साहित्य में सूर्य का सर्वोच्च स्थान है। समस्त भुवनों की प्रतिष्ठा सूर्याश्रित ही हैं। (विश्वा भुवनानि तस्थुः)[3] इसी को आधार मान पुराणों में सूर्य को सृष्टिकर्त्ता कहा गया है। भगवान व्यास ने लिखा है-

नक्षत्र-ग्रह-सोमानां प्रतिष्ठायोनिरेव च।
चन्द्रऋक्षग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः।।[4]

---

१. ऋ. सं. १.३३.८
२. स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति। मन्यन्तेह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्ते रात्रिमेवा....। कुरुते रात्रिं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्नोचति।। ऐ.ब्रा. १४/६।
३. ऋ.सं. १/१६४/२०
४. मत्स्य पु. १२७.२६

सूर्य के एक पहिये वाले रथ में सात घोड़े हैं। "सप्तयुंजन्ति रथमेकचक्रम्"। सूर्य के सात घोड़ों की चर्चा पुराणों में भी आती है जिसका अर्थ कहीं-कहीं अश्व परक किया गया है तथा घोड़ों के सात नामों की चर्चा की गई हैं। किन्तु सूर्य की सात रश्मियों को ही सात घोड़े के रूप में कहा गया है। जिसका स्पष्ट उल्लेख कूर्म पुराण में किया गया है-

सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्मा तथैव च। विश्वव्यचा पुनश्चान्यः संयद्वसुरतः परः अर्वावसुरिति ख्यातः सुराडन्यः प्रकीर्तितः।[1]

सूर्य की सात रश्मियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-सुषुम्ना, हरिकेश, विश्वकर्मा, विश्वव्यचा, संयद्वसु, अर्वावसु तथा सुराट्। इसी आधार पर सूर्य को सप्तरश्मि अथवा सप्ताश्व कहा जाता है। इसी क्रम में इन रश्मियों के सहस्र उपविभागों को भी बतलाया गया है। अर्थात् प्रत्येक रश्मि के तीन उपविभाग है यथा-वृष्टि सर्जना नाडी (अमृता संज्ञक), घर्म सर्जना नाडी (शुक्रा संज्ञक), हिम सर्जना नाडी (चन्द्रा संज्ञक)।

इन तीनों उपविभागों के भी उपविभाग हैं वृष्टिसर्जना नाडी में १००-१०० रश्मियों के वन्दना, याज्या, केतना, भूतना चार उप विभाग, घर्म सर्जना के ककुभ, गौ, विश्वभृत नामक १००-१०० रश्मियों के तीन, तथा हिम सर्जना के मेष्य, पौष्य और ह्लादिनी नामक १००-१०० रश्मियों के तीन कुल ३०० रश्मियों के उप विभाग है। उन सब रश्मियों की संख्या १००० होती है। इस तरह सूर्य के प्रत्येक रश्मि में १००० उपरश्मियाँ होती है इसीलिए सूर्य को सहस्र रश्मि भी कहा जाता है।

सूर्य के कारण ही आकाश में वायु का संचरण होता है। निम्नलिखित ऋचा इस आशय को व्यक्त करती है-**"भूयिष्ठे पवमानः पवते सवितृ प्रसूतो ह्येष एतत्पवते।।"**[2]

उक्त आधारों पर स्पष्ट रूप से यह परिलक्षित होता है कि वैदिक काल में भुवन संस्था के विषय में अनेक तथ्यों पर गम्भीरता पूर्वक विवेचन किया जा चुका था। सृष्टि के साथ-साथ ज्योतिषशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय काल भी है। अतः काल विचार पर विहंगम दृष्टिपात करना आवश्यक है। वैदिक विज्ञान में सूर्य चन्द्रमा की गतियों के आधार पर चन्द्र कलाओं का ह्रास वृद्धि क्रम को देखते हुए यह ज्ञान कर लिया गया था कि सूर्य के समीप जाने (युति) से चन्द्रकलाओं को ह्रास तथा सूर्य से परमान्तर होने पर चन्द्रमा का पूर्ण प्रकाशित भाग पृथ्वी के समक्ष हो जाता है। अमान्त से पूर्णिमान्त के बीच

---

१. कूर्म पु. १.४१.३-४

२. ऐ.ब्रा. २/७

चन्द्रमा के प्रकाशित भाग में वृद्धि होती है उसे कला कहते हैं प्रत्येक कला को एक तिथि की संज्ञा दी गयी। इसलिए अमा के बाद प्रतिपदा से लेकर एक-एक कला की वृद्धि करते हुए पन्द्रहवें दिन पूर्णिमा, तथा पूर्णिमा के बाद क्रमशः एक-एक कला का ह्रास करते हुए पन्द्रहवें दिन पुनः अमावस्या तिथि आ जाती है। इस प्रकार तीस दिनों का एक चक्र चन्द्रमा की कलाओं के ह्रास वृद्धि का ज्ञात हो गया तथा अमान्त से अमान्त तक एक चान्द्रमास की कल्पना कर ली गयी। इसे गणितीय सीमा में बांधते हुए आचार्यों ने एक नियम बनाया कि सूर्य और चन्द्रमा का जब अन्तर १२ अंश तक होगा तो एक तिथि होगी। ३० तिथियों का एक मास होगा। इसके अनन्तर सूर्य के नक्षत्रक्रम के (प्रत्येक नक्षत्रों में) भ्रमण काल में सूर्य और चन्द्रमा की युति १२ बार देखी गयी तथा इसे १२ मास की ईकाइयों में आबद्ध किया गया। अर्थात् दो अमान्तों के मध्यवर्ती काल को एक मास कहा गया तथा उनके क्रमशः मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस्, तपस्य नाम रखे गये। बाद में नक्षत्रों के आधार पर नाम करण किया गया। मास के मध्य में अर्थात् पूर्णिमा तिथि को चन्द्र की स्थिति जिस नक्षत्र में देखी गयी उसी नक्षत्र के नाम से उस मास का नामकरण किया गया जैसे-पूर्णिमा के दिन चित्रा नक्षत्र होने से चैत्र मास, विशाखा नक्षत्र में पूर्णिमा होने से वैशाख मास, ज्येष्ठा नक्षत्र में पूर्णिमा होने से ज्येष्ठ मास आदि। कालान्तर (वेदोत्तर काल) में गणना में सरलता को देखते हुए आकाश में नक्षत्र चक्र (क्रान्ति वृत्त) को भी ३०-३० अंशों के मान से १२ भागों में विभक्त किया गया। प्रत्येक भाग को राशि संज्ञा दी गयी। नक्षत्रानुसार सूर्य के गमन को 'चार' तथा राशि अनुसार सूर्य के गमन को संक्रान्ति की संज्ञा दी गई। यह देखा गया कि दो अमावस्याओं के बीच में सूर्य का राशि परिवर्तन (संक्रान्ति) प्रायः हो जाती है। तथा यह भी देखा गया कि तीन वर्ष के बाद किसी न किसी दो अमावस्याओं के बीच सूर्य का राशि संक्रमण नहीं होता है। इस परिस्थिति में जहाँ संक्रमण नहीं होता उससे सम्बन्धित मास को अधिमास संज्ञा दी गयी, तथा जिन दो अमान्तों के बीच दो बार सूर्य का संक्रमण हो गया उस मास को क्षय मास की संज्ञा दी गयी। अधिमास की तरह क्षयमास की कोई निश्चित अवधि नहीं है, इन अधिमासों तथा क्षयमासों के कारण सूर्य से सम्बन्धित (सौरमास) मास, तथा चन्द्रमा से सम्बन्धित (चान्द्रमास) मासों को स्वाभाविक रूप से सन्तुलन बना रहता है। यद्यपि राशियों की चर्चा वेदों में नहीं है फिर भी अधिमासों का स्पष्ट उल्लेख है। वैदिक काल में सौरवर्ष से पाँच वर्षो की एक ईकाई पंच संवत्सर नाम से मानी गयी जिसे पंच संवत्सरात्मक युग कहा जाता हैं। इनके नाम भी प्रसंगानुसार वेदों में उपलब्ध है। यथा संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, तथा इद्वत्सर।

वैदिक काल में द्वादश मासात्मक वर्ष के लिए वर्ष शब्द का प्रयोग न कर प्रायः ऋतुओं के नामों का प्रयोग किया गया है, यथा-**"जीवेम शरदः शतम्"** अर्थात् सौ शरद ऋतुओं तक जीयें। ब्राह्मणग्रन्थों में वर्ष के लिए हायन शब्द का भी प्रयोग मिलता है। तथा संहिताओं में कहीं-कहीं समा शब्द का प्रयोग मिलता है। हायन की अपेक्षा समा शब्द का संहिताओं में कहीं-कही समा शब्द का प्रयोग मिलता है। हायन की अपेक्षा समा शब्द का प्रयोग अधिक प्रामाणिक तथा अधिक प्रचलित रहा हैं। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि वैदिक काल में वर्ष की गणना किस मान से की गयी है। मासों में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि दर्श, पौर्णमास का विचार पग-पग पर वेदों में आता है इसलिए निःसन्देह मासों की गणना चान्द्रमास से की गयी है। ऋक्संहिता के मन्त्र **"वेदमासोधृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदा य उपजायते"** (ऋ.सं. १/२५/८) का अर्थ करते हुए कहा गया है कि वरुण बारह महिनों में तथा इन महिनों के पास वाले (मास) में उत्पन्न समस्त प्राणियों को जानता है। यहाँ बारह महिनों के पास उत्पन्न होने वाले (मास) से अधिमास का संकेत मिलता है। अर्थात् उस समय अधिमास का ज्ञान हो चुका था जिसकी पुष्टि तैत्तरीय संहिता के इस मन्त्र से होती है-**"मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसि सँसर्पो हस्पत्यायत्वा।।"** इस मन्त्र में संसर्प और अंहस्पति ये दोनों अधिमास वाचक हैं, कुछ आचार्यों ने संसर्प को अधिमास तथा अंहस्पति को क्षयमास के रूप में परिभाषित किया है। बाद में सिद्धान्तकाल में इसकी सुस्पष्ट व्याख्या इस रूप में कि गयी कि जिस वर्ष में क्षयमास होता है उस वर्ष दो अधिमास होते हैं।[1] एक अधिमास क्षयमास के पूर्व होता है दूसरा क्षयमास के बाद होता है। पूर्ववर्ति अधिमास को संसर्प तथा उत्तरवर्ती अधिमास को अंहस्पति कहा गया है। एक वर्ष में ३६० दिनों की कल्पना अनेक स्थलों में पायी जाती है। यथा-**तस्य त्रीणि च शतानि षष्टिश्च स्त्रोत्रियाश्तावती संवत्सरस्य रात्रयः।** (तै.सं. ७/५/१ य भा.ज्यो. पृ. ४२)। वाजसनेय संहिता में लिखा है-**संसर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा, मलिम्लुचाय स्वाहा, दिक्पतये स्वाहा** (वा.स. सं.-२२/३० य भा.ज्यो. पृ. ४२)। के अगले मन्त्र में सभी मासों के साथ "अंहस्यतये स्वाहा" (वा.सं. २२/३१/पृ. ४२) इससे ज्ञात होता है कि संसर्प अंहस्पति और मलिम्लुच तीन शब्द अधिमास के अर्थ में प्रयुक्त होते रहे। शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने यहाँ आशंका व्यक्त की है सम्भव है कि इन तीनों के अर्थ भिन्न-भिन्न है किन्तु इस सन्देह के निवारण में कोई विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। आज भी व्यवहार में ये तीनों शब्द अधिमास के ही अर्थ में प्रयुक्त

---

१. क्षयः कार्तिकादित्रये नान्यतः स्यात्। तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयं च।। सि.श.म.अ. २

होते है। पुराणों में भी मलिम्लुच शव्द अधिमास के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। **"रविणा लंघितों मासचान्द्रःख्यातो मलिम्लुचः"** अर्थात् सूर्य जिस मास का अतिक्रमण कर जाता है वह मास (अधिमास) मलिम्लुच मास होता है। जैसा कि सिद्धान्त ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कहा गया है **"असंक्रान्तिमासोऽधिमासः, द्विसंक्रान्तिमासः क्षयाख्यः कदाचित्।"**[1] इस प्रकार अधिमासों के उल्लेख से यह ज्ञात हो जाता हे कि वैदिककाल में वर्ष की गणना सौरमान से तथा मास की गणना चान्द्रमान से होती थी, परन्तु दिन की गणना सूर्योदय से ही होती थी। दो सूर्योदय के मध्यकाल को एक अहोरात्र कहा जाता था। एक अहोरात्र में एक सावन दिन की मान्यता थी। सूर्योदय से यागादि (सवन) की प्रवृत्ति होने से इस दिन को सावन दिन कहा गया।

वेदाङ्ग ज्योतिष-

वेदांगज्योतिष के अभ्युदय काल को वेदांगकाल के नाम से जाना जाता है। वेदांगज्योतिष नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध है। १. ऋक् ज्योतिष, २. याजुष ज्योतिष, ३. अथर्व ज्योतिष। सामान्यतया वेदांग ज्योतिष के कर्त्ता महात्मा लगध माने जाते है। इसका आधार ऋग्वेद ज्योतिष के मंगलाचरण का दूसरा श्लोक है। जो इस प्रकार है-

कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।।

इस पद्य से यह ज्ञात होता है कि कालविधान शास्त्र को महात्मा लगध ने बनाया किन्तु वेदांग ग्रन्थ की रचना उनके किसी शिष्य या अनुयायी ने की होगी। इसकी पुष्टि इस आधार पर भी हो सकती है कि यजुर्वेद ज्योतिष में, जिस पर सोमाक की टीका है, लिखा कि है **"इति शेषकृतं वेदांगज्योतिषं समाप्तम्"**-अर्थात् लगध द्वारा प्राप्त ज्ञान को किसी शेष नामक आचार्य ने लिपिबद्ध किया होगा। भाष्य की समाप्ति पर भी सोमाकर ने पुनः लिखा है-

सोमाकरो वेदविदुक्तकान्तप्रातिभज्ञानागमभावबुद्धिः।
ज्योतिःशास्त्रानाकुलकेन संसा जिस्वात् सर्वमात्मनां प्रव्रजिष्यन्।।
इति शेषकृतं ज्योतिःशास्त्रभाष्यं समाप्तम्।

---

१. सि. शिरोमणौ-भास्करः (सि.शि.म.१)

वेदांग ज्योतिष के सन्दर्भ में अनेक तथ्य अप्रकाशित हैं। सर्वप्रथम सोमाकार ने इन्हें प्रकाश में लाने का प्रयास किया। यद्यपि सभी श्लोकों की विशेष कर गणितीय अंशों की व्याख्या नहीं कर सके। सन् १८७६ में डा. थीबो ने भी प्रयास किया तथा सोमाकर की व्याख्या के अतिरिक्त मात्र ६ श्लोको की ही व्याख्या कर पाये। सन् १८८५ में जर्नादन बाला जी मोडक ने भी दो तीन श्लोकों की व्याख्या करते हुये ऋग्वेद ज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष को मराठी भाषा में अनुवाद सहित मुद्रित कराया। शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी का कहना है कि लगभग सभी ४६ श्लोकों की व्याख्या कर ली है। सन् २००५ में आचार्य शिवराज कौण्डिन्न्यायन ने विस्तृत व्याख्यान के साथ वेदांग ज्योतिष का प्रकाशन किया।

उपलब्ध संस्करणों के आधार पर ऋग्वेद ज्योतिष में कुल ३६ श्लोक है तथा यजुर्वेद ज्योतिष में कुल ४४ श्लोक हैं। इनके ३० श्लोक ऋग्वेद ज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष दोनों में समान हैं। अथर्वण ज्योतिष इन दोनों से सर्वथा भिन्न है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इनके रचियता लगध को लगड़, लगडाचार्य, लंगढ आदि नामों से चिन्हित किया है। प्रो. बेवर ने लगड़ को 'लाट' से जोड़ते हुये सम्भावना वयक्त की है कि यदि लगड़ "लाटदेव" होंगे तो वेदांग ज्योतिष का काल इसवी सन् पाँचवी शताब्दी होगा। परन्तु यह वक्तव्य नितान्त भ्रामक है।

वेदाङ्ग ज्योतिष

वेदांग ज्योतिष में काल को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। यही कारण है कि ग्रन्थारम्भ करते समय काल की इकाइयों को प्रणाम किया गया है-

पंचसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
दिनर्त्वयनमासांगं प्रणम्य शिरसा शुचिः।।११।।
प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ।।२।।

अर्थात् पंचसंवत्सरात्मक युगाध्यक्ष प्रजापति जिनके दिन-ऋतु-अयन और मास अंगभूत है, उन्हें प्रणाम कर शुचिता के साथ काल को तथा सरस्वती को प्रणाम कर लगध द्वारा प्रतिपादित काल ज्ञान को कहूँगा। इस प्रकार काल को प्रणाम कर सर्वप्रथम काल का ही विवेचन किया है।

पंचसंवत्सरात्मक युगारम्भ का उल्लेख करते हुये कहा गया है-

माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्णसमापिनः।
युगस्य पंचवर्षस्य कालज्ञानं प्रचक्षते।।५।।

अर्थात् माघमास के शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ कर पौषकृष्ण अमावस्या को समाप्त होने वाले वर्षों के प्रमाण से पंचवर्षात्मक युगों के कालमान को बतलाया जा रहा है।

यद्यपि यहाँ पंच संवत्सरात्मक युग का उल्लेख तो किया गया है किन्तु वेदों में वर्णित पाँच संवत्सरों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया हैं। फिर भी वेदोक्त पंचवत्सरों (संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, अनुवत्सर) का ही ग्रहण किया है।

वर्ष, उत्तरायण तथा माघशुक्ल प्रतिपदा का आरम्भ एक साथ होता है जब सूर्य और चन्द्रमा धनिष्ठा के आदि बिन्दु पर एक साथ उदित होते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदांग ज्योतिष का वर्षारम्भ माघशुक्ल प्रतिपदा से ही होता है। पंचसंवत्रात्मक युगों का भी उसी के साथ आरम्भ होने से वैदिक काल में भी माघशुक्ल प्रपिपदा से वर्षारम्भ की मान्यता थी।

इसी प्रकार दक्षिणायन की प्रवृत्ति श्लेषा नक्षत्र के उत्तरार्ध में सूर्य के जाने से बतलाई गई है। (वे.ज्यो. ७) उत्तरायण में क्रमशः ३२ पल प्रतिदिन दिन की वृद्धि तथा रात्रि का ह्रास होता है। इसी प्रकार दक्षिणायन में ३२ पल रात्रि की वृद्धि तथा क्रमशः दिन का ह्रास होता है। इस प्रकार दिन-रात्रि की व्यवस्था का विवेचन करने के उपरान्त तिथि का निरूपण किया गया है। तिथियों के ह्रास-वृद्धि का भी स्पष्ट संकेत है। अनन्तर पर्व साधन किया गया है। वेदांग ज्योतिष में गणितीय सिद्धान्तों का उपयोग आरम्भ से ही दीखने लगता है। संवत्सरों के आधार पर गत पर्वों की संख्या का साधन किया गया हैं यथा-

निरेकं द्वादशाब्दार्धं द्विगुणं गतसंज्ञिकम्।
षष्ठ्या षष्ठ्या युतं द्वाभ्यां पर्वणां राशिरुच्यते।। ऋ.ज्यो. ४

ऋग्ज्योतिष के पाठ में कुछ त्रुटि आ गई है, जिसका संशोधन याजुष ज्योतिष के पाठ से किया जाता है। याजुष ज्योतिष में लिखा है- 'निरेकं द्वादशाभ्यस्तं द्विगुणं गतसंयुतम्।'[1]

---

१. याजुष ज्यो. १३

इस पाठान्तर के अनुसार गत संवत्सर (वर्तमान संवत् में एक घटाकर) को १२ से गुणा कर द्विगुणित करने से तथा प्रत्येक ६०-६० के अन्तराल में २ दो जोड़ने से पर्व संख्या आ जाती है। यहाँ गत शब्द से वर्ष एवं मास दोनों का ग्रहण किया गया है। यथा- द्वितीय वर्ष के तृतीय मासान्त में पर्व संख्या ज्ञात करनी है। अतः २-१ = गत संवत्। १ × १२ = १२ × २ = २४ + (३ मासान्त के पर्व) = २४ + ६ = ३० पर्व संख्या हुई। चूँकि यहाँ साठ का पर्याय पूर्ण नहीं था इसलिए दो नहीं जोड़ा गया। इसी प्रकार यदि चतुर्थ वर्ष छठे मास में पर्वगण सिद्ध करना हो तो पूर्ववत् ४-१ = ३, ३ × १२ = ३६ × २ = ७२ + गतपर्व = ७२ + १२ = ८४ +२ = ८६ पर्व संख्या हुई। इससे यह स्पष्टतया लक्षित हो रहा है कि इस अवधि में एक अधिमास आया था जिसके कारण २ पर्व संख्या अधिक हो गई। इसीलिए प्रति ६०-६० के अन्तराल पर दो जोड़ने का निर्देश दिया गया है।

पर्वज्ञान के आधार पर सूर्य-चन्द्र द्वारा भुक्त नक्षत्रों के मान की अद्भुत विधि दी गई है। इस पद्य के विषद् भाष्य के अनन्तर श्री कौण्डिन्न्यायन ने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि-'भांशा स्युरष्टका कार्याः' इत्यादि याजुष ज्योतिष के १५वें श्लोक की व्याख्या शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने नहीं की है। अतः पूर्ववर्ती अध्येताओं से भी यह श्लोक अव्याख्यात रहा है। श्री सुधाकर द्विवेदी ने भी इसकी समीचीन व्याख्या नहीं की। बाल गंगाधर तिलक का उद्धरण देते हुये कहा है कि बार्हस्पत्य का पूर्वार्ध का व्याख्यान सही है। इस पद्य के व्याख्यान में आचार्य कौण्डिन्न्यायन का प्रयास सार्थक प्रतीत हो रहा है।

अनन्तर २७ नक्षत्रों के नाम संकेताक्षरों द्वारा दिये गये है। किन्तु नक्षत्रों का क्रम अब तक के सभी क्रमों से भिन्न एवं अत्यन्त अद्भुत हैं। वर्तमान क्रम को आधार माना जाय तो अश्विनी से आरम्भ कर छठे-छठें नक्षत्र को क्रम में रखा गया है। यथा-

जौद्रागः खेश्वहीरोषाचिन्मूषण्यः सूमाधाणः।
रेमृघास्वापोजः कृष्योह ज्येष्ठा इत्यृक्षा लिङ्गैः।। (वे.ज्यो.याजु. १८, ऋक् १४)

१. जौ = अश्वयुजौ = अश्विनी	५. श्वे = विश्वेदेव = उत्तराषाढ़
२. द्रा = आर्द्रा	६. हि = अहिर्बुध्न्य = उत्तरा भाद्रपदा
३. गः = भगः = पूर्वाफाल्गुनी	७. रो = रोहिणी
४. खे = विशाखे	८. षा = आश्लेषा

९. चित् = चित्रा	१९. घा = मघा
१०. मू = मूल	२०. स्वा = स्वाती
११. षक् = शतभिषक्	२१. पः = आपः = पूर्वाषाढ़ा
१२. ण्यः = भरण्यः = भरणी	२२. अजः = अजपाद् = पूर्वाभाद्रपदा
१३. सू = पुनर्वसु	२३. कृ = कृत्तिका
१४. मा = अर्यमा = उत्तरफाल्गुनी	२४. ष्यः = पुष्यः
१५. धा = अनुराधा	२५. ह = हस्तः
१६. णः = श्रवण	२६. ज्ये = ज्येष्ठा
१७. रे = रेवती	२७. ष्ठा = धनिष्ठा।
१८. मृ = मृगशिरा	

उक्त पद्य की व्याख्या में सोमाकार ने नक्षत्रों के निर्देश का वैशिष्ट्य बतलाते हुये कहा है- "सप्तविंशतिभिरक्षरैर्नामदेवतावयवभूतैर्नक्षत्राणि, तेषामवयवाः तेषां क्रमः, तस्य च कालव्यवस्था, तथा तिथेः, ऋतोः, नक्षत्रस्य युगस्य, चाधिमाससम्भवस्य उत्तरनक्षत्राणां वर्षस्य मानान्येतानि दशवसूनि चोदितानि भवन्ति इति वाक्यशेषः।। तेषां संख्या द्योतनार्थं स्थान-नियमार्थं चैव निर्देशः। यस्य पादाक्षरं यत् संख्याकं प्रतिपदादौ भवति पूर्वं पंचदश्यन्ते यदि द्वौ तदोभौ विभज्यौ यथा द्वयंशमार्द्रा द्रेति चोदितम्।। इत्यादिः।"[1]

इस क्रम की उपपत्ति देते हुए शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी ने लिखा हैं- "युग में पर्व १२४ होते हैं। इसलिए वेदांग ज्योतिष में नक्षत्रों के १२४ अंश माने गये हैं। यह श्लोक और यजुः पाठ का २५ वाँ श्लोक इस कल्पना के आधार है। युग में तिथियाँ १८६० होती हैं और सूर्य नक्षत्रों की ५ परिक्रमा करता है। (यजुः पाठ का श्लोक २८ और ३१ देखिये) अर्थात् एक तिथि में नक्षत्र का $२७ \times \frac{५}{१८६०} = \frac{६}{१२४}$ भाग भोगता है।" इसी के आधार पर नक्षत्रों का उक्त क्रम सिद्ध होता है। ये पर्वान्त विशेष के नक्षत्र हैं। (द्रष्टव्य - भारतीय ज्यो. पृ. १०४ पं. १०-१५)।

---

१. वेदांगज्योतिषम्, पृ. ३३५

आचार्य कौण्डिन्न्यायन ने इस पद्य की टिप्पणी के अन्त में जो लिखा है उसका सारांश यह है कि इस पद्य पर सोमाकर का विस्तृत व्याख्यान है किन्तु पूरा समझ में आने योग्य नहीं है। थीबो द्वारा दी गई नक्षत्रों के अंशों की सारणी स्पष्ट है। किन्तु नक्षत्र क्रम की व्याख्या किसी ने सुस्पष्ट रूप से नहीं की है।

तिथि-नक्षत्र साधन-

तिथिमेकादशाभ्यस्तां पर्वभांशसमन्वितामू।
विभज्य भसमूहेन तिथिनक्षत्रमादिशेत्।। (यजु. वेदांग)

अभीष्टतिथि को ११ से गुणा करें, गुणनफल में गतपर्व के नक्षत्र के अंश को जोड़कर २७ से भाग देने पर शेषांक तुल्य जावादि क्रम से नक्षत्र होता है।

अर्थात् $\frac{(\text{अभीष्ट तिथि} \times ११) + \text{गतपर्वभांश}}{२७}$ = तिथि सम्बन्धी नक्षत्र।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भांश के ज्ञान की विधि वेदांग ज्योति के १५वें श्लोक में बताई गई है। यद्यपि यह पद्य अत्यन्त विवादास्पद रहा है। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने इस पद्य की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है तथा सभी व्याख्यानों में कुछ न कुछ अन्तर, कहीं-कहीं विशद अन्तर पाये जाते हैं, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है। इस पद्य पर कौण्डिन्न्यायन की व्याख्या विस्तृत एवं द्रष्टव्य है।

३२ से ३४ श्लोकों में नक्षत्रों के स्वामियों का उल्लेख किया गया है। वेदांग ज्योतिष में निर्दिष्ट नक्षत्राधिप बिना किसी परिवर्तन के आज भी व्यवहृत हो रहे है। यथा-

अग्निः प्रजापतिः सोमो रुद्रोऽदितिर्बृहस्पतिः।
सर्पाश्च पितरश्चैव भागश्चैवार्यमाऽपि च ।।३२।।
सविता त्वष्टाऽथ वायुश्चेन्द्राग्निर्मित्र एव च।
इन्द्रो निर्ऋतिरापो वै विश्वेदेवास्तथैव च ।।३३।।
विष्णुर्वसवो वरुणोऽजएकपात् तथैव च।
अहिर्बुध्न्यस्तथा पूषा अश्विनौ यम एव च।।३४।।

आज की प्रचलित मान्यता तथा वेदांग ज्योतिष में निर्दिष्ट नक्षत्रों के स्वामियों की समता प्रदर्शित करने की दृष्टि आज के सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ मुहूर्तचिन्तामणि में वर्णित है।

नक्षत्रों के स्वामी

	नक्षत्र	स्वामी (वेदांग ज्योतिष)	स्वामी (मुहूर्त्त चिन्तामणि)
१.	कृत्तिका	अग्नि	वह्नि (अग्नि)
२.	रोहिणी	प्रजापति	धाता
३.	मृगशिरा	सोम	शशि
४.	आर्द्रा	रुद्र	रुद्र
५.	पुनर्वसु	अदिति	अदिति
६.	पुष्य	बृहस्पति	इज्य (बृहस्पति)
७.	आश्लेषा	सर्प	उरग (सर्प)
८.	मघा	पितर	पितर
९.	पूर्वाफल्गुनी	भग	भग
१०.	उत्तर फल्गुनी	आर्यमा	अर्यमा
११.	हस्त	सविता	रवि
१२.	चित्रा	त्वष्टा	त्वष्टा
१३.	स्वाती	वायु	समीर
१४.	विशाखा	इन्द्राग्नी	शक्राग्नी
१५.	अनुराधा	मित्र	मित्र
१६.	ज्येष्ठा	इन्द्र	इन्द्र
१७.	मूल	निऋति	निऋति

१८.	पूर्वाषाढ़	आपः	क्षीर (जल)
१९.	उत्तराषाढ़	विश्वेदेव	विश्वेदेव
१९अ	अभिजित	......	विधि
२०.	श्रवण	विष्णु	गोविन्द
२१.	धनिष्ठा	वसु	वसु
२२.	शतभिष	वरुण	तोयप (वरुण)
२३.	पूर्वभाद्रपद	अज एकपात्	अजचरण
२४.	उत्तरभाद्रपद	अहिर्बुध्न्य	अहिर्बुध्न्य
२५.	रेवती	पूषा	पूषा
२६.	अश्विनी	अश्विनी कुमार	नासत्य (अश्विनी)
२७.	भरणी	यम	अन्तक (यम)

वेदांग ज्योतिष में मुख्य रूप से कालविधान के साथ-साथ तिथि-नक्षत्र-मास-अधिमास-ऋतु-अयन तथा वर्ष का विवेचन किया गया है क्योंकि इनकी सभी श्रौत स्मार्त क्रियाओं में आवश्यकता होती हैं। जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है-

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।। (यजु. वे.३)

सैद्धान्तिक दृष्टि से कुछ प्रमुख विषयों यथा संक्रान्ति, उदयास्त और ग्रहण आदि विषयों की चर्चा वेदांग ज्योतिष में नहीं की गई है। मेषादि राशियों तथा आदित्यादि सप्तवारों का भी उल्लेख नहीं है। सम्भवतः वैदिक यज्ञयागादि में विशेष उपयोगी विषयों का ही सूक्ष्म प्रतिपादन वेदांग ज्योतिष का मुख्य उद्देश्य था। इसी प्रसंग में यह भी संकेत कर देना आवश्यक है कि वेदांग ज्योतिष में नक्षत्रानुसार नामकरण की प्रक्रिया आज से सर्वथा भिन्न

थी। वेदिक या वेदांग काल में जातक के साथ-साथ यज्ञ के यजमान का भी नामकरण होता था।[1]

आजकल जातक का नामकरण नक्षत्र के पादाक्षर के अनुसार किया जाता है तथा पादाक्षर अवकहड़ाचक्र के अनुसार लिए जाते हैं। किन्तु वेदांग ज्योतिष में नक्षत्र के नाम अथवा स्वामी नाम या नाम के पर्यायवाची नामों के आधार पर होता था।

कालक्रम के साथ-साथ भारतीय गणित का विकास होता गया तथा ज्योतिषशास्त्र में सूक्ष्म गणनायें होने लगी तथा अन्य ब्रह्माण्डीय घटनाओं का ज्ञान किया जाने लगा। फिर भी वेदांग ज्योतिष के मूलभूत सिद्धान्तों की मान्यता आज भी यथावत् है।

वैदिक पंचांग-

पंचसंवत्सरात्मक युग, तिथि और नक्षत्रादि का साधन करने के उपरान्त तथा अधिमासादि का ज्ञान हो जाने के कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त मानों के आधार पर वैदिक पचांग का निर्माण किया जा सकता है।

शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने इस प्रसंग में सम्भावना व्यक्त करते हुए लिखा है कि "यदि एक बार पाँच वर्षो का पंचाग बना लिया जाय तो वही प्रत्येक युग में काम दे सकेगा।" इस आशय के समर्थन में वेदांग ज्योतिष के निम्न वाक्य को उद्धृत क़रते हुये आचार्य शिवराज कौण्डिन्न्यायन ने अपने ग्रन्थ वेदांग ज्योतिषम् में लिखा है-

"इत्युपायसमुद्देशो भूयोऽप्येनं प्रकल्पयेत्। (वेदांगज्यो. श्लो. ४२)

इति लगधमुनिवचनानुसारं वेदवेदांगन्तरनिर्दिष्टदृक्सिद्धपर्वविधिविधानानुसारं युगे युगे वर्षे वर्षेऽयनेऽयने मासे मासे पर्वणि पर्वणि च सूर्यचन्द्रनक्षत्रस्थितिं निरीक्ष्य युगवर्षायन-ऋतुमासपक्षतिथिपर्वगणना पुनः पुनरन्वेक्षणीयेति गम्यते., तस्ताच्च शंकरबालकृष्णदीक्षितोक्तं चिन्त्यमेव। इदानीं दृक्सिद्धसूर्य-चन्द्र-नक्षत्रादिस्थित्यनुसारमेव लगधमुनिप्रोक्तवेदांगज्योतिष ग्रन्थानुसारं संवत्सरायन-ऋतु-मासाऽधिमासपक्षतिथिपर्वनक्षत्रनिर्धारणेन संवत्सरपंजीविचारयितुं शक्या।[2] श्री कौण्डिन्नयायन ने वैदिक पंजी का साधन कर अपने ग्रन्थ में उदाहरणार्थ प्रस्तुत भी किया है।

---

१. नक्षत्रदेवता ह्वोता एताभिर्यज्ञकर्माणि। यजमानस्य शास्त्रज्ञैर्नाम नक्षत्रजं स्मृतम्।। या.वे. ३५

२. वेदांगज्योतिषम्, पृ. ४७४

सद्यपि शंकरबालकृष्ण दीक्षित भी कुछ त्रुटियों से अवगत थे। क्योंकि आधारभूत वर्षमान की त्रुटियों को निम्नलिखित तालिका में दर्शाया है-[1]

	वेदांग ज्योतिष	सूर्यसिद्धान्त	आधुनिक योरोपियन मान
युगीय सावन दिन	१८३०	१८२६.२६३८	१८२६.२८१६ (नाक्षत्र सौर)
६२ चान्द्रमानों के दिन	१८३०	१८३०.८६६१	१८३०.८६६४ (नाक्षत्र सौर)
६५ वर्षों में सावन दिन	३४७७०	३४६९६.५८	३४६९६.३६ (सायन सौरवर्ष)
११७८ चान्द्रमासों में दिन	३४७७०	३४८७७.०३	३४७८७.०३

इस तालिका से स्पष्ट हैं कि चान्द्रमान की अपेक्षा सौरमान अधिक अशुद्ध है। अतः अयनारम्भ यदि एक बार माघशुक्ल प्रतिपदा को हुआ तो द्वितीय युग के आरम्भ में लगभग ४ दिन पूर्व होगा और ९५ वर्षों में लगभग ७२ दिन पहले होने लगेगा। यद्यपि चान्द्रमास में अशुद्धि कम है तो भी ५ वर्षों में लगभग ५४ घटी की कमी पड़ जाती है।

बाट माप और कालज्ञान

पलानि पंचाशदपां धृतानि तदाढकं द्रोणमतः प्रमेयम्।
त्रिभिर्विहीनं कुडवैस्तु कार्यं तन्नाडिकायास्तु भवेत् प्रमाणम्।। (याजुष २४)

अर्थात् ५० पल जल का भार एक आढ़क के तुल्य होता है। इस आढ़क प्रमाण से एक द्रोण जल लेकर उस में से ३ कुडव जल निकाल देने से शेष जल नाडिका का प्रमाण

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ. १३१

होता है। अर्थात (१ द्रोण-३ कुडव) = शेष जल घटी यन्त्र में डालने से जितने समय में जल बाहर आता है वह काल 'नाड़ी' संज्ञक होता है।

यहाँ जल मापने हेतु विभिन्न बाटों का उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि उस काल में आढ़क-द्रोण-कुडव आदि मापों का व्यवहार प्रचलन में था। इसीलिए इन मापों के पारस्परिक सम्वन्धों का उल्लेख नहीं किया गया है। उक्त श्लोक ऋक् ज्योतिष में इस प्रकार कहा गया है-

नाडिके द्वे मुहूर्त्तस्तु पंचाशत् पलमाषकम्।
माषकात् कुम्भको द्रोणः कुटपैर्वधते त्रिभिः।।१७।।

यहाँ २ नाडी का एक मुहूर्त्त, पचास पल का एक आषक (आढक) बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त कुम्भक और द्रोण का उल्लेख है।

शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने भट्टोत्पल के प्रमाण को उदधृत करते हुये लिखा है कि वेदांग ज्योतिष का उक्त श्लोक इस रूप में होना चाहिये-

नाडिके द्वे मुहूर्त्तस्तु पंचाशत् पलमाढकम्।
चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कुटपैर्वर्धते त्रिभिः।।

यहाँ अर्थ स्पष्ट हो जा रहा है। २ नाडी का एक मुहूर्त्त, ५० पलों का १ आढक, ४ आढ़क का एक द्रोण होता है। यह ३ कुटप (कुडव) तुल्य नाडिका प्रमाण से अधिक होता है। अर्थात् १ द्रोण - ३ कुडव = १ नाडी।

प्रामाणों का सारांश-

५० पल = १ आढ़क

४ आढ़क = १ द्रोण

यहाँ कुडव का मान अज्ञात रहा। अतः भास्कराचार्य की लीलावती से सहायता ली जाय तो सभी प्रमाणों के मान ज्ञात हो जाते हैं।

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ. १२३-२४

द्रोणस्तु खार्याः खलु षोडशांशः स्यादाढको द्रोणचतुर्थभागः।
प्रस्थश्चतुर्थांश इहाढकस्य प्रस्थांघ्रिराद्यैः कुडवः प्रदिष्टः।। ली.पं. ८

अर्थात खारी के सोलहवें भाग को द्रोण, द्रोण के चतुर्थांश को आढ़क, आढ़क के चतुर्थांश को प्रस्थ तथा प्रस्थ के चतुर्थांश को कुडव कहा जाता है। अतः

४ कुडव = १ प्रस्थ

४ प्रस्थ = १ आढ़क

४ आढ़क = १ द्रोण

१६ द्रोण = १ खारी

इस परिभाषा के अनुसार १ द्रोण में ६४ कुडव होते हैं। अतः १ द्रोण - ३ कुडव = ६४ कुडव - ३ कुडव = ६१ कुडव त्र १ नाडी।

१ आढ़क = ५० पल

४ आढ़क = ५० × ४ = २०० पल = १ द्रोण

वेदांग ज्योतिष के अनुसार १ नाड़ी में पल का प्रमाण उक्त परिभाषाओं के आधार पर इस प्रकार होगा।

१ नाडी = ६१ कुडव

१ नाडी = ६१ × ३ $\frac{१}{८}$ = ६१ × $\frac{२५}{८}$

१ नाडी = १९० $\frac{३}{८}$ पल

अथवा १ नाडी = १९०.६२५ पल

१६ कुडव = १ आढ़क = ५० पल

४ प्रस्थ = १ आढ़क = ५० पल

$\frac{५०}{४}$ = १२ $\frac{१}{२}$ पल = १ प्रस्थ

$\frac{५०}{१६}$ = ३ $\frac{१}{८}$ पल = कुडव

इसीप्रकार प्रस्थको नाडीमें परिवर्तित करने से - १२ $\frac{१}{२}$ पल ÷ १९० $\frac{५}{८}$ $\frac{२५}{२} \times \frac{८}{१५२५} = \frac{४}{६१}$.०६५ घटी।

प्रस्थ की आवश्यकता दिनमान के ह्रास वृद्धि में होती है क्यों कि दिन के प्रमाण को बतलाते हुये कहा गया है कि-सूर्य के उत्तरायण होने पर, एक प्रस्थ जल घटी में आने में जितना समय लगता है, उतने काल तुल्य दिन में वृद्धि तथा रात्रि में ह्रास होता है।[1]

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिदिन $\frac{४}{६१}$ घटी (.०६५ घटी) दिन प्रतिदिन बढ़ता है तथा इतना ही रात्रि का मान घटता है। दक्षिणायन में इससे विपरीत स्थिति होती है। यह वृद्धि और ह्रास का क्रम अधिकतम ६ मुहूर्त्त तक हो जाता है। अर्थात् उत्तरायण में दिनमान अधिकतम १८ मुहूर्त्त तथा रात्रिमान न्यूनतम १२ मुहूर्त्त हो जाता है। दक्षिणायन में इससे विपरीत दिनमान १२ मुहूर्त्त तथा रात्रिमान १८ मुहूर्त्त होता है।

६ मुहूर्त्त तक दिन की वृद्धि सार्वदेशिक सम्भव नहीं है। अतः इस वृद्धि-ह्रास से किसी क्षेत्र विशेष के दिन मान या रात्रिमान का संकेत मिलता है।

रचना काल

वेदांग ज्योतिष के रचना काल के सम्बन्ध में उत्तरायण-दक्षिणायन का आरम्भ बिन्दु ही ज्योतिष शास्त्रीय आधार महत्वपूर्ण है। अतः दोनों आयनारम्भ बिन्दुओं पर पुनः विचार करना होगा। धनिष्ठा के आरम्भ बिन्दु से उत्तरायण की तथा आश्लेषा के आधे से दक्षिणायन की प्रवृत्ति होती है। जैसा कि वेदांग ज्योतिष में लिखा है-

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ।
स्यात् तदादियुगं माघस्तपः शुक्लोऽयनं ह्युदक्।। (याजुष. ज्यो. ६)

इसके अनुसार जब सूर्य और चन्द्रमा धनिष्ठा नक्षत्र के आरम्भ बिन्दु पर आते हैं तब उत्तरायण का आरम्भ होता है। अर्थात् सूर्य और चन्द्र का भोग तथा धनिष्ठा का सायन भोग ८ राशि होना चाहिए। यहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने कुछ भ्रम उत्पन्न कर दिया था। धनिष्ठा का आरम्भ बिन्दु क्रान्ति वृत्त के विभागात्मक (२७ नक्षत्रों के १३°/२०') भागों के अनुसार मान लिया। विशेषतः यह मत कोलब्रूक ने प्रस्तुत किया। परिणामतः मघा नक्षत्र के योगतारा से पूर्व ही विभागात्मक आरम्भ बिन्दु को मान कर काल निर्धारण किया। परन्तु उस विभागात्मक आरम्भ बिन्दु से धनिष्ठा का योगतारा, जिसे पाश्चात्य विद्वान अल्फा डेल्फिनी

---

१. धर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रासः उदग्गतौ।
दक्षिणेतौ विपर्यासः षण्मुमुहूर्त्ययनेन तु ।। (याजु. ८)

के नाम से जानते है, से ४°/११' कला आगे है। सम्पात को ४ अंश ११ कला की दूरी तय करने में ३०० वर्ष २ मास १२ दिन लगते हैं। अतः कोलब्रूक द्वारा निर्धारित काल से वास्तविक काल ३०० वर्ष आगे चला जाता है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने लिखा[1] है कि ईस्वी सन् १८८७ में मैंने इसका सूक्ष्म भोग निकाला था। वह १० राशि १५ अंश ४८ कला २६ विकला आता है। केरोपन्त ने ग्रहसाधन कोष्ठक में सन् १८५० का भोग १०/२१/१७ लिखा है परन्तु वह अशुद्ध है। उसके स्थान पर १०/१५/१७ होना चाहिये। सम्पात गति यदि ५० विकला प्रतिवर्ष माने तो इतनी वृद्धि होने में ३२६७ वर्ष लगेंगे। इसमें १८८७ घटा देने से (३२६७-१८८७) = १४१० आता है। अतः ईस्वी सन् पूर्व १४१० में धनिष्ठा का भोग ६ राशि आता है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय धनिष्ठा के आरभ से उत्तरायण का आरम्भ हुआ था। अतः ईसा पूर्व १४१० वेदांग ज्योतिष का काल गणितीय आधार से सिद्ध होता है।

प्रो. ह्विटनी के मतानुसार योगतारा वीटा डेल्फिनी मान लेने से ७२ वर्ष का अन्तर आ जायेगा। अर्थात् वेदांग ज्योतिष का काल (१४१०-७२) = १३३८ ई.पू. मानना होगा। धनिष्ठा के सभी तारे प्रायः १-१ अंश की दूरी पर हैं। इनके अन्तर को न्यूनाधिक नहीं किया जा सकता। अतः निष्कर्ष रूप मे ईसा पूर्व १४०० वर्ष ही वेदांग ज्योतिष का काल मान लेना तर्कसंगत होगा।

सिद्धान्त काल

वेदांग काल के बाद से सिद्धान्त काल आरम्भ होता है। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व (शकारम्भ से लगभग ५०० वर्ष पूर्व) जब सौर आदि पाँच सिद्धान्तों का ज्ञान हुआ तभी से वास्तविक रूप से सिद्धान्त काल का आरम्भ माना जाता है। सिद्धान्त काल से पूर्व ज्योतिष के उपविभाग नहीं थें। सिद्धान्त काल में विषयानुसार ज्योतिष शास्त्र को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया गया- १. सिद्धान्त, २. संहिता एव ३. होरा (फलित)। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ज्योतिष के क्षेत्र में वैदिक काल से वेदांग काल तक भारतीय आचार्यों का मौलिक योगदान माना जाता रहा है। इसमें कहीं भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। सिद्धान्त काल से ऐतिहासिक विवाद आरम्भ होते हैं। एक देश के ज्योतिष के क्षेत्र में वैदिक काल से वेदांग काल तक भारतीय आचार्यों का मौलिक योगदान माना जाता रहा है। इसमें कहीं भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। सिद्धान्त काल से ऐतिहासिक

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ. १२३-२४

विवाद आरम्भ होते हैं। एक देश के मौलिक ज्योतिष में दूसरे देश के ज्योतिष का प्रभाव विवाद का कारण बनता रहा है। भारतीय ज्योतिष का मूलाधार 'वेद' ही है। अतः इसके मूलभूत सिद्धान्तों में अन्तर नहीं है, किन्तु कालक्रम से विभिन्न मानों में अन्तर होना स्वाभाविक है। जैसा कि सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है "युगानां परिवर्तेन कालभेदोत्र केवलः।।" सिद्धान्त काल के आरम्भ से अब तक अनेक स्थलों पर अन्य देशीय ज्योतिष के प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के विवाद सिद्धान्त काल के आरम्भ में ही, जब पंचसिद्धान्तिका प्रकाश में आयी, तभी से प्रारम्भ हो गया। सिद्धान्तों के नाम भी इस विवाद के कारण बने-सौर सिद्धान्त, पितामह सिद्धान्त, वसिष्ठ सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त और पौलिश सिद्धान्त। साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध है कि सर्वाधिक प्राचीन ब्राह्म सिद्धान्त है।

तदन्तर वसिष्ठ सिद्धान्त की रचना हुई। इनके बाद ही सौर, पौलिश और रोमक सिद्धान्त आये होंगें। आचार्य वराह मिहिर ने सर्वप्रथम इन सिद्धान्तों का संग्रह कर इनका मनन किया, तदनन्तर इन सिद्धान्तों पर यह टिप्पणी दी–

पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ।।[1]

अर्थात् पौलिश सिद्धान्त स्पष्ट है (दृक् तुल्य है)। इसी के आसन्न रोमक सिद्धान्त की भी स्फुटता है। इन दोनों की अपेक्षा सूर्यसिद्धान्त अधिक स्पष्ट है। शेष दो वसिष्ठ और पैतामह अति प्राचीन होने से अधिक अशुद्ध हैं। इस टिप्पणी से यह आभास होता है कि आरम्भ में ये दोनों भी स्फुट रहे होंगे, किन्तु कालक्रम से इनमें अधिक स्थूलता आ गई होगी।

श्री कुप्पन्ना शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करण में 'पौलिशकृतः' के स्थान पर 'पौलिश तिथिः' पाठान्तर है। इससे यह सिद्ध होता है कि पौलिश सिद्धान्त द्वारा केवल तिथ्यानयन शुद्ध है। म.म. सुधाकर द्विवेदी के पास जो हस्तलेख था उसमें भी यही पाठ रहा, किन्तु उन्होंने 'पैलिशकृतः' यही पाठान्तर स्वीकार किया।

इतिहासकारों ने पौलिश और रोमक सिद्धान्तों को विदेशी तथा शेष तीन ब्राह्म, वसिष्ठ और सौर सिद्धान्तों को भारतीय बतलाया है। भारतीय इतिहासकारों के विपरीत

---

१. पंचसिद्धान्तिका, ४।

सुप्रसिद्ध विदेशी यात्री एवं लेखक अलबेरुनी (अबु रेहान मुहम्मद इब्न ऐ अहमद) ने लिखा है कि पौलिश सिद्धान्त सिकन्दरिया निवासी पुलिश के द्वारा लिखा गया है, किन्तु रोमक सिद्धान्त रूम यानी रोमन साम्राज्य की प्रजा पर रखा गया है, जिसकी रचना श्रीषेण ने की है। श्रीषेण के काल पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि अलबेरुनी की यह उक्ति द्वितीय रोमक सिद्धान्त के आधार पर है।

सिद्धान्तकाल की प्रथम उपलब्धि सिद्धान्त पंचक ही हैं। यद्यपि इन सिद्धान्तों के रचना काल का कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है फिर भी इतना निर्विवाद तथ्य है कि ये सभी सिद्धान्त वेदांगकाल के बाद तथा आर्यभट्ट और वराह से पूर्ववर्ती हैं।

पाँच सिद्धान्तों के नाम से दो संकलन उपलब्ध होते हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने दोनों पंचसिद्धान्तों को प्राचीन और नवीन सिद्धान्तपंचक नाम से परिगणित किया है। प्राचीन सिद्धान्त-पंचक आचार्य वराहमिहिर द्वारा संग्रहीत है तथा उनके नाम हैं-

''पौलिशरोमकवासिष्ठसौर-पैतामहास्तु पंचसिद्धान्ताः।। अर्थात् १. पौलिश, २. रोमक, ३. सौर, ४. वासिष्ठ तथा ५. पैतामह।

नवीन सिद्धान्तपंचकों के नाम हैं- १. सूर्यसिद्धान्त, २. सोमसिद्धान्त, ३.वसिष्ठसिद्धान्त, ४. रोमकसिद्धान्त तथा ५. ब्राह्मसिद्धान्त (शाकल्योक्त)।

पैतामह सिद्धान्त (ब्राह्मसिद्धान्त)

वराहमिहिर द्वारा संकलित पंचसिद्धान्तिका का ब्राह्म सिद्धान्त अत्यन्त संक्षिप्त है। केवल पाँच आर्या छन्दों में उपलब्ध है। इन आर्याओं में प्राप्त विवरण के आधार पर इसका रचना काल वेदांग ज्योतिष के आसन्न आता है। यथा-दूसरी आर्या में जहाँ नक्षत्र साधन बतलाया गया है, वहाँ नक्षत्रों की गणना धनिष्ठा से आरम्भ की गई है।

कुछ विद्वानो ने अहर्गणानयन में 'शक' का प्रयोग करने से शंका जताई है कि ब्राह्म सिद्धान्त शक काल के बाद का है, परन्तु यह कहना सर्वथा अनुचित होगा। क्योंकि शक काल का प्रयोग तो वराहमिहिर ने किया है। इसका एक मात्र कारण यही है कि सभी सिद्धान्तों की गणना के लिए आचार्य वराहमिहिर ने शक ४२७ स्थिर किया है। अतः इसे ब्राह्म सिद्धान्त या अन्य किसी सिद्धान्त का रचनाकाल मानना अनुचित होगा। शंकर बाल कृष्ण दीक्षित ने एक और प्रमाण दिया है।

प्रथम आर्यभट ने दशगीतिका के आरम्भ में निम्नलिखित मगंलाचरण किया है-

प्रणिपत्यमानकं कं सत्यां देवतां परं ब्रह्म।
आर्यभटस्त्रीणि गदति गणितं कालक्रियां गोलम्।।

यहाँ 'क' ब्रह्मा का बोधक है। इससे स्पष्ट है कि आर्यभट ने ब्राह्म सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर कार्य किया होगा, यदि ऐसा नहीं हो तो भी उन्होंने ब्राह्मसिद्धान्त की सत्ता को स्वीकार किया है। अतः यह स्पष्ट है कि आर्यभट के काल से यह पूर्ववर्ती होगा। इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण देते हुए ब्रह्मगुप्त ने लिखा है-

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिली भूतम्।
अभिधीयते स्फुटं तत् जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन।।

अर्थात् ब्रह्मगुप्त के काल ५५० शक तक, ब्राह्मसिद्धान्त (अधिक काल व्यतीत हो जाने से वह) अशुद्ध हो चुका था। जिष्णु के पुत्र ब्रह्मगुप्त ने उसका परिष्कार कर उसे शुद्ध किया।

ब्राह्मसिद्धान्त की आर्याओं में विहित प्रक्रियायें वेदांग ज्योतिष के सिद्धान्तों के आसन्न हैं। अतः इसका काल वेदांग ज्योतिष के बाद ही स्वीकार करना उचित होगा।

वसिष्ठसिद्धान्त

विषयवस्तु के आधार पर वसिष्ठ सिद्धान्त भी प्राचीन है। पंचसिद्धान्तिका में केवल इस सिद्धान्त की १३ आर्यायें ही उपलब्ध हैं। इनकी पद्धति भी अन्य सिद्धान्तो से भिन्न है तथा अतिकाल हो जाने से इसकी भी पद्धति अशुद्ध हो चुकी है। इसीलिए ब्राह्म और वसिष्ठ दोनों सिद्धान्तों को वराहमिहिर ने 'दूर-विभ्रष्टौ' कहा है।

उपलब्ध वसिष्ठसिद्धान्त अपूर्ण होने के साथ-साथ केवल प्रारम्भिक विषयों का ही परिचायक है। केवल सूर्य-चन्द्रमा का ही उल्लेख यहाँ मिलता है। अन्य ग्रहों के सन्दर्भ में कोई संकेत यहाँ उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त तिथि साधन, दिनमान एवं लग्न साधन आदि का विवेचन किया गया है।

रोमक सिद्धान्त

पंचसिद्धान्तिका में रोमक सिद्धान्त का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक है। यद्यिप रोमक

सिद्धान्त के रचना काल का भी उपयुक्त अनुमान नहीं है फिर भी साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जाता है कि रोमक सिद्धान्त, पैतामह और वसिष्ठ सिद्धान्तों के बाद का है। भारतीय ज्योतिष में अनेक प्रमाण उक्त तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उपलब्ध है।

पंचसिद्धान्तिका के अनुसार विभिन्न सिद्धान्तों में प्रतिपादित वर्षमान-

पैतामह सिद्धान्त	३६५ दिन २१ घटी २५ पल
पुलिश सिद्धान्त	३६५ दिन १५ घटी ३० पल
सूर्य सिद्धान्त	३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल
रोमक सिद्धान्त	३६५ दिन १४ घटी ४८ पल

यहाँ रोमक सिद्धान्त का मान सबसे भिन्न है। प्रायः सभी प्राचीन सिद्धान्तों में एकरूपता है जो वेदांग ज्योतिष के वर्षमान के आसन्न है। वेदांग ज्योतिष में वर्षमान ३६६ दिन माना गया है। इस आधार पर रोमक सिद्धान्त सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा नूतन माना गया है, फिर भी इन पाँचों सिद्धान्तों का काल शक काल से पूर्ववर्ती है। द्वितीय रोमक सिद्धान्त (श्रीषेण विरचित) शक ४२७ के बाद का है क्योंकि इसके भगणादि पूर्ववर्ती रोमक सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक हिपार्कस ने जो वर्षमान निकाला वह रोमक सिद्धान्त के वर्षमान के समकक्ष था। हिपार्कस का काल लगभग १५० ई. पूर्व माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि रोमक सिद्धान्त हिपार्कस के वर्षमान के आधार पर है। साथ ही इसमें केवल सूर्य और चन्द्रमा का ही गणित है। अन्य ग्रहों की साधनविधि नहीं है। अन्य सिद्धान्तों की तरह युगपद्धति का विवेचन भी नहीं है। अतः यह पाश्चात्य शैली पर आधारित सिद्धान्त है, जिसका रचनाकाल १५० ई. पूर्व से १५० ई. सन् के बीच में कल्पित किया गया है। डॉ. थीबो ने रोमक सिद्धान्त का काल ई. सन् ४०० से प्राचीन माना है किन्तु यह युक्तिसंगत न होने से मान्य नहीं हुआ।

पौलिश सिद्धान्त

पौलिश सिद्धान्त और रोमक सिद्धान्त दोनों के अनुसार साधित अहर्गणों में लगभग साम्य होता है। रोमक की तरह यहाँ भी सूर्य चन्द्रमा के अतिरिक्त भौमादि ग्रहों की

गतिस्थित्यादि का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु पौलिश सिद्धान्त में ग्रहों के वक्रत्व, मार्गत्व और उदयास्तादि का विवेचन किया गया है।

इसके अतिरिक्त देशान्तर साधन, चर साधन, चर से दिनमान आदि के आनयन का विधान भी दिया गया है। चर का विवेचन करते हुए कहा गया है-

यवनाच्चरजा नाड्यः सप्तावन्त्यास्त्रिभागसंयुक्ताः।
वाराणस्यां त्रिकृतिः साधनमन्यत्र वक्ष्यामि।।[1]

अर्थात् अवन्ती (उज्जैन) का चरखण्ड $\frac{७}{२०}$ घट्यादि तथा वाराणसी का ६ घटी। यह मान अन्य सिद्धान्तों से साम्य नहीं रखता है क्योंकि प्रायः सिद्धान्तों द्वारा साधित वाराणसी का चर $\frac{७}{८}$ घट्यादि से $\frac{६}{८}$ घट्यादि तक देखा जाता है।

रोमक की तरह ही इसमें भी युगपद्धति का विवेचन नहीं है किन्तु तिथि और क्षयाधिमासों के विवेचन प्रसंग को देखने से यह सिद्धान्त स्मृतिबाह्य नहीं प्रतीत होता। अतः विद्वानों ने इसे स्मृतिबाह्य नहीं कहा है। इससे अनुमान किया जाता है कि इसमें भी युगपद्धति का विवेचन रहा होगा। विभिन्न स्थलों पर उदधृत अंशों के आधार पर कल्पना की जाती है कि यह सिद्धान्त पूर्णरूप से व्याख्यात रहा होगा। इसी क्रम में यह कह देना आवश्यक होगा कि भट्टोत्पल द्वारा उद्धृत पौलिश सिद्धान्त अपनी विशेषताओं एवं भिन्नताओं के कारण मूल पौलिश सिद्धान्त के अतिरिक्त किसी अन्य संशोधित एवं परिष्कृत पौलिश सिद्धान्त का संकेत देता है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने निम्नलिखित श्लोक में वर्णित नक्षत्रभगण संख्या के आधार पर दो अन्य पौलिश सिद्धान्तों के अस्तित्व की सम्भावना व्यक्त की है-

खखाष्ट मुनि रामाश्विनेत्राष्ट शररात्रिपाः।
भानां चतुर्युगेनैते परिवर्ताः प्रकीर्त्तिताः।।[2]

यहाँ पर एक महायुग में भभ्रम संख्या १५८२२३७८०० बतलाई गई है। यद्यपि यह श्लोक पंचसिद्धान्तिका के पौलिश सिद्धान्त का नहीं है क्योंकि यह अनुष्टुप् छन्द में है तथा पंचसिद्धान्तिकोक्त पौलिश सिद्धान्त आर्या छन्दों में है, परन्तु मूल पौलिश की महायुगीन

---

१. भारतीय ज्योतिश, पृ.२२४
२. भारतीय ज्योतिष, पृ. २२७

भभ्रम संख्या भट्टोत्पल द्वारा उदधृत पौलिश के उक्त श्लोक से पूर्णतः समानता रखती है। इसी प्रमाण से अन्य पौलिश सिद्धान्तों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

सूर्यसिद्धान्त

पंचसिद्धान्तिका में वर्णित पाँचों सिद्धान्तों में सूर्यसिद्धान्त का विशेष महत्व है। क्योंकि अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा विस्तृत एवं सूक्ष्म है। आचार्य वराहमिहिर ने पांचों सिद्धान्तों का अनुशीलन कर तुलनात्मक दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त को अधिक सूक्ष्म एवं शुद्ध पाया। इस आशय को आचार्य ने पंचसिद्धान्तिका के आरम्भ में ही निम्नलिखित आर्या में प्रकट कर दिया है-

"स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ।।" (प.सि. ४)

"स्पष्टतरः सावित्रः" यह शब्द ही तुलनात्मक दृष्टिकोण को दर्शाता है। तथ्य भी है। सूर्यासिद्धान्त का वर्षमान ३६५/१५/३१/३० दिनादि अपेक्षाकृत शुद्ध माना गया। इसके साथ-साथ मध्यम सभी ग्रहों का साधन तथा उनका स्पष्टीकरण, तिथ्यादि साधन, ग्रहों की गतियों के वक्रत्व-मार्गत्व भेदों का निरूपण, ग्रहण गणित आदि का विवेचन सूर्यसिद्धान्तानुसार ही शुद्ध माना गया। वर्तमान समय में पंचसिद्धान्तिका के दो ही संस्करण उपलब्ध है। (१) जी. थीबो एवं महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित (२) टी. एस. कुप्पन्ना शास्त्री द्वारा सम्पादित। दोनों में ही सूर्यसिद्धान्त का वैशिष्ट्य प्रतिपादित है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने भी लिखा है कि सूर्यसिद्धान्त को सर्वाधिक महत्व देने का कारण दृक् प्रतीति में आने वाली स्पष्टता ही मालूम होती है।[१] इनके अनुसार पंचसिद्धान्तिका की १४वीं आर्या[२] में निर्दिष्ट अधिमास सूर्यसिद्धान्त के ही है। इसी प्रकार नवम अध्याय की २६वी तथा दशम अध्याय की ७वीं आर्याओं में सूर्य-चन्द्रानयन एवं ग्रहण का उल्लेख है।

इसी प्रकार ११वें अध्याय के ६ श्लोकों में ग्रहण का विचार है। ये सभी सूर्यासिद्धान्तानुसार हैं।

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ. २३१

२. वर्षायुते धृतिघ्ने नववसुगुणरसारसाः स्युरधिमासाः।। पं.सि. १४

सूर्यसिद्धान्त में युगारम्भ मध्यरात्रि से माना गया है तथा महायुग प्रमाण ४३२०००० वर्षों का स्वीकार कर तदनुसार ग्रहों की भगण सुख्या दी गई है-

नक्षत्र	-	१५८२२३७८००
रवि भगण	-	४३२००००
चन्द्र भगण	-	५७७५३३३६
चन्द्रोच्च	-	४८८२१६
भौम भगण	-	२२९६८२४
बुध भगण	-	१७९३७०००
गुरु भगण	-	३६४२२०
शुक्र भगण	-	७०२२३८८
शनि भगण	-	१४६५६४

उक्त मान पुलिस सिद्धान्त के मानों के आसन्न किन्तु उनसे सूक्ष्म थे। इसीलिए आचार्य ब्रह्मगुप्त और वराहमिहिर ने इनमें से अधिकोश मानों को ग्रहण किया था। सूर्यसिद्धान्त की शुद्धता का यह भी एक प्रमाण है। अतः निःसन्देह वराहमिहिर की उक्ति "स्पष्टतरः सावित्रः" परवर्ती आचार्यों द्वारा भी ग्राह्म एवं समादृत हुई।

नवीन सिद्धान्तपंचक

नवीन सिद्धान्तपंचक नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्तों का नामोल्लेख किया जा चुका है फिर भी परिचयात्मक दृष्टि से पुनः उनके नामों को लिखना आवश्यक हैं। इनके नाम हैं-सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, वसिष्ठ सिद्धान्त, रोमश सिद्धान्त तथा ब्राह्मसिद्धान्त (शाकल्य संहितोक्त)। इनमें सूर्यसिद्धान्त सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध है। इन सभी सिद्धान्तों को आर्ष सिद्धान्त माना जाता है। आचार्य कमलाकर भट्ट ने लिखा है-

ब्रह्मा प्राह नारदाय हिमगुर्यच्छौनकायामलम्।
माण्डव्याय च वसिष्ठसंज्ञकमुनिः सूर्यो मयायाह यत्।।

(सि.त.वि. म.का. ६५)

यहाँ चार सिद्धान्तों के मूल स्रोतों का उल्लेख किया गया है। जहाँ ब्रह्म ने नारद को उपदेश किया वह ब्राह्मसिद्धान्त, इसी प्रकार सोम (चन्द्र) ने शौनक ऋषि को उपदेश किया वह सोमसिद्धान्त, वसिष्ठ ने माण्डव्य को उपदेश किया तो वसिष्ठ सिद्धान्त तथा सूर्य ने मय को उपदेश किया तो सूर्यसिद्धान्त कहा गया है। सूर्यसिद्धान्त के आरम्भ में ही सूर्य और मय का संवाद दिया गया है। मय की तपस्या से संतुष्ट होकर स्वयं सूर्य ने मय से कहा-

न मे तेजः सहः कश्चित् आख्यातुं नास्ति मे क्षणः।
मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति।। (सू.सि. ६.६)

अर्थात् सूर्य के अंशावतार पुरुष ने मय को समग्र ज्योतिष शास्त्र की शिक्षा दी। अंशावतार पुरुष ने तात्कालिक स्थिति को स्पष्ट करते हुये कहा-

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलम्।। (सू.सि. १.६)

यह संवाद बहुत महत्वपूर्ण है। आज सूर्यसिद्धान्त को लेकर बहुत चर्चायें है। कुछ लोगों का कहना है कि यह परिष्कृत सूर्यसिद्धान्त लाट कृत है। आचार्य लाटदेव का समय वराहमिहिर से पहले का है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह पचंसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त ही है। केवल इसमें भगणादि मानों में संशोधन कर परिष्कृत कर दिया गया है। यह तर्क संगत है। क्योंकि काल भेद से अन्तर होने तथा उसके परिष्कार करने की परम्परा का संकेत सूर्यसिद्धान्त के उक्त श्लोक से मिल जाता है। अतः यह सम्भव है कि लाटदेव ने सूर्यसिद्धान्त में परिष्कार किया होगा। बेबर ने साक्ष्य के विपरीत मिश्र के राजा तालमयस, जिसे टालमी के नाम से भी जाना जाता है तथा जिसने अल्मजेस्ट नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी वह मय या मयासुर था। अर्थात् टालमी ने हीं सूर्यसिद्धान्त की रचना की परन्तु यह नितान्त भ्रामक है। प्रसिद्ध यात्री अलबेरुनी ने[1] सूर्यसिद्धान्त को लाटदेवकृत माना है। सभी मतों की समीक्षा के अनन्तर निष्कर्ष रूप में यही कहना उचित प्रतीत हो रहा है कि मूल सिद्धान्त को परिष्कृत कर नये सूर्यसिद्धान्त के रूप में लाटदेव ने ही प्रस्तुत किया है जो आज प्रचलित है।

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ. २२८

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में कुल १४ अधिकार हैं तथा कुल ५०० श्लोक हैं। इसमें वर्णित काल के अनुसार इसकी रचना सत्ययुग के अन्त में हुई हैं। "अल्पावशिष्टे तु कृते मयो नाम महासुरः।"[1]

अतः यदि सत्ययुग का अन्त भी मान ले तो कलि के आरम्भ से २१६०००० वर्ष पूर्व सूर्यसिद्धान्त का अस्तित्व सिद्ध होता है तथा इसके वर्तमान स्वरूप की रचना का समय शक ४२७ के पूर्व सिद्ध होता है। इस सूर्यसिद्धान्त की यह विशेषता है कि इसमें कल्पारम्भ और सृष्ट्यारम्भ के दो पृथक्-पृथक् काल हैं। इसके अनुसार ब्रह्मा को कल्पारम्भ से लेकर ४७४०० दिव्यवर्ष अर्थात् १७०६४००० सौर वर्ष तक का समय सृष्टि की रचना में लग जाता है। अन्य सिद्धान्तों में कल्पारम्भ से ही सृष्टि मान ली गई हैं।

सूर्यसिद्धान्त की टीकाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध रंगनाथ (शक १५२५) की गूढार्थ प्रकाशिका टीका है। इसके अतिरिक्त नृसिंह दैवज्ञ (१५४२ शक) का सौरभाष्य, विश्वनाथ दैवज्ञ की (१५५०) की सोदाहरण गहनार्थ प्रकाशिका, दादाभाई (१५५०) की किरणावली, यल्लयाचार्य की कल्पवल्ली आदि संस्कृत की प्रसिद्ध टीकायें हैं। मल्लिकार्जुन, चण्डेश्वर तथा कमलाकर भट्ट आदि की भी टीकाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु सभी प्रकाश में नहीं आई हैं। नवीन टीकाओं में १८६० ई. सन् में ई. बेन्जेर बर्गेस की अंग्रेजी व्याख्या, म.म. वापूदेव शास्त्री एवं प्रो. विटने की इंग्लिश कमेन्ट्री, म.म. सुधाकर द्विवेदी की सुधावर्षिणी संस्कृत टीका, महावीर प्रसाद श्रीवास्तव का विज्ञान भाष्य एवं श्री कपिलश्वेर शास्त्री की संस्कृत व्याख्या प्रसिद्ध है।

सोमसिद्धान्त-यह सिद्धान्त सोम (चन्द्र) द्वारा शौनक ऋषि को उपदेश किया गया है। इस सिद्धान्त में कुल १० अध्याय तथा ३३५ अनुष्टुप् छन्द है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे सूर्यसिद्धान्त के समकालीन माना गया है। कुछ विद्वानों ने इसे भी कलियुग में बना सूर्यसिद्धान्त से परवर्ती सिद्ध किया है।

वसिष्ठ सिद्धान्त-वसिष्ठ ऋषि ने माण्डव्य को जिस सिद्धान्त का उपदेश किया था उसे वसिष्ठ सिद्धान्त कहते है। इस सिद्धान्त की शैली अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा कुछ भिन्न है। इस सिद्धान्त में किसी भी ग्रह का भगणमान नहीं लिखा हुआ है केवल कक्षामान दिया गया है। उसी कक्षामान से भगणों का आनयन किया जाता है। इसी प्रकार बीच-बीच में

---

१. सू.सि. १.२

आचार्य वराहमिहिर ने समग्र ज्योतिषशास्त्र को सुव्यवस्थित कर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। इन्होंने सिद्धान्त स्कन्ध में पंचसिद्धान्तिका, संहिता स्कन्ध में बृहत्संहिता जिसे वाराही संहिता भी कहते है तथा होरास्कन्ध में लघुजातक, बृहज्जातक तथा योगयात्रा नामक ग्रन्थों का प्रणयन कर ज्योतिष शास्त्र की समग्रता को प्रदर्शित किया। ज्योतिष के इन तीनों स्कन्धों के प्रतिपाद्य विषयों का पृथक्-पृथक् अत्यन्त संक्षेप में परिचय इस प्रकार है-

सिद्धान्त-इस स्कन्ध में काल का विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है। काल के नव भेद बतलाये गये हैं[1], जो क्रमशः ब्राह्म, दिव्य, पितृ, प्रजापत्य, गौरव, सौर, चान्द्र, नाक्षत्र एवं सावन नाम से जाने जाते हैं। इनमें से सौर, चान्द्र, सावन और नाक्षत्र ये चार प्रकार के काल व्यावहारिक माने गये हैं।

सौर-सूर्य की गति के अनुसार सौरमान का निर्धारण होता है। सूर्य की एक अंश तुल्य गति सूर्य के एक सौर दिन की परिचायिका होती है। इसी प्रकार तीस अंशों में ३० दिन तथा एक राशि का भोगकाल हो जाता है। अतः ३० अंश अथवा एक राशि के भोगकाल को एक सौर मास, द्वादश राशियों के भोगकाल अथवा राशिचक्र के भ्रमणकाल, जिसे भगण कहा जाता है, के पूर्ण होने पर एक सौर वर्ष होता है।

चान्द्र-सूर्य और चन्द्रमा के अन्तरांश से तिथि का ज्ञान होता है जब सूर्य और चन्द्रमा का अन्तर १२ अंश हो जाता है तब एक तिथि होती है अथवा एक चान्द्र दिन होता है। सूर्य और चन्द्रमा के परमान्तर को पूर्णिमा तिथि जो पन्द्रहवें दिन आती है तथा सूर्य और चन्द्रमा के अन्तराभाव जो तीसवें दिन आता है उसे अमावस्या तिथि कहते हैं। यहां पर दिनप का अभिप्राय चान्ददिन अथवा तिथियों से हैं।[2] अतः एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक का काल एक चान्द्रमास कहलाता है।[3] मासों की गणना में यहाँ दो मत प्रचलित हैं-१. चान्द्रमास शुक्लदि-शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तक। २. चान्द्रमास कृष्णादि-कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक। प्रायः उत्तर भारत में कृष्ण प्रतिपदा से मासों का व्यवहार होता है, तथा दक्षिण में शुक्लादि मास ग्रहण किये जाते हैं। किन्तु अहर्गण साधन या ग्रहगणना में शुक्लादि मासों का ही सर्वत्र (उत्तर एवं दक्षिण में) व्यवहार होता है।

---

१. ब्राह्मं दिव्यं तथा पैत्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरञ्च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव।। सूर्यसिद्धान्त १४.१

२. अर्कोन चान्द्रलिप्तास्तु तिथयो भोगभाजिताः। सू.सि. २.६६

३. अमान्तादमान्तं चान्द्रो मासः।

नाक्षत्र-किसी भी एक नक्षत्र के उदयकाल से द्वितीय दिन के उदय काल तक का समय एक नाक्षत्र दिन कहलाता है।[1] यह निश्चित रूप से प्रतिदिन ६० घटी का होता है, इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। इसीलिए सूक्ष्म काल तथा लघु काल की इकाइयों का निर्धारण नाक्षत्र मान से ही किया जाता है।

सावन-एक सूर्योदस से दूसरे सूर्योदय तक के काल को सावन दिन अथवा पृथ्वी का दिन कहा जाता है।[2] उक्त चार प्रकार के कालमानों का दैनिक जीवन में व्यवहार की विधि आचार्यों ने सुनिश्चित कर दी है, अर्थात् काल की बड़ी इकाई कल्प, मनु, युग, वर्ष, ऋतु, की गणना सौरमान से, तिथि और मास की गणना चान्द्रमान से, दिन की गणना सावन मान से तथा काल की लघुतम इकाई घटी पल विपल आदि की गणना नाक्षत्रमान से की जाती है।

इस तरह काल का एक विस्तृत स्वरूप भारतीय ज्योतिषशास्त्र ने समाज को दिया है जो आज भी व्यवहार में यथावत प्रचलित है।

उक्त कालमानों के अनुसार अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाले ग्रहों के स्वरूप उनकी कक्षा गति का विवेचन किया गया है। ग्रहों की कक्षाओं का निर्धारण करते समय भूमि को आधार मानकर ग्रहों की क्रमशः चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, भौम, गुरु, शनि की ऊर्ध्व-ऊर्ध्व क्रम से कक्षायें कहीं गयी हैं[3]। पाठकों को भ्रम न हों इसलिए सिद्धान्तकारों ने स्पष्ट कर दिया है कि ग्रहों के कक्षा वृत्तों के केन्द्रमें पृथ्वी नहीं है।[4] प्रत्येक ग्रहों की अपनी-अपनी कक्षाओं में योजनात्मिक गति सामान ही कही गयी है किन्तु भूगर्थ से कक्षाओं की दूरी के अनुसार कोणीय मान से सभी ग्रहों की गतियाँ भिन्न-भिन्न कही गई हैं, जो गणितीय दृष्टि से सिद्ध है। इसी के आधार पर सभी ग्रहों के एक युग में तथा एक कल्प में भगणमान भी पठित किये गये हैं। इष्टकाल में सभी ग्रहों की स्थिति ज्ञात करने का भी विधान दिया गया है, जिसके आधार पर ग्रहों की युति, ग्रहण आदि का साधन किया जाता है। किसी भी आकाशीय पिण्ड के स्थिति को जानने के लिए गणित की आवश्यकता होती है। इसीलिए व्यक्त गणित (अंक गणित) एवं अव्यक्त गणित (बीज गणित) का विवेचन किया गया है।

---

१. भवासरस्तु भभ्रमः।। सिद्धान्त शिरोमणि म. २०

२. इनोदयद्वयान्तरं तदर्कसावनं दिनम्। तदेव

३. भूमेः पिण्डः शशांकज्ञकविरविकुजेज्यार्किकक्षावृत्तैर्वृत्तः।। सि.शि. गो. भू. २

४. भूमेर्मध्ये खलु भवलयस्यापि मध्यं यतः स्याद्।
यस्मिन् वृत्ते भ्रमति खचरो नास्य मध्यं कुमध्ये।। सि.श. गो. ज्यो. ७

पृथ्वी के वास्तविक स्वरूप को सर्वप्रथम भारतीय ज्योतिष ने ही प्रतिपादित किया। भूमि के गोलत्व एवं निराधारात्व को प्रपिपादित करते हुए भूमि के विभिन्न भागों में अवस्थित व्यक्तियों के एक दूसरे के सापेक्ष स्वरूप को भी बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति के सापेक्ष भूपृष्ठ पर ६० अंश की दूरी पर स्थित दूसरा व्यक्ति लेटा हुआ प्रतीत होता है, जिसका चरण भूतल पर तथा पूरा शरीर आकाश में निराधार लेटा होगा, तथा १८० अंश पर स्थित व्यक्ति का शिर तथा पैर ऊपर भूतल पर होगा, परन्तु जो व्यक्ति जहाँ है वह अपने आपको ऊपर ही समझता है। पृथ्वी के इस स्वरूप का अत्यन्त मनोरम चित्रण भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि में किया है।[1] इसी के साथ-साथ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[2] पृथ्वी की आकर्षक शक्ति के अन्वेषण का श्रेय वस्तुतः भास्कराचार्य को मिलना चाहिये। इसके अतिरिक्त पृथ्वी के द्वीपों समुद्रों पर्वतों एवं नदियों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ भूगोल एवं खगोल दोनों ही एक साथ प्रस्तुत किये गये हैं। भूसापेक्ष ग्रहों के साधन के लिये शंकु, घटी यन्त्र, तुरीय यन्त्र, स्वयंवह, नलिंका आदि अनेक यन्त्रों के भी वर्णन किये गये हैं। इन समस्त विषयों को सिद्धान्त स्कन्ध में विवेचित किया गया है। यह ज्योतिष का महत्वपूर्ण स्कन्ध है। इसे ज्योतिष का मेरुदण्ड भी कहा जाता है।

२. संहिता–यह भाग भी विस्तृत विषयों का आगार है। इसमें ग्रहों के संचार तथा उनके पृथ्वी एवं ब्राह्माण्ड में पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख किया गया है। अन्तरिक्ष के उत्पात उल्का, धूमकेतु, परिवेष, दिग्दाह, रजोवृष्टि, आदि विषयों का विवेचन एवं उनके परिणाम बतलाये गये हैं। आज के वैज्ञानिक भी रजोवृष्टि (कास्मिक डस्ट) जैसे रहस्यमय वर्णन से आश्चर्यचकित होते हैं। क्योंकि रजोवृष्टि का रहस्य आज भी सुलझ नहीं पाया है। इस तरह अनेक ऐसे वर्णन है जिनका कारण आज भी अज्ञात हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रमा का प्रसंग लिया जा सकता है। सन् १६.७.१६६६ ई. को "नील आर्मस्ट्रांग" जब चन्द्रतल पर अवतरण कर रहे थे उस समय उन्होंने चन्द्रमा में एक क्षणिक प्रकाश देखा था, जिसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी थी कुछ भारतीय विद्वानों ने इसे चन्द्रमा से निकलता हुआ देवत्व बतलाया था। किन्तु यह अशास्त्रीय एवं भ्रामक वक्तव्य था। चन्द्रमा

---

१. यो यत्र तिष्ठत्यवनीतल स्थमात्मानमस्या उपरि स्थितं च।
स मन्यतेऽतः कुचतुर्थसंस्थान् मिथश्च ये तिर्यगिवामनन्ति।
अधः शिरस्काः कुदलान्तरस्थाश्छायामनुष्या इव नीरतीरे।। सि.शि.भू. २१

२. आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे। सि.शि. मु. ६

पर प्रायः नीले पीले क्षणिक प्रकाशों का उल्लेख संहिताओं में मिलता है। अद्भुत सागर में भी इन प्रकाशों का उल्लेख है, जिसका उदाहरण मैंने अपने ग्रन्थ चन्द्रगोल विमर्श में किया हैं।[1] "पैट्रिक मूर" ने भी इस क्षणिक प्रकाश का उल्लेख अपने ग्रन्थ "गाइड टु द मून" में किया है।[2] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जब मैंने चन्द्रमा को दूरदर्शक यन्त्र से देखा तो ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ क्षण के लिए चन्द्रमा नीले बल्ब के प्रकाश के नीचे आ गया हो। ऐसी स्थितियाँ चन्द्र पिण्ड पर प्रायः होती रहती है। उसी प्रकार के एक दृश्य को नील आर्मस्ट्रांग ने भी देखा था। संहिता स्कन्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय कृषि और वर्षा है। कृषि के लिए उपयुक्त काल, उपकरण, बीज, उर्वरक, आदि का विवेचन किया गया है। पौधों और वृक्षों में अधिक फल लाने के लिए तथा शीघ्रफल उगाने की विधियों का निर्देश भी किया गया है, जो निरापद है जब कि आज की पद्धति अधिक उत्पादन की दृष्टि से सफल तो है किन्तु निरापद नहीं है। इसी तरह आज का वृष्टि विज्ञान भी कृषि की दृष्टि से बहुत उपयोगी नहीं है। क्योंकि ३६ घण्टे पूर्व तक ही आधुनिक विज्ञान स्पष्ट भविष्यवाणी करने में सक्षम है। अतः अल्पकालिक वैज्ञानिक भविष्यवाणियाँ कृषि के लिए उपयोगी नहीं मानी जा सकती। कृषि के लिए न्यूनतम एक मास पूर्व सूचना उपयोगी हो सकती है। जब कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र वर्षा का पूर्वानुमान स्थूल रूप में एक वर्ष पूर्व दे सकता है, तथा स्पष्टानुमान एक मास अथवा १६० दिन पूर्व भी दे सकता है। इनके अतिरिक्त भूगर्भस्थ जल, खनिज पदार्थों, रत्नों एवं कोयला आदि की उपस्थिति के ज्ञान की विधि वर्णित हैं। अंगविद्या (पुरुष एवं स्त्रियों के शुभाशुभ अंग लक्षण), पशु-पक्षियों के लक्षण तथा उनकी चेष्टाओं को समझने का अद्भुत विज्ञान इन संहिताओं में निहित है। संहिता का एक और अति महत्वपूर्ण विषय वास्तुशास्त्र है जिसमें गृहनिर्माण, ग्राम, नगर आदि के समुचित विन्यास की विधि, दुर्ग, राजमार्ग एवं सेतु निर्माण की विधियाँ वर्णित हैं।

आजकल वास्तुशास्त्र को ज्योतिषशास्त्र से पृथक कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है जो भ्रामक है। वास्तु का विस्तृत विवेचन संहिता ग्रन्थों में मूल रूप में आज भी सुरक्षित है।

मुहूर्त्त-षोडश संस्कारों, कृषि, व्यवसाय, वास्तु तथा यात्रा को मुख्य लक्ष्यकर तत्तत् कार्यों के लिए उपयुक्त काल (समय) का निर्धारण ही मुहूर्त्त कहलाता है। मुहूर्त्त का प्रचार व्यापक रूप से है। इससे आम जनता भी सुपरिचित है तथा समय पर इसका उपयोग

---

१. चन्द्रगोल विमर्शः, पृ. २११
२. तदेव

करती है। षोडश संस्कारों के लिए उपयुक्त काल निर्धारित किये गये हैं यथा गर्भ के तीसरे मास में पुंसवन, जन्म के बाद आठ से बारह वर्ष के भीतर उपनयन आदि सभी कार्यों के लिए शुभ समय का निर्धारण, तिथि-वार तथा नक्षत्रों के आधार पर किया जाता है। कार्यानुसार नक्षत्र भी सुनिश्चित किये गये हैं। सरलता के लिए तिथियों का नन्दा-भद्रा-जया-रिक्ता तथा पूर्णा नाम से विभाजन किया गया है। इसी प्रकार नक्षत्रों का ध्रुव (स्थिर), चर, मृदु, क्रूर आदि संज्ञाओं से वर्गीकरण किया गया है। ध्रुवादि प्रकृति के आधार पर प्रायः विविध कार्यों में नक्षत्रों की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता निर्धारित की गई है। संस्कारों में उक्त संज्ञाओं की प्रकृति का विचार नहीं होता वहाँ प्रत्येक संस्कार हेतु नक्षत्र निर्धारित कर दिये गये है। उन्हीं नक्षत्रों में उनका सम्पादन किया जाता है। प्रायः शुभकाल (मुहूर्त्त) निर्धारण में पंचांगों (तिथि-वार-नक्षत्र-योग-करण) का विचार किया जाता है। मुहूर्त्तों के साथ प्रकृति का भी सम्बन्ध रहता है। कुछ मुहूर्त्त सार्वकालिक होते हैं। कुछ केवल उत्तरायण में ही होते। कुछ कार्य विशेष मासों में ही विहित है।

मुहूर्त्तों विशेषकर तिथियों का विचार वैदिक काल से ही चला आ रहा है। दर्शपौर्णमास-अन्वष्टका आदि के प्रसंग इसके उदाहरण हैं। किन्तु व्यवस्थित रूप में मुहूर्त्तों का प्रचलन संहिता काल से हुआ। शक ५०० के बाद से मुहूर्त्तों का प्रचलन अधिक बढ़ गया। दैनन्दिन व्यवहार में आने के कारण संहिताओं से पृथक् सम्बन्ध मुहूर्त्त ग्रन्थों की रचनायें होने लगी। लगभग ५६० शकाब्द में लल्ल द्वारा विरचित रत्नकोश सर्वाधिक प्राचीन मुहूर्त्त ग्रन्थ माना जाता है। आजकल श्रीरामदैवज्ञ विरचित मुहूर्त्तचिन्तामणि का सर्वाधिक प्रचार है।

शकुन-संहिता स्कन्ध का एक महत्वपूर्ण विषय शकुन भी है। प्राकृतिक घटनाओं, पशुपक्षियों की चेष्टाओं, स्वप्न, स्वर, अंगस्फुरण, छिक्का, पल्लीपतन आदि के आधार पर तात्कालिक तथा निकट भविष्य में सम्भाव्य शुभाशुभ का विचार शकुनों के आधार पर किया गया है। पुराणों तथा काव्य ग्रन्थों में इन शकुनों का प्रयोग प्रायः देखा जाता है। विशेषकर युद्ध यात्राओं में शकुनों का वर्णन देखने को मिलता है। वाल्मीकि ने युद्ध हेतु प्रस्थान करते समय शकुनों का उल्लेख किया है-

निमित्तानि निमित्तिज्ञो दृष्ट्वा लक्ष्मण पूर्वजः।
सौमित्रिं संपरिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत्।।
लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम्।
प्रबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानररक्षसाम्।।

वाताश्च कलुषा वान्ति कम्पते च वसुन्धरा।
पर्वताग्राणि वेपन्ते पतन्ति च महीरुहाः।।
रजसा महता चापि नक्षत्राणि हतानि च।
युगान्तमिव लोकानां पश्य शंसन्ति लक्ष्मण।।
काकाः श्येनास्तथा नीचा गृध्राः परिपतन्ति च।
शिवाश्चाप्यशुभान् नादान् नदन्ति सुमहाभयान्।।[1]

पुराणों में भी शिव और अन्धक के युद्ध समय भी शुभ-अशुभ शकुनों का उल्लेख किया गया है-

रणाय निर्गच्छति लोकपाले, महेश्वरे शूलधरे महर्षे ।
शुभानि सौम्यानि सुमंगलानि जातानि चिह्नानि जयाय शम्भोः।।
शिवा स्थिता वामतरेऽथ भागे प्रयाति चाग्रे स्वनमुन्नदन्ती।
क्रव्यादसंघाश्च तथामिषैषिणः प्रयान्ति हृष्टास्तृषितासृगर्थे।।[2]

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से ही शकुनों की परम्परा देखने को मिलती है। शुभाशुभ निर्णय में प्राकृत लक्षणों के साथ-साथ स्वरों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। शक १०९७ में नरपतिजयचर्या नामक ग्रन्थ की रचना की गयी, जो मूलतः स्वरशास्त्र पर आधारित है। इस ग्रन्थ में समर में विजय हेतु स्वरों के बल, भूबल और वायुबल आदि की प्रबल भूमिका का उल्लेख करते हुये उनके ज्ञान की विधि बतलाई है। उसके बाद अनेक शकुन एवं स्वरशास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। कुछ विद्वानों ने मुहूर्तों और शकुनों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुये ज्योतिषशास्त्र को त्रिस्कन्ध न मानते हुये इन्हें पचंस्कन्धात्मक स्वीकार किया है। शकुन और मुहूर्त्त भी स्वतन्त्र स्कन्ध के रूप में परिगणित हुये। इन सब विषयों को देखते हुये स्पष्ट है कि संहिता स्कन्ध का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

३. होरा-इस स्कन्ध में गणितागत ग्रहों के आधार पर प्राणियों पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख किया गया है। कालक्रम से होरा का कुछ संकुचन हुआ है, जो आज केवल मनुष्य मात्र तक ही सीमित रह गया है। होराशास्त्र में आधान काल से प्रसवकाल तक गर्भस्थ शिशु के विकास क्रम को स्पष्टतः प्रकाशित किया गया है तथा उस अवधि में

---

१. वा.रा. यु.का. अ. २३
२. वा.यु.पु. ४२. १३, १४

सम्भावित अवरोधों एवं आपदाओं का भी निरूपण किया गया है। इसके अनन्तर प्रसवकाल से जीवन के अन्त तक की शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं, उनके विकास एवं ह्रास का समयानुसार समुचित विवेचन किया गया है। व्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण इस स्कन्ध का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ, तथा आज समस्त विश्व में भारतीय ज्योतिष के प्रतिनिधि के रूप में होरा स्कन्ध जाना जाता है। आज विश्व में होराशास्त्र के प्रचार से जहाँ अत्यधिक प्रतिष्ठा बढ़ी है वहीं इसके अत्यधिक दुरुपयोग से इसकी प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न भी लगे। इसकी उपयोगिता और व्यवहारिकता के कारण कालान्तर में इस स्कन्ध के भी दो विभाग हो गये-१. जातक, २. ताजिक।

जातक-जन्म लेने वाले शिशु को जातक कहा जाता है। जातक के जीवन पर प्रकाश डालने वाला शास्त्र जातकशास्त्र कहा गया। मूल रूप में यह होराशास्त्र ही है। इसमें जन्मलग्न के आधार पर प्रसवकालिक परिस्थिति, माता-पिता तथा शिशु के विषय में अनेक प्रकार की सूचनायें दी गई हैं। कभी-कभी जन्म देने वाली माता तथा नवजात शिशु दोनों साथ साथ संकट में आ जाते है। अतः उनकी तात्कालिक शारीरिक स्थिति एवं स्वास्थ्य के विषय में भी विस्तृत विवेचन किया गया है। यथा- नालवेष्टित जन्म-

शशांके पापलग्ने वा वृश्चिकेश त्रिभागगे।
शुभैः स्वावस्थितैर्जातः सर्पस्तद्वेष्टितोऽपि वा।।
चतुष्पदगते भानौ शेषैर्वीर्यसमन्वितैः।
द्वितनुस्थैश्च यमलौ भवतः कोशवेष्टितौ।। (बृ.जा. ५.३-४)

इन योगों में जातक गर्भ में ही नाल से वेष्टित हो जाता है। कभी-कभी गर्भ में ही शिशु की मृत्यु हो जाती है, कभी जन्म लेने के बाद मृत्यु होती है। कभी-कभी जीवन सुरक्षित भी रहता है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार ऐसी परिस्थिति में चिकित्सक स्वाभाविक प्रसव की प्रतीक्षा न कर शल्यक्रिया द्वारा शिशु एवं माता दोनों की रक्षा का प्रयास करते हैं।

नवजात शिशु के शारीरिक कष्टों तथा आयु में बाधक योगों को अरिष्ट योग कहा

जाता है। अरिष्टकाल की अवधि प्रायः जन्म समय से १२ वर्ष तक कही गयी है किन्तु कुछ ग्रन्थों में अरिष्टकाल २४ वर्षों तक तथा गुप्त अरिष्ट २६ वर्षों तक माना गया है।[1]

यद्यिप जातक शब्द से जन्मकाल से ही ज्योतिष का सम्बन्ध सिद्ध होता है, किन्तु ऐसा नहीं है। ज्योतिष जन्म से पूर्व आधान काल से आरम्भ होता है। आधान से प्रसव तक के दश मासों में गर्भ के विकासक्रम को बतलाते हुये प्रत्येक मासों के स्वामियों का भी उल्लेख किया गया है। इसी आधार पर गर्भ की पुष्टि अथवा ह्रास का निरूपण किया जाता है।

नवजात शिशु की जन्मकालिक ग्रहस्थिति के आधार पर उसकी आयु सुख-दुःख तथा जीवन की अन्य घटनाओं का ज्ञान किया जाता है। ग्रहस्थिति दर्शाने वाले चक्र को जन्मांग चक्र कहा जाता है जो वस्तुतः जन्मकालिक आकाशीय मानचित्र होता है। सर्वप्रथम ग्रहों की स्थिति के आधार पर आयु का निर्णय कर अन्य शुभाशुभ लक्षणों का निर्देश किया जाता है। कहा गया है- **"पूर्वामायुः परीक्षेत ततो लक्षणमादिशेत्।।"**

जातकशास्त्र में शिशु के जन्म समय का विशेष महत्त्व होता है। जन्मस्थान के अक्षांश एवं देशान्तर के आधार पर स्थानीय क्षितिज का ज्ञानकर पूर्व क्षितिज को स्पर्श करने वाली लग्न को जन्मलग्न मान कर जन्म चक्र का निर्माण किया जाता है। तत्कालीन ग्रह जिन जिन राशियों में होते उनको उन्हीं राशियों में होते उनको उन्हीं राशियों में स्थापित करने से जन्मांग चक्र निर्मित होता है। इसी जन्म लग्न को प्रथम भाव मानकर बारह राशियों में बारह भावों की संज्ञा स्थिर की गई है।

बारह भावों के नाम है- तनु, २. धन, ३. सहज, ४. सुहृद् ५. सुत, ६. रिपु, ७. जाया, ८. मृत्यु (आयु), ९. भाग्य, १०.कर्म, ११. लाभ तथा १२. व्यय।

इनके नामों के अनुसार सम्बन्धित विषयों का विचार किया जाता है। इन्हीं द्वादश भावों द्वारा मानव जीवन से सम्बन्धित समग्र विचार किये जाते हैं।

भावों से सम्बन्धित फलों में सूक्ष्मता हेतु होरा, द्रेष्काण, सप्तमांश, नवमांश, द्वादशांश एवं त्रिंशांश नामक षड्वर्गों का विधान किया गया है, जो ग्रहों के भोगांशों के आधार पर

---

१. चतुर्विंशति वर्षाणि यावद्गच्छन्ति जन्मतः।
तावद्रिष्टं विनिश्चित्य आयुर्दायं न चिन्तयेत्।।
नवनेत्राणि वर्षाणि यावद्गच्छति जन्मतः।
तावद्रिष्टं विधातव्यं गुप्तरूपं न चान्यथा।। पंचस्वरा ९, १०

निर्धारित किये जाते हैं। तत्तद् भावों में स्थित राशियों के स्वामी उन भावों के स्वामी माने जाते है। सभी भावों के स्थिर और चरकारक ग्रह भी बतायें गये है। किसी भी भाव का फल ज्ञात करने के लिए, भाव, भावेश तथा भाव के कारक ग्रहों का विचार आवश्यक होता है।[1]

ग्रहों की दृष्टि के सम्बन्ध में कहा गया है कि सभी ग्रह अपने स्थान से सातवें भाव में स्थित ग्रह तथा भाव को पूर्ण दृष्टि से देखते है। मंगल, गुरु और शनि, ये तीन ग्रह सातवें के अतिरिक्त क्रमशः चौथे आठवें, पंचम-नवम तथा तृतीय-दशम भावों को भी पूर्ण दृष्टि से देखते हैं। दृष्टि का सामान्य अभिप्राय यह है कि द्रष्टा ग्रह दृश्य ग्रह या भाव को अपने स्वभावानुकूल प्रभावित करता है। इसीलिए दृष्टि का विशेष महत्व बतलाया गया है।

ग्रहों की युति और विशेष प्रकार की स्थिति के आधार पर अनेक विशिष्ट योगों का भी निरूपण किया गया है। जिनमें राजयोग, चक्रयोग, चक्रवर्ती योग, गजकेशरी योग, आमला योग, आकृति योग, दल योग आदि प्रमुख हैं।[2] इन सबका विस्तृत विवेचन होरा ग्रन्थों में किया गया है।

ग्रहों के काल बल, स्थान बल, दिग्बल आदि षड्बल बताये गये हैं, जिनसे ग्रहों के प्रभाव की क्षमता का आकलन किया जाता है। दूसरी विधि ग्रहों के बलाबल को ज्ञात करने की रेखाष्टक द्वारा बतलाई गई है। ग्रहों के रेखाप्रद स्थान बताये गये हैं जिनके अनुसार प्रत्येक भावों में रखायें और बिन्दु दिये जाते है। रेखा अधिक होने पर ग्रह बलवान तथा शून्य अधिक होने से ग्रह तथा भाव निर्बल माने जाते है।

किसी भी शुभाशुभ घटना का समय ज्ञात करने के लिए ग्रहों की दशाओं का साधन किया जाता है। होराशास्त्र में १२० वर्षों की विंशोत्तरी १०८ वर्षों की अष्टोत्तरी तथा कालचक्र, मण्डूक, चर आदि अनेक प्रकार की दशाओं का उल्लेख किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन बृहत् पराशर होराशास्त्र में उपलब्ध है। आजकल प्रायः विंशोत्तरी, अष्टोत्तरी तथा योगिनी दशा का ही व्यवहार देखने में आता है।

होराशास्त्र में तीन परम्परायें अधिक प्रचलित हैं।

---

१. भावाद् भावपतेश्च कारकवशात् तत्तद् फलं योजयेत्। (फ.दी.)
२. ताजिकनीलकण्ठी १.३.१५-१६

१. **पराशर**-पराशर की परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है बृहत्पाराशर-होराशास्त्रम्, इसे कहीं-कहीं बृहत्पराशरी भी कहा जाता है। इसके रचनाकाल का ज्ञान नहीं है। अतः इसे आर्ष ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं पूर्व खण्ड तथा उत्तर खण्ड। पूर्वखण्ड में कुल ८० अध्याय तथा उत्तर खण्ड में २० अध्याय हैं। कुल १०० अध्याय है जिसकी पुष्टि पाराशरी के अन्तिम श्लोक से होती है।

एवं होराशताध्यायी सर्वपापप्रणाशिनी।
युगेषु च चतुर्ष्वेव प्रत्यक्षफलदायिनी।। (उ.ख. २०.१४)

उक्त पद्य में पाराशरी का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है चारों युगों में पाराशरी प्रत्यक्ष फल देनेवाली है।

किन्तु किसी आचार्य ने पाराशरी की विशेष महत्ता कलियुग में ही बतलाई है-

कृते तु मानवं शास्त्रं वादरायणिः।
द्वापरे शंखलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः।।[1]

पाराशरी मूल रूप में कहीं सुरक्षित नहीं मिली है। यत्र तत्र इसके अंश बिखरे हुये मिले। इसके मूल पाठ को संग्रहीत कर मुद्रित करने का प्रयास सर्वप्रथम शक १८१४ में श्रीधरशिवलाल ने किया तदनन्तर शक १८३७ में वेंकटेश्वर प्रेस ने मुद्रित किया। परन्तु आज तक जितने भी संस्करण बृहत्पारशर होराशास्त्र के मिले हैं सबमें अन्तर पाये जाते हैं।

अतः निर्विवाद रूप से यह कह पाना कठिन होगा कि बृहत्पाराशर होराशास्त्र में कितने मूल पाठ है तथा कितने प्रक्षिप्त हैं। किन्तु यह निर्विवाद है कि पाराशरी की परम्परा आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है। इसी का अंश लघु-पाराशरी के रूप में अत्यधिक चर्चित होने के साथ-साथ में व्यवहार में भी है।

जैमिनि-जैमिनि का भी काल अज्ञात है। इनका ग्रन्थ 'जैमिनिसूत्रम्' उपलब्ध है। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक है। इस ग्रन्थ में कटपयादि संख्याओं के आधार पर भावों की संज्ञायें दी गई हैं तथा दृष्टि आदि का विचार भी पराशर की परम्परा से भिन्न है। अन्य परम्पराओं में ग्रहों की दृष्टि बतलाई गई है किन्त जैमिनी ने राशियों की दृष्टि बताई है। कहा है-

"अभिपश्यन्त्यृक्षाणि पार्श्वभे च।।"[2]

---

१. वृ.पा. हो., वेंकटेश्वर प्रेस, पृ. ४
२. जैमिनी सूत्र व्याख्या।

अर्थात् सभी राशियाँ अपनी सम्मुखस्थ तथा पार्श्ववर्ती राशियों को देखती हैं। इस दृष्टि के नियम की पूर्ण रूप से व्याख्या करने हेतु दूसरे नियमों का सहारा लेना पड़ता है तभी उक्त सूत्र का आशय स्पष्ट होता है। वृद्धवचन नाम से उक्त सूत्र की कुंजी दी गई है यथा-

चरं धनं बिना स्थास्नुं स्थिरमन्त्यं विना चरम्।
युग्मं स्वेन विना युग्मं पश्यन्तीत्ययमागमः।।

अर्थात् चर राशियाँ पार्श्ववर्ती स्थिर राशि को छोड़कर शेष स्थिर राशियों को, स्थिर राशियाँ पार्श्ववर्ती बारहवीं चर राशि को छोड़कर शेष चर राशियों को तथा द्विस्वभाव राशियाँ अपने को छोड़कर शेष द्विस्वभाव राशियों को देखती हैं।

जैमिनि ने आयुसाधन में अपनी विशेषता प्रदर्शित की है। लोक प्रसिद्धि है कि जैमिनी के मतानुसार रोग निर्णय तथा आयुनिर्णय अधिक स्पष्ट एवं समीचीन होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर जैमिनि सूत्र के उपलब्ध संस्करणों पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। पहला तो वराहमिहिर और भट्टोत्पल ने जैमिनि सूत्र का उल्लेख नहीं किया है। दूसरा रिःफ आदि पारसीक भाषा के शब्दों का प्रयोग मूल जैमिनी सूत्र में प्रक्षेप की ओर इंगित करते हैं। यह भी सम्भव है, जैमिनिसूत्र का प्रचार वराहमिहिर के काल तक नहीं हो सका हो। अतः जैमिनि के विषय में निर्णयात्मक तथ्य प्रस्तुत करना कठिन है।

वराहमिहिर-मानवकृत् जातक के ग्रन्थों में सर्वप्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य वराहमिहिर के हैं। जातक ग्रन्थों में बृहज्जातक, लघुजातक तथा योगयात्रा अतिप्रसिद्ध हैं। वराहमिहिर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थों के आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने स्वयं लिखा हैं-

"मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार।"

आचार्य वराहमिहिर के ग्रन्थों पर आचार्य भट्टोत्पल की टीकायें प्रामाणिक और प्राचीनतम मानी जाती है। उक्त परम्पराओं के मूल आचार्यों में वराहमिहिर ही ऐसे आचार्य हैं जिनके काल को ज्ञात करने का आधार उपलब्ध है। अनुमानतः इनका जन्म शक ४०७ के आसन्न तथा अवसान शक ५०६ में हुआ है। इतिहासकारों के मतानुसार आचार्य वराहमिहिर के काल से लगभग ८०० वर्ष पूर्व जातक ग्रन्थों का व्यवहार आरम्भ हो गया

था। शकारम्भ काल से ५०० वर्ष पूर्व मेषादि राशियों का व्यवहार रहा है। लगभग उसी काल में जातकशास्त्र के वर्तमान स्वरूप का आरम्भ हुआ होगा। आचार्य वराहमिहिर के बाद से पौरुष ग्रन्थों की रचना आरम्भ हुई।

ताजिक-ताजिक शास्त्र में तात्कालिक फलादेश का विधान मुख्य रूप से गोचर पर आधारित है। जन्मकालिक सूर्य के राशि-अंश तुल्य जब पुनः सूर्य होता है (अर्थात् ३६५ दिन १५ घटी ३१ कला ३० विकला के बाद सूर्य पुनः जन्मकालिक राशि अंशों पर आ जाता है) तब एक वर्ष पूर्ण होता है। तथा नूतन वर्ष का प्रवेश होता है। इसी प्रवेश कालिक समय को आधार मानकर जातकोक्त विधि से साधित लग्न वर्षलग्न हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष का पृथक्-पृथक् वर्षलग्न ज्ञात कर एक वर्ष के भविष्य का निर्धारण किया जाता है। अतः ताजिकशास्त्र में दशाओं की अवधि भी एक वर्ष की होती है। ताजिकशास्त्र में मुख्यरूप से मुद्दादशा तथा पात्यायनी दशा का साधन किया जाता है। मुद्दा दशा में एक वर्ष के अन्दर सभी नवग्रहों की दशायें पूर्ण हो जाती हैं, जिनके दशामन मास और दिवसों में सुनिश्चित है। पात्यायनी दशा में सूर्यादि सात ग्रहों तथा लग्न की दशा होती है। इस दशा में ग्रहों के क्रम उनके अंशों के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं।

मूलतः यह पद्धति अरब देशों से आई है। शक १४८० में गणेश दैवज्ञ ने ताजिकभूषण पद्धति में लिखा है-

''गर्गाद्यैर्यवनैश्च रोमकमुखैः सत्यादिभिः कीर्तितं शास्त्रं ताजिकसंज्ञकमिति।''

कालक्रम से तथा परस्पर ज्योतिष विद्या के आदान प्रदान से वर्ष पद्धति (ताजिक) का समावेश भारतीय ज्योतिष में हो गया। कहीं-कहीं पर पारिभाषिक शब्दों को यथावत् स्वीकार उन्हें संस्कृत में प्रयोग किया गया है। जैसा कि ताजिक के प्रसिद्ध षोडश योगों द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

प्रागिक्कबालोऽपर इन्दुवारस्तदेत्थशालोऽपर ईसराफः।
नक्तं ततः स्याद्यमया मणाऊ कम्बूलतो गैरिकम्बूलमुक्तम्।
खल्लासरं रद्दमथो दुफालिकुत्थं च दुत्थोत्थदिवीरनामा।
तम्बीरकुत्थौ दुरफश्च योगाः स्यु षोडशैषां कथयामि लक्ष्म।।'

---

१. ताजिकनीलकण्ठी १.३.१५-१६

वर्षपद्धति (ताजिक) में ग्रहों के समान ही 'मुन्था' का भी महत्त्व है। 'मुन्था' शब्द का प्रयोग जातक पद्धति में कहीं भी नहीं है। एक प्रकार से यह मुन्था वर्षारम्भ तथा व्यक्ति के जीवन में कितने वर्ष बीत चुके हैं इसकी परिचायिका होती है। जन्म समय में जन्मलग्न के तुल्य ही मुन्था भी होती है। प्रतिवर्ष एक-एक राशि मुन्था आगे बढ़ती है। मुन्था का प्रयोग मास प्रवेश में भी किया जाता है। मुन्था की वार्षिक गति १ राशि अर्थात् ३० अंश है। अतः मासिक गति २०/३० कला तथा प्रतिदिन की गति ५ कला होती है।[1] इसका व्यवहार दैनिक फलादेश के लिए किया जाता है।

ताजिक का एक प्रमुख विषय वर्षेश निर्णय भी है। यहाँ वर्षलग्न का स्वामी ही वर्षेश हो यह आवश्यक नही है, क्योंकि ताजिकशास्त्र में वर्षेश हेतु पंचाधिकारी[2] बताये गये हैं। इनमें जो बलवान होकर वर्षलग्न को देखता है। वही वर्षेश होता है।

ताजिकशास्त्र की उपयोगिता बतलाते हुये कहा गया है कि जातकशास्त्र समग्रजीवन का प्रतिपादन करता है। अतः वह स्थूल है। व्यक्ति के जीवन में वार्षिक फलादेश द्वारा सूक्ष्मता लाई जा सकती है। सूक्ष्म फल एवं सूक्ष्म काल के ज्ञान हेतु, है-

जातकोदितदशाफलं यतः स्थूल कालफलदं स्फुटं नृणाम्।
तत्र न स्फुरति दैवविन्मतिस्तद्ब्रुवेऽब्दफलमादिताजिकात्।।

गर्गादि आचार्यों के साथ ताजिकशास्त्र को जोड़ दिया गया है।

रमल-यह पाशक विद्या है। प्रश्नकाल में फेंके गये पाशे पर अंकित चिह्नों के आधारों के आधार पर फलादेश किया जाता है। रमलशास्त्र में अरबी भाषा के शब्द संस्कृत की विभक्तियों के साथ प्रयुक्त हैं, जैसा कि ताजिक ग्रन्थों में किया गया है। रमल शब्द स्वयं भी अरबी शब्द है। वस्तुतः यह प्रश्न द्वारा फल ज्ञात करने की विधि है।

नाड़ीग्रन्थ-केरल में नाड़ी ग्रन्थों का प्रचार है। ये ग्रन्थः प्रायः ताडपत्र पर मलयालम लिपि में लिखे गये हैं। ध्रुवनाड़ी, चन्द्रनाड़ी, अगस्त्यनाड़ी आदि नाड़ी ग्रन्थ हैं। कहा जाता है कि सत्याचार्य द्वारा लिखित ध्रुवनाड़ी अन्य नाड़ी ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

रामचन्द्र पाण्डेय

---

१. ताजिकनीलकण्ठी १.३.१५-१६
२. ताजिकनीलकण्ठी १.३.१५-१६

विषय अनुक्रम

●●●

वेदाङ्ग-ज्यौतिषम्
(महात्मा लगध प्रणीत वेदाङ्ग ज्यौतिष)

१. **प्रयोजन**-दिवस, ऋतु, अयन और मास जिसके अंग हैं ऐसे पञ्चसंवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापति को नतमस्तक नमस्कार कर (मैं) पवित्र होता हुआ (अथवा शुचि नामक ज्योतिर्विद) यथाक्रम आकाशस्थ ज्योतियों के गमन (सूर्यादि ग्रहों की गति, स्थिति) को कहता हूँ जो पुण्यप्रद तथा यज्ञकाल की सिद्धि के लिए ब्राह्मणों में इन्द्र (श्रेष्ठ) अर्थात् ज्योतिर्विदों द्वारा सम्मत (स्वीकृत) है।

२. **ज्योतिष प्रशंसा**-वेद यज्ञों के लिए प्रेरित करते हैं। यज्ञ काल के अधीन हैं (क्योंकि यज्ञ के लिए उचित दिन, ऋतु, अयनादि का विचार किया जाता है) इसलिए यह (ज्योतिष) शास्त्र कालविधान-शास्त्र है। जो ज्योतिष को जानता है वह (दर्श, पौर्णमासादि) यज्ञों को भी जानता है।

३. **मङ्गलाचरण**-काल को नतमस्तक प्रणाम कर तथा सरस्वती का अभिवादन कर महात्मा लगध के द्वारा प्रणीत कालज्ञान का वर्णन करता हूँ।

४. **गणितप्रशंसा**-जिस प्रकार मयूरों की शिखा एवं नागों की मणियां उनके मस्तक पर शोभित होती हैं उसी प्रकार वेदाङ्ग शास्त्रों में गणितशास्त्र शिर स्थान में स्थित है अर्थात् गणितशास्त्र की प्रधानता है।

५. **युगारम्भ एवं समाप्ति**-माघ शुक्ल (प्रतिपदा) से प्रारम्भ एवं पौष कृष्ण (अमावस्या) को समाप्त होने वाले पञ्चवर्षात्मक युग के काल (सौर, चान्द्र, सावन नाक्षत्र रूपी) ज्ञान को कहते हैं।

६. **युगादि प्रवृत्ति**-जब चन्द्र और सूर्य एकत्र वासव (= धनिष्ठा) नक्षत्र में प्राप्त होकर आकाश में आक्रमण (अर्थात् दृष्टिगोचर) करते हैं तव युग, माघ (मास), तपस्[1] शुक्ल (पक्ष) और उत्तरायण का आरम्भ होता है।

७. **अयनारम्भ**- श्रविष्ठादि (= धनिष्ठा के आरम्भ) में सूर्य व चन्द्रमा उत्तर की ओर गमन (उत्तरायण) करते हैं तथा सार्पार्ध (= आश्लेषा के आधे) में दक्षिण की ओर प्रवृत्त (दक्षिणायन) होते हैं। सर्वदा सूर्य माघ एवं श्रावण मासों में (क्रमशः) उत्तर एवं दक्षिण (की ओर भ्रमण करता है)।

८. **दिन एवं रात्रिमान में ह्रासवृद्धि प्रमाण**- (सूर्य के) उत्तरायण में रहने पर जल के एक प्रस्थ (= ४/६१ घटी) के वरावर घर्म (दिन) की वृद्धि एवं एक प्रस्थ ही क्षपा

---

१. तपस् शब्द माघ मास का वैदिक नाम है। संभवतया यहाँ तपस् से 'शिशिर ऋतु का प्रारम्भ' से तात्पर्य है क्योंकि "तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू" (तै.सं. ४।४।११) 'तपस्' शिशिर ऋतु का प्रारम्भिक मास है।

(रात्रि) का ह्रास होता है। दक्षिणायन में इसके विपरीत स्थिति होती है (अर्थात् १ प्रस्थ दिनमान का ह्रास एवं १ प्रस्थ रात्रिमान में वृद्धि होती है)। एक अयन से दूसरे अयन में दिनरात्रि में ६ मुहूर्त्त (= १२ घटिका) की ह्रास वृद्धि[1] होती है।

९. **पञ्चवर्षात्मक युग में अयनारम्भ तिथियाँ**- प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी चतुर्थी और दशमी (ये तिथियाँ) दो बार अयनादि होती हैं। वे क्रमशः २-२ (अयनों की) आदि (तिथि) होती हैं। कृष्णपक्ष में भी (अयन) होता है।

विशेषार्थ- शुक्लपक्ष की १, ७, १३ तथा कृष्णपक्ष की ४, १० पुनः शुक्लपक्ष की १, ७, १३ एवं कृष्णपक्ष की ४, १० ये तिथियाँ पाँच सम्वत्सरों में होने वाले सूर्य के १० अयनों की आरम्भ तिथियां है। अयन माघ एवं श्रावण में होते हैं अतः क्रमशः ये तिथियां माघ एवं श्रावण मास की हैं।

१०. **अयनारम्भ में चान्द्रनक्षत्र एवं सूर्यनक्षत्रों में ऋतुयान**- वसु (धनिष्ठा), त्वष्टा (चित्रा), भव (आर्द्रा), अज (पूर्वाभाद्रपद), मित्र (अनुराधा), सार्प (आश्लेषा), अश्विनौ (अश्विनी), जल (पूर्वाषाढा), अर्यमा (उत्तराफाल्गुनी) कः (रोहिणी)-ये अयनारम्भ में चन्द्र नक्षत्र हैं। ४ १/२ नक्षत्रों (सूर्य के नक्षत्रों) की एक ऋतु होती है।

पञ्चसंवत्सर = १ युग

वर्ष	अयन	आरम्भतिथि	नक्षत्र
प्रथम	१. प्रथम (उत्तरायण)	माघ शुक्ल १	धनिष्ठा
प्रथम	२. द्वितीय (दक्षिणायन)	श्रावण शुक्ल ७	चित्रा
द्वितीय	१. तृतीय (उत्तरायण)	माघ शुक्ल १३	आर्द्रा
द्वितीय	२. चतुर्थ (दक्षिणायन)	श्रावण कृष्ण ४	पूर्वाभाद्रपद
तृतीय	१. पञ्चम (उत्तरायण)	माघ कृष्ण १०	अनुराधा
तृतीय	२. षष्ठ (दक्षिणायन)	श्रावण शुक्ल १	आश्लेषा
चतुर्थ	१. सप्तम (उत्तरायण)	माघ शुक्ल ७	अश्विनी
चतुर्थ	२. अष्टम (दक्षिणायन)	श्रावण शुक्ल १३	पूर्वाषाढा
पञ्चम	१. नवम (उत्तरायण)	माघ कृष्ण ४	उत्तराफाल्गुनी
पञ्चम	२. दशम (दक्षिणायन)	श्रावण कृष्ण १०	रोहिणी

११. **मासान्तर में दिनानयन एवं पर्वविशेष**- पूर्व (वार) के आरम्भ होने के बाद एक दिन और एक मास के अन्तर से उत्तर दिवस व मास जानना चाहिए (अर्थात् जिस चान्द्र मास में जो वार है उससे अगले चान्द्र मास में उसका अगला वार जानना

१. उत्तरायणारम्भ में परमाल्प दिनमान = ३० - ६ = २४ घटिका, उत्तरायणारम्भ में परमाधिक रात्रिमान = ३० + ६ = ३६ घटिका, दक्षिणायन में परमाधिक दिनमान = ३६ घटिका, दक्षिणायन में परमाल्प रात्रिमान = २४ घटिका।

चाहिए। जैसे प्रथम चान्द्रमासारम्भ में सोमवार है तो द्वितीय चान्द्रमासारम्भ को मंगल होगा)। (वक्ष्ययाण १४ श्लोक में जो) दिवस के पञ्चभागात्मक पाँच पर्व हैं उनके अर्धखण्डों के पन्द्रहवें एवं आठवें भाग में सूर्य का तेज मन्द होने के कारण 'मृदु' समझें।

१२. **पर्व में अंशानयन-** यदि (सावन) दिन के पाद (चतुर्थांश भाग अर्थात् सूर्योदय से मध्याह्न पर्यन्त) में हो तो गणितागत ही अंशयान जानना चाहिए। पाद में ३१ भाग[1] होते हैं। यदि अंशयान पादांश (३१) से अधिक हो तो उन अंशों से पादांश को कम करके शेष अंशों को द्वितीय पादांश का अंशयान निर्दिष्ट करना चाहिए। इसी प्रकार रात्रि में अपने-अपने पादांश का साधन करना चाहिए।

१३. **युगारम्भ से इष्टपर्वपर्यन्त पर्वगण[2] साधन-** (वर्तमान सौरवर्षयान को) एक कमकरके शेष को १२ से गुणकर गुणनफल को २ से गुणा करें। उसमें (वर्तमान चान्द्रवर्षीय गतचान्द्रपर्वसंख्या के समान) गतरविपर्वसंख्या जोड़ें। संयुक्तमान को २ से गुणा कर ६० से विभक्त करें। प्राप्त निरग्र लब्ध को संयुक्तमान में जोड़ने पर चान्द्र पर्वों का राशिगण होगा।

अर्थात् (वर्त. सौरवर्ष-१) × १२ × २ + गतरविपर्व = संयुक्तमान

$$\frac{\text{संयुक्तमान} \times २}{६०} = \text{निरग्रलब्धि}$$

संयुक्तमान + निरग्रलब्धि = पर्वगण

१४. **दिन के अष्टयामों में पर्व आने पर उनकी संज्ञा-** दिन के जो पहले के तीन (३, २ और १) पादार्ध है वे त्रिपाद्या पादार्ध हैं। वहाँ पर चन्द्र की स्थिति होने पर साभ्यता के कारण पर्वदिन में 'त्रिपदी' योग होता है। जैसे यदि पादार्ध द्वितीय में पर्व है तो वहाँ पर पूर्व और पर पादार्धों का भी पर्वसान्निध्य होने से स्नान दानादि में विशेष पुण्य होता है अतः तीनपादों का 'त्रिपदी' नामविशिष्ट योग के कारण 'पूर्व' संज्ञा है। एवं उस पर्व में जो अन्य पाँच पादार्ध अवशिष्ट हैं वे 'पूर्व' में सम्मिलित हैं, उनमें स्नान दानादि का पुण्य अन्य साधारण पर्वों के बराबर होता है।

१५. **पर्व में चन्द्रनक्षत्रानयन के लिए भांशसाधन-** १२ मासों (वर्तमान वर्ष में) प्राप्त अभीष्ट पक्षों का साधन करें। उन पक्षों को ११ से गुणा करने पर चन्द्र के भांश प्राप्त होते हैं। यदि चान्द्रपक्ष शुक्लपक्ष हो तो पूर्वागत भांशों में आधा जोड़ें अर्थात् भांशों (१२४) का आधा (६२) जोड़ने पर चन्द्र के भांश होते हैं।

---

१. वेदाङ्ग ज्योतिष में सावन दिन एवं नक्षत्र यान के १२४ भाग किये गये हैं, अतः १२४/४ = ३१।

२. पूर्णान्त एवं दर्शान्त की पर्वसंज्ञा समझनी चाहिए।

१६. **कृष्णपक्ष में भांशमान-** पक्ष से १५ तिथि के ऊपर (शुक्लपक्ष के अवसान पर) जो तिथि भांश (वक्ष्यमाण श्लोक २० के प्रकार से) आता है उसे नौ अंश बढ़ायें (अर्थात् तिथि भांश में ६ अंश जोड़े) तब युक्तांश ही वास्तव भांश होता है। उसे ही 'भुक्त' कहना चाहिए। (यदि नक्षत्रवश सावनदिन अप्रेक्षित हो तो) एक सावन दिन से तथा ७ कला से प्रति नक्षत्र सम्बन्धी सावन दिन को जानें।

विषमपक्ष (कृष्णपक्ष) में प्राप्त भांश को ६ अंश बढ़ाने पर वास्तव भांश मान होता है। तब (वक्ष्यमाण श्लोक १६ की विधि से) जो भादानकला आती है उसमें नक्षत्र को ७ से गुणाकर जोड़ने पर (अर्थात् भादानकला + नक्षत्र × ७) सावयव रविसावन दिन प्राप्त होता है। चन्द्र के अस्त होने पर (दर्शान्त में) अपरमान (सावनदिन) का ही साधन करना चाहिए। वहाँ ६ अंश बढ़ाना (जोड़ना) चाहिए।

१७. **पक्षान्त में भांश ज्ञान से नक्षत्रज्ञान-** पर्वसमय में भांशों के तुल्य 'जौ' (अश्वयुजौ = अश्विनी) आदि नक्षत्रों को जानना चाहिए अर्थात् पर्वकाल में पूर्वोक्त प्रकार से साधित भांशों की संख्या (वक्ष्यमाण) 'र्जो द्रागः' इत्यादि क्रम से गणना करने पर जिस नक्षत्र में आये वही पर्व में नक्षत्र होता है। (रवि सावन दिन के) पूर्वाह्ण में पर्व हो तो उसी दिन (स्नान-दानादि कार्य योग्य) पर्व जानना चाहिए। यदि दिन के उत्तरार्ध में पर्व हो तथा द्विपादभाग से अधिक भांशमान हो (अर्थात् मध्याह्न के बाद) तो उसी दिन (यद्यपि दर्श-पौर्ण मास का प्रारम्भ नहीं है किन्तु स्नानदानादि कर्म के लिए उदयकालिक) चतुर्दशी तिथि को ही पूर्व विधि से आगत 'भस्यादान' (नक्षत्र भोग्यमान साधन) के लिए ग्रहण करना चाहिए।

१८. **भांशक्रम से नक्षत्रों के लघुनाम-** जौ (अश्वयुजौ), द्रा (आर्द्रा), गः (भग = पू.फा.), खे (विशाखा), श्वे (विश्वे = उ.षा.), हिर् (अहिर्बुघ्न्य = उ.भा.), रो (रोहिणी), षा (आश्लेषा), चित् (चित्रा), मू (मूल), षक् (शतभिषक्), ण्यः (भरणी), सू (पुनर्वसु), या (अर्यमा), धा (अनुराधा), णः (श्रवण), रे (रेवती), मृ (मृगशीर्ष), घा (मघा), स्वा (स्वाती), पः (आपः = पू.षा.), जः (अजः = पू.भा.), कृ (कृतिका), ष्यः (पुष्य), ह (हस्त), ज्ये (ज्येष्ठा), ष्ठा (धनिष्ठा)-ये नक्षत्रों के संकेत (शीघ्र स्मरण के लिए है।)

१६. **पर्वभांश से कलानयन-** भांशों के अष्टका[1] के स्थान पर १६ कलायें रखें, हीन जातीय काष्ठा के स्थान में १२ में ७२ जोड़कर (अर्थात् ८४) रखें।

एकाष्टका = १६ कला + ८४ काष्ठा।

२०. **इष्टतिथि में नक्षत्रानयन-** १२ और १० को गुणाकर (अर्थात् १२० को) पर्व में (श्लोक १५ की विधि से) साधित भांशों से जोड़ दें। उसमें भांश समूह (१२४) का भाग देकर लब्धि को तिथि सम्बन्धित नक्षत्र कहना चाहिए।

---

१. एक वर्ष में चार अष्टकायें होती है, अतः अष्टका से चार का ग्रहण होता है।

२१. **इष्टतिथि तुल्यगतनक्षत्र व उसकी कला-** (पूर्व प्रकार से) पर्व समय में जो भादान (नक्षत्र की भोग्य) कला आती है उनमें ७ से गुणित तिथि को जोड़ने से वे (उस) तिथि के दिन की भस्यादान (नक्षत्र की आदान) कलाएं होती हैं।

२२. **तिथिमान साधन-** (सूर्योदय से) गत पर्व के जो भोग भाग (उन्नतांश) एक सावन दिन में १२४ से अधिक हैं उनमें से २ गुणित तिथि को शोधित करें। शेष उन स्वाहोरात्रवृत्त भागों में जब रवि आता है तो वह रवि तिथि मानान्त में होता है। (अर्थात् द्विगुणित तिथि को घटाने से जो अहोरात्रवृत्त के भाग आयेंगे वे ही तिथि के भोगभाग हैं। उन भाग के समान जब रवि उन्नत रहता है तब वह तिथ्यन्त में स्थित होता है।)

२३. **अभीष्ट विषुवत् समय में युगादि से पक्ष-तिथ्यानयन-** (युगादि से अभीष्ट विषुवत् तक संख्यात्मक) विषुवमान को २ से गुणाकर एक घटायें। शेष को ६ से गुणा करें, यह गुणनफल अपने विषुवत् समय में युगादि से पक्ष होंगे। पक्षों का जो आधा है वही तिथि विषुवान् होती है।

अर्थात् विषुवदन्तर्गत = ६ (२ वि. - १) पक्ष + ६ $\frac{(\text{२ वि.-१})}{\text{२}}$ तिथि।

२४ (क). **दश विषुवों में तिथि-** ३, ९, १५ (पूर्णिमा), ६, १२ इन तिथियों में विषुवान् होता है। पुनश्च (इसी क्रम से) तृतीयादि विषुवान् होकर द्वादशी तिथि में दशम विषुवान् होगा।

२४ (ख). **नाडिका प्रमाण-** ५० पल जल जिस पात्र में रखा जायें (अर्थात् ५० पल पानी की क्षमता वाला पात्र) उसको 'आढ़क' कहते हैं। उस आढ़क से एक द्रोण पानी नापें। उस द्रोण में से ३ कुडव निकाल दें। शेष जल को नाडिका कहते है।

२५ (क). **घटिका-मुहूर्त्तादि परिभाषा-** २ नाडी का १ मुहूर्त्त व ५० पलों का एक आढ़क होता है। आढ़क से प्रसिद्ध प्राचीन परिभाषा 'कुम्भिका' (घटिका) जानना चाहिए। कुम्भिका प्रमाण से ३ कुडव अधिक द्रोण का प्रमाण (मान) होता है। (अतः द्रोण से ३ कुडव न्यून करने पर घटिका या नाडी होती है)

२५ (ख). **इष्ट तिथि में रविनक्षत्रानयन-** गत पर्व संख्या को ११ से गुणा करें। पर्व के अनन्तर जो तिथि है उसको ९ से गुणाकर पूर्वगुणनफल में जोड़ दें। युग में जितनी पर्वसंख्या (१२४) है उससे योगफल में भाग दें। लब्धफल को पर्वमान (गत पर्व संख्या) में जो जोड़ने पर (युगादि से धनिष्ठादि से गणना करने पर) क्रमशः वर्तमान सूर्य नक्षत्र आता है।

$$\text{पर्व} + \frac{\text{११ पर्व} + (\text{इ. ति} \times \text{९})}{\text{१२४}} = \text{युगादि से सूर्यनक्षत्रमान}$$

२६. **वर्तमान नक्षत्र में सूर्य प्रवेश कालसाधन-** (उक्त प्रकार से वर्तमान) सूर्य नक्षत्र के जो भुक्त भाग हैं उनको ९ से विभाजित करें। प्राप्तफल को दो स्थानों में रखें, प्रथम स्थान में फल को २ से गुणा करके गुणनफल से (दिनांशमान से) पूर्वागत फल दिनात्मक (द्वितीय स्थान पर रखे फल) को घटाकर शेष ग्रहण करना चाहिए। वही शेष सूर्य के दिनोपभुक्ति (अर्थात् शेष के तुल्य सावन दिनादि से वे भाग रवि द्वारा भुक्त) होते हैं। अतः उन सावन दिन के आरम्भ से अर्थात् वर्तमान समय से पूर्व ही उस नक्षत्र के प्रारम्भ में रवि का प्रवेश होगा।

(दिनोपभुक्ति = $\frac{\text{भुभां}}{९}$ सावनदिन - २ $\frac{\text{भुभां}}{९}$ सावन दिनांश)

इस प्रकार वर्तमान तिथि के भुक्त भांशों से अथवा युति (पर्वगणोद्भव भुक्तभांशो) से जो भुक्त दिन हैं उनसे पूर्व जो काल है वही योग (नक्षत्र से सूर्य का योग) काल होता है। योगकाल का ज्ञान होने पर "दिन में ११ से...." (२५ ख श्लोकोक्त) इस नक्षत्रानयन प्रकार से योग सम्बन्धी नक्षत्र को जानना चाहिए।

२७. **रवि भुक्त नक्षत्रों में सावन दिन-** १४वें सावन दिन के जो अंतिम त्र्यंश हैं उसे 'भशेष' कहते है। अतः उस भिन्न (खण्डात्मक) मान को १४ सावन दिन से न्यून करने पर १४ दिनांश में रवि का एक नक्षत्र भोग होता है। (१४ - १/३ = १३ २/३ सावन दिनों में सूर्य एक नक्षत्रभोग करता है।) रवि के भार्ध (२७/२ = १३ १/२) से अधिक अथवा कम अंशों में रहने पर ९ नक्षत्रों से जो अपर एक अंश होना चाहिए, यह मान भी पूर्व प्रकार से आगत नक्षत्र सम्बन्धी सावनदिनमान में शोधन के लिए कहा गया है। अर्थात् एक नक्षत्र भोग सावन मान को (१४ - १/३) इष्टनक्षत्रसंख्या से गुणा करने पर इष्टनक्षत्र सम्बन्धी सावनदिनमान आता है। वहाँ ९-९ नक्षत्रों से १-१ दिन घटाने पर वास्तव मान जानना चाहिए। अन्यथा स्थूल आयेगा।

२८. **युग में सावन दिनादि-** ३६६ दिन से एक सौरवर्ष होता है। उस सौरवर्ष में ६ ऋतुएँ, २ अयन और १२ सौरमास होते हैं। युग इसका पञ्चगुणित होता है।

२९. **सौर-चान्द्र-नाक्षत्रादिमान-** (युग में वर्ष की) दिनसंख्या के पञ्चगुणित (३६६ × ५ = १८३०) वासव[1] के उदय होते हैं। ऋषि (चन्द्र) के उससे ६२ कम होते हैं। उसी दिन राशि में २१ कम करने पर चन्द्रनक्षत्रमान होगा। अर्थात् १ युग = ५ सौरवर्ष में सावन दिनसंख्या = १८३० चन्द्रसावनदिन = १७६८ एवं चान्द्रनक्षत्रमान = १८०९ होते है।

---

१. वासव = धनिष्ठा, यहाँ धनिष्ठा उपलक्षणार्थ है। उक्त संख्या सभी नक्षत्रों के भभ्रम होने चाहिए। किन्तु यहाँ वासव का तात्पर्य सूर्य से होने पर अर्थसंगति है।

३०. **अन्य परिभाषायें**- पौष्ठा (सौरनाक्षत्रमान) एक युग में १३५ होता है। इस मान में एक कम करने पर (अर्थात् १३४) युग में चन्द्र के अयन होते हैं। युग में जो चन्द्र के पर्व (१२४) हैं उसके चतुर्थांश (३१) को पर्वपाद कहते हैं। इसलिए युग में पर्व के चतुष्पाद का मान १२४ होता है। इतने ही (१२४) काष्ठाओं की एक कला होती है।

३१. **मास संख्या**- युग में सावन मास संख्या ६१, चान्द्रमास ६२ और नाक्षत्रमास ६७ होते हैं। ३० सावन दिनों का एक सावन मास होता है। जो सौरवर्ष है वही नक्षत्रों में सूर्यभ्रमणकाल है (अर्थात् १ सौरवर्ष में सूर्य एकनक्षत्रचक्र का भोग करता है)

३२-३५. **यज्ञ में पूजन के लिए नक्षत्र देवता**- कृतिकादि नक्षत्रों के क्रमशः अग्नि, प्रजापति, सोम, रुद्र, अदिति, वृहस्पति, सर्प, पितर, भग, अर्यमा, सविता, त्वष्टा, वायु, इन्द्राग्नि, मित्र, इन्द्र, निर्ऋति, आपः, विश्वदेवा, विष्णु, वसु, वरुण, अहिर्वुध्न्य, अजैकपाद, पूषा, अश्विनी कुमार एवं यम-देवता हैं। शास्त्रज्ञों ने यज्ञकर्म में इन नक्षत्र देवताओं के नाम से यजमान का नक्षत्र नाम रखने के लिए कहा है।

३६. **उग्र व क्रूर नक्षत्र**- आर्द्रा, चित्रा, विशाखा, श्रवण एवं अश्विनी ये उग्र नक्षत्र एवं मघा, स्वाती, ज्येष्ठा, मूल और भरणी- ये क्रूर नक्षत्र हैं।

३७. **चन्द्रपर्वगण से सूर्यपर्वगण साधन**- (युगादि से वर्तमान पर्यन्त) पर्वगणमान को २ से गुणाकर ६२ से विभाजित करके लब्ध फल को उसमें (चन्द्रपर्वगण) ही न्यून करना चाहिए, जो शेष है वह सौरपर्वगणमान होगा। इस प्रकार करने पर युगमासों के मध्य में (३० सौरमासान्त में) एक और अन्त में (६० सौरमासान्त में) भी एक अर्थात् कुल २ अधिमास उत्पन्न होते हैं।[1]

३८. **कला, मुहूर्त्त, नाडी का संबंध**- एक के बीसवें भाग सहित १० कला की १ नाड़ी होती है। एक मुहूर्त्त में २ नाड़ी होते हैं। ३० मुहूर्त्त (६० नाड़ी) का एक सावन दिन होता है। एक सावन दिन में ६०३ कलायें होती हैं।[2]

३९. **सूर्य व चन्द्र का नक्षत्र भोग काल**- चन्द्र जितने समय तक नक्षत्र के साथ युक्त रहता है उस काल का मान सात कलाधिक एक रवि सावनदिन होता है (अर्थात् चन्द्र द्वारा एक नक्षत्र भोगकाल = १ सावन दिन + ७ कला)। और सूर्य १३ सावन दिन एवं दिन के ५/६ भाग तक (१३ + ५/६ सावन दिन तक) एक नक्षत्र का भोग करता है। ५ (गुरु) अक्षरों की एक काष्ठा होती है।

४०. **मुहूर्त्तात्मक दिनमान**- अयनारम्भ दिन से उत्तरायण के जितने सावन दिनमान व्यतीत हो चुके हैं और दक्षिणायनारम्भ दिन से दक्षिणायन के जितने सावन दिन बीत चुके

---

१. श्रीशंकर वालकृष्ण दीक्षित जी के अनुसार (सावन) दिन में उसका ६२वां भाग घटा देने पर जो शेष रहता है उसे चान्द्र (दिन अर्थात् तिथि) कहते हैं। (६०वां भाग छोड़ देने से सौर दिन होता है) सौर दिन से तिथि छोटी होने के कारण (युग के) मध्य और अन्त में २ अधिमास आते हैं।

२. $१०\frac{१}{२०}$ कला = १ नाड़ी, २ नाड़ी = १ मुहूर्त्त, ३० मुहूर्त्त = १ सावन दिन = ६०३ कला।

हैं, उनको अयनान्तर्गत सावन दिनमान से घटाकर जो शेष दिनमान हो उसको २ से गुणा करके गुणनफल को ६१ से विभाजित कर प्राप्त लब्धि में १२ मुहूर्त्त जोड़ें। तब मुहूर्त्तात्मक दिनमान होता है।

४१. **ऋतु शेषानयन**- प्रत्येक पर्व में सदा (चान्द्र) दिन भाग का जो आधा शेष रह जाता है वह (चान्द्रसौर पर्वान्तर) जब पर्वगण के साथ आता है तब इष्ट पर्वसमय में रविचन्द्रपर्वान्तर के तुल्य ऋतुशेष को जानना चाहिए। (अर्थात् पर्वगण को एक पर्व से उत्पन्न रवि चन्द्र के पर्वान्तर (चान्द्र) दिनार्द्ध तुल्य से गुणा करने पर गुणनफल अभीष्ट समय में ऋतुशेष होता है।)

चान्द्रसौर पर्वान्तर रूप अधिशेष (ऋतुशेष) = पर्वगण $\times \frac{1}{2}$

४२. **लग्नानयन एवं चन्द्रर्तुसाधन**- भगण (२७) से, धनिष्ठा उदय से जो इष्टकाल भाग है उनको गुणा करें। उन भांशो को धनिष्ठा से गिनकर पूर्व दिशा में लगने वाले भांशों का निर्देश करें। अपने नाक्षत्रमासों को ६ से गुणा करने पर चन्द्र संबंधी ऋतुओं को जानना चाहिए।

स्पष्टार्थ-लग्न = २७ × इ.भ. दिन भाग = धनिष्ठा से भांश

∵ चन्द्र का एक भगणकाल = १ नाक्षत्रमास

१ नाक्षत्रमास = १ चन्द्र भगणकाल् = ६ ऋतु

∴ नक्षत्रमास × ६ = चान्द्र ऋतु

४३. **बेधोपाय**- पूर्वोक्त विधि से बेधोपाय (उपाय समुद्देश्य) के उपदेश को इस प्रकार जानना चाहिए। वेध से ज्ञात राशि में प्राप्त किसी भी पदार्थ को जानकर तब ज्ञेयराशि (जानने योग्य राशि) में उस पदार्थ का आनयन के लिए गणक ज्ञात राशि से संबंधित पदार्थ से गुणित ज्ञेयराशि को ज्ञात राशि से विभाजित करे। लब्धि ज्ञेय राशि संबंधी पदार्थमान होता है। इस प्रकार ज्ञातराशि से बार-बार सभी सावनदिवसादियों की प्रकल्पना करें।

अर्थात्- $\frac{\text{ज्ञातराशि संबंधी पदार्थमान} \times \text{ज्ञेयराशि}}{\text{ज्ञातराशि}}$ = ज्ञेयराशि संबंधी पदार्थमान

४४. **उपसंहार**- इस प्रकार (पूर्वोक्त) मास, वर्ष, मुहूर्त्त, (चन्द्रादियों) का उदय, (सावन दिनों के) पर्व, दिन, ऋतु, अयन एवं (चान्द्र, नाक्षत्रादि) मासों का व्याख्यान लगध ने किया है।

४५. **ज्यौतिषवेदाङ्गविद प्रशंसा/फल**-चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों के चरित (गति, स्थित्यादि) को भी विद्वान् जानता है वह विद्वान् (देहत्याग पश्चात्) चन्द्रलोक, सूर्यलोक एवं नक्षत्रलोक में जाकर सुख का भोग करते है और इस संसार में सन्तति (पुत्र-पौत्रादिक) का सुख प्राप्त करते हैं।

(विशद अनुवाद : प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी)

●

वेद-वेदांग एवं पुराणों में ज्योतिष

चौ. श्रीनारायण सिंह

संस्कृत भाषा में ज्योतिष शव्द स्त्रीलिंग है। इस शव्द का अर्थ प्रकाश, प्रभा, चमक, दीप्ति किया गया है। "द्युत् द्योतने" धातु से इसकी व्युत्पत्ति की जाती है। सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की गति एवं उनके फलादि का विचार करने वाले शास्त्र को 'ज्योतिषि' शव्द से व्यवहृत किया गया है।

वेद के छः अंग माने जाते हैं।[1]

शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष इन छः वेदांगों का वेद पुरुप के अंगों के साथ शास्त्रों के सम्वन्ध को दर्शाते हुए कहा गया है-

कि छन्दशास्त्र वेद के पैर, कल्प हाथ, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कर्ण, शिक्षा धाण एवं व्याकरण मुख है। इन छः अंगों के साथ ही वेद का अध्ययन करने वाले को व्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।[2]

मन्वर्थमुक्तावली में कहा गया है कि वेदों से ही चारों वर्ण, तीनों लोक एवं चार आश्रमों तथा भूतकाल, वर्तमान एवं भविष्य काल की सभी बातें सिद्ध होती हैं। पितरों देवों एवं मनुष्यों के लिये त्रैकालिक घटनाओं के ज्ञानार्थ वेद नेत्र स्वरूप है। किन्तु वेदों का नेत्र ज्योतिष शास्त्र है, जिससे अतीन्द्रिय दिव्यज्ञान प्राप्त होता है।[3] इस कथन के औचित्य को दर्शते हुए कहा गया है कि अन्य शास्त्रों में केवल विवाद होता है क्योंकि उनमें प्रतिपादित अनेक तत्व प्रत्यक्ष नहीं दिखलायी पड़ते। किन्तु, ज्योतिष शास्त्र प्रत्यक्ष है, क्योंकि इसमें सूर्य एवं चन्द्रमा साक्षी होते हैं।[4]

(१) ब्रह्मा, (२) आचार्य, (३) वसिष्ठ, (४) अत्रि, (५) मनु, (६) पौलस्त्य, (७) रोमश, (८) मरीचि, (९) अंङिरा, (१०) व्यास, (११) नारद, (१२) शौनक, (१३) भृगु, (१४) च्यवन, (१५) यवन, (१६) गर्ग, (१७) कश्यप एवं (१८) पराशर – ये अट्ठारह ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक हैं।[5]

---

१. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च। ज्योतियञ्च पडगानि कथितानि मनींपिभिः।।

२. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिपामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव व्रह्मलोके महीयते।।

३. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्व वेदात्प्रसिद्ध्यति।।
पितृदेवमनुष्याणां वेदः चक्षुः सनातनम्। तच्चक्षुर्ज्योतिपं शास्त्रं दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियम्।।

४. अप्रत्यक्षाणि सशास्त्राणि विवादस्तेपु केवलम्। प्रत्यक्षं ज्योतिपं शस्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ।।

५. व्रह्माचार्यौ वसिष्ठोऽत्रिर्मनुः पौलस्त्यरोमशौ। मरीचिरङिरा व्यासौं नारदः शौनको भृगुः।।
च्यवनो यवनो गर्गः कश्यपश्च पराशरः। अष्टादशेते गम्भीरा ज्योतिः शास्त्रप्रवर्तकाः।।

सभी भारतीय शास्त्रों के आदि प्रवर्तक ब्रह्मा ही माने जाते हैं। क्योंकि सृष्टि की इच्छा होने पर चेतन स्वरूप अनादि-अनन्त परब्रह्म के संकल्प से ही सर्वप्रथम आदिपुरुष पितामह ब्रह्मा का अविर्भाव हुआ एवं उन्हें ही ज्ञानमय वेदों का उपदेश ईश्वर से प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् ब्रह्मा ने ही वसिष्ठ एवं नारद इत्यादि अपने मानस पुत्रों को वेदों का उपदेश दिया।

वैदिक कालगणना-वेदों में कालमान की बड़ी इकाई युग तक प्राप्त होती है। युग के कुत, त्रेता आदि विभागों के उल्लेख मिलते हैं। इनके अन्तर आयन, विक्षुव, वर्ष आदि उत्तरोत्तर क्रमशः काल की छोटी इकाईयों का उल्लेख है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने भारतीय ज्योतिष में स्पष्ट किया है कि मनु और कल्प का वेदों में उल्लेख नहीं है। पुरुषोत्तम नागेश ओक लिखित 'विश्वराष्ट्र का इतिहास'' नामक ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के चतुर्थ अध्याय में वैदिक कालगणना का अतिरोचक एवं युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। तदनुसार समस्त विश्व में प्रचलित वर्ष, मास एवं दिन आदि कालगणना की प्रणाली का मूलस्त्रोत भारतीय ज्योतिष ही है। वर्तमान युग में पाश्चात्य प्रणाली के लोग जिसे ''यक्ष'' अर्थात् 'सेकेण्ड' कहते हैं उसके १/३७६६७५ वें भाग को वैदिक कालगणना में परमाणु कहा जाता है। यद्यपि उक्त ग्रन्थ में उद्धृत परमाणु का यह प्रमाण ०.००००२६ सेकेण्ड के तुल्य है किन्तु गणना के अनुसार यह मान ०.००००२६ $\frac{१}{३७६६८}$ सेकेण्ड ही हो रहा है। सभी काल प्रमाण आधुनिक मान के साथ यहां द्रष्टव्य हैं।

१ परमाणु	=		=	०.००००२६ सेकेण्ड
२ परमाणु	=	१ अणु	=	०.००००५२ सेकेण्ड
३ अणु	=	१ त्र्यसरेणु	=	०.०००१५ सेकेण्ड
३ त्र्यसरेणु	=	१ त्रुटि	=	०.०००४७ सेकेण्ड
१०० त्रुटि	=	१ वेध	=	०.०४७ सेकेण्ड
३ वेध	=	१ लव	=	०.१४२ सेकेण्ड
३ लव	=	१ निमिष	=	०.४२६ सेकेण्ड
३ निमिष	=	१ क्षण	=	१.२८ सेकेण्ड
५ क्षण	=	१ कष्ट	=	६.४ सेकेण्ड
१५ कष्ट	=	१ लघु	=	९६ सेकेण्ड (१.६ मिनट)
१५ लघु	=	१ घटी	=	१४४० सेकेण्ड (२४ मिनट)
६० घटी	=	१ अहोरात्र	=	८६४०० सेकेण्ड (१४४० मिनट = २४ घण्टा)
४ पल	=	१ लघु		

६० पल	=	१५ लघु	=	१ घटी = २४ मिनट
२ घटी	=	१ मुहूर्त	=	४८ मिनट
३-३/४ मुहूर्त	=	१ प्रहर	=	३ घण्टे
८ प्रहर	=	१ अहोरात्र	=	२४ घण्टे (दिन)
१५ दिन	=	१ पक्ष		
२ पक्ष	=	१ मास		
२ मास	=	१ ऋतु		
३ ऋतु	=	१ अयन		
३ अयन	=	१ वर्ष		

भारतीय श्रुति, स्मृति एवं पुराणादि के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में परमज्ञानी ऋषियों एवं महर्षियों की सृष्टि हुयी थी। तदनुसार जगत के मूल कारण स्वरूप सच्चिदानन्द परमेश्वर के संकल्प के आदि पुरुष पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुये। वेद में कहा है "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति" अर्थात जिसने सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न किया एवं उन्हें वेदों का उपदेश दिया। तदनन्दतर ब्रह्मा ने अपने संकल्प से सनकसनन्दनादि ब्रह्मर्षियों, वसिष्ठ, अङ्गिरा, नारदादि महर्षियों एवं मनु आदि राजिर्षियों को उत्पन्न कर उन्हे वेदों का उपदेश दिया।

वैदिकों की देशकालानुकीर्तन परम्परा-वेदानुयायी अपने नित्य नैमित्तिक कार्यो के अनुष्ठान में देशकालानुकीर्तनपूर्वक संकल्पमन्त्र के स्वरूप पर विचार करने से यह सुस्पष्ट होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड की यह परम्परा सृष्टि के प्रारम्भिक दिन से अव तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। इस संकल्प मन्त्र की यह विशेषता है कि विगत काल के महत्वपूर्ण अंशों का उल्लेख करते हुए अद्यतन देश और काल का सन्निवेश किया जाता है। इस परम्परा प्राप्त मन्त्र का सुविस्तृत रूप हेमाद्रि में उपलव्ध होता है। यह संकल्प मन्त्र वेदाधारित जीवन पद्धति के आदिकाल से निरन्तर उच्चरित होता आ रहा है। श्रुति-स्मृति को परमप्रमाण मानने वाले निस्सन्दिग्ध रूप से मानव सृष्टि के प्रथम दिवस को ही इस मन्त्र का प्रवर्तन काल मानते हैं। मन्त्र की विशेषता यह है कि इसमें अतीत देश कालादि के स्मरण के साथ अद्यतन देश काल का सन्निवेश किया जाता है। मानव-जीवन के सतत प्रवाह का स्मरण करने की परिपाटी अन्यत्र दुर्लभ है। इस मन्त्र में मानवों के मूलपुरुष ब्रह्मा के आभिर्भावकाल के साथ-साथ कल्प, मन्वंतर युग, संवत्सर, अयन, गोल, ऋतु, मास, पक्ष दिन एवं तद्-तद् राशियों में सूर्यादिग्रहों का उल्लेख होता है। इसके साथ ही सप्तद्वीपा पृथ्वी के द्वीप, महाद्वीप, वर्ष खण्ड नगर ग्राम, कुल, पर्वत एव पवित्र नदियों का भी स्मरण करने की रीति है।

वेदसंहिताओं में ज्योतिष

ऋग्वेद के मन्त्र "कृत यच्छ्वघनी विचिनोति काले (ऋ. १०/४२/६)" में काल शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद के

"कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रों अजनत् पुरा।
कालादृचः समभवन्यजुः कालादजायत।।" (१६/५३/१)

तथा "इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः। सर्वान् लोकामभिजित्य ब्रह्मणा कालः ईयते परमो हि देवः।। (४/१७१/१०) आदि स्थलों पर काल शब्द के व्यापक रूप का वर्णन हुआ है। समय का वाचक होने के अतिरिक्त यहां काल को भूत एवं भविष्य का स्त्रोत बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में भी 'काल' शब्द का प्रयोग समय का वाचक होने के रूप में वर्णित है।[1]

ऋग्वेद संहिता (२/३/२२/१६४) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (२/४/६) मे एवं इन्हीं मन्त्रों के भाष्य में सायणाचार्य ने अनेक विद्याओं में ज्योतिर्विज्ञान का उल्लेख किया है। छान्दोग्योपनिषद् (७/१/२) में नारद ने अपनी पठित विद्याओं में राशिविद्या, गणित, दैवविद्या, निधिविद्या' नक्षत्र विद्या एवं ज्योतिष का भी वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या के रूप में चारों वेदों के साथ ही षडगों में ज्योतिष की गणना हुई है।

ज्योतिर्विज्ञान में गणित का ज्ञान आवश्यक है। अतएव वेदों में गणित-विद्या का पर्याप्त विवरण मिलता है। यजुर्वेद अध्याय १८ के "एका च में त्रिस्त्रश्च में.....त्रयत्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।२४।। तथा चतस्रश्च में अष्टौ च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च में यज्ञेन कल्पन्ताम्।२५।।" मन्त्रों में बीजगणित के साथ ही अंकगणित तत्वों का संकेत प्राप्त होता है। रेखागणित तथा ज्योतिर्विज्ञान के कठिन नियमों का निर्देश करने वाले वेदों में अंकगणित के नियमों का उल्लेख सहज गम्य है। इसी से अरब देशीयों ने अंकगणित को "इल्में हिन्दसा" कहा है। अरब से मिश्र एवं यूरोप में गणित विद्या पहुँची।

"अस्ति त्रैराशिकं पाटी बीजं च विमला मतिः" अर्थात् त्रैराशिक पाटी अर्थात् अंकगणित का सारतत्व है एवं उसका मूल बीजगणित की निर्मल युक्तियां हैं। भास्कराचार्य की इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंकगणित के सदृश ही बीजगणित का ज्ञान भी भारतीयों को वेदों से ही प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद (मण्डल १० सूक्त १३० मन्त्र ३) में परिधि शब्द आया है। इसी प्रकार सभी वेदों में वर्तमान पुरुषसूक्त के मन्त्र "सप्तास्यासन् परिधयः त्रिसप्त समिधा कृता" ७ × ३ = २१ इत्यादि में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार परिधि से वृत्त निर्माण होता है एवं उसका सम्बन्ध केन्द्र से होता है। इस प्रकार की

---

१. "स आयततरोत्तरतः उपोत्पेदे य एप स्विष्टिकृतः कालः।। (श०ब्रा० १/७/३३)" तथा च "यदेव यूयं कदा च लभाध्वै यदि कालेऽथैवाश्नायेति।। (श०ब्रा० ११/४/२४)।"

प्रक्रिया का प्रयोग रेखागणित में ही होता है। साम ब्राह्मण के छन्दोंग्य भाग में महर्षि सनत्कुमार तथा नारद के संवाद में नारद द्वारा स्वयं "नक्षत्र विद्या" का अध्येता कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने रेखागणित का भी अध्ययन किया था।

तैत्तिरीय संहिता के ५/४/११ मन्त्र में लिखा है कि वेदियों को किन-किन आकारों का बनाना चाहिये। आपस्तम्ब एवं बौद्धायन के सूत्रों में उन चित्तियों और इष्टकाओं का वर्णन है जिनसे भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञकुण्ड बनते थे। वहां यज्ञकुण्डों के अनेक आकार-प्रकारों का उल्लेख हुआ है।

(१) चतुराश्रम स्येन (२) कङ्कचित (३) वक्रपक्ष व्यस्तपुच्छ स्येन (४) अलजाचित् (५) प्रागचित् (अर्थात् समभुजत्रिभुज का आकार) (६) उभयाचित प्रागचित् (समभुज त्रिभुज के आधार पर बना हुआ दूसरा समभुज त्रिभुज) (७) रथचक्रचित् (८) चतुराश्रय द्रोणचित् (६) परिमण्डल द्रोणचित् (१०) कूर्मचित इत्यादि।

ऐसे आकारों में परिवर्तन हेतु रेखागणित के अनुसार ही त्रिभुज, वृत्त, चतुर्भुज इत्यादि के परस्पर सम्वन्ध का ज्ञान आवश्यक है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि वैदिकों को रेखागणित का पूर्णज्ञान था। इस में स्व० स्वामी श्री भारतीकृष्णतीर्थ, पूर्व पुरीपीठाधीश्वर के उन सोलह वैदिक सूत्रों का उल्लेख करना आवश्यक है।[1] जिनके आधार पर वर्तमान संसार को ज्ञात एवं अज्ञात गणित के प्रश्नों का समाधान सम्भव है। वैदिक यज्ञकुण्डों के नियमों का व्यवस्थित वर्णन शुल्वसूत्रों में किया गया है। शुल्व सूत्र को कल्पसूत्र का अंश कहा जाता है। कल्पसूत्र का सम्वन्ध यज्ञकर्म से है।

वैदिककाल में ज्योतिष का स्वरूप

ज्योतिष के सन्दर्भ में वैदिक काल के परिचयात्मक विवरण के अन्तर वैदिक काल में ज्योतिष स्वरूप के कुछ अंशों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। - विश्व की उत्पत्ति अनेक प्रसंग वेदों में उपलब्ध हैं। निष्कर्ष रूप में उनका आशय तैत्तिरीयोपनिवद में लक्षित होता है- सर्वप्रथम शून्य का। शून्य (आकाश) से वायु की उत्पत्ति हुई। वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न तथा अन्न से पुरुष (जीव) की उत्पत्ति हुई।[2]

वेदों के व्यापक दृष्टिकोण का ज्ञान उस समय हाता है जव एक निष्कर्ष रूप व्यवस्था देने के बाद भी अन्य कारणों की सम्भावनाओं को अस्वीकार नहीं किया गया।[3] वस्तुतः सृष्ट्युत्पत्ति रहस्यमय है।

---

१. एकाधिकेन पूर्वेण २. निखिलं नवतश्चरमं दशतः ३. ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम् ४. परावर्त्य योजयेत्। ५. शून्यं साम्यसमुच्चये ६. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत् ७. संकलनव्यवकलनाभ्याम् ८. पूरणपूरणाभ्याम् ६. चलनकलनाभ्याम् १०. यावदूनम् ११. व्यष्टि-समष्टिः १२. शेषाण्यङ्केन चरमेण १३. सोपान्त्यद्वयमन्त्यम् १४. एकन्यूनेन पूर्वेण १५. गुणितसमुच्चयः १६. गुणकसमुच्चयः।

२. तैत्तरीयोपनिषद् (ब्रह्मवल्ली प्रथमखण्ड)

३. तै.ब्रा. २.८.६

सृष्टि की निरन्तरता का ज्ञान ऋग्वेद के जन्म "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" के द्वारा सुस्पष्ट है।

विश्व के प्रमुख तीन भाग हैं। १. पृथ्वी २. अन्तरिक्ष, तथा ३. द्यौः। पृथ्वी पर हम निवास करते हैं। पृथ्वी के बाद तथा द्यौः से पूर्व अन्तरिक्ष तथा अन्तरिक्ष से ऊपर द्यौः की स्थिति है जिसका स्पष्टीकरण विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न भागों द्वारा किया गया है। "विराट पुरुष के पैरों से पृथ्वी, नाभी से अन्तरिक्ष तथा शीर्ष से द्यौः की उत्पत्ति हुई है।[1]

अन्तरिक्ष स्थित सभी आकाशीय पिण्डों (ब्रह्माण्ड) का आधारभूत सूर्य को ही माना गया है।" यत्रेमा भुवनानि तस्थुः।[2] इत्यादिमन्त्र में सूर्य की सप्तराशिमयों एवं त्रिनाभियों से आबद्ध (आकृष्ट) अन्य ग्रहपिण्डों के संकेत मिलते हैं। सूर्य ही काल का नियामक है। सूर्य से ही वर्ष अयन एवं ऋतुओं का ज्ञान होता है। अतः काल के नियामक के रूप में भी सूर्य को ही प्रमुख माना गया है।

पृथ्वी का स्वरूप- पृथ्वी के गोल स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान वैदिक काल में हो चुका था। स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति[3] इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट कर दिया कि सूर्य न कभी अस्त होता है न कभी उदय होता है। इससे पृथ्वी के गोलत्व, निराधरत्व तथा सूर्य के स्थिरत्व की धारणा बलवती होती है। पृथ्वी के गोलत्व एवं चलत्व के कारण ही दिन रात्रि की उत्पत्ति होती है।

वेदों में कालमान की बडी इकाई के रूप में युग का उल्लेख मिलता है। कृतत्रेता द्वापर कलि इन चारों युगों के नामों का भी व्यवहार अनेक स्थलों पर किया गया है किन्तु इनके परिमाण का उल्लेख नहीं मिलता हैं। कृतादि युगों के अतिरिक्त पंच संवत्सरात्मक युगों का भी उल्लेख है।[4] पांचों संवत्सरों के नाम इस प्रकार है- १. संवत्सर, २. परिवत्सर, ३. इदावत्सर, ४. इद्वत्सर, ५. वत्सर। कहीं कहीं इद्वत्सर को अनुवत्सर भी कहा गया है।

वर्ष द्वादश मासों का ही होता था किन्तु वर्ष का उल्लेख प्रायः ऋतुओं के नाम से ही किया जाता था। वर्ष में दिनों की संख्या ३६० मानी जाती थी। इसके संकेत ऋक् संहिता[5] के एक मन्त्र (१/१६४/४८) से मिला है। यहां एक प्रश्न उठता है कि वैदिक वर्ष सौर वर्ष होते थे या चान्द्र वर्ष। इस प्रश्न का आधार यही था कि वैदिक काल में चान्द्र मासों का ही व्यवहार होता। अतः मास चान्द्र हैं तो वर्ष भी चान्द्र होंगे। किन्तु संसर्प

---

१. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत् पद्भ्यां भूमिः (यजुर्वेद)

२. ऋ.स. १/१६४/२

३. ऐ. ब्रा. १४/६

४. ऋ.सं. ७/१०३/७, वा. सं० २६/४५, तै.ब्रा. ३/१०/४

५. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणिनभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिनृत्साकं त्रिशता न शंकतावोर्पिताः षष्ठिर्न चलाचलासः

और अंहस्पति के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्षनाम सौर थे तथा मासों के मान चान्द्र ही थे। मासों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

अयन - उदगयन और दक्षिणायन का प्रयोग जिस रूप में आज होता है सम्भवतः उस रूप में वैदिक काल में नहीं होता था। विषुवद् वृत्त (नाडी वृत्त) के उत्तर भाग में सूर्य की स्थिति उदगयन और दक्षिण भाग में सूर्य की स्थिति को दक्षिणायन कहा जाता था।[1]

ऋतु - वेदों में ऋतु के सन्दर्भ तीन मत उपलब्ध होते हैं। ऋ.सं. एवं शतपथ ब्राह्मण[2] के अनुसार तीन ऋतुयें (ग्रीष्म, शरद् तथा वर्षा) 'त्रीणि नभ्यानि' तथा ऐतरेय[3] ब्राह्मण के अनुसार पांच ऋतुयें कही गई हैं। यहां हेमन्त और शिशिर को एक ही माना गया है। अन्यत्र प्रायः छः ऋतुओं का उल्लेख है। ऋतुओं का आरम्भ वसन्त से तथा अन्त शिशिर से होता था।

विषुव : विषुव दिन का अभिप्राय है दिवस और रात्रि की समानता का दिवस (जिस समय दिन और रात्रि का मान समान हो)। संवत्सर सत्र के प्रसंग में विषुववान् दिवस का उल्लेख मिलता है।[4] संवत्सर के आदि में तथा संवत्सर के मध्य में एक-एक विषुवान दिवस होते हैं। इसमें स्पष्ट हो जाता है कि वसन्त सम्पात और शरत् सम्पात की ओर ही उक्त विषुव दिवस का संकेत है। यद्यपि वहां दिन-रात के मानों की समानता का उल्लेख नहीं है। किन्तु आरम्भ और मध्य में होने से प्रायः मेष और तुला के सम्पात से ही उसका सम्बन्ध सुनिश्चित है।

दिवस के भाग : दिवस सामान्यतया दो सूर्योदयों के मध्यववर्ती काल को कहते हैं। दिवस अहोरात्र का सूचक है। वेदों में इसको कई भागों में विभक्त किया गया है।[5] यथा दिवस (अहोरात्र) के दो भाग- दिन एवं रात्रि।

दिन (सूर्योदय से सूर्यास्त तक) के दो भाग- १ पूर्वाह्ण, २. अपराह्ण।

दिन के तीन भाग- १. पूर्वाह्ण, २. मध्याह्ण, ३. अपराह्ण, दिन के चार भाग-१. पूर्वाह्ण, २. मध्याह्न ३. अपराह्ण ४. सायम्।

दिन के पांच भाग- १. प्रातः, २. संगव, ३. मध्याह्ण ४. अपराह्ण, ५. सायम।

दिन के पन्द्रह भाग[6]- दिन और रात्रि को १५ १५ भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग की मुहूर्त संज्ञा है। २ घटी का एक मुहूर्त होता है किन्तु दिन और रात्रि के मुहूर्त २ घटी से न्यूनाधिक भी हो सकते हैं क्योंकि दिन मान का १५ वां भाग एक मुहूर्त होगा। इसी प्रकार रात्रिमान का १५वां भाग रात्रि का एक मुहूर्त होगा। कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष में १५ मुहुर्तो के नाम पृथक् पृथक् कहे गये हैं।

---

१. शत ब्रा १/२/३, तै.सं. ६/५/३, २. शत ब्रा. ३/४/४/१७, ३. ऐ.ब्रा. १/१
४. ऐ.ब्रा. १८/१८, ५. तै.ब्रा. ३/१२/६१, श.ब्रा. २/४/२/८, ६. तै.ब्रा. ३/१०/६, ३/१०/१

कृष्ण पक्ष में रात्रि के १५ मुहूर्तो के नाम -

१. अभिशास्ता, २. भनुमन्त, ३. आनन्द, ४. मोद, ५. प्रमोद, ६. आसादयन, ७. निषादन, ८. संसादन, ६. संसन्न १. सन्न ११. आभु, १२. विभु, १३. प्रभु, १४. शंभुः, १५. भुवः।[1]

कृष्ण पक्ष में दिन के १५ मुहूर्तों के नाम-

१. सविता, २. प्रसविता, ३. दीप्त, ४. दीपयन, ५. दीप्यमान, ६. ज्वलन, ७. ज्वलित, ८. तपन, ६. वितपन, १०. सन्तपन, ११. रोचन १२. रोचमान, १३. शुंभूः, १४. शुंभमान, १५. वाम।[2]

शुक्ल पक्ष दिन के १५ मुहूर्त -

१. चित्रा, २. केतु, ३. प्रभान, ४. आभान, ५. संभान्, ६. ज्योतिष्मान्, ७. तेजस्वान्, ८. आतपन, ६. तपन, १०. निमितपन, ११.रोचन, १२. रोचमान, १३. शोभन, १४. शोभमान, १५. कल्याण।

शुक्ल पक्ष की रात्रि के १५ मुहूर्त-

१. दाता, २. प्रदाता, ३. आनन्द, ४. मोद, ५. प्रमोद, ६. आवेशन, ७. निवेशयन ८. संवेशन, ६. संशान्त १०. शान्त, ११. आभवन, १२. प्रभवन, १३. सम्भवन, १४. सम्भूत, १५. भूत।[3]

प्रतिमुहूर्त - एक मुहूर्त में १५ सूक्ष्म मुहूर्तें को प्रतिमहूर्त कहा जाता है।[4] अर्थात् एक मुहूर्त का पन्द्रहवां भाग एक प्रतिमुहूर्त है। इस प्रकार एक प्रतिमुहूर्त का मान ८ कला के आसन्न होगा। यद्यपि वेदों में घटी और पला का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता फिर भी सरलता हेतु प्रतिमुहूर्त के प्रमाण को कला में दिखलाया गया है।

कला-काष्ठा- इस प्रकार के काल मानों के प्रयोग मिलते हैं। किन्तु इनके प्रमाण का उल्लेख आन्वेषणीय है।

नक्षत्र - आकश में स्वयं प्रकाशमान तारों को 'तारा' तथा रात्रिचक्र या चन्द्र विमण्डल के अन्तर्गत आने वालों को नक्षत्र कहा जाता है। इनकी संख्या २७ है। ऋ.सं. में नक्षत्र शव्द प्रायः तारों के लिए आया है। कहीं एक दो नक्षत्रों के नाम भी मिलते हैं यथा तिष्य (पुष्य) रेवती, अघा (मघा), अर्जुनी (फल्गुनी) आदि।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्र शव्द की परिभषा इस प्रकार दी गई है-

''प्राहुर्वा अग्रे क्षत्राण्यातेषु। तेषामिन्द्रः क्षत्राण्यादत्त।

न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन् इति। तन्नक्षत्राणां नक्षात्वम्।।[5]

---

१. तै. ब्रा. ३/१०/१-३, २. वही ३. वही ४. तै.ब्रा. ३/१०/६/६

५. तै.ब्रा. २/७/१८/३

तदनन्तर सभी नक्षत्रों के नाम उनके स्वामियों के साथ-साथ दिये गये हैं।

यथा-

"अग्नेः कृत्तिका, प्रजापतेः रोहिणी। इत्यादिः अथर्व संहिता में अभिपित के साथ २८ नक्षत्रों का उल्लेख है।

इस प्रकार वैदिक काल में ज्योतिष के मूलभूत सिद्धन्तों की स्थापना हो चुकी थी। जिनका पल्लवन पुराणकाल तक होता रहा।

पुराण एवं ज्योतिष

सृष्टि, प्रलय एवं युगादि ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित विषयों का वर्णन प्रायः सभी पुराणों में प्राप्त होता है, किन्तु अग्निपुराण, विष्णुपुराण, नारदपुराण एवं गरुड़ पुराण में ज्योतिष विद्या का विशद वर्णन प्राप्त होता है। नारद पुराण के अध्याय ५३ के श्लोक १ से ११ तक ज्योतिष के विषयों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। तदनुसार ज्योतिष शास्त्र तीन स्कन्धों और चार लाख श्लोकों का है। उन तीन स्कन्धों के नाम गणित, जातक एवं संहिता स्कन्ध है। गणित स्कन्ध ही सिद्धान्त भाग है। इसमें परिकर्माष्टक अर्थात् भिन्न एवं अभिन्न के संख्याओं के जोड़, घटा व गुणन, भाग, वर्ण, वर्गमूल, घनएवं घनमूल का वर्णन है। इनके द्वारा ग्रहस्पष्टीकरण देश, दिशा एवं काल का ज्ञान, सूर्य एवं चन्द्र का ग्रहण, इनका उदयास्त, छायाधिकार, चन्द्रशृंगोन्नति, ग्रहयुति, पात एवं सूर्य चन्द्र की क्रान्ति का वर्णन दिया गया है। जातक स्कन्ध को ही होरास्कन्ध कहा जाता है।

इसमें राशियों के भेद, ग्रहों की जाति, रूप, गुण, भेद आदि तथा जन्मफल, गर्भाधान, जन्म अरिष्ट, आयु, दशा क्रम, आजीविका, अष्टकवर्ग, राजयोग, नाभसयोग, चन्द्रयोग, प्रव्रज्या योग, राशिशील, ग्रहदृष्टिफल, ग्रहभावफल, आश्रययोग, प्रकीर्ण अनिष्टयोग, स्त्रीजातक, नष्टजन्मपत्रिका विधान तथा द्रोष्काणादि के फलों का वर्णन है।

संहिता स्कन्ध में ग्रहों का गति, वर्ष का लक्षण, तिथि, दिन, नक्षत्र योगकरण, मुहूर्त, उपग्रह, सूर्यसंक्रमण, ग्रहगोचर, चन्द्र तथा तारावल, समस्त लग्नों का विचार, ऋतुदर्शन विचार, गर्भाधान पुंसवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन चूड़ाकरण, कर्णछेदन, उपनयन, मौञ्जीबन्धन, वेदारम्भ, क्षुरिकाबन्धन, समावर्तन, विवाह, प्रतिष्ठा, गृहलक्षण, यात्रा विचार गृहप्रवेश, तत्कालवृष्टि का ज्ञान, कर्मो की विलक्षणता उत्पत्ति का लक्षण इत्यादि विषयों का वर्णन किया है।

इस प्रकार तीन अध्यायों में ज्योतिष के तीन स्कन्धों के विषयों का संक्षिप्त निरूपण किया गया हैं। भास्कराचार्य के लीलावती प्रभृति गणित के ग्रन्थों में उपलब्ध प्रायः सभी विषयों का संक्षिप्त वर्णन इस नारद पुराण के तीन अध्यायों में प्राप्त होता है। समानमूलकता के कारण ही पुराणों एवं सिद्धान्तादि ग्रन्थों में विषय साम्य ही नहीं अपितु शब्दसाम्य भी

प्राप्त होता है। इसी से भ्रमवश कुछ लोग इनमें पौर्वापर्य की कल्पना करते हैं। किन्तु, उनकी परम्परा विरुद्ध कल्पना सर्वमान्य नहीं हो सकी है। इस विषय मे परम्परावादी विद्वानों का यह कहना है कि उपर्युक्त प्रकार के शब्द साम्य या विषय साम्य का कारण वस्तुतः समान मूलकता है न कि पौर्वापर्य। इसी के आधार पर कल्पारम्भ में ब्रह्मा का शास्त्रोपदेष्टा होना सिद्ध होता है।

ज्योयितष में सिद्धान्त, संहिता एवं जातक स्कन्ध के अतिरिक्त सामुद्रिक एवं स्वर ज्ञान नामक दो स्कन्ध और भी जाने जाते हैं। इन विषयों का वर्णन गरुड़ पुराण के पूर्वखण्ड में प्राप्त होता है।

''समुद्रोक्तं प्रवक्ष्यामि परस्त्रीलक्षणं शुभम्।
येन विज्ञानमात्रेण अतीतानागतागमाः।।

''अर्थात् समुद्र के कहे पुरुष एवं स्त्री के शुभ लक्षण को बतलाता हूँ जिसके ज्ञान मात्र से भूत एवं भविष्य का ज्ञान होता है।'' इसके अनन्तर विस्तारपूर्वक पुरुष एवं स्त्री के शुभ एवं अशुभ लक्षणों का महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है। सामुद्रिक अध्याय में कुल ११२ श्लोक हैं। इसके पश्चात् स्वरोदय का वर्णन करने वाला ३८ श्लोकों का अध्याय है।

''हरेः श्रुत्वा हरो गौरी देहस्थं ज्ञानमब्रवीत्
कुजो वह्नी रविः पृथ्वी शौरिरपः प्रकीर्तितः।।

वायुसंस्थः स्थितोराहुर्दक्षरन्ध्रादभासकः।।

''अर्थात् हरि के कथन का श्रवण करके हर ने गौरी को देह में स्थित ज्ञान बतलाया था। भौम को वह्नि, रवि को पृथ्वी और सौरि (शनि) आपः कहा गया है। वायु रूप में स्थित राहु दक्षिण रन्ध्र का अवभासक होता है।

सामुद्रिक एवं स्वरोदय के पूर्व ग्रहों की दशा, जन्मादि राशिफल तथा चन्द्रशुद्धि का वर्णन किया गया है।

महापुराणों में अग्निपुराण, नारदपुराण एवं गरुड़पुराण ही ऐसे पुराण हैं जिनमें ज्योतिषविद्या का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु आदि अन्य महापुराणों में यत्र-तत्र व्रतादि के प्रसंग में ग्रह, नक्षत्र एवं राशियों से सम्बन्धित वर्णन हुआ है।

वेदांग-ज्योतिष

वेदांग-ज्योतिष की दृष्टि से सम्प्रति तीनपुस्तकें परिगणित हैं। आर्च'ज्योतिष अथवा ऋग्ज्योतिष, यजुर्ज्योतिष एवं अथर्वज्योतिष। ऋग्वेद ज्योतिष में ३६ श्लोक उपलब्ध हैं एवं

यजुर्वेद ज्योतिष में ५५ श्लोक हैं। इन दोनों के अनेक श्लोक एक सदृश हैं। किन्तु, उनका पाठक्रम भिन्न है। ऋग्ज्योतिष के श्लोक संकेताक्षरों के प्रयोग के कारण अत्यधिक गूढ़ हैं। म० म० सुधाकर द्विवेदी, डा० आर. शामशास्त्री तथा शंकर वालकृष्ण दीक्षित ने इन श्लोकों की गुत्थियों को सुलझाने का स्थूल प्रयास किया है।

ऋग्वेद ज्योतिष एवं यजुर्वेद ज्योतिष में प्राप्त वचनों द्वारा यह पता चलता है कि ग्रन्थकार को ज्योतिष का ज्ञान किसी लगध नामक महात्मा से प्राप्त हुआ। यथा'-

''कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः''।

''अर्थात् मैं लगध महात्मा के काल ज्ञानको वतलाऊँगा'' यह वाक्य ऋग्वेद ज्योतिष के श्लोक २ एवं यजुर्वेद ज्योतिष के श्लोक ५३ में उपलव है। वेदांग-ज्योतिष की रचना के काल में विषय में पर्याप्त मतभेद है। शंकर वाल कृष्ण दीक्षित ने इसका रचना काल १२०० ई०पू० निर्धारित किया है। थीवो ने इसका रचना काल ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद माना है। जोंस तथा प्राट के मतानुसार ११८१ ई०पू० तथा डेविस और कोलब्रुक के मतानुसार १३६१ ई०पू० है।[1]

वस्तुतः वेदांग ज्योतिष के विषय में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इसकी रचना मन्त्रब्रह्मणात्मक वेदों के आविर्भाव के वहुत कालोपरान्त हुयी थी। अनेक वेदभागों के क्रमशः लुप्त होते रहने के कारण यत्किञ्चिद् उपलब्ध अंशों के आधार पर भिन्न-भिन्न शास्त्रों का उद्धार समय-समय पर अनेक ऋषियों एवं महात्माओं ने किया। वेदांग-ज्योतिष की भी ऐसी ही स्थिति रही है। ज्योतिष का मुख्य प्रयोजन वैदिक यज्ञों के यथोचित काल का निरूपण रहा। फलतः वेदांग-ज्योतिष निश्चित रूप से वैदिक यज्ञों के सम्पादन के उपयोगी काल के निरूपण तक ही सीमित रहा। इसी से किसी पञ्चवर्षीय यज्ञ-क्रम से सम्वन्धित पञ्चवर्षीय युग का वर्णन तो वेदांग-ज्योतिष में प्राप्त होता है। किन्तु उसमें मन्त्रब्रह्मणात्मक वेद एवं वेदोपबृंहणस्वरूप पुराणोपपुराणों में वर्णित सृष्टि-प्रलयात्मक कालप्रवाह से सम्बन्धित लाखों-लाखों वर्षों वाले कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि नामक युगों एवं कल्पादि की गणना का विवरण प्राप्त नहीं होता।

ऋग्वेदीय एवं यजुर्वेदीय ज्योतिष की अपेक्षा अथर्ववेदीय ज्योतिष में ज्योतिष सम्बन्धी अधिक विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। यह १६२ श्लोकों का ग्रन्थ है। इसमें कालपरिमाण, करण, ग्रहभ्रमणकाल, तिथि, मुहूर्त, वार एवं जातक स्कन्ध सम्बन्धी तथ्यों का भी वर्णन हुआ है।

---

१. एशियाटिक रिसर्चेज २/३६३, जे०ए०एस०बी० १३४६ एशियाटिक रिसर्चेज २/२६८, ५:२८८ तथा १/१०६/११०

रामायण एवं महाभारत में ज्योतिर्विज्ञान

वाल्मीकि रामायण से यह सुस्पष्ट होता है कि रामायण के रचनाकार को युग, वर्ष, ऋतु, मास, नक्षत्रों के नाम, जातक-पद्धति एवं विषुव इत्यादि ज्योतिष के विषयों का पूर्ण ज्ञान था। रामायण में राम के जन्मांग का वर्णन भारतीय जातक-पद्धति की वेदमूलकता का प्रमाण है।[1] इसके अतिरिक्त संहिता-स्कन्ध एवं शकुन शास्त्र के भी अनेक तत्त्वों का संकेत वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध होता है।

महाभारत में वेदांग-ज्योतिष के पञ्चवर्षीय युग के अतिरिक्त सहस्रयुगीन दिन एवं रात्रि वाले ब्राह्म दिन का भी उल्लेख हुआ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "अणोरणीयान् महतो महीयान्" के परिचायक वेदों में वर्णित कालविषयक कल्पना का ही वर्णन ज्योतिष शास्त्र के रूप में संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, ज्योतिष एवं पुराणादि में हुआ है।

●

---

१. नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह।।
प्रोद्यमाने जगन्नाथे सर्वलोकनमस्कृतम्।
कौसल्या जनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।।
पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ।।
(वालकाण्ड, १८/९, १० तथा १५)

भुवनकोश

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी

"भुवनानां कोशः भुवनकोशः अथवा भुवनानि कोश इवेति भुवन कोशः" इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न भुवनकोश मात्र ज्योतिष शास्त्र का ही प्रतिपाद्य विषय नहीं है, अपितु वैदिक वाङ्मय में इस विषय की व्यापक चर्चा उपलब्ध होती है। ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति का वर्णन प्रायः भारतीय चिन्तन परम्परा के सभी शास्त्रों में उपलब्ध होता है। भूः भुवः, स्वः महः, जनः, तपः, सत्यं, उर्ध्वलोक और अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल, अधोलोक हैं। इन्हीं को चतुर्दश लोक कहा जाता है। ये लोक कौन हैं? कहाँ हैं? तथा ग्रहों, तारों, चन्द्र, पृथ्वी एवं सूर्य की उत्पत्ति कैसे हुई? यह एक महान जिज्ञासा है। इस संबंध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि **"लोकोऽसि अनन्तोस्यपारोऽसि। अक्षितोऽस्यक्षस्योऽसि"**[1] अर्थात् तुम लोक हो, अनन्त हो, अपार हो, अक्षित हो, अक्षय हो, जो अपार अक्षय अनन्त है वह कहाँ से आया? क्या कोई जानता है? इस संदर्भ में ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है "कौन जानता है और कौन कहेगा कि यह सृष्टि कहाँ से और किस कारण उत्पन्न हुई?[2] क्योंकि जिन्हें हम देवता कहते हैं अथवा जो विद्वान इस सृष्टि के रहस्य को जानने की बात करते हैं वे भी तो सृष्टि के वाद ही उत्पन्न हुए, इसलिए यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई उसे कौन जानता है? इस सृष्टि को पैदा करने वाला इसका अध्यक्ष परब्रह्म इस सृष्टि का धारक है और वही इस सृष्टि को पूर्णतया जानता होगा।" केवल आकाश ही है जो उसको जानता होगा परन्तु वह भी उसको जानता है या नहीं, इसको कौन जानता है? इस सृष्टि के विषय में जितने सम्प्रदाय हैं उतने ही विचार भी हैं। ऋग्वेद में ही कहा गया है कि असत् से सत् उत्पन्न हुआ और इसके अनन्तर दिशायें आदि।

वेदान्त में कहा गया है कि **"तमः प्रधान विक्षेप शक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते"** इत्यादि। अर्थात् तमस् प्रधान विक्षेप शक्तिमदज्ञानोपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। वेदों तथा उपनिषदों में ब्रह्माण्ड का वर्णन सम्यक् प्रकार से कई स्थानों पर दिखाई देता है। वैदिक साहित्य के इतर भी ब्रह्माण्ड का वर्णन विस्तृत रूप से मिलता है। आदिकाल से ही मनुष्यों के पास विश्वोत्पत्ति के रहस्य को जानने की

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।१

२. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आवभूव।। १०।१२९/६, इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।। १०/१२९/७

मुख्यतः दो प्रविधियां उपलब्ध थीं जिसमें पहली प्रविधि का नाम अध्यात्म तथा दूसरी प्रविधि का नाम भौतिक विज्ञान था। आध्यात्म विज्ञान में योग एवं दिव्य दृष्टि के द्वारा समग्र ज्ञान प्राप्त होता था जबकि भौतिक प्रविधि में पञ्चज्ञानेन्द्रिय गम्य ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। इनसे इतर विषयों का ज्ञान इस प्रविधि के द्वारा संभव नहीं है। यह ध्रुव सत्य है क्योंकि भौतिक प्रविधि का अधिकतर ज्ञान परीक्षण शालाओं पर आधारित रहता है। जहां परीक्षण शालाओं की सीमा समाप्त होती है, वहीं से अध्यात्म विज्ञान की सीमा प्रारंभ होती है। इसी लिए अध्यात्म विज्ञान ने 'यत् पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त के द्वारा ही समस्त जगत् के रहस्य को समझा और समझाने को प्रयत्न किया। भारतीय चिन्तन धारा के आधार पर ब्रह्माण्डोत्पत्ति ज्ञान को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया गया था।

१. विश्वकर्मा द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-'इयं विसृष्टिर्यत आ वभूव.....।'[1] ऋग्वेद के अनुसार परमेश्वर ही सृष्टि में स्रष्टा (बनाने वाले) हैं। परमेश्वर के गुणों की संज्ञा ही देवता है। ब्रह्माण्ड का सृजन देवताओं ने ही किया है। वे देवता हैं विश्वकर्ता, विष्णु, सविता, इन्द्र, वरुण आदि। ये देवता सृष्टि निर्माण में विभिन्न कार्य करते हैं। इन्हीं के सहयोग से ब्रह्माण्ड निर्माण का कार्य पूर्ण हुआ।[2] सृजन में जिस पदार्थ का उपयोग हुआ इन देवताओं ने उसको अंतरिक्ष धूलि मेघ कहा जिसको आधुनिक वैज्ञानिक 'कॉस्मिक डस्ट' के नाम से जानते हैं।

२. विराट् पुरुष द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-विराट पुरुष को ही लोग समग्र विश्व की आत्मा मानते हैं। संपूर्ण ब्रह्माण्ड का यह शरीर (विराट स्वरूप) बीज मात्र है अर्थात् जैसे प्रत्येक वृक्ष के सूक्ष्म बीज में एक विशाल वृक्ष समाया रहता है उसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म इकाई में विराट ब्रह्माण्ड का स्वरूप समाहित रहता है। विराट पुरुष के अंगों से ही पृथ्वी, आकाश वायु, सूर्य, चन्द्र, मनुष्य आदि जीवों के साथ ही पार्थिव तत्व की भी उत्पत्ति होती है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।'[3]

३. ब्रह्मा द्वारा ब्रह्माण्डोत्पत्ति-ऋग्वेद के नासदीय सूक्त[4] में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के आदि में न 'सत्' था और न 'असत्' था, न आकाश था, न वायुमण्डल था, न दिन था, न रात्रि थी।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १९०वें सूक्त में विशेष वर्णन मिलता है कि जाज्वल्यमान परम तेज से ऋत (सत्य) की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् आकाश तथा आकश से अनन्त परमाणुओं की सृष्टि हुई तब पदार्थ का सृजन हुआ।[5]

---

१. ऋग्वेद संहिता १०/१२९/७
२. ऋग्वेद संहिता १०/८१-७, ऋग्वेद संहिता १०/८२/१.७
३. ऋग्वेद संहिता १०/९०/०२, साम ६१९, अथर्व १९, ६, ४ शुक्लयजु सं० ३१/१२
४. ऋग्वेद १०/१२९/१.७
५. ऋग्वेद १०/१९०/३, वृहदारण्यकोपनिषद् २/६/२०, विष्णुपुराण १/२/२३

४. प्रजापति द्वारा ब्रह्माण्डोत्पत्ति-स्वयंभू परमेश्वर ने सर्वप्रथम विश्वोत्पत्ति के लिए प्रजापति की सृष्टि की। श्रुतियों में प्रजापति को ही हिरण्यगर्भ कहा गया है, यथा- 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'।[1] हिण्यगर्भ ही एक ऐसी अवस्था है जहां से आज के वैज्ञानिक को सृष्टि प्रक्रिया टीक से समझ आती है। क्यों जब तेज (इनर्जी) हिरण्यगर्भ के रूप में परिणत होता है तभी विस्फोट होता है। विस्फोट के पूर्व की स्थिति ही हिरण्यगर्भ है। कह सकते हैं कि तेज की एक स्थिति (अवस्था) का नाम ही हिरण्यगर्भ है। शतपथ ब्राह्मण में इसी प्रसंग में हिरण्यगर्भ को 'अर्ध' ज्योति कहा गया है। यथा- 'ज्योतिर्वै हिरण्यम् ज्योतिरेषोऽमतं हिरण्यम।[2] निश्चित ही 'हिरण्यम्' एक अखण्ड मूल तत्वरूप ज्योति है। अमरकोशकार ने हिरण्यगर्भ का निर्वचन इस प्रकार किया है। यथा- 'हिरण्यं हिरण्यमयं अण्डं तस्य गर्भ इव'। अर्थात् ज्योतिर्मय पिण्ड जिसके गर्भ में है वह हिरण्यगर्भ हुआ। वैदिक साहित्य में हिरण्यगर्भ का विवेचन विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है।

वेद दर्शन एवं विज्ञान संवंधी रहस्यों के आगार हैं किन्तु वैदिक साहित्य की भाषा परोक्ष प्रतीकात्मक, संकेतात्मक अलंकारों एवं रूपकों से परिपूर्ण है। सामान्यतया वैदिक मन्त्रों के अर्थ एवं भाव समझ में नहीं आते हैं क्योंकि वेदों के भी अपने प्रतीक हैं। वेद की परिकल्पनाओं के प्रतिपादन मे प्रतीकों का महत्वपूर्ण योगदान है। वेदों के भाव एवं अर्थ को समझाने से पूर्व प्रतीकों को समझना आवश्यक है।

सामान्यतया जहां ग्रह, नक्षत्र, तारे, दैत्य, मानव, देवतादि समस्त जीव एवं भूर्भुवादि चतुर्दश लोकों का एक समन्वित स्वरूप परिकल्पित होता है उसे ही ब्रह्माण्ड कहते हैं। यह भी कह सकते हैं कि चतुर्दश लोकों के समूह को ही ब्रह्माण्ड कहते हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार एक सौर मण्डल को भी एक ब्रह्माण्ड कहा जाता है। सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है कि "आकशकक्षा सा ज्ञेया करव्याप्तिस्तथा रवेः" इस प्रकार के अनेक सौर मण्डल हैं। वेदों में चतुर्दश लोकों का वर्णन 'रोदसी' 'कन्दसी' एवं संयती के रूप में मिलता है। इस ब्रह्माण्ड में स्थित सात उर्ध्व लोकों एवं सात अधः लोकों का प्रकारान्तर से जो वर्णन शतपथ ब्राह्मण में मिलता है वैसा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। गार्गी और याज्ञवल्क्य ऋषि के संवाद में कई लोकों का उल्लेख मिलता है। **"कस्मिन्न खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादयः"**[3]

इसके अतिरिक्त वेदों में द्यु-अन्तरिक्ष पृथ्वी का पृथक-पृथक वर्णन मिलता है। समग्र विश्व के विषय में कुछ कहते समय रोदसी, द्यावापृथिवी (आकाश और पृथ्वी) को इंगित

---

१. यजुर्वेद संहिता १३/१४, ६०/१६ ऋग्वेद १०/१२१/१.७

२. शतपथ ब्राह्मण ६/७

३. शतपथ ब्राह्मण १४/६/६/१

करके किया हुआ वर्णन बहुत से स्थलों में पाया जात है। इससे ज्ञान होता है कि विश्व के दो भाग माने गये हैं परन्तु कहीं-कहीं द्युलोक तीन बताये गये हैं। अधिकांश स्थलों पर द्यु-अंतरिक्ष और पृथ्वी विश्व के तीन विभाग माने गये हैं। द्यु और पृथ्वी के बीच को ही अन्तरिक्ष कहा गया है। इसी मे वायु मेध एवं विद्युत का स्थान है तथा इसी में पक्षी भी उड़ते हैं।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत पद्भ्यां भूमिः।[1]

पुरुष सूक्त की इस ऋचा में तीनों विभाग स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं। संभवतः उक्त लोकों की ऊर्ध्वाधः स्थिति को ध्यान में रखकर ही विराट् पुरुष के मस्तक, नाभि एवं पादों से इनकी उत्पतित की कल्पना की गयी। ऋग्वेद के एक प्रसंग में इस प्रकार वर्णन मिलता है कि 'जिसने कांपती हुई पृथ्वी दृढ़ की, जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को व्यवस्थित किया जिसने द्यु को धारण किया है मनुष्यों/वह इन्द्र है।'[2] जैमिनीय ब्राह्मण में सात लोकों का वर्णन व नाम इस प्रकार मिलता है यथा- उपोदक, ऋतधामा, अपराजित, अभिद्यु, प्रद्यु, रोचन, विष्टप (ब्रह्मलोक)।[3] एक अन्य प्रसंग में जैमिनीय ब्राह्मण में ही लोकों का क्रम - उपोदक, ऋतधामा, शिव, अपराजित, अभिद्यु, प्रद्यु, तथा रोचन कहा गया है।[4] रोचन पद दीप्ति वाचक है। यह सूर्य (रोचन) लोक और उससे प्रदीप्त लोकों का भी वाचक है।[5] शतपथ ब्राह्मण के कथनानुसार आदि में सूर्य, चन्द्र आदि लोक सुस्थिर न होने के कारण पहले कांपते थे। बहुत काल पश्चात् ये लोक नियमित गतियों में प्रतिष्ठित हुए-तद् यथा ह वै। इदं रथचक्रं वा कौलालचक्रं वा प्रतिष्ठितं क्रन्देद एवं हैवेमा लोका अध्रुवा अप्रतिष्ठिता आसुः। स ह प्रजापतिरीक्षञ्चक्रे। कथंनिन्ववमे लोका ध्रुवाः इमाम् अदृहदं वायोभिश्च मरीचिभिश्चान्तरिक्षम्। जीमूतैश्च नक्षत्रैश्च दिवम्।[6]

तब जैसे यह रथ का चक्र वा कुम्हार का चक्र अस्थिर क्रन्दन करता है, ऐसे ही ये लोक अध्रुव और अप्रतिष्ठित थे। उस प्रजापति ने ईक्षण किया कि कैसे ये लोक ध्रुव तथा प्रतिष्ठित हों। उसने इन पर्वतों और नदियों से इस पृथ्वी को दृढ़ किया। वायु और मरीचियों (रश्मियों) ने अन्तरिक्ष लोक को तथा जीमूतों और नक्षत्रों ने दिव लोक को दृढ़ किया।

---

१. भारतीय ज्योतिप पृष्ट २२३
२. ऋ.सं० २/१२/०१, अथर्व सं० २०/३४/०२
३. जैमिनीय ब्राह्मण १/३३४
४. जैमिनीय ब्राह्मण ३/३४७
५. शतपथ ब्राह्मण ७/१/१२४
६. शतपथ ब्राह्मण ११/८/१/२

शतपथ ब्राह्मण एवं जैमिनीय ब्राह्मण के वर्णन से लोकों के विषय में एक वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है। यहां सूर्य, चन्द्र के अलग-अलग लोकों के रूप में वर्णन मिलता है तथा ब्राह्मण के वर्णन से ज्ञात होता है कि सूर्य चन्द्र के साथ ही भूभ्रमण की अवधारणा भी स्पष्ट होती है। जहां बादल एवं विद्युत का स्थान पृथ्वी के समीप ही है जबकि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि तेजवान् पुञ्जों का स्थान पृथ्वी से दूरतर है।

स्वर्गमृत्युपातालादि लोकों का वर्णन वेदों में प्रायः नहीं मिलता है परन्तु पौराणिक साहित्य में सप्तपाताल एवं सप्त उर्ध्व लोकों का वर्णन विशद रूप से उपलब्ध होता है।

पुराणों में चतुर्दश लोकों का वर्णन

भूर्भुवादि चतुर्दश लोकों का वर्णन पुराणों में ठीक प्रकर से उपलब्ध होता है। पुराणों के अनुसार अनन्त ब्रह्माण्ड हैं प्रत्येक ब्रह्माण्ड मे चतुर्दश लोक विद्यमान हैं। पृथ्वी से आरंभ कर भू; भुव; स्व; मह; जन; तप; और सत्य ये सात ऊर्ध्व लोक हैं तथा अतल, वितल, सुतल तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये सात अधो लोक हैं। पुराणों के अनुसार ऊर्ध्व लोकों में देवों का तथा अधो लोकों में असुरों का निवास कहा गया है।[1] ये चतुर्दश लोक मध्य, ऊर्ध्व अधो लोकों के क्रम में विभाजित किये गये हैं। इनमें से भू लोक को मध्यलोक कहा गया है। पृथ्वी को छोड़कर ऊर्ध्व के छः लोकों को ऊर्ध्वलोक कहा गया है। अधो लोकों में उपर्युक्त सातों पाताल लोक कहें गये हैं।

पुराणों में 'भूर्भुवस्वः लोकों के समूह को कृतकत्रैलोकी, महर्लोक को कृतकाऽकृतक त्रैलोकी तथा ''जनतपसत्य'' लोकों के समूह को अकृतकत्रैलोकी संज्ञा प्रदान की गयी है। सभी अधो लोकों को पाताल लोकों के नाम में जाना जाता है, इन्हें ही बलिस्वर्ग भी कहा गया है यथा-

ऊर्ध्वलोक	
सत्यलोक	
तपोलोक (ब्राह्मस्वर्ग)	अकृतकत्रैलोकी
जनलोक (दिव्यस्वर्ग)	
महर्लोक (प्राजापत्यस्वर्ग)	कृतकाऽकृतकत्रैलोकी
स्वर्लोक (माहेन्द्रस्वर्ग)	
भुवर्लोक (भौमस्वर्ग)	कृतम त्रैलोकी
मध्यलोक	
भूर्लोक	कृतकत्रैलोकी

१. वायुपुराण ४९/१५०, पद्मपुराण ७/२/१२, श्रीमद्भागवत २/५/३९/४२, श्रीमद्देवीभागवत स्कन्ध ८, पुराणपर्यालोचन पृ. १७३ तथा चतुर्दशलोक रहस्य पृ. ९, १०

अधोलोक :

अतल

वितल

सुतल

तलातल बलिस्वर्ग

रसातल

महातल

पाताल

पुराणों में भूर्भुर्वादि सात ऊर्ध्व लोकों की व्यवस्था तीन भागों में विभक्त की गयी है। ये तीन भाग हैं- रोदसी, क्रन्दसी, संयती। इनका वर्णन पुराणों एवं वेदों के आधार पर म. म.श्री गिरिधरशर्माचतुर्वेदी ने अपने 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति; में भी प्रतिपादित किया है। जिस पर हम निवास करते हैं उसे पृथ्वी कहते हैं। इसे ही भूलोक भी कहा जाता है। यह भूलोक पूर्ण रूप से सूर्यमण्डल से आबद्ध है और इसी के आकर्षण के कारण यह अपने अक्षय भ्रमण एवं कक्षीय भ्रमण को पूर्ण करता है। सूर्यमण्डल को स्वर्ग अथवा स्वर्लोक भी कहा जाता है। भू और स्वर्लोक के मध्य के अवकाश स्थान को अंतरिक्ष या भुवः कहते हैं। भूः, भुवः, स्वः इन तीनों की एक त्रिलोकी बनती है जिसे श्रुतियों में 'रोदसी' कहा गया है। यह रोदसी शब्द द्विवचनान्त रूप में उल्लिखित किया गया है। वस्तुतः इसमें दो लोक ही विद्यमान हैं भूः एवं स्वः अर्थात् पृथ्वी एवं सूर्य भुवः तो शून्य है। इसीलिए इसे द्विवचनान्त रूप में दिया गया है। इसी प्रकार सूर्य भी किसी अन्य प्रधान मण्डल से आबद्ध है। वह मण्डल है परमेष्ठि मण्डल। परमेष्ठि मण्डल को ही 'जनलोक' या जनः शब्द से जाना जाता है। सूर्य और जन लोक के मध्य अन्तरिक्ष को 'मह' लोक के नाम से जाना जाता है। स्वः, महः, जनः इन तीनों की दूसरी त्रिलोकी कही जाती है जिसे श्रुतियों में 'क्रन्दसी' नाम से जाना जाता है। क्रन्दसी शब्द भी द्विवचनान्त प्रयोग ही है। इस त्रिलोकी में सूर्यमण्डल (स्वः) एवं परमेष्ठिमण्डल (जनः) के कारण ही इसे भी द्विवचनान्त प्रयोग किया गया है। परमेष्ठि मण्डल (जनः) भी किसी अन्य प्रधान मण्उल से आबद्ध है और उस मण्डल का नाम है स्वयंभू मण्डल। स्वयंभू मण्डल को ही 'सत्यलोक' या सत्यम् कहा गया है। परमेष्ठि मण्डल एवं स्वयंभू मण्डल के मध्य के अंतरिक्ष को श्रुतियों में तपः के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार सात लोकों का वर्णन मिलता है। उक्त वर्णन में दो लोकों का नाम दो बार आया है। इन सातों का स्मरण वेदानुयायी सन्ध्योपासना में सात व्याहृतियों के रूप में करते हैं। भूः, भुवः स्वः, महः, जनः तपः सत्यम् में चर मण्डल एवं तीन अन्तरिक्ष हैं। भुवः नामक अंतरिक्ष में एक मण्डल 'सोममण्डल' अर्थात् 'चन्द्रमण्डल' का वर्णन भी उपलब्ध होता है। चन्द्रमण्डल का भूमण्डल के साथ घनिष्ठ संबंध है। इसलिए कई स्थानों मे भुवः के स्थान

पर चन्द्र मण्डल का वर्णन उपलव्ध होता है। इस आधार परपांच मण्डल एवं दो अंतरिक्ष रह जाते हैं। तीन त्रिलोकियों, तीन पृथ्वियों एवं तीन द्युलोकों का वर्णन ऋग्वेद संहिता के अनेकों मंत्रों में आया है।[१]

सप्त ऊर्ध्व लोकों के पारस्परिक समन्वय से स्पष्ट प्रतीति होती है कि एक लोक दूसरे लोक से पूर्णतया आवद्ध है। भूलोक स्वर्लोक से आवद्ध है अर्थात् बिना स्वर्लोक (सूर्यमण्डल) के भूलोक का अस्तित्व नहीं है। भू लोक के लिए स्वर्लोक का होना परमावश्यक है। स्वर्लोक बिना भूलोक के अपने अस्तित्व में रह सकता है परन्तु स्वः के बिना भू लोक नहीं रह सकता है। इसी प्रकार स्वर्लोक (सूर्यमण्डल) के लिए भी परमेष्ठिमण्डल का होना आवश्यक है। बिना परमेष्ठिमण्डल के स्वर्लोक का अस्तित्व समाप्त प्राय होगा। स्वर्लोक (सूर्यमण्डल) पूर्वरूप से परमेष्ठिमण्डल के आकर्षण के कारण ही अपनी कक्षा में घूमते हुए पूरे सौर परिवार के साथ आकशगंगा में गतिमान है। इसी तरह परमेष्ठिमण्डल (जन) लोक भी सत्यलोक (स्वयम्भूमण्डल) से पूर्णरूपेण आवद्ध है। बिना सत्य के परमेष्ठिमण्डल (जन) का अस्तित्व नहीं होगा। शुक्ल यजुर्वेद मे परमेष्ठिलोक का व्यवहार धाता नाम से भी मिलता है। प्राचीन वैदिक ऋषि यह स्वीकार करते हैं कि सभी तारों, ग्रहों एवं नक्षत्रों की उत्पत्ति परमेष्ठी लोक से हुई है। सम्भवतः आधुनिक वैज्ञानिक इसी परमेष्ठी (धाता) लोक को 'स्पायरल नौबुला' (काश्यपी नीहारिका) के रूप में स्वीकार करते हैं तथा मानते हैं कि सूर्य सहित सभी ग्रहों की उत्पत्ति आकशगंगा के एक पार्श्व में स्थित काश्यपी नीहारिका से हुई है। इस मत का प्रतिपादन पुराण भी करते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि 'चन्द्र ऋक्षाः ग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्य-सम्भवाः।[२] ऋग्वेद की एक ऋचा में तीन अंतरिक्ष एवं तीन लोकों का वर्णन प्राप्त होता है।[३] ऊर्ध्व लोकों की अपेक्षा पाताल लोकों का वर्णन सामान्य जनों की मान्यता से भिन्न मिलता है। सामान्य जनों की मान्यता के अनुसार पाताल लोक सदा अंधकार से आच्छन्न रहते हैं तथा प्राणियों के निवास के लिए अयोग्य स्थान हैं। परन्तु पुराणों में इस अवधरणा के विपरीत वर्णन उपलव्ध होता है। विष्णु एवं बह्मपुराण में वर्णन मिलता है कि पाताल लोक स्वर्गलोक से भी अधिक सुरम्य एवं सुन्दर है।

---

१. तिस्त्रों मातृस्त्रीन् पितृन् विभ्रदेकं, ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति। मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्टे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्। ऋग्वेद १/१६४/१०, तिस्त्रो भूमीर्धारयन्त्रीरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथ्ये अन्तरेषाम्। ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु।। ऋग्वेद २/२७/८

२. ब्रह्माण्ड पुराण २४/४६

३. त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्रीरजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्त्रो दिवः पृथिवीस्तिस्त्र इन्वति त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना।। ऋग्वेद ४/५३/०५

स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः।
प्राह स्वर्गसदोमध्ये पातालेभ्यो गतो दिवम्।।[1]

पुराण विमर्श में पं० श्री वलदेव उपाध्याय ने पाताल लोकों की भौगोलिक स्थिति पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया कि पाताल की पहचान समग्र पश्चिमी गोलार्थ से की जा सकती है जिसे आजकल अमेरिका महाद्वीप के नाम से पुकारा जाता है। श्रीमदभागवत पुराण के अनुसार अतल नामक पाताल लोक में मय नाम का असुर रहता है। यह प्रामाण्य सारवान् प्रतीत होता है, क्योंकि मध्य अमेरिका के मुख्य देश मेक्सिको की प्राचीन संस्कृति मय संस्कृति के नाम से विख्यात है और आज भी लोग अपनी प्राचीन संस्कृति के उपासक है। मय, भव्य एवं अद्भुत प्रसादों का निर्माता अर्थात् असुरों का अभियन्ता (इंजीनियर) था। मेक्सिकों तथा पेरु आदि देशों की समृद्ध शिल्पकला तथ भास्कर्यकला के प्रसादों का निरीक्षण कर आधुनिक शिल्पशास्त्री आश्चर्यचकित हो उठते हैं। विशद कलाकृतियों की विस्मयकारिणी समृद्धि की सत्ता के कारण ही मय असुर को मायावी भी कहा जाता था। मैक्सिको वासियों का रहन-सहन, खान-पानादि व्यवस्था आज की भारतीयों जैसा ही है। अतः समग्र अमेरिका की पाताल से साम्यता करना सर्वथा सत्य, प्रामाणिक एवं युक्तिसंगत है।[2]

पण्डित प्रवर अनन्त शास्त्री फड़के ने इस भूमण्डल में ही ऊर्ध्व एवं अधोलोकों की कल्पना प्रस्तुत की है। उनके कथनानुसार उत्तरी गोलार्ध में ऊर्ध्व लोक और दक्षिणी गोलार्ध में अधः लोक (पाताल) हैं। फड़के के लेख एवं मानचित्र से काल्पनिक पाताल एवं नरकलोकों की स्पष्ट स्थिति परिलक्षित होती है। इन्होंने नरकलोकों को कल्पना के संदर्भ में श्रीमदभागवत का एक अंश उद्धृत किया है।[3]

भास्कराचार्य ने चतुर्दशलोकों के प्रसंग में सिद्धान्तशिरोमणि में पुराणों के मत का प्रतिपादन करते हुए उसे सम्यक् प्रकार से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।[4] इन्होंने पाताल लोकों का वर्णन भी पुराणों के ही अनुसार दिया है।[5] पाताल लोकों के विषय में आधुनिक भूभागों से तुलना करते हुए श्री प० मीठालाल ओझा ने एक सम्यक् वर्णन प्रस्तुत किया है।[6] जो इस प्रकार हैं:-

---

१. ब्रह्मपुराण २१/४, विष्णुपुराण २/५/५
२. पुराणविमर्श पृ. ३४४-३४५
३. श्रीमद्भागवत ५/२६/४, (चित्र-१)
४. गोलाध्यये ३/४३
५. सिद्धान्तशिरोमणेः गोलाध्यये भुवनकोशः २३/२४
६. सरस्वती सुषमा ३/४, २०/८/६६

जम्बूद्वीप-भारतवर्ष-भारत-पाताल नरकबोधक मानचित्र

चित्र- 1

	प्राचीन	आधुनिक
१.	अतल	सुमात्रा
२.	वितल	वोर्नियो
३.	नितल	जावा
४.	गभस्तल	मलाया, इण्डोनेशिया
५.	महातल	आस्ट्रेलिया
६.	सुतल (श्रीतल)	न्यूगिनि
७.	पाताल	न्यूजीलैण्ड

जैनमत में लोक परिकल्पना

इस प्रसंग में जैनों का मत भी विचारणीय है। उनके कथनानुसार पृरुषाकृति में लोक सन्निविष्ट हैं। कटि भाग से ऊपर उर्ध्व लोक तथा कटि भाग के नीचे अधोलोक का स्थान उन्होंने वर्णित किया है। जैन पुराणों में लोकों का विभाजन 'राजू' नामक पद द्वारा किया गया है।[1]

सूर्यकिरणों से प्रकाशित होकर इस भूमण्डल मे प्राणीमात्र का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है। कुछ आचार्यों के कथनानुसार मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि सभी ग्रहों तथा चन्द्रादि सभ उपग्रहों की समष्टि का नाम ही चतुर्दश लोक हैं।[2] लोगों ने इस प्रकार के चतुर्दश लोकों के वर्णन को आध्यात्मिक विषय के रूप में स्वीकार किया है। योगशास्त्रानुसार 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त के अनुरूप सभी सात ऊर्ध्व लोक एवं सात अधो लोक शरीर में ही स्थित हैं और इन सबका नियमन सत्यलोक से होता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी समस्त लोकों का संचालक सुदूर स्थित सत्य लोक ही है।

पुराणों में भूगोल एवं खगोल का वर्णन अत्यन्त सारगर्भित एवं मार्मिक प्रतीत होता है। वाल्मीकि रामायण में भूतल की एवं मध्य एशिया की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है। महाभारत एवं पुराणों के भुवनकोश नामक खण्ड में भौगोलिक वर्णन के साथ साथ पृथ्वी के आकार, प्रकार विस्तार उसके खण्ड, द्वीप, सागर, पर्वत एवं नदियों के साथ ही द्वीपों के उप विभागों के वर्णन भी उपलब्ध होते हैं। ऋग्वैदिक काल में मध्य एशिया का भी पर्याप्य ज्ञान था। इस सम्पूर्ण भूभाग को आधुनिक भूगोल जम्बूद्वीप के नाम से जानते हैं। जम्बूद्वीप के साथ सभी द्वीपों का वर्णन प्रायः सभी पुराणों में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य में भी जम्बू, पुष्कर, शाक द्वीपों एवं मेरु पर्वत का वर्णन मिलता है। पुराणों में सात द्वीपों एवं

---

१. भारतीय सृष्टिविद्या पृ. ६ (चित्र २)
२. चतुर्दशलोकरहस्य पृ. १

तीन लोकों की रचना
अ लो का का शः
एकराजू
पंचराजू
एकराजू
मध्यलोक
रत्नप्रभा
वालुकाप्रभा
शर्कराप्रभा
पंकप्रभा
धूमप्रभा
तमप्रभा
महातम प्रभा
लो का का श

चित्र-2
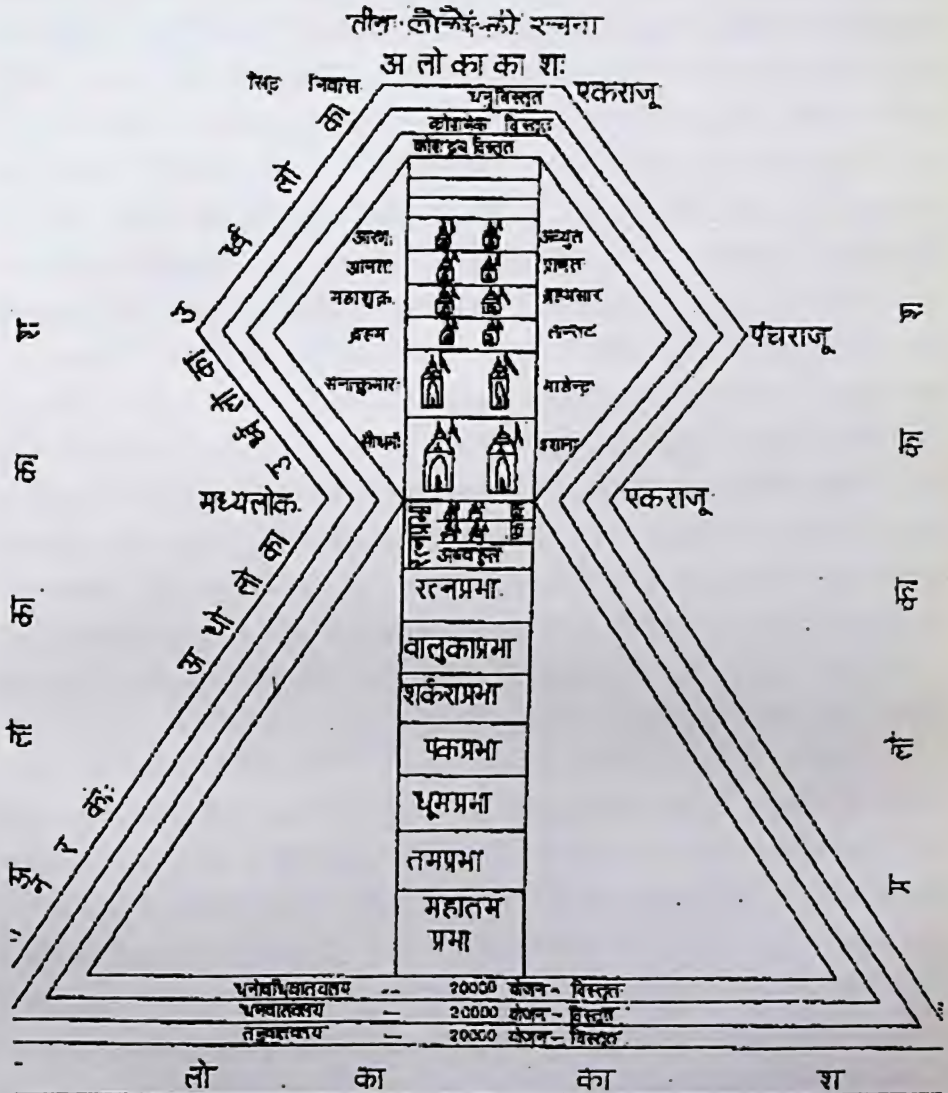
सात समुद्रों का वर्णन विस्तृत रूप से दिया गया है। भूगोल ज्ञान में सर्वाधिक सहायक इकाई अक्षांश और देशान्तर हैं जिसके आधारपर समग्र पृथ्वी की स्थिति का ज्ञान सम्यक् प्रकार से हो पाता है। आक्षांश देशान्तर एवं दिशा का ज्ञान भारतवर्ष में आदिकाल से ही उपलब्ध होता है। इनअवयवों का स्पष्ट प्रयोग सर्वप्रथम आर्यभट्ट के आर्यभट्टीयम् एवं वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका में मिलता है। पौराणिक काल में वर्णन मिलता है कि लंका पूरे भूण्डल के मध्य के स्थित है। वस्तुतः यहां मध्य का अभिप्राय भूमध्य रेखा से है। पृथ्वी के मध्य में लंका स्थित है का दूसरा अभिप्राय है कि लंका शून्य अक्षांश पर स्थित है। तभी वह मध्य में स्थित होगा। पुराणों में वर्णित विषुवत् वृत्तीय (शून्य अक्षांशीय) लंका से ९० अंश की दूरी पर 'यमकोटी' यहां से ९० अंश की दूरी पर सिद्धपुर तथा यहां से ९० अंश की दूरी पर रोमकपत्तन नामक नगर स्थित है। ये चारों नगर निरक्षवृत्तीय है तथा इन सभी से नब्बे अंश उत्तर मे मेरू स्थित है। यह मेरू जम्बू द्वीप के मध्य में स्थित है। जम्बू द्वीप के नौ खण्ड हैं। भास्कराचार्य ने अपनी सिद्धान्त शिरोमणि में इसका वर्णन किया है। इन्होंने पुराणों के अनुरूप ही भुवनकोश का लेखन किया है। इनका समर्थन श्रीपति भी करते हैं।[1] यह भूगोल सौम्य एवं याम्य विभाग से दो भागों में विभक्त है। किसी भी गोल में तीन केन्द्र निश्चित होते हैं एक गर्भीय केन्द्र तथा दो पृष्ठीय केन्द्र। पृष्ठीय केन्द्र ही ध्रुवों के नाम से जाने जाते हैं। गोल के किसी भी वृत्त को वनाने में तीन केन्द्र नियामक होते हैं परन्तु सामान्यतया लोग उत्तरी गोलार्ध को उत्तरी ध्रुव से तथा दक्षिणी गोलार्ध को दक्षिणी ध्रुव से जोड़कर देखते हैं। उत्तर और दक्षिण की विभाजक रेखा शून्य अक्षांश रेखा (भूमध्यरेखा) होती है। इसी के सामानान्तर आकाश की विभाजक रेखा को नाड़ीवृत्त या विषुवत् रेखा कहते हैं। इसी शून्य अक्षांश (निरक्ष) वृत्त के ऊपर चार बिन्दु चार दिशाओं के वाचक के रूप में होते हैं। भास्कराचार्य के अनुसार "लंका कुमध्ये" अर्थात् लंका पृथ्वी के मध्य में स्थित है। इससे पूर्व ९० अंश पर "यमकोटी" तथा इससे पशिचम ९० अंश पर "रोपकपत्तन" नामक नगर स्थित हैं तथा लंका से १८० अंश के अन्तर में (ठीक नीचे) सिद्धपुर स्थित है। इन सभी स्थानों से ९० अंश उत्तर में सुमेरू तथा ९० अंश दक्षिण में कुमेरू स्थित है।

आज की लंका नगरी अथवा लंका नामक देश भूमध्य रेखा पर नहीं है। वस्तुतः पौराणिक लंका तत्कालीन शून्य देशान्तर एवं शून्य अक्षांश रेखा के सम्पात बिन्दु पर स्थित थी। इस आधार पर उस समय की शून्य देशान्तर रेखा थानेश्वर, कुरुक्षेत्र उज्जैन से होते हुए जहां भूमध्य रेखा को काटती थी उसी स्थान पर लंका स्थित थी।[2] आज इस स्थान पर कोई देश एवं भूभाग नहीं मिलता है यह मानचित्र को देखने से ही ज्ञात हो जाता है। आज

१. सि. शेखर १५, ३०
२. सूर्यसिद्धान्त १/६२, लघुभास्कीयम् पृ. ८

की लंका उस स्थान से पूर्व और उत्तर पूर्व में खिसकी अथवा वहीं जलमग्न हो गयी, यह पृथक् से एक शोध का विषय है। खिसकाव भी सम्भव है क्योंकि भूगर्भशास्त्र के अनुसार द्वीपों का खिसकना एवं लुप्त होना एक सामान्य प्रक्रिया है।

आज लंका से पूर्व ६० अंश पर कोई द्वीप नहीं है। पश्चिम में भी शून्य अक्षांश रेखा पर कोई द्वीप नहीं है। लंका से १८० अंश पर भी कोई द्वीप भूमध्य रेखा पर नहीं दिखाई देता है। वस्तुतः लंका, यमकोटि, सिद्धपुर तथा रोमक पत्तन ये चार विन्दु हैं जो भूमध्यरेखा पर शून्य देशान्तर और याम्योत्तर रेखाओं के सम्पात विन्दु हैं। इन्हें ही उक्तचार नगरों के रूप में कहा गया है। भूमध्य रेखा और शून्य देशान्तर के सम्पात विन्दु को मध्य में लंका पृष्ठभाग में सिद्धपुर, तथा इन विन्दुओं से ६० अंश के याम्योत्तर रेखा और भूमध्य रेखा के सम्पात विन्दु को पूर्व में यमकोटि एवं पश्चिम में रोमकपत्तन कहा गया है। लंका से ६० अंश उत्तर में उत्तरी ध्रुव स्थान है जो सुमेरू के नाम से प्रसिद्ध है। इसके चारों तरफ का भाग ही इलावृत्त के नाम से जाना जा सकता है।[1] कुछ विद्वानों के कथनानुसार ''अपर मंगोलिया औरपूर्वी तुर्किस्तान का क्षेत्र इलावृत्त हो सकता है। लंका देश से ६० अंश दक्षिण में कुमेरु (दक्षिणी ध्रुवस्थान) है। इसके चारों तरफ का भाग ही पौराणिक वडवानल है, आज भी यहां केवल समुद्र ही है। यह पौराणिक धारणा आज भी सत्य ही प्रतीत होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तरकुरु एवं कुरुभद्र का तथा बाल्मीकि रामायण में सीता अन्वेषण के समय सुग्रीव द्वारा समुद्र तटीयप्रदेशों के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय लोग खगोल एवं दूर देशों के भूगोल का भी ज्ञान रखते थे क्योंकि ब्रह्माण्ड की सीमा का सजीव वर्णन किया है।[2]

उत्तरी गोलार्ध (प्राचीन अवधारणा)

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भूगोल को सौम्य, याम्य नाम से दो भागों में विभक्त किया है। उत्तर गोलार्ध सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन आचार्यों ने जम्बूद्वीप को नौ भागों में कल्पित किया है। इस सन्दर्भ का वर्णन आचार्य भास्कर ने अपनी सिद्धान्त शिरोमणि में इस प्रकार किया है, लंका के उत्तर में हिमगिरि उसके उत्तर में हेमकूट और इससे उत्तर में निषध पर्वत है। ये सब एक समुद्र से दूसरे समुद्र पर्यन्त दीर्घ हैं। इसी प्रकार सिद्धपुर से उत्तर में क्रमशः शृङ्गवान्, शुक्लगिरि और नीलगिरि पर्वत हैं। दो पर्वतों के मध्य प्रदेश में विज्ञ लोगों ने सभी वर्ष कहे हैं। शून्य आक्षांश पर स्थित लंका के उत्तर में भारतवर्ष, इसके उत्तर में किन्नर वर्ष और इसके उत्तर में हरिवर्ष हैं। सिद्धपुर से उत्तरोत्तर कुरु, हिरण्य और रम्यक वर्ष हैं। लंका से पूर्व स्थित यमकोटि से उत्तर में माल्यवान् और

---

१. भुवनकोश विमर्श पृष्ठ-१२०

२. एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुंगवाः। अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्।। वाल्मीकि रामायण

लंका से पश्चिम में स्थित रोमकपत्तन से उत्तर में गन्धमादन नील और निषध पर्वत विस्तृत हैं तथा सभी वर्षों के उत्तर में स्थित पर्वतों के पश्चात इलावृत्त वर्ष है। माल्यवान् पर्वत और समुद्र के अन्तर्वर्ती स्थान को भद्राश्व वर्ष तथा गन्धमादन और समुद्र मध्य स्थित भूमिखण्ड को केतुमालवर्ष कहते हैं। निषध, नील, सुगन्ध और माल्य पर्वत द्वारा वेष्टित होकर इलावृत्त वर्ष शोभित हैं। काञ्चन द्वारा विचित्र रूपसे शोभित यही स्थान देवताओं की वासभूमि है।[1] यही स्वर्ग भूमि के नाम से प्रसिद्ध है और इसीलिए इसे देव क्रीड़ागृह भी कहते हैं।

पं० मीठा लाल ओझा ने अपने ''ज्योतिषीय-भूगोल-वर्णनम्'' नामक लेख में प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टि से द्वीपों के नामोल्लेख का अच्छा प्रयास किया है।[2] यथा-लंका से उत्तर में भारतवर्ष, इससे उत्तर में हिमालय और इससे उत्तर में किन्नर वर्ष अर्थात् चीन देश है। किसी के मत में किन्नर देश को त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत भी कहा गया है। इससे उत्तर में हरिवर्ष को रूस आदि देशों की संज्ञा दी है। किसी ने हरिवर्ष को ही चीन देश स्वीकार किया है। लंका से ठीक नीचे १८० अंश पर सिद्धपुर स्थित है। सिद्धपुर के उत्तर में कुरुवर्ष और इससे उत्तर में साइबेरिया के पर्वत एवं अरण्य के भाग मिलते हैं। कुरु वर्ष के उत्तर में हिरण्यवर्ष है जिसको लेखक ने दक्षिणी पूर्व साइबेरिया का भाग बताया है तथा हिरण्यवर्ष के उत्तर में स्थित रम्यकवर्ष को रानीसि नदी से लेकर बालकस झील तक के भू भाग को कहा है। यमकोटी के उत्तर में भद्रतुंग वर्ष है जिसको मंचूरिया देश कहा गया है। इसी प्रकार रोमकपत्तन के उत्तर में केतुमाल को रशियन टर्की स्थान कहा गया है। सभी वर्षों के उत्तर में इलावृत्त स्थित है, जिसको आज की दृष्टि से मंगोलिया का ऊर्ध्व भाग एवं पूर्वी टर्की प्रदेश कहा जा सकता है।[3]

पृथ्वी का दक्षिणी गोलार्ध

पृथ्वी के दक्षिणी गोलार्ध में जम्बू द्वीप को छोड़कर शेष सभी द्वीप स्थित हैं क्षार समुद्र ही भूगोल को दो भागों में विभक्त करता है। पुराणों के अनुसार उत्तरी गोलार्ध में दानवों का निवास है। ग्रहलाघव की मल्लारी टीका में त्रिप्रश्नाधिकार के ''गोलौस्तः सौम्ययाम्यौ'' श्लोक की व्याख्या में लिखा है कि लंका से दक्षिण में मनुष्यों का संचार प्रायः नहीं है। अर्थात् वहां दानवों का वर्णन मिलता है। दक्षिणी गोलार्ध में क्षार समुद्र के उपरान्त दक्षिणाभिमुख चक्राकार सात समुद्र लवण, दुग्ध, दधि, घृत, इक्षु, मद्य, स्वादु हैं। इन दो समुद्रों मके मध्य में द्रोणाकार छह द्वीप स्थित हैं जिनका नाम शाक, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, गोमेद एवं पुष्कर हैं। ये सभी द्वीप उत्तरोत्तर दक्षिणाभिमुखी क्रम से हैं। जबकि पुराणों में

---

१. सि.शि.गो० भु. श्लोक २७.२८.२६ तथा ३० (चित्र ३)

२. सरस्वती सुषमा, १६, ३-४, २०१८

३. तत्रैव।

जम्बूद्वीप

(उत्तरगोलार्द्ध)

चित्र - 3
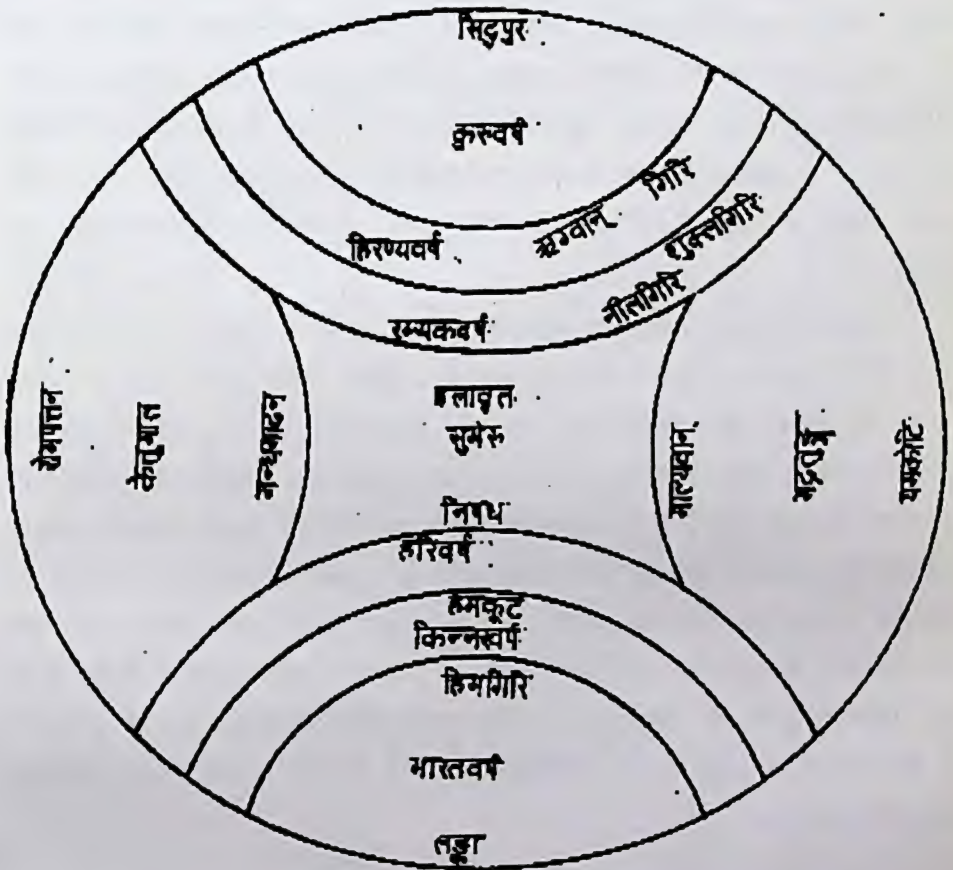
द्वीपों का क्रम इस प्रकार नहीं मिलता है।[1] इन सभी द्वीपों का वर्णन भास्कराचार्य ने अपनी सिद्धान्तशिरोमणि में भी बड़े सुन्दर एवं मनोहर रूप से किया है।[2] प्रायः श्रीपति आदि सभी ज्योतिष के आचार्यों ने भास्कराचार्य के सदृश ही इन द्वीपों का वर्णन अपेन अपने ग्रन्थों में किया है।

पुराणों में वर्णित सप्त-द्वीपा पृथ्वी

प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति का ऐतिहासिक विवेचन पौराणिक साहित्य में विस्तृत रूप से मिलता है परन्तु वह वर्णन आधुनिक दृष्टि से संगतिपकरक प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण है कि पौराणिक साहित्य की भाष अत्यन्त गूढ़, अलङ्कारिक एवं अनेकार्थी है। पुराणों के अनुसार यह पृथ्वी सात भागों में विभक्त है। यहीं सात भाग इसके सात द्वीप हैं। इसलिए पृथ्वी को सप्तद्वीपा वसुमती भी कहा गया है। ये द्वीप पृथक्-पृथक् रूपसे सागरों से आवृत हैं। वे सात द्वीप जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर हैं।[3]

इन द्वीपों में जम्बू, प्लक्ष और शाल्मली तो वृक्षों का नाम है। कुश का अभिप्राय कुशा घास से है। क्रौञ्च एवं पुष्कर पर्वतों के नाम हैं। उपर्युक्त वर्णित द्वीपों में से जम्बू और पुष्कर को छोड़कर सभी द्वीपों में सात वर्ष और सात नदियां हैं। जम्बू द्वीप में भारतवर्ष जैसे नव वर्ष हैं। कुछ आधुनिक भौगोलिक विचारक पौराणिक जम्बूद्वीप को ''यूरेशिया'' महाद्वीप की संज्ञा देते हैं परन्तु पौराणिक भूगोल एवं ज्यौतिष शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य भास्कर (द्वितीय) जम्बू द्वीप को उत्तरीगोलार्ध कहते हैं। उन्होंने गणितीय दृष्टि से भौगोलिक व्युत्पत्ति के साथ इस सत्य का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से अपनी सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय के भुवनकोश नाम उप-अध्याय में किया है।[4] इसी सन्दर्भ मे विचार करते हुए पौराणिक भूगोल का अध्ययन कर अपनी पुस्तक ''दि जीयोग्राफी ऑफ दि पुराणाज'' में डॉ० एस०एम० अली महोदय ने विभिन्न विचारकों के मतों का एक अच्छा तुलनात्मक अध्ययन किया है।[5]

---

१. भुवनकोश विमर्शः पृ० १२५।
२. सि०शि०, गो०भू० श्लोक २१-२५। (चित्र-४)
३. भुवनकोश विमर्श पृ० १२८।
४. सि०शि०गो०भु० श्लोक २६-३०
५. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २६०-२८७

जम्बूदीपेत्तर दीप सागर

(दक्षिणगोलार्द्ध)

चित्र - 4

सप्त महाद्वीपों के सन्दर्भ में विभिन्न मत

द्वीप	विचारक				
	कृष्णमाचालु	विल्फर्ड	गेरिनी	अली	माधवाचार्य
जम्बू	जम्मू काश्मीर एवं पंजाब	भारतवर्ष	भारतवर्ष	यूरेशिया	यूरेशिया
प्लक्ष	वर्तमान पारसदेश	टर्की, आरमेनिया	अराकान ब्रह्मा	भूमध्यरेखीय देश (ग्रीसादि)	आण्टेरेक्टिका विक्टोरिया लैण्ड
शाल्मलि	उत्तर-पूर्व अफ्रीका	मध्य यूरोप	मलाया	पूर्वी अफ्रीका	ग्रीनलैण्ड
कुश	यूनान और चारों तरफ के देश	फारस अफगानिस्तान	सुन्दाद्वीप समुदाय	ईरान-इराक और समीपस्थ देश	दक्षिणी अमेरिका
क्रौञ्च	यूरोप	पश्चिमी यूरोप	दक्षिणी चीन	यूरोप	उत्तरी अमेरिका
शक	रूस, साइबेरिया	ब्रिटिश द्वीप समूह	इमाम (थाई) कम्बोडिया	दक्षिणी-चीन एवं मलाया	आस्ट्रेलिया
पुष्कर	बुखारा क्षेत्र	आइसलैण्ड	उत्तरी चीन	-	अफ्रीका[1]

जम्बूद्वीप

पुराणों में जम्बूद्वीप का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इनमें उसका धरातल, उसके वर्ष, पर्वत, घाटियों आदि का वर्णन मिलता है। प्रायः इस द्वीप का वर्णन पुराणों के अतिरिक्त महाभारत, बाल्मीकि रामायण, शतपथ ब्राह्मण, जैनग्रन्थों त्रिलोक्य विज्ञप्ति, जम्बूद्वीप विज्ञप्ति, बौद्धग्रन्थों, धम्मपिटक, निकाय जातक आदि में तथा विदेशी यात्रियों मेगस्थनीज, फाह्यान, ह्वेनसांग आदि के द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं यात्रा विवरणों के अतिरिक्त मौर्य एवं गुप्तकालीन प्रमुख साहित्यिक रचनाओं में जम्बूद्वीप का वर्णन विस्तृत रूप में दिखाई देता है। यद्यपि जम्बू द्वीप का वर्णन वेदों एवं उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में भी मिलता है परन्तु पौराणिक आचार्यों एवं मनीषियों ने इसका व इसके उपखण्डों का यथासम्भव विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। इस द्वीप के नौ उपखण्ड हैं। जम्बू द्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत स्थित है। पुराणों के अनुसार इसका विस्तार एक लाख योजन कहा गया है। इस द्वीप में एक-एक हजार योजन के नौ वर्ष हैं। इलावृत्तवर्ष, भद्राश्व वर्ष, केतुमाल वर्ष, रम्यक वर्ष, हिरण्यवर्ष, उत्तरकुरु वर्ष, हरिवर्ष, किन्नरवर्ष (किम्पुरुष वर्ष) तथा भारतवर्ष।

---

१. पुराणदिग्दर्शन, पृ० ७५७

पुराणोक्त इस जम्बूद्वीप को आधुनिक भौगोलिक विद्वान "यूरेशिया" नाम से जानते हैं। जम्बूद्वीप के मध्य में मुख्य पर्वत मेरु है। आधुनिक विद्वान इसे "पामीर" के नाम से जानते हैं। इनके कथनानुसार यहीं से चारों दिशाओं में पर्वत शृङ्खलाएं निकलती हैं। पौराणिक विवरण के अनुसार मेरु के चारों तरफ इलावृत्तवर्ष है। मेरु से पूर्व दिशा में भद्राश्व है। इसे आधुनिक भूगोलवेत्ताओं ने चीन देश कहा है। इसी प्रकार आगे भी अन्य वर्षों की संज्ञा आधुनिकों ने निश्चित की है जैसे पश्चिम दिशा में स्थित केतुमाल को ईरान, इराक एवं अरबदेशों का समूह, दक्षिण दिशा में स्थित भारतवर्ष, भारत से उत्तर में स्थित किन्नरवर्ष को तिब्बत का पठारीय भाग, हरिवर्ष को हिरात, रम्यकवर्ष को मध्य एशिया अथवा दक्षिण-पश्चिमी सिक्याङ्ग, हिरण्यवर्ष को उत्तरी सिक्याङ्ग, उत्तरकुरुवर्ष को उत्तरी कोरिया कहा है।[1]

१. इलावृत्तवर्ष-जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित मेरु (सुमेरु) के चारों तरफ के भूभाग का नाम ही इलावृत्तवर्ष है। इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत में महर्षि वेदव्यास ने विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ पर उल्लिखित है कि यह वर्ष जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु के चारों तरफ स्थित है। इस जम्बूद्वीप के नौ वर्ष नौ सहस्र योजन विस्तार वाले आठ पर्वतों से विभक्त है। मध्य में इलावृत्त स्थित है। इसे भूमण्डल रूपी कमल की कर्णिका रूप में वर्णित किया गया है।

इलावृत्त के उत्तर में क्रमशः नील, श्वेत एवं शृङ्गवान् नाम के तीन पर्वत हैं जो रम्यक हिरण्यमय और कुरु नामक वर्षों की सीमायें बांधते हैं। ये पर्वत पूर्व से पश्चिम तक समुद्र में घुसे हुए हैं।[2] इसी प्रकार इलावृत्त के दक्षिण की ओर क्रमशः निषध, हेमकूट और हिमालय पर्वत है। ये पर्वत भी पूर्व से पश्चिम तक समुद्र में फैले हैं। ये पर्वत १०-१० हजार योजन ऊँचे हैं। इन पर्वतों से क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुषवर्ष और भारतवर्ष की सीमाओं का विभाजन होता है। इलावृत्त के पूर्व और पश्चिम की ओर माल्यवान एवं गन्धमादन पर्वत है जो उत्तर देक्षिण को फैले हुए हैं। इनकी चौड़ाई दो-दो हजार योजन है। ये पर्वत भद्राश्व वर्ष एवं केतुमालवर्ष की सीमायें निश्चत करते हैं।[3] इसी प्रकार इलावृत्त में सुमेरु के चारों तरफ पूर्वादि क्रम से चार वृक्ष, चार शैल, चार वन और चार सरोवर स्थित हैं।[4]

पूर्व	**दक्षिण**	**पश्चिम**	**उत्तर**
कदम्ब	जम्बू	वट	पिप्पल
मन्दराचल	सुगन्ध	विपुल	सुपार्श्व

---

१. भौगोलिक विचार धारायें एवं विधि तन्त्र, पृ. १४१-१४५ (चित्र ५)।

२. श्रीमद्भागवत ५/१६/६-८

३. श्रीमद्भागवत ५/१६/६-२०

४. भुवनकोशविमर्श, पृ. १३१ (चित्र ६)

जम्बूद्वीप
0
400
किमी.
केतुमालवर्ष
हरिवर्ष
निषध
मेरु
सिन्धु
आमू
दरिया
भद्रासर
उ
त्त
र
कु
रु
यूराल पर्वत
श्रृंगवान्
हिरण्मय
श्वेत
त्यानस्यान
रम्यकवर्ष
लूपनूर
भद्राश्ववर्ष
हेमकूट
कुनलुन
काराकोरम
किंपुरुष वर्ष
हि
मा
ल
य
गंगा
भा
र
त
व
र्ष
इन्द्रद्वीप
नागद्वीप
वरुण द्वीप
याब्लोनोई
स्तानोवोई

चित्र-5

पिप्पलवृक्ष
सुपार्श्व शैल
वैभाज्य वन
श्वेतजल सर
कदम्बवृक्ष
मन्दराचल शैल
चैत्ररथ वन
अरुण सर
सुमेरु
महाह्रद
घृत वन
विपुल शैल
वट वृक्ष
मानस सर
नन्दन वन
गंध शैल
जम्बू वृक्ष
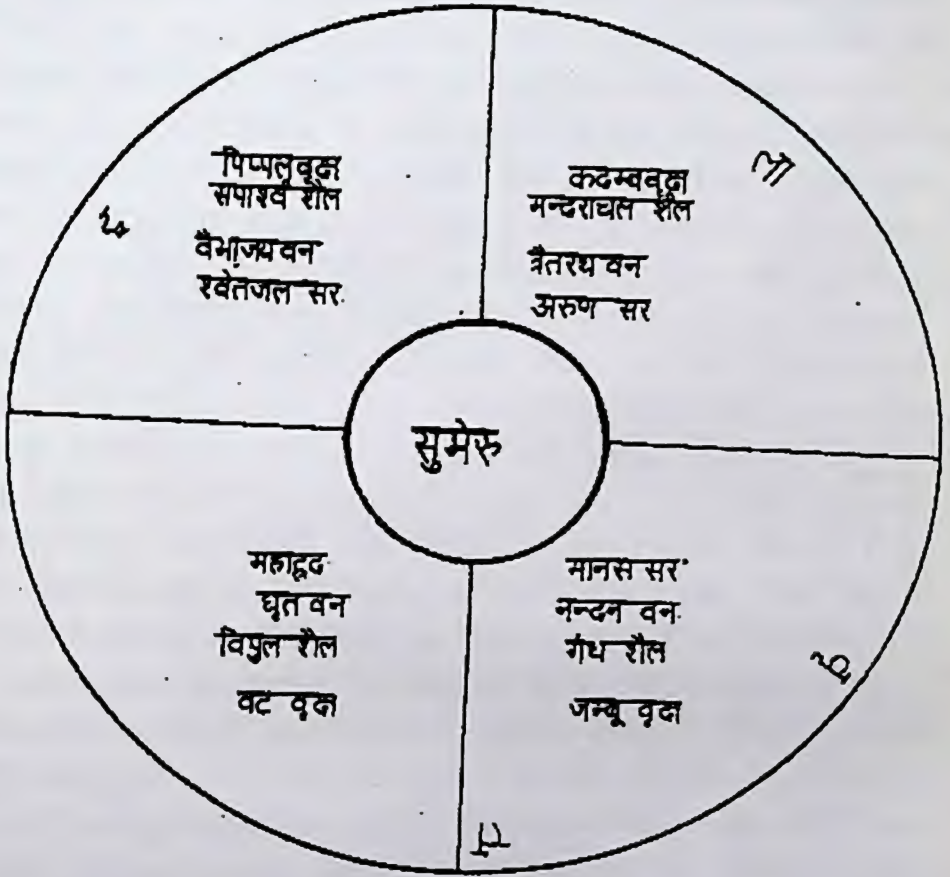
चित्र - 6

चैत्ररथ	नन्दन	घृत	वैभ्राज
अरुण	मानस	महाह्रद	श्वेत

आधुनिक विचारकों के अनुसार यह मध्य एशिया का भाग है। सम्भवतः कुछ हजार वर्ष पूर्व यहाँ अधिक आर्द्रता रही होगी। पामीर के पठार के आसन्न का यह भाग है, इसे ही इलावृत्त वर्ष कहते हैं।[1]

२. भद्राश्ववर्ष-यह वर्ष मेरु के पूर्व में केतुमाल के ठीक समरूप वर्गाकार माल्यवान् एवं क्षार समुद्र के मध्य में स्थित है। वर्तमान में इसे "पूर्व एशिया" कहा जाता है। वर्तमान चीन देश पूर्व एशिया में स्थित है अतः चीन देश ही भद्राश्व वर्ष है।[2] प्रो० अली के अनुसार "तारीम एवं हांगहों" नदियों का मध्यस्थ प्रदेश इस समय का सम्पूर्ण सिक्यांग और चीन का उत्तरी भूभाग भद्राश्व वर्ष है। भद्रा वर्ष का सीमावर्ती नील पर्वत "त्यानशेन" पर्वत है। वादडलवरको-लकरपिक-ताद्य पर्वत इसी में सन्निहित हैं। निषध पर्वत श्रृङ्खला कुनलुन" पर्वत श्रृङ्खला है। महाभारत में वर्णन मिलता है कि महाराजा युधिष्ठर का राज्य निषध पर्वत तक था।[3] तारीम पश्चिमी स्वांगहो एवं मध्य चीन की नदियों के उद्गम क्षेत्र का उत्तरी भाग इसी में आता है। नानशान, पीशान, सिगलिंग अलिन टांग आदि पर्वतों की श्रेणियाँ माल्यवाान् (देवकूट) के ही वर्तमान नाम हैं। ये प्रायः उत्तर पूर्व से दक्षिण की ओर फैले हुए हैं। ये श्रेणियाँ नील एवं निषध हैं जो सम्प्रति क्रमशः थियानशान एवं कुनलुन के नाम से जानी जाती हैं। नील पर्वत की श्रेणियाँ इस समय के जफरसान, तुर्किस्तान, अलाई एवं ट्रांस अलाई की श्रेणियाँ हैं। इस वर्ष की सीता नदी प्रमुख नदी है। इसकी उत्पत्ति मेरु मन्दर से हुई है। यह झरने बनाती हुई पूर्व की ओर बहती है। तारीक एवं कारगर नदियां ही सम्भवतः सीता नदी है। निकट की किसी शुष्क नदी की घाटी भी सम्भव है क्योंकि वायु पुराण के अनुसार सीता नदी बीच बीच में अदृश्य हो जाती है। यह यांगसी नदी की ऊपरी घाटी भी हो सकती है जो तारीम से पूर्व में एवं हांगहो से काफी दक्षिण में बहती है। यह झरने भी बनाती है। यह नदी रेड वेसिन में कई शाखायें बनाती हुई बहती है। उपर्युक्त वर्णन को सार रूप में कहने पर कह सकते हैं कि भद्राश्व वर्ष के अन्तर्गत सिंक्याङ्ग मध्य पश्चिमी चीन के पर्वतीय अर्द्ध शुष्क भाग व यांगसी नदी की ऊपरी मध्यवर्ती घाटी एवं इसका समीपस्थ भाग आता है।

३. केतुमालवर्ष-यह वर्ष मेरु एवं इलावृत्त के पश्चिम में स्थित है। इलावृत्त एवं केतुमाल को पृथक् करने वाला पर्वत गन्धमादन हैं। यहीं कामदेव निवास करते हैं। पुराणों के अनुसार इसके उत्तर मे नीलगिरि, पूर्व में गन्धमादन, दक्षिण में निषध एवं पश्चिम में

१. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ. १६६
२. भुवनकोश विमर्श, पृ. १३३
३. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २६०-२८२

सागर स्थित है। केतुमाल जम्बूद्वीप का मध्य पश्चिमी भाग है। पुराणों के अनुसार इसकी आकृति चापाकार है। पौराणिक वर्णन पढ़ने से लगता है कि यह भाग अत्यधिक जटिल रचना वाला भू-भाग है। निषध एवं नील पर्वतों के बीच का यह पश्चिमी भाग पामीर से पश्चिम मध्य ऐशिया की जटिल रचना से मेल खाता है। यहाँ की छोटी-छोटी श्रेणियाँ पुराणों के अनुसार परियन्त्र, पिंजर, कपिल, वेदमाला, विपुल मुकुट, कृष्ण मुकुट, अंजन आदि हैं। प्रो० अली के अनुसार केतुमाल की बनावट मध्य ऐशिया से मेल खाती है।[१] यहाँ की प्रमुख नदी "चाक्षु" है। यह सुमेरु के पश्चिमी भाग से निकलकर गन्धमादन की परिक्रमा करते हुए केतुमाल के मध्य पश्चिमी भाग में गिरती है। प्रो० अली के अनुसार यह सर दरिया नदी है। इसे अन्य नदियों से पवित्र माना गया है। इनके अनुसार केतुमाल वर्ष की सीमा आज की दृष्टि से इस प्रकार निश्चित की जा सकती है जैसे केतुमाल के दक्षिण में हिन्दुकुश एवं कुनलुन पर्वतमाला, उत्तर में जफरसेन एवं तियेनसेन पर्वतमाला, पूर्व में गन्धमादन एवं पश्चिम में कैस्पियन सागर स्थित है।[२]

४. रम्यकवर्ष-इलावृत्त के उत्तर में नील एवं शुक्ल पर्वतों के मध्य में यह वर्ष स्थित है। इलावृत्त एवं रम्यक वर्ष का विभाजक पर्वत नीलगिरि है। श्रीमद्भागवत पुराण में कहा है 'उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः श्रृङ्गवानिति"।[३] आदि मनु ने इसी वर्ष में भगवान मत्स्यावतार के दर्शन किये। पुराणों में वर्णन मिलता है कि मनु आज भी इस वर्ष में मत्स्यावतार की उपासना करते हैं। श्री एस.एम. अली के अनुसार नूरतोआ-तुर्किस्तान-जरफशान श्रेणियों से आवृत यह प्रदेश है। वाल्मीकि रामाण में इस वर्ष का वर्णन बहुत कम मिलता है। जबकि महाभारत, मत्स्य, मार्कण्डेय एवं वायु पुराण में इसका पर्याप्त वर्णन मिलता है।[४]

५. हिरण्यमयवर्ष-रम्यक वर्ष के उत्तर में शुक्ल एवं श्रृङ्गवान् पर्वतों के मध्य का भाग यह वर्ष है। इस वर्ष के पूर्व एवं पश्चिम में क्षार सागर है। अली महोदय के अनुसार पौराणिक हिरण्यमयी नदी ही जरफशान है। हिरण्य एवं जरफशान समानार्थक शब्द हैं। अतः सोवियादना और जफरशान के मध्य के भूभाग को ही हिरण्यमय वर्ष कहा जा सकता है।[५]

---

१. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ. १६७-१६८
२. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २६०-२८२
३. श्रीमद्भागवत ५/१८/२४
४. भुवनकोशविमर्श, पृ. १३४
५. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन पृं० २६५

६. **उत्तरकुरुवर्ष**-यह वर्ष हिरण्यमय वर्ष के उत्तर में स्थित है। हिरण्यमय वर्ष एवं उत्तरकुरु वर्ष का विभाजक पर्वत श्रृङ्गवान् गिरि है। श्रीमद्भागवत पुराण में कुरु एवं उत्तर कुरु वर्ष का वर्णन उपलब्ध होता है। जम्बू द्वीप के उत्तर में उत्तरकुरु प्रदेश में भगवान् बराह रूप में निवास करते हैं। इस प्रदेश की दक्षिण दिशा को छोड़कर सर्वत्र क्षार सागर विद्यमान है।[1] पौराणिक वर्णन के अनुसार वर्तमान एशिया का उत्तरी भाग ही उत्तरकुरु भाग ही उत्तरकुरु वर्ष है। प्रो० अली के अनुसार पूर्वी साईबेरिया नामक प्रदेश ही उत्तर कुरु वर्ष हो सकता है।[2]

७. **हरिवर्ष**-मेरु के दक्षिण पार्श्व में निषध एवं हेमकूट पर्वतों के मध्य में यह वर्ष स्थित है। यहाँ भगवान् नृसिंह रूप में निवास करते हैं। पौराणिक वर्णनानुसार यह वर्ष हेमकूट पर्वत के उत्तर में स्थित है। आधुनिक भौगोलिकों के अनुसार आज की लद्दाखकैलाशपर्वत श्रृङ्खला ही हमेमकूट पर्वत है। पौराणिक वर्णनानुसार यह वर्ष हिमालय के उत्तर पार्श्व में और कुनलुन पर्वत के दक्षिण में स्थित चीन देश के दक्षिणी प्रदेशों तक विस्तृत है। महाभारत के वर्णनानुसार अर्जुन इस वर्ष तक दिग्विजय के उद्देश्य से गया था।

८. **किन्नरवर्ष**-इस वर्ष के उत्तर में हेमकूट एवं दक्षिण में हिमगिरि नामक पर्वत है। हिमगिरि ही हिमवान एवं हिमालय के नाम से जाना जाता है। इस वर्ष के पूर्व एवं पश्चिम में क्षार समुद्र है। यही राम भक्त हनुमान निवास करते हैं। पुराणों के अनुसार हिमालय के उत्तर में किन्नर वर्ष स्थित है। सम्प्रति किन्नर वर्ष के लक्षण लद्दाख और तिब्बत में दिखाई देते हैं।

९. **भारतवर्ष**-भारतवर्ष जम्बू द्वीप के दक्षिण भाग में स्थित है। भारत के उत्तर में हिमगिरि (हिमालय) नामक पर्वत विराजमान है। महाभारत के अनुसार इस देश का नाम दुष्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम से ही भारतवर्ष हुआ।

शकुन्तलायां दुष्यन्ताद् भरतश्चापि जज्ञिवान्।
यस्य लोके सुनाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम्।।[3]
(महाभारत, आदिपर्व ७४/१३१)

पुराणों में इस वर्ष को अजनाभ वर्ष के नाम से भी जानते हैं। जैसा कि भागवत पुराण में कहा भी है- ''अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यद् आरभ्य व्यपदिशन्ति।'' इस वर्ष मे रहने वालों को भारती नाम से जाना जाता था।

---

१. श्रीमद्भागवत ५/१६/८/३४
२. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २६०-२८२
३. महाभारत, आदिपर्व, ७४/१३१

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्तन्तिः।।

जैन ग्रन्थ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में इसे भरतखण्ड या भरतक्षेत्र के नाम से पुकारा गया। पुराणों एवं जैन ग्रन्थों के अनुसार सम्पूर्ण भरतखण्ड को सर्वप्रथम ऋषभदेव के पुत्र महाराजा भरत ने जीता इसलिए इस खण्ड का नाम भारतखण्ड पड़ा।[1] उक्त आख्यानों के अतिरिक्त भारतवर्ष का पुराणों में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। जम्बू द्वीप के इस भाग में गंगा, सिन्ध एवं अन्य कई नदियाँ बहती हैं। जैसा कि ऋग्वेद के नदी सूत्र से स्पष्ट होता है। यहाँ पर गंगा, सरस्वती, पयोष्णी, असिक्नी, सिन्धु, वितस्ता, शतुद्री ताप्ती एवं नर्मदा के नामोल्लेख हैं। पुराणों के अतिरिक्त महाभारत, रामायण एवं काव्यग्रन्थों आदि में भी भारतवर्ष का विस्तृत वर्णन मिलता है। पुराणों को ही आधार मानकर भाष्कराचार्य ने भी अपनी सिद्धान्त शिरोमणि में इस वर्ष का विशद वर्णन किया है।[2] जिसमें भारतवर्ष के अन्तर्गत ऐन्द्रादि नौ भागों का अच्छा विवेचन किया है। इन नौ भागों में पर्वतों की स्थिति का वर्णन भी प्रदर्शित किया गया है। पुराणों में भारतवर्ष की विस्तृत व्याख्या की गयी है।

जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीप

जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीप भी कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं-

स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्तनो रमणसो।
मन्दरहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति।[3]

डॉ० एस०डी० कौशिक महोदय ने प्रतिपादित किया है कि जम्बूद्वीप के सीमा प्रदेशों में जो द्वीप हैं वे ही उपद्वीप स्वर्णद्वीप (सुमात्रा), चन्द्रशुक्ल (फिलिपाइनद्वीपा), आवर्तन (ब्रिटिशद्वीप), रमणक (नार्वे, स्वीडन देश), मन्दरहरिण (नोवाया जेमलया), पाञ्चजन्य (जापान), सिंहल (श्रीलंका) तथा लङ्का (सम्प्रति अज्ञात) हैं।[4]

जम्बूद्वीप की नदियाँ

इस द्वीप में चार प्रमुख नदियाँ प्रसिद्ध हैं। जैसे- १. सीता, २. चक्षु, ३. भद्रा, ४. अलकनन्दा। पुराणों के अनुसार विष्णुपादोद्भवा गंगा सर्वप्रथम अन्तरिक्ष (स्वर्ग) में मेरू पर

---

१. श्रीमद्भागवत ११/१६/१७, लिङ्गपुराण ४७२/२-२४, मार्कण्डेय पुराण ५३/३६, वायुपुराण ३३/५१-५७
२. सि.शि. गोत्रभ. श्लोक ४१/४२
३. श्रीमद्भागवत ५/१६/३०।
४. बेचन दूबे, जियाग्राफिकल कॉन्सेप्ट्स इन एन्स्येण्ट इण्डिया, पृ० ८४।

उतरी उसके पश्चात् चार दिशाओं में विभक्त हुई। पूर्व दिशा की धारा सीता नाम से, पश्चिम में चक्षु नाम से, उत्तर में भद्रा नाम से एवं दक्षिण में अलकनन्दा के नाम से प्रसिद्ध हुई। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है- "तत्र चतुर्धा भिद्यमाना (विभक्ता)

चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्यन्दन्तीनदनदीपतिमेवाभिर्निविशतिसीताऽलकनन्दा चक्षुर्भद्रेति"।[1]

गंगा की इन धाराओं के सन्दर्भ में बहुत मत मतान्तर उपलब्ध होते हैं। अगर सुमेरू (मेरू) को उत्तरी ध्रुव माना जाये तो कभी भी इन चार धाराओं की स्थिति उपर्युक्त वर्णन के अनुसार नहीं बन सकती है। इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए पुराण परिशीलन में महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने कहा है कि गंगा का सर्वप्रथम अवतरण मेरू (पामीर पर्वत) पर हुआ। जिसकी प्राचीन संज्ञा प्राङ्मेरू थी।[2] इसी बात का समर्थन अनन्तशास्त्री फडके महोदय ने भी किया है।[3] मेरू के पूर्व में स्थित भद्राश्व प्रदेश की ४३ नदियों के एवं पश्चिम में स्थित केतुमाल वर्ष की ४६ नदियों का वर्णन विष्णुपुराण में मिलता है। वायु एवं मत्स्यपुराण में गंगावतरणका विस्तृत वर्णन किया गया है। पुराणों में वर्णित मध्य एशियाई अर्थात् जम्बूद्वीप की चार पवित्र नदियाँ चारों दिशाओं में बहने लगीं। चे चारों नदियाँ अपने उद्गम स्थान से ही मुख विशेष से अवतरित हुई। दक्षिण की ओर बहने वाली गंगा नदी गौमुख से अवतरित हुई एवं गौप्रधान देश में बहने लगी। पश्चिम में बहने वाली चाक्षु नदी अश्वमुख से प्रारम्भ होकर अश्व या तुरग प्रदेश में बहने वाली कही गयी है। यहाँ के निवासी चतुर घुड़सवार एवं योद्धा माने गये। पूर्व की ओर बहने वाली सीता (सीतोद) नदी गजमुख से अवतरित हुई एवं उत्तर में बहने वाली सिंहमुख से प्रारम्भ होकर भद्रा (भद्रसोम) के नाम से प्रभावित हुई।

मेरु से पूर्व वाहिनी धारा सीता त्रिपथगा होकर पूर्व दिशा के समुद्र में गिरती है। इस नदी को सीतोद् भी कहते हैं। यह नदी पहले "तरीम" नदी के नाम से तथा बाद में यांगसी के नाम से बहने वाली नदियाँ ही हैं।[4] अली महोदय के मत में यह नदी वर्तमान में "किजित्सु नदी" के नाम से जानी जाती है। चाक्षु नदी मध्य एशिया (जम्बूद्वीप) की मेरु से पश्चिम में बहने वाली "आमूदरिया" नदी है। यह नदी केतुमाल वर्ष में घूमती हुई पश्चिम में इस समय "कैस्पियन सागर" में गिरती है। उत्तर एवं उत्तर पश्चिम में बहने वाली "सरदरिया" नदी ही भद्रा (भद्रसोम) है। यह नदी उत्तरकुरु वर्ष को स्पर्श करती हुई उत्तर समुद्र में गिरती है। अलकापुरी नगरी के समीप बहने वाली अलकनन्दा हेमकूट

---

१. श्रीमद्भागवत ५/१७/५-१०।
२. पुराणपरिशीलन, पृ० ३२६।
३. सारस्वती सुषमा सम्वत् २०१५।
४. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ० १८०।

हिमालय पर्वतों से होकर भारतवर्ष में आती है। वास्तविक दृष्टि से देखें तो अलकनन्दा अलकापुरी से होकर भगवान नारायण के चरणों को स्पर्श करती हुई बदरीधाम से आगे बढ़कर विष्णुप्रयाग में धौली गंगा से नन्दप्रयाग में नन्दाकिनी से कर्णप्रयाग में पिण्डर से तथा रुद्रप्रयाग में केदारनाथ से आने वाली मन्दाकिनी नदी से मिलती है। इसके पश्चात् अलकनन्दा देवप्रयाग में गोमुख से आने वाली भागीरथी से मिलती है तब अर्थात् देवप्रयाग से आगे अलकनन्दा और भागीरथी मिलकर गंगा बनती है। पुराणों में भागीरथी, अलकनन्दा, मन्दाकिनी, नन्दाकिनी, धौली (विष्णु गंगा) सभी को गंगा के नाम से ही जाना जाता है। भागीरथी, अलकनन्दा एवं मन्दाकिनी को तो गंगा ही कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार दक्षिण में बहने वाली नदी सिन्धु भी हो सकती है। सिन्धु में मिलने वाली सात नदियों को ही सप्तसैन्धव के नाम से जाना जाता है। हिमालय से आने वाली और गंगा में मिलने वाली सभी नदियों को गंगा के सदृश ही लोग मानते हैं। सिन्धु एवं गंगा में मिलने वाली सभी नदियों को लेकर आज के भौगोलिक भ्रम की स्थिति में दिखते हैं। कैलाश मानसरोवर से बहने वाली एवं बृहत्तर हिमालय से प्रारम्भ होने वाली नदियों के लिए कृष्ण गंगा, विष्णु गंगा, काली गंगा, धौली गंगा, रामगंगा आदि शब्दों का बार बार प्रयोग मिलता है।[१]

पुराणों में इस सम्पूर्ण पृथ्वी को चार द्वीपों में "चतुर्द्वीपा वसुमती" के नाम से जाना जाता है। चतुर्द्वीपा वसुमती में मुख्य रूप से जम्बूद्वीप में स्थित चारों दिशाओं में चार वर्ष का वर्णन मिलता है। ये चार वर्ष हैं- पूर्व में भद्राश्व, पश्चिम में केतुमाल, उत्तर में उत्तरकुरु और दक्षिण में भारतवर्ष। सप्तद्वीपा वसुमती में जम्बूद्वीप के अतिरिक्त प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्ज शाक एवं पुष्कर द्वीपों का वर्णन मिलता है।[२] परन्तु मत्स्य पुराण में द्वीपों का क्रम जम्बू, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, गोमेद एवं पुष्कर है। जम्बूद्वीप एवं पुष्कर द्वीप को छोड़कर शेष सभी में सात उपखण्ड, सात पर्वत, सात नदियाँ, चार वर्ष एवं एक उपास्य देवता का वर्णन मिलता है। प्रत्येक उपखण्ड का नाम द्वीप के अधिपति के पुत्रों के नामों पर रखा गया है।

प्लक्षद्वीप

श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार क्षीरसागर के बाद प्लक्षद्वीप का स्थान पड़ता है। जम्बू द्वीप के "जामुन" वृक्ष के सदृश यहाँ सुवर्णमय प्लक्ष (पाकर) का वृक्ष है। इसी के कारण इस द्वीप का नाम प्लक्ष द्वीप पड़ा। यहाँ अग्निदेव विराजते हैं। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र इध्मजिह्व ने द्वीप को सात भागों में विभक्त कर अपने सात पुत्रों

---

१. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ० १८१।
२. विष्णुपुराण २/४, भागवतपुराण ५/२०, मार्कण्डेय पुराण ५२६।

को सौंप दिया। इन सात वर्षों के नाम हैं।- १. शिव, २. यवस, ३. सुभद्र, ४. शान्त, ५. क्षेम, ६. अमृत और ७. अभय। सात पर्वतों के नाम हैं- १. मणिकूट, २. वज्रकूट, ३. इन्द्रसेन, ४. ज्योजिष्मान्, ५. सुपर्ण, ६. हिरण्यष्ठीव और ७. मेघमाल। ये सात इस द्वीप के मर्यादा पर्वत है। इसी प्रकार यहाँ सात नदियाँ भी हैं- १. अरुणा, २. नृम्णा, ३. आङ्गिरसी, ४. सावित्री, ५. कुप्रभाता, ६. ऋतम्भरा और ७. सत्यम्भरा। यहाँ १. हंस, २. पतङ्ग, ३. ऊर्ध्वगाम, ४. सत्याङ्ग नाम के चार वर्ण हैं। उक्त नदियों में स्नान करने से इन वर्णों के रज एवं तमो गुण क्षीण होते हैं। इस द्वीप के उपास्य देवता सूर्य नारायण है। हेरोडोटस ने भूमध्यसागरीय प्रदेशों में 'पिलूग्सी'' (Pilgsi) जाति के मानवों एवं अंजीर के वृक्षों का वर्णन किया है। इस प्रकार 'विल्फोर्ड' ने दक्षिणी इटली में प्रागैतिहासिक ''प्लेशिया'' नगर एवं पिलूग्सी मानव जाति की बात कही है। प्लेसिया और पिलूग्सी दोनों शब्द एक ही प्रदेश से संबंधित हैं। इन शब्दों का प्लक्ष से ही संबंध है। पुराणों के अनुसार इस द्वीप के निवासी बुद्धिमान, आकर्षक, स्वस्थ एवं अधिक आयुवाले होते हैं। अतः यह प्रदेश निश्चित रूप में अनुकूल एवं स्वास्थ्यप्रद जलवायु वाला रहा होगा।

शाल्मलिद्वीप

प्लक्षद्वीप अपने ही विस्तार वाले इक्षु रस के समुद्र से घिरा हुआ है। इससे आगे इससे दुगुने विस्तार वाला शाल्मलिद्वीप है। यह द्वीप सुरा (मदिरा) समुद्र से घिरा हुआ है। इस द्वीप में शाल्मली (सेमर) का वृक्ष है। इस वृक्ष पर पक्षिराज गरूड़ का निवास स्थान है। इसी वृक्ष के नाम पर इस द्वीप का नामकरण हुआ। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र महाराज यज्ञबाहु हैं। इन्होंने इस द्वीप को अपने सात पुत्रों में उन्हीं के नामों के अनुरूप विभाजित किया। इनके नाम हैं-१. सुरोचन, २. सौमनस्य, ३. रमणक, ४. देववर्ष, ५. पारिभ्रद, ६. आप्यायन, ७. अविज्ञात। इस द्वीप में सात पर्वत- १. स्वरसः, २. शतश्रृङ्ग, ३. वामदेव, ४. कुन्द, ५. मुकुन्द, ६. पुष्पवर्ष, ७. सहस्रश्रुति, सात नदियाँ- १. अनुमति, २. सिनीवाली, ३. सरस्वती, ४. कुहु, ५. रजनी, ६. नन्दा, ७. राका एवं चार वर्ण-१. श्रुतधर, २. वीर्यधर, ३. बसुन्धर, ४. इषन्धर नाम से प्रसिद्ध हैं। इस द्वीप के उपास्य देवता चन्द्र हैं।[1]

इस द्वीप में शाल्मली (सेमर) वृक्ष अधिक पैदा होते हैं। प्रो० अली के अनुसार शाल्मली वृक्ष वर्तमान का सीसल हैं। जिसकी पत्तियाँ रेशे वाली मुलायम और चमकीली होती है। मत्स्य पुराण के अनुसार यहाँ की जलवायु प्रायः समान रहती है। बादल अधिक रहते हैं परन्तु वर्षा असामायिक नहीं होती है। सुरोद (कमखारा एवं स्वच्छ जल), उष्ण सम

---

१. श्रीमद्भागवत ५/२०/७-१२।

जलवायु, मेघाधिक्य ये सभी लक्षण विषुवत् रेखा के निकट की स्थिति परिलक्षित करते हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार यहाँ के मनुष्य भारतीयों के समान षड् ऋतुओं और षड! स्वरों का आनन्द लेते हैं। भारत के निकट पूर्वी अफ्रीका के तट पर स्थित विषुवत् वृत्तीय एवं उष्ण जलवायु वाला प्रदेश मालागासी (मेडागास्कर) की स्थिति शाल्मली के समान बैठती है। प्रायः इस द्वीप के उत्तर में शाल्मली में वर्णित जैसी ही जलवायु मिलती है। आज भी तंजानिया से मेडागास्कर के तट पर सीसल के वृक्ष अधिक पैदा होते हैं। इस द्वीप की स्थिति के विषय में विद्वानों में मतभेद दिखाई देता है। प्रसिद्ध विद्वान् गैरिनी ने इसे मलयद्वीप, विल्फोर्ड इसे मध्य एवं पश्चिमी यूरोप तथा अली ने इसे मध्यपूर्वी अफ्रीका में स्थित बताया है।[1]

कुशद्वीप

सुरा समुद्र के पश्चात् दुगुने परिमाण वाला कुशद्वीप है। यह द्वीप घृत समुद्र से समान रूप में घिरा हुआ है। यहाँ कुश नामक घास अधिक रूप में मिलती है। इसी से इसका नाम कुशद्वीप पड़ा। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र महाराज हिरण्यरेता थे। इन्होंने इसके सात भाग को अपने सात पुत्रों में उन्हीं के नामानुरूप बाँट दिया। इस द्वीप के सात भाग हैं-१. वुस, २. वसुदान, ३. दृढ़रूचि, ४. नाभिगुप्त, ५. स्तुत्यव्रत, ६. विविक्त, ७. वामदेव। इस द्वीप में भी सात पर्वत-१. चक्र, २. चतुःश्रृङ्ग, ३. कपिल, ४. चित्रकूट, ५. देवानीक, ६. ऊर्ध्वरोमा, ७. द्रविण, सात नदियाँ- १. रसकुल्या, २. मुधुकुल्या, ३. मित्रविन्दा, ४. श्रुतविन्दा, ५. देवगर्भा, ६. घृतच्युता ७. मन्त्रमाला एवं चार वर्ण-१. कुशल, २. कोविद, ३. अभियुक्त, ४. कुलक प्रसिद्ध हैं। इस द्वीप के उपास्य देवता अग्नि हैं।[2]

पुराणों के वर्णन के अनुसार यहाँ वर्षा कम होती है क्योंकि कहा गया है कि यहाँ वर्षा इन्द्र की कृपा से ही होती है। यह अर्द्ध शुष्क प्रदेश है। इस प्रदेश में आदि काल से ही अग्नि की पूजा होती रही है। प्राचीन काल से अग्निपूजक देश फारस एवं उसके समीपवर्ती भूभाग हैं। यहाँ के पर्वतों से बहुमूल्य पत्थर निकाले जाते हैं। बेबीलोन एवं एसिरिया सभ्यता काल में पश्चिम एवं उत्तरी फारस देश से कई प्रकार के पत्थर एवं धातु निकलने का उल्लेख मिलता है। इसका घृत सागर वर्तमान में फारस की खाड़ी अथवा लाल सागर हो सकता है। उत्तर वैदिक काल तक एवं बाद में भी यूनानियों के माध्यम से मौर्य काल में इस देश का भारत से निकट का संवंध रहा। गेरिनी को छोड़कर अन्य विद्वानों ने इसे ईरान (फारस एवं उसके पश्चिम भाग में स्थित) वताया।[3]

---

१. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ० १५५।

२. श्रीमद्भागवत ५/२/१३-१७।

३. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ० १५२-१५६।

क्रौञ्चद्वीप

घृत समुद्र के बाद इससे द्विगुणित परिणाम वाला क्रौञ्चद्वीप है। यह द्वीप अपने ही विस्तार से युक्त दुग्ध सागर से घिरा हुआ है। यहाँ क्रौञ्च नाम का एक बहुत बड़ा पर्वत है। इसी के नाम से इस द्वीप का नाम क्रौञ्च द्वीप पड़ा। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र महाराज घृतपृष्ठ थे। ये बड़े ज्ञानी थे। इन्होंने इस वर्ष को सात बराबर भागों में विभक्त कर अपने सात पुत्रों को दे दिया। पुत्रों के ही नाम से सात भागों का भी नामकरण किया। इनके सात पुत्र थे- १. आम, २. मधुरुह, ३. मेघपृष्ठ, ४. सुधामा, ५. भ्राजिष्ठ, ६. लोहितार्ण, ७. वनस्पति। ये ही इस द्वीप के सात उपखण्ड हुए। इस द्वीप में सात पर्वत- १. शुक्ल, २. वर्धमान, ३. भोजन, ४. उपबर्हिण, ५. नन्द, ६. नन्दन, ७. सर्वतोभद्र, सात नदियाँ- १. अभया, २. अमृतौधा, ३. आर्यका, ४. तीर्थवती, ५. वृत्तिरूपवती, ६. पवित्रवती, ७. शुक्ला एवं चार वर्ण- १. पुरुष २. ऋषभ, ३. द्रविण, ४. देवक हैं। इस द्वीप के उपास्य देवता वराह है।[1] अधिकांश पुराणों में इस द्वीप का वर्णन अस्पष्ट है। इस द्वीप की सीमा पर क्रौञ्च पर्वत बताया गया है। इस द्वीप के भीतरी भाग की ओर घृत तथा बाहरी भाग की ओर क्षीर सागर है। विल्फोर्ड ने इसे यूरोप, अय्यर ने काकेशस व तुर्की का भाग एवं प्रो० अली ने इसे यूराल का पश्चिमी भाग बताया है, जबकि गैरिनी ने इसे दक्षिणी चीन कहा। कुछ पुराणों में इसे कुश, शाल्मली एवं प्लक्ष के बाद बताया है। श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार इसके समतल भूभाग में समुद्र की स्थिति को स्वीकारा है। हो सकता है कि कैस्पियन सागर उस समय तक उत्तर में अधिक विस्तृत रहा हो।[2]

शाकद्वीप

क्षीर सागर से आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तार वाला शाकद्वीप है। जो अपने ही समान परिणाम वाले दधि समुद्र से घिरा है। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र मेधातिथि है। इन्होंने इस द्वीप को सात भागों में बाँटकर अपने सात पुत्रों को दे दिया। इन भागों के नाम भी पुत्रों के नाम पर ही रखे गये। पुत्रों के नामानुरूप द्वीप के उपखण्डों के नाम हैं- १. पुरोजव, २. मनोजव, ३. पवमान, ४. धूम्रानीक, ५. चित्ररेफ, ६. बहुरूप तथा ७. विश्वाधार। इस द्वीप में सात मर्यादा पर्वत हैं- १. ईशान, २. उरुश्रृङ्ग, ३. बलभद्र, ४. शतकेसर, ५. सहस्रोति ६. देवपाल एवं ७. महानस एवं सात ही नदियां भी हैं- १. अनघा, आयुर्दा, २. उभयस्पृष्टि, ४. अपराजिता, ५. पञ्चपदी, ६. सहस्रसुति एवं ७. निजधृतिः। इस द्वीप में अन्य द्वीपों की भांति चार वर्ण भी हैं- १. ऋतव्रत, २. सत्यव्रत,

---

१. श्रीमद्भागवत ५/२०/१८-२३।
२. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ० १५६-१५७।

३. दानव्रत, ४. अनुव्रत। इस द्वीप के उपास्य देवता वायु हैं। अर्थात् यहाँ के निवासी वायु रूप में भगवान हरि की आराधना किया करते हैं।[1]

पद्म, वायु एवं विष्णुपुराण व महाभारत के प्रमाणों के अनुसार शाकद्वीप जम्बू द्वीप के पश्चात् व मेरु से पूर्व में स्थित है। प्रमुख पुराणों के अनुसार यहाँ बहने वाली नदियों की अनगिनत शाखायें हैं, जिनमें सदैव जल रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि यह क्षेत्र भूतल का अधिक वर्षा वाला भूभाग है। यहाँ की प्रमुख वनस्पति "शाक" अर्थात् साल (सागवान) है। यह वृक्ष आर्द्र मानसूनी जलवायु में अधिक उत्पन्न होता है। भारत से बाहर पूर्व की ओर इन वृक्षों के वन पाये जाते हैं। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि मानसूनी उष्णकटिबन्धीय प्रदेश हैं। भारत से बाहर मध्य-एवं दक्षिणी बर्मा, मलेशिया, थाईलैण्ड, कम्बोज, लाओस, वियतनाम एवं इनके निकटवर्ती भूभागों में इस प्रकार की जलवायु पाई जाती है। इसके तीनों ओर क्षीर सागर (अशान्तसागर) है। प्रशान्त महासागर का यह भाग दक्षिणी चीन के वायु विक्षोभ के कारण प्रायः अशान्त रहता है।[2]

प्रसिद्ध विद्वान् अय्यर ने शाकद्वीप की स्थिति "स्किथिया" प्रदेश में गिनायी है। स्किथिया वर्तमान के दक्षिणी यूक्रेन (सोवियत रूस) को कहते हैं। यह शकों का मूल स्थान था। जिनका संघर्ष विक्रमादित्य से हुआ, परन्तु शाकद्वीप का वर्णन काफी पुरातन मालूम होता है इसलिए यह धारणा भ्रांत लगती है। शाकद्वीप का वर्णन महाभारत काल में भी उपलब्ध होता है। उस समय तक आर्यावर्त के निवासियों का बर्बर शक जाति से कोई सम्पर्क नहीं था। अतः अय्यर का तर्क समीचीन प्रतीत नहीं होता है। कुछ पुराणों के अनुसार इस द्वीप में अधिकतर लोग सूर्य व भगवान् वासुदेव की पूजा करते हैं।[3]

पुष्करद्वीप

दक्षि समुद्र के पश्चात् पुष्करद्वीप है। यह द्वीप अपने चारों ओर अपने ही समान स्वादु जल से घिरा हुआ है। यहाँ अग्नि की शिखा के समान देदीप्यमान लाखों स्वर्णमय पंखुड़ियों वाला एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है। जो ब्रह्म जी का आसन माना जाता है। इस द्वीप के बीचों बीच इसकी पूर्व और पश्चिम विभागों की मर्यादा निश्चित करने वाला मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। यह दश हजार योजन ऊँचा और उतना ही लम्बा है। इसके ऊपर चारों दिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों की चार पुरियाँ हैं इन पर मेरु पर्वत के चारों ओर घूमने वाले सूर्य के रथ का संवत्सर रूप पहिया देवताओं के दिन और रात (उत्तरायण और दक्षिणायन) क्रम से सर्वदा घूमता रहता है। इस द्वीप का अधिपति प्रियव्रत

---

१. श्रीमद्भागवत ५/२०/२५/२७
२. भौगोलित चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ० १५३।
३. तत्रैव।

पुत्र वितिहोत्र भी अपने पुत्र रमणक और धातकि को अलग अलग दोनों वर्षों का अधिपति बनाकर स्वयं भगवद् आराधना में संलग्न हो गये। यहाँ के निवासी ब्रह्म रूप भगवान हरि की स्तुति करते हैं।[1]

पुष्कर द्वीप का वर्णन पुराणों के साथ-साथ महाभारत, उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थ एवं जैन ग्रन्थों में अधिक स्पष्ट रूप से दिया गया है। पुराणों के अनुसार यह द्वीप जम्बू के पूर्व में स्थित है। इस भाग की जलवायु वर्ष भर सम रहती है। यहाँ वर्षा सामान्य होती है। यहाँ का मौसम सुहावना एवं अनुकूल रहता है। इसके विपरीत इसका दूसरा आन्तरिक भाग प्रायः अन्धकारमय बताया गया है। वहाँ की जलवायु कठोर, बहुम कम वर्षा, अज्ञात प्रदेश, एवं हिंस्र पशु व हिंस्र मानव समुदाय का निवास स्थल बताया गया है। यह प्रदेश दुर्गम है। इसी भाँति जैन ग्रन्थ "त्रिलोक विज्ञप्ति" में भी अर्ध पुष्कर को ही मानव के वास योग्य बताया गया है।[2]

उपर्युक्त द्वीपों के वर्णन से ज्ञात होता है। कि द्वीपों के सन्दर्भ में सभी पुराण में एक मत नहीं है। अधिकतर पुराणों का मत श्रीमद्भागवत पुराण के अनुरूप ही मेल खाता है। प्रो० अली ने अपने ग्रन्थ 'दि ज्योग्रेफी ऑफ पुराणाज' में द्वीपों एवं सागरों की समीक्षा प्रस्तुत की है।[3]

मेरु वर्णन

इलावृत्त के मध्य में मेरु पर्वत है। प्रायः पुराणों में मेरु को ही सुमेरू भी कहा है। यहीं देवताओं का निवास स्थान है। पहले इलावृत्त के प्रसंग में मेरु का वर्णन किया जा चुका है। इस पर्वत का वर्णन प्रायः सभी पुराणों एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है। अधिकांश पुराणों में इस पर्वत को सभी वर्षों के उत्तर में स्थित बताया गया है। सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः।[4] इस पर्वत का वर्णन महर्षि व्यास ने श्रीमद्देवीभागवत एवं श्रीमद्भागवतादि पुराणों में विस्तृत रूप से किया है।

अव्यक्तात् पृथिवीपद्मं मेरुपर्वतकर्णिकम्।[5]
इलावृत्तं तु तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः।[6]
जम्बूद्वीपों द्वीपमध्ये तन्मध्ये मेरुरुच्छ्रितः।[7]

---

१. श्रीमद्भागवत ५/२०/२९-३३।
२. भौगोलिक चिन्तन एवं विधि तन्त्र, पृ. १५६।
३. श्रीमद्भागवत का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २५९। (चित्र ७ एवं ८।)
४. विष्णुपुराण २/४/३।
५. वायुपुराण ३४/३७, ५/८१, १/३५, ११/१६।
६. अग्निपुराण १०८/६।
७. अग्निपुराण १४८/३, १०८/११-१२, कूर्मपुराण ४-५/१५/१६।

चित्र - 7
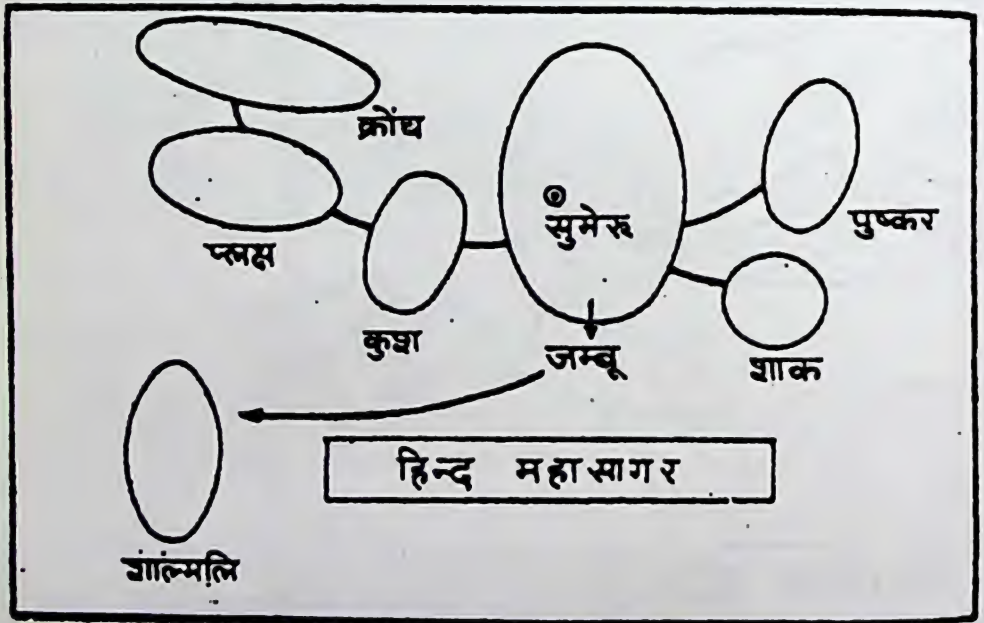
चित्र-४

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि मेरु भारतवर्ष के उत्तर में स्थित है परन्तु विष्णुपुराण के अनुसार मेरु सभी वर्षों के उत्तर में स्थित है। इसी आशय का वर्णन प्रस्तुत करते हुए श्री अनन्तशास्त्री फडके महोदय ने चित्र सहित वर्णन अपने निबन्ध में प्रस्तुत किया है।[1] उनका कथन है कि एक मेरु सभी वर्षों के उत्तर में स्थित है उसके बाद कोई देश नहीं है तथा द्वितीय मेरु जम्बूद्वीप मध्य एशिया में स्थित पामीर (पमेरु) संज्ञक है। फडके महोदय के अनुसार एक मेरु पर्वत तथा द्वितीय सुमेरु पर्वत है। इस समय मेरु पर्वत ही पामीर पर्वत है क्योंकि मध्य एशिया का सर्वोन्नत भाग पामीर ही है और सुमेरु उत्तरी ध्रुव है। उत्तरी ध्रुव ही सभी वर्षों के उत्तर में स्थित है। अन्य ऐसा स्थान कोई भी नहीं हो सकता है।

इसी सन्दर्भ में पं० रघुनाथ शर्मा का कथन है कि दुनियां का सर्वोच्च शिखर "एवरेस्ट" ही सुमेरु पर्वत है क्योंकि यही सबसे ऊँचा पर्वत है। आधुनिक भौगोलिक दृष्टि से पं० शर्मा जी का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है। इन्हीं का कथन यह भी है कि पृथ्वी में सुमेरु तथा अन्तरिक्ष में मेरु स्थित है।[2] मेरु के सन्दर्भ में प्रायः सभी पौराणिक विद्वानों एवं इतिहासज्ञों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध लेखक आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय महोदय के अनुसार पामीर पर्वत ही मेरू पर्वत है।[3] माधवाचार्य महोदय के अनुंसार "यूराल" नामक पर्वत ही सुमेरू पर्वत हो सकता है।[4] आधुनिक भौगोलिक विद्वानों के अनुसार पौराणिक काञ्चनमय सुमेरू पर्वन ही पामीर पर्वत है। परन्तु ज्योतिर्विदों के कथनानुसार उत्तरी ध्रुव ही सुमेरु पर्वत है।[5]

किसी के मत में "पामीर", किसी के मत में यूराल, किसी के मत में "एवरेस्ट", किसी के मत में उत्तरी ध्रुव ही सुमेरु है। पामीर तो मात्र प्राङ्मेरु है। प्राङ्मेरु संज्ञा मेरु की ही हो सकती है सुमेरु की नहीं, क्योंकि प्राङ्मेरु सुमेरु कभी भी नहीं हो सकता है। जैसा कि कहा भी गया है कि "सर्वेषां वर्षाणामुत्तरे स्थितोऽस्ति सुमेरुः" इस आधार पर उत्तरी ध्रुव सुमेरु तथा दक्षिणी ध्रुव कुमेरु है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मेरु प्राङ्मेरु है सुमेरु नहीं। मेरु एवं सुमेरु पर्वत की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करने पर ही प्राचीन एवं अर्वाचीन मतों की संगति ठीक बैठ सकती है।

---

१. सारस्वती सुषमा, फाल्गुन पूर्णिमा, २०१५, पृ० २०३।
२. सारस्वती सुषमा, ३३, ३-४, नि.स. २०३५।
३. पुराणविमर्श, पृ० ३१७।
४. पुराणदिग्दर्शन, तृतीय संस्करण, पृ० ७५७।
५. सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य, पृ० ५६/७२८।

भौगोलिक एवं गोलीयगणित की स्थिति को ध्यान में रखकर भास्कराचार्य ने कहा है कि जब लंका में सूर्योदय होता है उस समय यमकोटि में मध्यान्ह, सिद्धपुर में सूर्यास्त एवं रोमपत्तन में मध्यरात्रि होती है। ये चारों स्थान निरक्षवृत्त में स्थित हैं तथा एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी भी ९०° अंश है तभी उक्त स्थिति सम्भव है। उदय स्थान से ९० अंश की चापात्मक स्थिति से निर्मित वृत्त मेरु (ध्रुव) पर्यन्त जाता है। ध्रुव स्थान एवं समस्थान को जाने पर ही इसे याम्योत्तर वृत्त कहा जाता है। लंका यमकोटी, सिद्धपुर एवं रोमपत्तन ये चारों नगर निरक्षवृत्तीय हैं। इन चारों से ९० अंश उत्तर में सुमेरु स्थित है। यह सुमेरु उत्तर-ध्रुव स्थान है।

लङ्कापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात्, तदा दिनार्धं यमकोटिपुर्य्याम्।
अधस्तदा सिद्धपुरेऽस्तकालः, स्याद्रोमके रात्रिदलं तदैव।।
यत्रोदितोऽर्कः किल तत्र पूर्वा, तत्रापरा यत्र गतः प्रतिष्ठाम्।
तन्मत्स्यतोऽन्ये च ततोऽखिलानामुदक्स्थितो मेरुरिति प्रसिद्धम्।।[1]

समुद्र विवेचन

हमारी पृथ्वी में सर्वाधिक रूप में जल मिलता है। यह जल कहाँ से आया, सर्वप्रथम यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। भूमि कि उत्पत्ति से पूर्व भी जल था। यह वर्णन सृष्टि के प्रसंग में कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ काल से ही जल का अस्तित्व सृष्टि में विद्यमान था। यह जल कहाँ से आया? इस सन्दर्भ में आधुनिकों का मत है कि आरम्भ में दृश्यमान जल वाष्प (गैस) रूप में वायुमण्डल में व्याप्त था। यह वाष्पीय जल ठण्डा होकर मेघ राशि मण्डल में परिणत हुआ। इसके पश्चात् सहस्रों वर्षों तक वृष्टि होती रही। इसी से पृथ्वी के निम्न भाग जल से पूरित हो गये। वही आज समुद्रों के रूप में दिखाई देते हैं। उदधि के वर्णन प्रसंग में ऋग्वेद में उल्लिखित है कि वरुण ने समुद्रों की रचना की। यथा- "अवसिन्धुं वरुणों द्यौरिव स्याद् द्रप्सो............" ऋग्वेद में बहुत स्थलों पर समुद्र के भौतिक स्वरूप का वर्णन मिलता है। यथा-"भानुरर्वणो नृचक्षाः"।[2] "प्र यत् सिन्धवः प्रसवं यथायन्नायः समुद्रं रथ्येव जग्मुः"।[3] "गम्भीरां उदधी"।[4] त्वां गिरः सिन्धुं पृणन्ति।[5] समुद्रेण सिन्धवो।[6] इत्यादि वर्णन

१. सि०शि० गो०भु०, ४४, ४५। (चित्र-१०)
२. ऋग्वेद ३/२२/२।
३. ऋग्वेद ३/३६/६।
४. ऋग्वेद ३/४५/३।
५. ऋग्वेद ५/११/५।
६. ऋग्वेद ३/३६/७।

नी ल प र्व त
मे रु
पा मी र
पा ध
सिन्धु नदी
मेरु एवं सन्निकट प्रदेश

चित्र - 9

सिद्धपुर
अस्तः
सुमेरुः
ध्रुव
याम्योत्तर
वृत
उदयः
लंका
रोमपत्तनः
अर्द्धरात्रि
शून्य
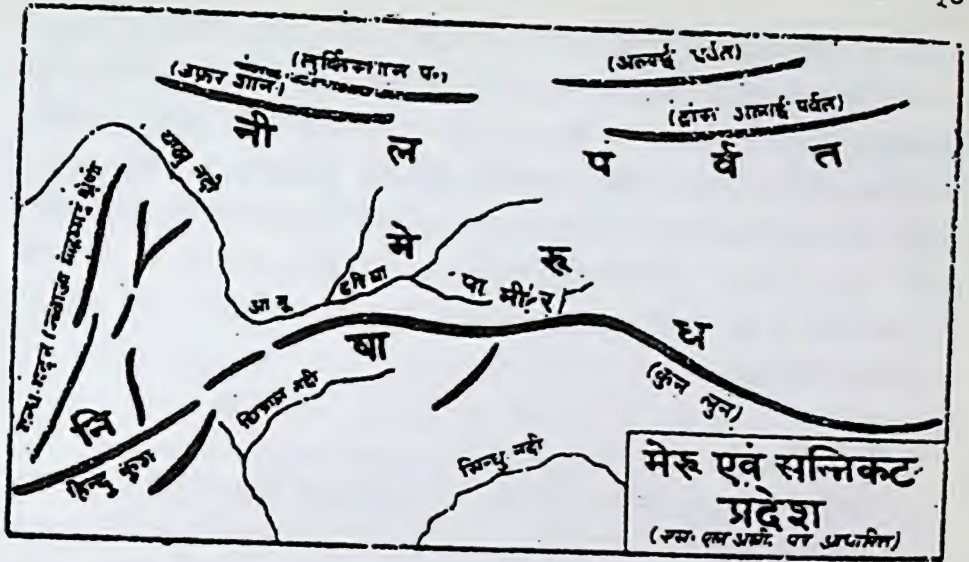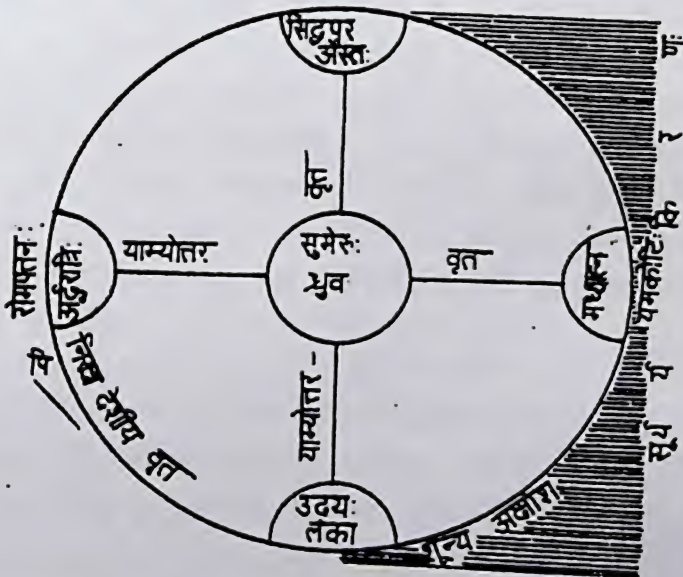
चित्र - 10

मिलता है। वैदिक काल में समुद्रों के प्रसंग में सागर, अर्णव, उदधि, एवं सिन्धु नामों का उल्लेख मिलता है। समुद्र अपार जलराशि से परिपूर्ण है। जलराशि को समुद्र नदियों से प्राप्त करता है। इस तरह का वर्णन भी वेदों में कई स्थानों पर मिलता है। वेदों में ही यह भी वर्णन मिलता है कि नदियाँ ही मात्र समुद्रों को पूर्ण नहीं कर सकती है। अपितु आदि में सहस्रों वर्षों तक निरन्तर वृष्टि होती रही होगी। इसी वृष्टि के जल से समुद्र आपूरित हुए। यथा-''एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्।''[१] वेदों में यह भी वर्णन उपलब्ध होता है कि सम्पूर्ण जलीय स्वरूपों में समुद्र ही सबसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है। समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्।''[२]

वेदों में समुद्र

आर्यों का सर्वप्रथम अस्तित्व जहाँ मिलता है उसे ही आर्य प्रदेश कहते हैं।[३] इस प्रदेश को ही ''सप्तसिन्धवः'' के नाम से वेदों में जाना जाता था। इस प्रदेश के चारों तरफ समुद्र था ऐसा वर्णन मिलता है। यथा-''स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुः समुद्रं धरुणं रथीणाम्। चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।[४] अतः कह सकते हैं कि ऋग्वेद काल में चार समुद्रों का वर्णन स्पष्ट रूप से बहुत स्थलों पर दिखाई देता है। सूर्योदय के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि उषा काल के सूर्य का उदय पूर्व समुद्र से तथा अस्त काल के सूर्य का अदर्शन पश्चिम समुद्र में दिखाई देता है। यथा-''उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च उतापरः।''[५] अतः स्पष्ट होता है कि ''सप्तसिन्धवः'' प्रदेश के चारों तरफ चार समुद्र थे। किन्तु अथर्ववेद में षड् समुद्रों का वर्णन मिलता है। घृतह्रदा मधुकूलाः सूरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु दुष्करिणीः' समन्ता।[६] इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए इसी तरह के घृत, मधु, सुरा, क्षीर, दधि एवं शुद्ध जल के छः समुद्रों का वर्णन माधवाचार्य ने भी अपने पुराणदिग्दर्शन में किया है।[७]

पुराणों में समुद्र

वेदेतर साहित्य में समुद्रों का वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इससे भी अधिकतर वर्णन पुराणों में मिलता है। पुराणों में सात समुद्रों का वर्णन द्वीपों के साथ मिलता है। समुद्रों की संख्या के सन्दर्भ में प्रायः पुराण एक मत हैं परन्तु पुराणों के इतर संस्कृत

१. ऋग्वेद ५/८५/०६।
२. ऋग्वेद ७/४९/१।
३. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ० १००।
४. ऋग्वेद १०/४७/०२।
५. ऋग्वेद १०/१३६/०५, शतपथ ब्राह्मण १०/६/४/४।
६. अथर्ववेद, ४/३४/६।
७. पुराणदिग्दर्शन, पृ० ५४।

साहित्य में कहीं सात, कहीं एक, कहीं तीन कहीं चार कहीं नौ, कहीं ग्यारह, व कहीं त्रयोदश समुद्रों का भी वर्णन मिलता है। ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों के भुवन कोशाध्याय में भी समुद्रों का वर्णन मिलता है, परन्तु यहाँ पर सभी आचार्यों ने पुराणों के अनुसार ही समुद्रों की स्थिति को स्वीकार किया है। क्षीर सागर की स्थिति जम्बू द्वीप के चारों तरफ है। इसके पश्चात् एक द्वीप और उसके पश्चात् एक सागर का वर्णन पुराणों जैसा ही मिलता है। इसलिए क्षीर सागर के पश्चात् उत्तरोत्तर चक्राकार रूप में दुग्ध, दधि, घृत, इक्षु, मद्य एवं स्वादु समुद्र हैं। इन सात समुद्रों में से दो-दो के मध्य में क्रम से शाक, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, गोमेद, पुष्कर नामक षड् द्वीप स्थित हैं। जम्बूद्वीप मध्य में स्थित है।[1] पुराणों में द्वीप एवं समुद्रों का वर्णन एक सा नहीं मिलता है। जैसा कि पूर्व में कहा भी गया है। उपर्युक्त द्वीप एवं समुद्रों का क्रम भी वहाँ पर समान नहीं दिखाई देता है। श्रीमद्भागवत, गरुड़, वामन, ब्रह्म, लिङ्ग, मार्कण्डेय, कूर्म, ब्रह्माण्ड, अग्नि, देवीभागवत एवं विष्णुपुराणों में द्वीपों का क्रम-जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक एवं पुष्कर तथा समुद्रों का क्रम-क्षार, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, क्षीर एवं स्वादु है, जबकि मत्स्य, वराह, स्कन्ध पद्मपुराण एवं महाभारत में पृथक्-पृथक् क्रम मिलता है।[2]

इन सभी समुद्रों का अर्वाचीन नाम क्या हो सकता है, इस सन्दर्भ में पं० मीठा लाल ओझा ने अपना एक मत प्रस्तुत किया है।[3]

प्राचीन नाम	आधुनिक नाम
१. लवण समुद्र	केस्पियन सागर
२. इक्षु समुद्र	वाल्टिक, काला, भूमध्य सागर का समूह
३. सुरा समुद्र	रक्त सागर
४. घृत समुद्र	अटलाण्टिक सागर
५. दधि समुद्र	उत्तर सागर
६. क्षीर समुद्र	प्रशान्त महासागर
७. जल समुद्र	दक्षिण अटलाण्टिक सागर

इनकी संगति ज्योतिष शास्त्र में वर्णित समुद्रों के साथ नहीं बनती है क्योंकि ज्योतिष शास्त्र में वर्णित उपर्युक्त सभी समुद्र निरक्ष रेखा से दक्षिण में स्थित हैं। आधुनिक दृष्टि से भी विचार करें तो ज्योतिष में भी समुद्रों का वर्णन पुराणों के अनुसार ही किया है। परन्तु इनके वर्णन के अनुसार आज के सन्दर्भ में देखना सर्वथा दुष्कर है। उक्त वर्णित कल्पना

---

१. सिद्धान्तशिरोमणि गो०भु० श्लोक २१-२५।

२. भुवनकोशविमर्श, पृ० १५६।

३. सारस्वती सुषमा, १६. ३-४, २०१८।

के विरुद्ध भी माध्वाचार्य ने प्राचीन समुद्रों की आधुनिक समुद्रों से तुलना करते हुए वर्णन किया है कि आज भी बहुत से सागर पुराणों के सदृश ही दिखाई देते हैं।[१]

बौद्धों के मत में समुद्र

बौद्ध साहित्य में ''अङ्गुत्तरनिकाय'' नामक ग्रन्थ के अनुसार चार समुद्रों का तथा सुरपर्क जातक ग्रन्थ के अनुसार छः समुद्रों का वर्णन मिलता है।[२] बौद्ध ग्रन्थों में समुद्र को ''सीता'' भी कहा जाता है। इन ग्रन्थों में मिलने वाले छः समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं- सुरमाल (सुरमाली), अग्निमाल (अग्निमाली), दधिमाल (दधिमाली), कुशमाल (कुशमाली), नलमाल (नलमाली) तथा वडवामुख (वलमामुख)।[३]

जैन मत में समुद्र

जैन ग्रन्थों में आठ प्रकार के समुद्रों का वर्णन लवणोदा, कालोदा, पुस्करोदा, वरुणोदा, केशरोदा, घृतोदा, इघुरोदा तथा नन्दिश्वरोदा उपलब्ध होता है।[४]

ऋग्वेद में अधिकतर स्थानों पर दो समुद्रों का वर्णन मिलता है। इनमें से प्रथम समुद्र पूर्व समुद्र तथा द्वितीय पश्चिम समुद्र है। उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः।[५] प्रथम दृष्टि से पूर्व समुद्र बंग नामक गर्त (बंगाल की खाड़ी) को इङ्गित करता है परन्तु ऋग्वेद के वर्णनानुसार यह समुद्र सप्तसिन्धु प्रदेश के पूर्वी भाग से लेकर वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल एवं असम तक फैला हुआ था।[६] कह सकते हैं कि यह समुद्र पूर्व में ८०° से ६५° पूर्वीदेशान्तर तक तथा उत्तर दक्षिण २४° से ३०° उत्तर अक्षांश तक विस्तृत था।[७] यह समुद्र पूर्व में स्थित था इसलिए इसे आर्वावत् समुद्र कहा गया। ऋग्वेद में इस समुद्र की चर्चा ''परावत्'' समुद्र के साथ भी आयी है।[८] मध्यपूर्व हिमालय और विन्ध्य पर्वत श्रेणियों के मध्य गगेटिकप्लेट में इस समुद्र की स्थिति विद्यमान थी। भौगोलित एवं भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार 'सप्तसिन्धु प्रदेश का दक्षिण पथ अवरुद्ध था' यह मत सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।[९] प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एच०जी० वेल महोदय के अनुसार प्राङ्समुद्र की स्थिति २५ से ५० हजार वर्ष पूर्व विद्यमान थी।

---

१. पुराण दिग्दर्शन, पृ० ७५७।
२. जोग्रेफी नोलेज इन ऐनसेंट इण्डिया, पृ० १५०।
३. भारतीय सृष्टि विद्या, पृ० ६४।
४. ज्योग्रेफि नोलेज इन ऐनसेंट इण्डिया, पृ० १५०।
५. ऋग्वेद १०/१३६/०५।
६. ऋग्वेद १/१८२/५-६।
७. ऋग्वैदिक भूगोल पृ० १७१।
८. ऋग्वेद ८/१२/१७।
९. ऋग्वैदिक भूगोल पृ० १७२।

यह समुद्र पूर्व प्रचलित वायु के द्वारा तरङ्गित होकर ध्वनियुक्त होता था। इस समुद्र की वाष्पीय वायु से (मानसून द्वारा) हमेशा सप्तसिन्धु प्रदेश के मध्य पूर्वी भागों में पर्याप्त वृष्टि होती थी। वाणिज्य की दृष्टि से भी ऋग्वैदिक काल में आर्यों से इतर "पणि" नामक कुशल बाणिक ने भी इस समुद्र का उपयोग अपने बाणिज्य कार्य के लिए किया था। कालान्तर में प्रबल भौतिक परिवर्तनों के कारण यह समुद्र विलुप्त हो गया और आज इस की जगह गंगा का विशाल समतल प्राङ्गण दृष्टिगोचर होता है।[१]

प्रत्यङ्समुद्र (परावत्)

ऋग्वेद में अर्नावत् समुद्र के साथ पश्चिम में स्थित परावत् समुद्र का उल्लेख भी दिखाई देता है।[२] सप्तसिन्धु प्रदेश के पश्चिम पार्श्व में स्थित इस समुद्र की संज्ञा परावत् है।[३] श्री एम०एल० भार्गव इस समुद्र की "परावत" संज्ञा ही स्वीकार करते हैं परन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वान् "परावत" शव्द का अर्थ समुद्र होता है ऐसा स्वीकार नहीं करते हैं। इनमें से "राथ" ने परावत का अर्थ "दूर से आता हुआ" स्वीकार किया है, जबकि हापकिन्स[४], हिलेब्राण्ट[५] गेल्डूनर[६], एवं मैक्समूलर[७] इस शब्द का अर्थ जाति विशेष करते हैं। इन्हीं विदेशी विद्वानों की ही भाँति कुछ भारतीय विद्वान भी इस शब्द का अर्थ दूरस्थित देश ही स्वीकार करते हैं[८] परन्तु अधिकतर भूगोल वेत्ता कहते हैं कि सप्तसिन्धु प्रदेश का दक्षिण-पश्चिम विस्तार उत्तर में वर्तमान सिन्धु प्रदेश के लवणयुक्त पर्वत सुलेमान श्रृंखला तक था। दक्षिण में यह समुद्र अरब सागर से मिलता था। डॉ० ए०सी० दास की भी यही धारणा है कि मध्यसागर का उत्तरी भाग ही यह समुद्र था।[९] डॉ० पी०एल० महोदय भी इस सागर को अरबसागर से सम्बद्ध वर्तमान सिन्धु प्रान्त का दक्षिण पश्चिम भाग स्वीकार करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी तथा उसकी सहायक नदियों की मिट्टी एवं सिकता (बालू) से यह परावत् समुद्र आपूरित हुआ होगा। इस समय सुलेमान पर्वत श्रेणी तक सिन्धु प्रान्त का एक भाग विद्यमान है।[१०]

---

१. ऋग्वैदिक भूगोल पृ० १७३।
२. ऋग्वेद १०/१३६/५।
३. ऋग्वेद १/१०५/५-६, ८/१३/१५।
४. जनरल ऑफ दि अमेरिकन सोसाइटी १७/६१।
५. वैदिक माइथोलॉजी १/८७
६. ऋग्वैदिक ग्लासाद १/६।
७. सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट ३२/३१६।
८. वेट धरातल, पृ० ४३५।
९. ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ६३।
१०. ऋग्वैदिक भूगोल, पृ० १७५।

याम्यसमुद्र (सारस्वत्)

सप्तसिन्धु के दक्षिण में एक समुद्र था। इस समुद्र में सरस्वती नदी अपनी सहायक नदियों के साथ गिरती थी। इस समुद्र का वर्णन ऋग्वेद में दक्षिण सारस्वत समुद्र के रूप में बहुत से स्थलों पर उपलब्ध होता है।[१] सप्तसिन्धु प्रदेश की पुरातन स्थिति स्वीकार करते हुए ले. कर्नल एल०एल० भार्गव महोदय कहते हैं कि वर्तमान साम्भर, सारगीत रिवासा, कुचावड एवं डिडवान सरोवर सारस्वत समुद्र के ही अवशेष थे। डॉ० पी०एल० भार्गव के अनुसार वर्तमान राजस्थान प्रदेश के अधिकांश भाग सारस्वत समुद्र के अवशेष हैं। इस पुरातन सारस्वत समुद्र के अवशिष्ट 'साम्भर' आदि जलाशय में तथा वहाँ स्थित भूभाग की सिकता में पर्याप्त विद्यमान लवणांश के कारण यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद काल में यहाँ समुद्र था। आज भी यहाँ 'साम्भर' आदि जलाशय से लवण निर्माण होता है। अतः ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में पश्चिम दिशा में वर्तमान के कच्छ नामक गर्त (खाड़ी) से अरब सागर की एक शाखा पूर्व दियाा में अरावली पर्वत श्रेणी तक अर्थात् सप्तसिन्धु प्रदेश के दक्षिण में सारस्वत समुद्र के रूप में विद्यमान थी।[२] डॉ० ए०सी० दास[३] महोदय भी इस समुद्र को सप्तसिन्धु प्रदेश के दक्षिण दिशा में राजपूताना नामक समुद्र के रूप में अंगीकार करते हैं तथा यह भी मानते हैं कि इस समुद्र की सीमा कच्छ की खाड़ी से लेकर पूर्व समुद्र अर्वावत् तक विस्तृत थी।

पण्डित वि०ना० रेड के अनुसार समुद्रतटीय संकेतों से ज्ञात होता है कि कालान्तर में यह दक्षिण सारस्वत राजपूताना समुद्र विलुप्त हुआ।[४] सरस्वती नदी अपने उद्गम प्रदेश से ही भौतिक परिवर्तनों के द्वारा उत्तरोत्तर न्यून हुई तथा इस नदी का उद्गम स्थान भी धीरे-धीरे सिकता (बालू) से आच्छन्न हुआ। इसी कारण यह समुद्रीय भाग आज जलशून्य होकर मरूस्थल के रूप में दृष्टिगत होता है। इस समुद्र में ये परिवर्तन ऋग्वेद काल के अनन्तर ब्राह्ममण काल में हुए ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में सरस्वती नदी के विलुप्त होने एवं प्रकट होने के संकेत मिलते हैं।[५] अतः कह सकते हैं कि भारतीय विद्वानों का मत निराधार नहीं है। सारस्वत समुद्र के धरातल पर ईसा पूर्व ७५००-८००० वर्षों में स्थलीय परिवर्तन हुआ।[६]

---

१. ऋग्वेद ७/६५/२, १०/१७/७-८
२. ऋग्वैदिक भूगोल पृ० १७५।
३. ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ६३।
४. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० १०३।
५. ताण्ड्य ब्राह्मण २५/१०/१६, जैमिनीय ब्राह्मण ४/२६/१७।
६. भुवनकोश विमर्श, पृ० १८९।

उदङ् समुद्र (शर्मणावत्)

सप्तसिन्धु प्रदेश के उत्तर में हिमवन्त श्रृंखला से सुदूर उत्तर समुद्र विद्यमान था। इसके अवशेष के रूप में सम्प्रति शर्मणावत नामक एक सरोवर है। डॉ० ए०सी० दास[1] तथा पण्डित विश्वेश्वर नाथ रेउ[2] आदि विद्वानों की धारणा है कि एशिया महाद्वीप का भूमध्यसागर ही हिमालय के उत्तर में "वल्ख" (वाह्लीक) तक और ईरान देश के उत्तर में स्थित कश्यप (कैस्पियन) कृष्ण (काला) सागरों के समीप पश्चिम तुर्किस्थान तक विस्तृत था। इसके अवशेष के रूप में अरल सागर और वाल्कश सरोवर आज भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार पूर्वी तुर्कीस्थान क्षेत्र के "लोबनार" सरोवर भी इसी समुद्र के अवशेष है। इस प्रकार के अवशेषों के अनुसार प्राचीन सप्तसिन्धु प्रदेश के उत्तर दिशा में एक विशाल समुद्र की सम्भावना सर्वथा ठीक प्रतीत होती है। इस समुद्र के भूगर्भित तथ्यों के अनुसार उपर्युक्त वर्णन को ले० कर्नल भार्गव[3] और डॉ० पी०एल० भार्गव[4] सर्वथा सही मानते हैं।

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार हिमालय में निरन्तर भौगोलिक परिवर्तनों के कारण सप्तसिन्धु प्रदेश का उत्तरी समुद्र भी परिवर्तित हुआ।[5] आदि काल में यह समुद्र विशालकाय था, परन्तु परिवर्तनों के अनन्तर आज कश्मीर राज्य के अन्तर्गत "शर्मणावत' सरोवर के रूप में सौम्य समुद्र का संकुचित स्वरूप दिखाई देता है। सतीसार डल आदि सरोवर भी इस समुद्र के ही अवशेष प्रतीत होते हैं।[6]

संस्कृत साहित्य एवं इतिहास के प्रसिद्ध लेखक पण्डित बलदेव उपाध्याय के अनुसार भी ऋग्वैदिककाल में आर्यप्रदेश के चारों तरफ समुद्र था। आज के उत्तर प्रदेश और बिहार पूर्व समुद्र के गर्भ में थे। इनके अनुसार तो समग्र गंगा तटीय क्षेत्र, पूर्वी हिमालय क्षेत्र और आज के असम तक का सम्पूर्ण भाग पूर्वी समुद्र के गर्भ में ही था। इनके अनुसार गंगा नदी हिमालय से निकलकर हरिद्वार नगर के समीप ही समुद्र में गिरती थी।[7] इस समुद्र का पुरातन नाम रत्नाकर था। उपर्युक्त समग्र वर्णन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में चार समुद्रों का वर्णन मिलता है। परन्तु अर्थववेद में षट्समुद्रों का वर्णन दिखाई देता है।[8] पुराण काल में एक, तीन, चार, सात, नौ, ग्यारह एवं तेरह समुद्रों का वर्णन मिलता है। प्रायः सभी पुराणों में विस्तृत रूप से ज्ञात समुद्रों का ही वर्णन मिलता है। पौराणिक काल की भौगोलिक स्थिति और आज की भौगोलिक स्थिति सर्वथा भिन्न दिखाई देती है।

---

१. ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ६३। २. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, १०१।
३. दि ज्योग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इण्डिया, पृ० ३।
४. इण्डिया इन द वैदिक एज्, पृ० ७७।
५. ज्यौलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वा. ८११, पार्ट २, पृ० १३७।
६. ऋग्वैदिक भूगोल, पृ० १७८।
७. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ० १००। ८. अथर्ववेद ५/३५/३।

स्वरविद्या

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र

स्वर विद्या के मूल प्रवर्तक भगवान् सदाशिव हैं। इसे सर्वसिद्धि प्रदायक विज्ञान कहा गया है। इसमें ज्योतिष योग तथा तन्त्रागम का समवेत मूलाधार प्रयुक्त होने से शिव-पार्वती संवाद के रूप में इसे अत्यन्त महत्व पूर्व मानने की परम्परा प्राचीनतम है।

स्वर एवं ब्रह्माण्ड

अक्षर को अविनाशी कहा है। शब्द ब्रह्म से विश्वोत्पत्ति की अवधारणा निराधार नहीं है। भगवान शिव के अनुसार तत्वों से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, तत्वगत परिवर्तन से ही परिवर्तन तथा तत्व में ही ब्रह्माण्ड का क्षय अथवा लय आदि समस्त क्रियायें तत्वों पर ही आधारित हैं। इस तथ्य की पुष्टि में वेद, आगम, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, पौराणिक वाङ्मय प्रभृति अनेक प्रबल प्रमाण हैं।

तत्व क्या हैं?

इसके प्रमाण ऋग्वेद से सांख्य योग एवं ज्योतिष शास्त्रीय स्वर विद्या तक में विद्यमान हैं। परमात्मा सब का मूल है। त्रिगुण एवं तमोगुण के आकाशादिभूम्यन्त क्रमिक विकास क्रम का मूल महत्त्व को सर्वतत्वात्मक मानते हैं।

अतः प्रत्येक चराचर मात्र देहधारियों की रचना भी त्रिगुणात्मक एवं पञ्चमूलात्मक है। "समस्त उत्पत्ति स्थिति तथा संहार के समस्त नैसर्गिक तथा आयोजित चक्र २५ तत्वों की गति एवं अव्ययत्व की सम्बद्धता में संनिहित है।

सृष्टि रहस्य गूढ़ातिगूढ़ है। इन्हें जानना तथा प्रयोगगम्य करना उससे भी अधिक गूढ़ रहस्य है।

शान्त, शुद्ध, सदाचारी, गुरुभक्त, मन तथा बुद्धि से निर्मल व्यक्ति ही स्वर विद्या का अधिकारी हो सकता है। अन्य के हाथ में यह विद्या केवल विध्वंस एवं विनाश को जन्म देने वाली सिद्ध होती रही है।

दुष्ट, दुर्जन, क्रोधी (शीघ्र कोपी) नास्तिक, गुरुतल्पग, हीनसत्व तो असंशय ही स्वयं की तथा समाज की हानि करते हैं।

स्वर–'स्वर' दो प्रकार के होते हैं–

(१) आकारादि वर्ण स्वर तथा
(२) नासिका से चलने वाले वायु रूप स्वर।

दोनों स्वरों का प्रभाव मन-बुद्धि और शरीर पर भी पड़ता है। यही कारण है कि केवल ज्योतिष शास्त्र ही नहीं अपितु वेदों से लेकर वेदाङ्गादि सभी शास्त्रों एवं गान्धर्व विद्या में भी स्वरों का महत्व प्रतिपादित है। मनुष्य ही नहीं जीव जन्तु सभी स्वरों से सम्बद्ध हैं। सभी के स्वरों के जीवन में महत्व है तथा एक दूसरे के लिए भी स्वर उपयोगी होते हैं। स्वर ज्ञान से रहित दैवज्ञ की तुलना अधिपतिहीनगृह, शास्त्रहीन मुख तथा सिर से विहीन शरीर से की गयी है। इतना ही नहीं राजा के लिए कहा गया है कि जिस राजा के राज्य में स्वरशास्त्र के ज्ञाता न हो उस राजा का राज्य केले के खम्भों पर टिका होता है। संलाप का अधम भी स्वर है। शकुनादि शास्त्रों में भी स्वर गति चेष्टादि विचार में स्वर मुख्य है। स्वर शास्त्र के महत्व को बताते हुये कहा गया है कि नाड़ी भेद, प्राणतत्त्व भेद, सुषुम्नादि भेद, भूतसंचारभेद, आदि को जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है।

हंसचार

साकार का निराकार, शुभवायु बल से हकार से निर्गमन तथा सकार से प्रवेश का सम्बन्ध प्रति पिण्ड से समबद्ध हैं। अतः जीवमात्र 'हं सः' इस क्रम से वायु छोड़ने तथा ग्रहण करने की क्रिया से सम्बद्ध है।

'हंसचार' नाम से श्वांस प्रक्रिया को प्रतिपादित किया गया है। हृदय में हंसचार के प्रसंग में, अष्टदल कमल की (योगशास्त्र के द्वादशदल) परिकल्पना है। हंसः क्रम से प्रत्येक दल पर आरोह और अहवरोह क्रम से पंच महाभूतों के ३०-३० श्वांस की वृद्धि क्रम से कुल ९०० श्वांस एक दल (पत्र) के चलते हैं। आठों दलों में कुल (८ × ९००) = ७२०० श्वांस चलती है। एक अहोरात्र तीन चक्र श्वांस अष्टदल में चलती हैं। इस प्रकार एक अहोरात्र में कुल (३ × ७२००) = २१६०० श्वांस चलती है। इसे ही हंसचार कहा जाता है। यही अजपाजप भी है।

अतः स्वर, सृष्टि, स्थिति तथा विनाशरूप है। इसे साक्षात् महेश्वर भी कहते हैं। शिवस्वरोदय श्लोक २२ से ज्ञात होता है, कि शत्रुनाश, मैत्री, धनयोग एवं प्राप्ति, सुख दुःखादि तथा कीर्ति-यश स्वरबल से प्राप्त होता है।

तत्व ज्ञान से ही व्यक्ति नाम, रूप के भ्रम से ऊपर उठकर यथार्थ का रूप जान पाता है। अतः ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत इसका महत्व सदा से रहा है।

स्वर शास्त्र में प्रवीण दैवज्ञ ही प्रश्न एवं स्वर द्वारा त्रिकाल ज्ञान में समर्थ होता है। स्वरबल से सभी कुयोग सुयोग में बदलने के योगनिष्ठ संकेत भी मिलते हैं यथा-

न तिथिर्न च नक्षत्रं न वारो ग्रहदेवता।
न दिष्टिर्न व्यतोपाती वैधृत्याधास्तथैव च।।

कुयोगो नास्त्यतो देही भविता वा कदाचन
प्राप्ते स्वरबले शुद्धे सर्वमेव शुभं फलम्।।३०।।

इतने महत्वपूर्ण कुयोगनाशक विद्या का साक्षात्संबंध देह से हैं। तिथि, नक्षत्र, दिन, ग्रह, देवता, भद्रा (दिष्टि) व्यतीपात एवं वैधृति प्रभृति समस्त कुयोग भी शुद्ध स्वर बल के योग से सुयोग में बदल जाते हैं। इस ज्ञान का हेतु-मानव का शरीर ही है। यही महामुनि पतञ्जलि का "यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे, अर्थात् "यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डेऽपि" के विलोम निष्पत्ति से साध्य होता है।

नाडीभेद

शरीर में नाभिस्कन्द से ऊपर अंकुर के समान निकली ७२००० नाड़िया स्थित हैं। नाड़ी में स्थित कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान सुप्तावस्था में रहती है। उन ७२००० में २४ नाड़ियां मुख्य है। नाभि से ऊपर गयी हुई दश तथा नीचे गयी हुई दश तथा दो-दो नाड़ियां ऊपर नीचे तिरछी गई हैं। इनमें भी दश नाड़ियां प्रधान हैं, जिनमें शरीरस्थ दशवायु संचारित होते हैं।

ये ऊपर नीचे तथा तिर्यक क्रम से वायु-संचार-कारिणी नाड़ियां चक्र संस्थान सम्बद्ध देहस्थ और सभी प्राण से समाश्रित हैं।

उन दश उत्तम नाड़ियों में तीन नाड़ियां उत्तम-इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना संज्ञक हैं। वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिंगला तथा मध्यदेश में सुषुम्ना, वामनेत्र में गान्धारी, दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्वा, दक्षिण कान में पूषा, वामकर्ण में यशस्विनी मुख में अलम्बुषा लिङ्ग स्थान में कुहू गुदास्थान में शंखिनी, नाड़ी दश प्रकार की वायु का संचार करती हैं। इड़ा-चन्द्र नाड़ी, पिंगला-सूर्यनाड़ी सुषुम्ना शिवनाड़ी, ये तीनों प्राणमार्ग में तथा उपर्युक्त दश नाड़ियाँ देह के मध्य में अवस्थित हैं।

नाड़ियों के आश्रय से ऊर्ध्वक्रम में प्राण, आपान, उदान, समान तथा व्यान एवं अधःक्रम में नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय अवस्थित है। हृदय प्रदेश में प्राणः तथा गुदा में अपान नाभि में समान, कण्ठमध्य में उदान तथा सम्पूर्ण शरीर में व्यान का वास हैं। नागादि पांच के स्थान-उद्गार (उगलना-बोलना) में नाग, नेत्रों के उन्मीलन में कूर्म, छींकने में कृकल, जंभाई में देवदत्त, तथा सम्पूर्ण शरीर में धनञ्जय व्याप्त होता है। धनंजय मृतक शरीर को भी नहीं छोड़ता। जीवरूप में दश वायु सभी नाड़ियों में संचार करते हैं। देहमध्य में प्राण-संचार का प्रकटीकरण इड़ा पिंगला एवं सुषुम्ना से मुख्यतः होता है।

वामनासपुट से इड़ा, दक्षिण में पिंगल दोनों से सुषुम्ना का प्रवाह होता है। प्राणवायु का निर्गम हकार प्रवेश सकार है। हकार शिव रूप तथा सकार शक्ति रूप है। हकार शक्तिरूप में चन्द्रमा का सकार शिवरूप में सूर्य का प्रतिनिधि है।

श्वास जब सकार में स्थित एवं संचरित हो, उस समय दिया गया दान कोटिगुण होता है। अतः एकाग्रचित्त और समाहित योगी इसी मार्ग से समस्त शुभाशुभ को जानें। अर्थात् सूर्यमार्ग तथा चन्द्रमार्ग के अभ्यास से समस्त भुवन, त्रिलोक, नक्षत्रव्यूह का ज्ञान होना पतञ्जलि ने भी साध्य कहा है। इन दोनों मार्ग "जो शरीर में दक्षिण एवं वाम स्वांस संचार नलिका (नासापुट) के रूप में विद्यमान हैं" के अभ्यास से सभी तत्व ज्ञात होते हैं।

स्थिर चित्त से तत्वों का ध्यान किया जाता है, अस्थिर चित्त से नहीं। जिस समय जीव स्थिर हो, उस समय ध्यान से ही इष्ट सिद्धि महान लाभ और जय होता है। अतः चन्द्र एवं सूर्यनाड़ी में अभ्यास करने से त्रिकाल ज्ञान करतलामलकवत् हो जाता है।

वामभाग की नाड़ी (इड़ा) अमृत रूप में समस्त जगत की पोषिका है।

दक्षिण (पिंगला-सूर्य नाड़ी) नाड़ी में सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति संनिहित है। मध्यम नाड़ी सुषुम्ना क्रूर तथा सम्पूर्ण कर्मों में दुष्टफल प्रदायिका होती है। वामा नाड़ी सभी जगह सभी शुभकर्मों की सिद्धि प्रदान करने वाली होती है। समस्त यात्रा एवं गमन में वामनाड़ी शुभ देने वाली तथा प्रवेश में दक्षिण नाड़ी शुभ प्रदान करने वाली होती है।

सभी सौम्य कार्य चन्द्र नाड़ी से तथा सभी विषम कार्य रविनाडी संचार से करना शुभप्रद होता है। चन्द्र स्त्री तथा सूर्य पुरुष संज्ञक है। चन्द्र गौर रवि कृष्ण है, अतः चन्द्र से सौम्य सूर्य से उग्र तथा सुषुम्ना संचार से भुक्ति मुक्ति सम्बद्ध कार्य प्रशस्त होते हैं। शुक्लपक्ष में प्रथम संचार चन्द्र का तथा कृष्ण पक्ष प्रतिपदा में प्रथम संचार सूर्यस्वर का होता है। प्रतिपदा से तीन तीन तिथि प्रमाण से चन्द्र एवं सूर्य क्रम से बलवान होते हैं।

पुनः शुक्लपक्ष में चन्द्र से प्रथमक्रम का ज्ञान प्रत्यक्ष मे भी होता है। स्थिति परिवर्तन विकार एवं आपत्ति का द्योतक होता है। २ घटी ३० पल = १ घंटा प्रमाण से ६० घटी = २४ घंटों में दोनों की १२-१२ आवृत्तियां शुक्ल में चन्द्रसूर्य तथा कृष्ण में सूर्य-चन्द्र के क्रम से होती हैं।

घटी

द्वितीय दिन प्रथम दिन के ६० घटी भुक्त होने पर शुक्ल पक्ष में फिर से सूर्योदयकाल में चन्द्र स्वर का संचार होता है। प्रत्येक ढाई घटी अर्थात् १ घंटे में पांचों भूत तत्त्व क्रम से उदित होते हैं। अर्थात् ३० पल = १२ मिनट तक १ तत्व का संचार होता है। इस प्रकार पांचों तत्त्व १ घंटा अर्थात् २ घटी ३० पल के मध्य संचरित होते हैं। प्रतिपदादि तिथियों में शुक्ल कृष्ण भेद से जो चन्द्र तथा सूर्य नाड़ी का प्रथम संचार तथा क्रम है, अगर उसके विपरीत संचार हो तो उस दिन को अशुभ मानकर छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार कृष्ण प्रतिपदा में प्रथम सूर्य क्रम से नैसर्गिक न्यास होता है।

अतः शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से लेकर प्रथम वाम तथा कृष्णपक्ष में प्रथम दक्षिण नाड़ी को योगी एकाग्र मन से ध्यान करें।

शिव स्वरोदय-

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करो हि सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि कृतोदयाः।।६२।।
सार्धद्विघटिके ज्ञेयः शुक्ले कृष्णे शशी रविः।
वहन्त्येकदिनेनैव यथाषष्टि घटीक्रमान् ।।६३।।
वहेयुस्तद् घटीमध्ये पञ्चतत्वानि निर्दिशेत्।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुर्विपरीते विवर्जयेत्।।६४।।
शुक्लपक्षे भवेद् वामा कृष्णपक्षे च दक्षिणा।
जानीयात्प्रतिपत्पूर्वं योगी तद्गतमानसः ।।६५।।

ये तत्त्व नियमित प्राणायामपरायण के लिए प्रत्यक्ष गम्य हैं। चन्द्र को सूर्य में तथा सूर्य को चन्द्र में बदलना दीर्घ काल तक प्रणायाम के अभ्यास में निरन्तर दत्तचित्त के लिए संभव है। यथा-

शशाङ्क वारयेद्रात्रौ दिवा वारय भास्करम्।
इत्याभ्यासरतो नित्यं स योगी नात्र संशयः।।६६।।
सूर्येण बध्यते सूर्यं चन्द्रश्चन्द्रेण वध्यते।
यो जानाति क्रियामेतां त्रैलोक्यं वशगं क्षणात्।।६७।।

अर्थात् रात्रि में चन्द्र स्वर तथा दिन में सूर्यस्वर के निरोध का अभ्यासी व्यक्ति सिद्धयोगी हो जाता है। सूर्य के स्वर से सूर्य तथा चन्द्रस्वर से चन्द्र बन्द होता है। जो इस योग क्रिया को जानता है, उसके वश में त्रिलोक क्षणमात्र में होता है। इस प्रकार योग, ज्योतिष तथा तन्त्रागम के समन्वित स्वरूप पर अवस्थित स्वर विद्या में अनेक चमत्कार के साथ स्वरप्रश्न तन्त्राभिप्रायिक प्रयोग तथा दृष्टान्त भी मिलते हैं।

चन्द्रस्वर में सूर्योदय तथा सूर्यस्वर में सूर्यास्त अनेक गुणों का संगठन करता है, वहीं उल्टा होने पर विपरीत प्रभाव जानें।

चन्द्र, बुध, गुरु तथा शुक्र दिन में वामनाड़ी शुक्लपक्ष में सर्वसिद्धि प्रदायक होते हैं।

रवि, मंगल तथा शनि दिन एवं कृष्णपक्ष में दक्षिणनाडी संचार में कृत कार्य विशेष रूप से सिद्ध होते हैं। चर एवं उग्र कार्य दक्षिण नाड़ी में उग्रवारों में तथा सौम्य एवं स्थिर कार्य वामनाडी में सद्यः सिद्धि प्रदायक होते हैं।

महाभूतोदयक्रम-प्रथम वायु, द्वितीय-अग्नि तृतीय-भूमि चतुर्थ-जल तथा पञ्चम आकाश तत्व का उदय होता है। २ घटी ३० पलके भीतर क्रम से इन तत्वों का पृथक् पृथक उदय होते हैं।

एक अहोरात्र के अन्दर १२ संक्रान्तियां होती हैं। वृष, कर्क, कन्या, वृश्चिक, मकर तथा मीन संक्रमण के अधिपति चन्द्रमा तथा मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धनु तथा कुम्भ संक्रमण के अधिपति सूर्य होते हैं। इस प्रकार उदय तथा वाम दक्षिणक्रम से शुभ एवं अशुभ का निर्णय अभ्यासगम्य प्रक्रिया है।

यात्राकाल में स्वर विचार-चन्द्रमा-पूर्व तथा उत्तर, सूर्य पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में ठहरता है। अतः सूर्यनाड़ी में दक्षिण पश्चिम तथा चन्द्रनाड़ी में पूर्व तथा उत्तर दिशा में यात्रा निषिद्ध है। इससे शत्रुभय तथा लौटने की संभावना नहीं रहती।

स्थर संचार का प्रभाव-शुक्ल द्वितीया सूर्यप्रवाह में चन्द्रप्रवाह हो तो लाभप्रद तथा उस समय सौम्य कार्यारम्भ सुखद होता हैं

सूर्योदय काल में सूर्य तथा चन्द्रोदय काल में चन्द्रमा का प्रवाह सम्पूर्ण अहोरात्र को सर्वसिद्धिप्रद बनाता है।

सामान्यतः चन्द्र में सूर्य तथा सूर्य में चन्द्र संचार उद्वेग, कलह तथा हानिप्रद एवं सम्पूर्ण शुभ के विनाशक होते हैं।

सूर्य प्रवाह में विद्या, ज्ञान, अगम्य का निश्चय तथा चन्द्रप्रवाह में भोग, विलास, स्थिर एवं सौम्यकार्य सिद्ध होते हैं।

विपरीत स्वरोदय का प्रभाव-यदि प्रातः काल विपरीत प्रवाह में दिवसारम्भ तथा सायं के पश्चात रात्र्यारम्भ हो, वह दिन १. उद्वेग, २. धनहानि, ३. निरर्थक यात्रा एवं ४. इष्ट का नाशक होता है। ५वें में राज्यनाश ६वें में सर्वनाश ७वें रोग, ८वें मृत्यु आदि प्रभाव कहा गया है।

यदि तीनों सन्ध्या, प्रातः, मध्याह्न तथा सायं काल विपरीत स्वर का संचार ८ दिनों तक बराबर चले तो दुष्ट फलद होता है। कुद कम दिन चले तो विपरीत कर्म शुभफलद होता है।

प्रातः तथा मध्याह्न में चन्द्र, सायंकाल में सूर्य संचार जयलाभादि प्रदायक तथा विपरीत वर्जनीय होता है।

स्वरानुरोध से यात्रा आदि विधान-जिस समय जो स्वर संचरित हो, उस कदम को आगे बढ़कर की गयी यात्रा सिद्धिप्रद होती है। चन्द्रमा में समपद २-४-६ तथा सूर्य में विषमपद १-३-५ रखने से सिद्धि होती है।

जिस अंग का स्वर संचरित हो, उस हाथ की सहायता से शय्यात्याग कर मुख स्पर्श

भी वांछित फलदायक है। जो स्वर बहे, उस अंग के वाम या दक्षिण हाथ से दान देना, लेना, तथा उस पैर को आगे बढ़ा कर यात्रा एवं प्रवेश करना सभी प्रकार से शुभद होता हैं।

इस प्रकार समय एवं स्वर संचार के संबंध से योग निष्ठ जन सर्वत्र लाभ सिद्धि एवं विजय को प्राप्त करता है।

शून्य स्वर सुषुम्ना में योगाभ्यास एवं ईश्वराधनेतर सभी कर्म विपरीत फलद होते हैं।

इडा संचार में कर्तव्याकर्त्तव्य, पिंगला संचार में कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सुषुम्ना संचार में कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्धारण इसके प्रश्न-तन्त्रात्मक स्वरूप को प्रकट करता है।

सुषुम्ना संचार लक्षण
क्षणं वामे क्षणं दक्षे यदा वहति मारुतः।
सुषुम्ना सा च विज्ञेया सर्वकार्यहरा स्मृता।।

अतः दो श्वांस का संचार का स्तम्भन काल को सुषुम्ना जानना चाहिए। जब अपने-अपने स्वाभाविक क्रम का उल्लंघन कर दोनों नाड़ी का संचार हो, वह अशुभप्रद होता है। सुषुम्ना संचार में केवल ईश्वर चिन्तन कर्तव्य। नाड़ी संक्रमण तथा तत्त्व संक्रमण में भी कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

तत्वप्रत्यक्षीकरण-

पृथ्वी का पीत, जल श्वेत, अग्नि लाल, वायु-श्याम तथा आकाश का चित्र वर्ण है। नेत्र प्रान्तपर दर्पण पर श्वांस को छोड़कर तत्ववर्ण जान सकते हैं।

चतुर्भुज, अर्धचन्द्र, त्रिभुज, वृत्त तथा बिन्दु-रूप से पृथिव्यादि तत्व का संचार जाना जाता है। दोनों कन्धों पर अग्नि, नाभि मूल में वायु, जानुदेश में पृथ्वी, चरण के अन्त में जल तथा मस्तक में आकाश तत्त्व की स्थिति योग-गम्य है।

स्वाद से तत्वज्ञान-पृथ्वी = मीठा, जल = खारा, अग्नि = तीखा, वायु = अम्ल एवं आकाश = कटु स्वाद का द्योतक होता है। इस प्रकार भोज्य रस प्रमाण से भी पंच तत्वों को जाना जाता है।

श्वांसगति से तत्वज्ञान-

वायु-८, पवन-४, पृथ्वी-१२, जल-१६, आकाश-२० अंगुल तक प्राणवायु की प्रवाह गति होती है। ऊर्ध्वस्वर-मरण, निम्न स्वर-शान्ति, तिर्यक-उच्चाटन, मध्य स्वर-स्तंभन तथा आकाश तत्व सभी कार्य में मध्य फलद होता है। पृथ्वी तत्व में स्थिर, जल में चर, तेल में उग्र, पवन में क्रूर कर्म तथा उच्चाटन एवं आकाश तत्त्व में योग का सेवन करना

चाहिए। पृथ्वी तथा जल से सर्व सिद्धि, अग्नि से मारण, वायु से क्षय तथा आकाश से कार्य की हानि होती है। इनके लक्षण तथा प्रभाव सम्बद्ध अनेक चमत्कार विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं फिर भी वे साधना-गम्य होने से सामान्य जनों के लिए सुगम नहीं हो सके। हंस स्वर संचार पर अद्वितीय स्वर प्रश्न तन्त्र का केवल संकेत मात्र यहाँ किया गया है।

दक्षिण स्वर संचार में अग्नि तत्व से रवि पृथ्वी से मंगल, जल से शनि, वायु से राहु की स्थिति का प्रभाव ज्ञात होता है तथा वाम स्वर में जल से चन्द्र, पृथ्वी से बुध, वायु से गुरु तथा अग्नि से शुक्र ग्रह के प्रभाव का बोध होता है।

पृथ्वी का बुध से, जल का चन्द्र और शुक्र से, अग्नि की सूर्य और मंगल से वायु का शनि और राहु से तथा आकाश का गुरु से संवंध बताया गया है। ये ग्रह तत्तद् तत्वों के अधिपति भी कहे गये हैं।

स्वर एवं तत्वों के उदय से यात्रा विचार, तत्वों के बल दिशा एवं समय भेद से, तत्वों से शरीरस्थ अस्थि आदि सप्तसारों की उत्पत्ति एवं आधिपत्य, ग्रहाधिपत्य, गुणाधिपत्य, मानव देह में तत्त्वों की मात्रा, सिद्धि एवं असिद्धि में तत्व सम्वन्ध, तत्व सम्बद्ध नक्षत्र या नक्षत्र संबद्ध तत्व, आदि इसके प्रक्रियात्मक विभाग हैं। तत्वों के क्षेत्र एवं बीज निर्धारण योग एवं आगम का समन्वित रूप है। किस क्रिया को करने में प्राण वायु की क्या गति होती है, तथा योगाभ्यास से इन्हें नियन्त्रित करने पर क्या-क्या सिद्धियां मिलती हैं? आदि प्रश्न, युद्ध, युद्धगत विशेष विधान, वशीकरण, स्त्री आकर्षण एवं वशीकरण, गर्भधारण, प्रभृति विषय भी इनके प्रयोग से साध्य एवं गम्य हैं। संवत्सर प्रभाव, वर्षफल, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, राष्ट्रोपद्रव एवं शान्ति, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग, काल परीक्षण, जीवन मृत्यु, मृत्युपूर्वलक्षण संबंधियों के जीवन एवं मृत्यु का निर्धारण एवं मृत्यु स्तम्भन आदि क्रियायें सम्भव है। योग निष्ठा से ब्रह्माण्ड ज्ञान के जो संकेत-शिव पार्वती संवाद रूप शिवस्वरोदय में मिलते हैं। उन्हें इस युग में पुनः आनुपूर्विक प्रकट करना कठिनतम है। यह ग्रन्थ हंस-स्वर संचार सम्बद्ध है। **'नरपति जयचर्या'** में भी हंसस्वरचार का संक्षिप्त रूप मिलता है। पातञ्जल योग प्रदीप में भी हंस स्वर संचार के यौगिक क्रियात्मक विधान मिलते हैं। इस युग में अकारादि पांच स्वरों पर आधारित अ, इ, उ, ए, ओ को मूल मानकर नरपतिजयचर्या आदि ग्रन्थों में निरूपित विधानों का संकेत मात्र करता हूँ, जिससे दोनों पक्षों में समन्वय हो सके।

योग और तन्त्र के अनेक ग्रन्थों के आधार पर पंच स्वरों तक श्वांस के माध्यम से सूर्यादि स्वरों को आधारभूत मानकर उनमें शुभाशुभ ज्ञान की प्रक्रिया दी गई है। स्वरशास्त्र का प्रमुखत्व, स्वरबल की प्रशंसा तथा स्वरबल से सभी प्रकार के युद्ध में विजयार्थ साधन बताये गये हैं। इस प्रकार का अध्ययन सिद्धियों का कारक बन सकता है।

यामल तन्त्र तथा स्वर शास्त्र में २० प्रकार के स्वर चक्र कहे गये हैं।

१. मात्रा २. कर्म ३. ग्रह ४. जीव ५. राशि ६. नक्षत्र ७. पिण्ड तथा ८. योग मुख्य स्वर भेद दर्शक चक्र हैं। ९. द्वादशवार्षिक १०. वार्षिक ११. अर्धवार्षिक १२. ऋतु १३. मास १४. पक्ष १५. दिन १६. घटी १७. तिथि वार १८. दिशा १९. तात्कालिक तथा २०. दिलफल के योग से बीस स्वर चक्र हैं।

८४ प्रकार के चक्रों में-१. एकाशीतिचक्र २. शतपद ३. नवांश ४. छत्र ५. सिंहासन ६. पांच प्रकार के कूर्मचन्द्र-भूकूर्म, देश कूर्म, नगरकूर्म, क्षेत्रकूर्म, गृहकूर्म, ७. पद्म ८.१ फणीशाख्य-राहु कालानल ९.२ सूर्य कालानल १०.३ चन्द्र कालानल ११.४ घोर कालानल १२.५ शूलकालानल १३.६ सूर्यचन्द्रयोग जनित कालानल १४.७ संधर ये सात कालानल चक्र हैं। १५. तिथि १६. वार १७. नक्षत्र १८. कुलाकुल १९.१ राशि कुम्भ २०.२ नक्षत्रकुम्भ २१. वर्ग २२. प्रस्तार २३. वेध २४. तुम्बरू २५. भूचर २६. खेचर २७. नाड़ी चक्र-दो प्रकार २८. कालचक्र २९. फणिचक्र-दो प्रकार के (सूर्यफणिचक्र एवं चन्द्रफणि चक्र) ३०. कविचक्र स्थानस्वामी एवं नक्षत्र सम्बद्ध ३१. खलक चक्र-कृत्तिकादि नक्षत्र सम्बद्ध तथा स्थान सम्बद्ध, ३२. कोटचक्र-आठ प्रकार के चतुरस्रादि भेद से ३३. गज ३४. अश्व ३५. रथ ३६. व्यूह ३७. कुन्त ३८. खड्ग ३९. धुरिका ४०. डिंभ ४५. पक्षि ४६. वर्ग ४७. आय ४८. वर्षण ४९. सप्तशलाका ५०. पञ्चशलाका ५१. चन्द्र ५२. सूर्य ५३. मातृका चक्र-तीन प्रकार के ५४. श्येन- ५५. तोरण ५६. अहिबल ५७. लांगल ५८. बीजोप्ति ५९. वृष ६०. सप्तनाड़ी ६१. सांवत्सर ६२. स्थान ६३. मास ६४. दिन फल ये ८४ प्रकार के चक्र अनेक प्रकार के कार्यों में सिद्धि असिद्धि लाभ एवं हानि आदि के सूचक हैं। इसलिए इन चक्रों का स्वर विद्या में अद्वितीय महत्व है। उपर्युक्त समस्त विधानों तथा चक्रों के ज्ञाता दैवज्ञ की सहायता से युद्ध आरम्भ करने वाले राजा (देशाधिपति) इन्द्र के समान शत्रु राजा को भी जीत सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

भूबलचक्र-

स्वरोदय तथा उपर्युक्त ८४ चक्रों के प्रयोग से जहां शत्रुपक्ष का बल बराबर हो या अधिक हो, वहां भूबल से बल अधिक किया जाता है। कविद्वन्द, दुर्ग, चतुरङ्ग जनित महायुद्ध में भूबल की सहायता से सभी प्रकार के शत्रु को पराजित करने हेतु इन भूबलों का प्रयोग ब्रह्मयामल के आधार पर नरपति ने किया है। भूबल भी ८४ प्रकार के हैं। इनके बल योग से स्वपक्ष का राजा विजयी होता है। ये हैं- १. औड्री २. जालन्धरी ३. पूर्या ४. कामा ५. कोला ६. एकवीरिका ७. शिलीन्ध्रा ८. महामारी ९. क्षेत्रपाली १०. वंशजा ११. रूद्रकालानली १२. कालरेखा १३. निरामया १४. जयलक्ष्मी १५. महालक्ष्मी १६. जया १७. विजया १८. भैरवी १९. बाला २०. योगेश्वरी २१. चण्डी २२. भाषा २३. भुंभुक २४.

कर्त्तरी २५. शार्दूली २६. सिंहिली २७. तन्वी २८. महामाया २६. महेश्वरी ३०. देवकोटि ३१. शिवा ३२. शक्ति ३३. धूम्रा ३४. माला ३५. वराटिका ३६. त्रिमुण्डा ३७. मत्सरी ३८. धर्मा ३६. मृतशिष्टा ४०. क्षया ४१. अक्षया ४२. दुर्मति ४३. प्रवरा ४४. गौरी ४५. काली ४६. नारहरी ४७. वला ४८. खेचरी ४६. भूचरी ५०. गुह्या ५१. द्वादशी ५२. वृष्टि ५३. केवला ५४. त्रैलोक्यविजया ५५. सौरी ५६. कराली ५७. वड़वा ५८. अपरा ५६. रौद्री ६०. शिशु ६१. मातङ्गी ६२. अभेद्या ६३. दहनी ६४. जित्रा ६५. बहुला ६६. वर्गभूमि ६७. कपाली ६८. अनिला ६६. अनला ७०. चान्द्री ७१. सूर्यबिम्बा ७२. ग्रहभूः ७३. राशिभूः ७४. लानभूः ७५. राहुकालानली ७६. स्वरभूमि ७७. रूद्र ७८. त्रिमासिक ७६. राहु-आठ प्रकार ८०. चन्द्र ८१. सदाविध ८२. सूर्यभूमि चार प्रकार ८३. योगिनीभूमि-तीन प्रकार ८४. काल चक्रभूमि-तीन प्रकार-तिथि, नक्षत्र तथा वारज "ये ८४ प्रकार के भूबल चक्र हैं। इस भूवलों को जानकर जो नृप युद्ध में प्रविष्ट होते हैं, उनके प्रबल शत्रु भी वैसे ही नष्ट होते हैं, जैसे प्रबल वायु वेग से मेघ।

यन्त्र मन्त्र तन्त्र तथा औषधि का बल- यदि शत्रु स्वर, चक्र तथा भूबल के योग करने पर भी बराबर या अधिक हो, वहां स्थान, सेना तथा बल एवं विज्ञान युक्त शत्रु के अभङ्गत्व, अभेदत्व, असाध्यात्व तथा दुर्जयत्व की स्थिति में स्वपक्ष के राजा के विजय निमित्त मन्त्रयन्त्रादि से बल देना चाहिए। इसमें मन्त्रबल, तन्त्रबल, यन्त्रबल तथा औषधि के बल से बलाधिक्य का साधन करना कहा है। एतदर्थ १. रणाभिषेक २. रणदीक्षा ३. रणार्चा ४. रणकङ्कण ५. वीरपट्ट ६. रणपट्ट ७. जयपट्ट ८. मेखला ६. कवचन्यास १०. मुद्रारक्षा ११. कंचुक १२. औषधि १३. तिलक १४. घुटिका १५. कपर्दिका १६. योग घटित शस्त्रास्त्र १७. शस्त्ररक्षा १८. भोटन १६. विविधशस्त्रलेप २०. बाणों के पिच्छ बन्धन, २१. त्रास देने वाले २२. काहला २३. ढक्का २४. मुरज २५. भस्म साधन २६. मा रम २७. मोहन २८. स्तम्भन २६. विद्वेषण ३०. उच्चाटन ३१. वशीकरण ३२. पताका ३३. पिच्छक ३४. परकृत्या विनाशक यन्त्र ३५. अपने सैन्यबल को सभी प्रकार के उपद्रव से बचाने के लिए शान्ति के उपाय जय चाहने वाले राजा को करना एवं कराना चाहिए। इन समस्त बलों को जानकर जो मनुष्य युद्ध करता है, वह इन्द्रतुल्य पराक्रमी शत्रु को भी परास्त कर सकता है। उसके लिए असाप्य कुछ भी नहीं रहता।

ज्योतिष का स्वर-शास्त्रीय निवेश-

ज्योतिष शास्त्र जहाँ आकाशस्थ ग्रहों तथा उनकी गति आदि से उत्पन्न परिणामों के आधार पर विचार करता है वहीं ग्रहों द्वारा नियंत्रित मानव शरीर में संचरित प्राणवायु के

१. मात्रा २. कर्म ३. ग्रह ४. जीव ५. राशि ६. नक्षत्र ७. पिण्ड तथा ८. योग मुख्य स्वर भेद दर्शक चक्र हैं। ९. द्वादशवार्षिक १०. वार्षिक ११. अर्धवार्षिक १२. ऋतु १३. मास १४. पक्ष १५. दिन १६. घटी १७. तिथि वार १८. दिशा १९. तात्कालिक तथा २०. दिलफल के योग से बीस स्वर चक्र हैं।

८४ प्रकार के चक्रों में-१. एकाशीतिचक्र २. शतपद ३. नवांश ४. छत्र ५. सिंहासन ६. पांच प्रकार के कूर्मचन्द्र-भूकूर्म, देश कूर्म, नगरकूर्म, क्षेत्रकूर्म, गृहकूर्म, ७. पद्म ८.१ फणीशाख्य-राहु कालानल ९.२ सूर्य कालानल १०.३ चन्द्र कालानल ११.४ घोर काला नल १२.५ शूलकालानल १३.६ सूर्यचन्द्रयोग जनित कालानल १४.७ संधर ये सात कालानल चक्र हैं। १५. तिथि १६. वार १७. नक्षत्र १८. कुलाकुल १९.१ राशि कुम्भ २०.२ नक्षत्रकुम्भ २१. वर्ग २२. प्रस्तार २३. वेध २४. तुम्बरू २५. भूचर २६. खेचर २७. नाड़ी चक्र-दो प्रकार २८. कालचक्र २९. फणिचक्र-दो प्रकार के (सूर्यफणिचक्र एवं चन्द्रफणि चक्र) ३०. कविचक्र स्थानस्वामी एवं नक्षत्र सम्बद्ध ३१. खलक चक्र-कृत्तिकादि नक्षत्र सम्बद्ध तथा स्थान सम्बद्ध, ३२. कोटचक्र-आठ प्रकार के चतुरस्रादि भेद से ३३. गज ३४. अश्व ३५. रथ ३६. व्यूह ३७. कुन्त ३८. खड्ग ३९. धुरिका ४०. डिंभ ४५. पक्षि ४६. वर्ग ४७. आय ४८. वर्षण ४९. सप्तशलाका ५०. पञ्चशलाका ५१. चन्द्र ५२. सूर्य ५३. मातृका चक्र-तीन प्रकार के ५४. श्येन- ५५. तोरण ५६. अहिबल ५७. लांगल ५८. बीजोप्ति ५९. वृष ६०. सप्तनाड़ी ६१. सांवत्सर ६२. स्थान ६३. मास ६४. दिन फल ये ८४ प्रकार के चक्र अनेक प्रकार के कार्यों में सिद्धि असिद्धि लाभ एवं हानि आदि के सूचक हैं। इसलिए इन चक्रों का स्वर विद्या में अद्वितीय महत्व है। उपर्युक्त समस्त विधानों तथा चक्रों के ज्ञाता दैवज्ञ की सहायता से युद्ध आरम्भ करने वाले राजा (देशाधिपति) इन्द्र के समान शत्रु राजा को भी जीत सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

भूबलचक्र-

स्वरोदय तथा उपर्युक्त ८४ चक्रों के प्रयोग से जहां शत्रुपक्ष का बल बराबर हो या अधिक हो, वहां भूबल से बल अधिक किया जाता है। कविद्वन्द, दुर्ग, चतुरङ्ग जनित महायुद्ध में भूबल की सहायता से सभी प्रकार के शत्रु को पराजित करने हेतु इन भूबलों का प्रयोग ब्रह्मयामल के आधार पर नरपति ने किया है। भूबल भी ८४ प्रकार के हैं। इनके बल योग से स्वपक्ष का राजा विजयी होता है। ये हैं- १. औड्री २. जालन्धरी ३. पूर्या ४. कामा ५. कोला ६. एकवीरिका ७. शिलीन्ध्रा ८. महामारी ९. क्षेत्रपाली १०. वंशजा ११. रूद्रकालानली १२. कालरेखा १३. निरामया १४. जयलक्ष्मी १५. महालक्ष्मी १६. जया १७. विजया १८. भैरवी १९. बाला २०. योगेश्वरी २१. चण्डी २२. भाषा २३. भुंभुक २४.

कर्त्तरी २५. शार्दूली २६. सिंहिली २७. तन्वी २८. महामाया २९. महेश्वरी ३०. देवकोटि ३१. शिवा ३२. शक्ति ३३. धूम्रा ३४. माला ३५. वराटिका ३६. त्रिमुण्डा ३७. मत्सरी ३८. धर्मा ३९. मृतशिष्टा ४०. क्षया ४१. अक्षया ४२. दुर्मति ४३. प्रवरा ४४. गौरी ४५. काली ४६. नारहरी ४७. बला ४८. खेचरी ४९. भूचरी ५०. गुह्या ५१. द्वादशी ५२. वृष्टि ५३. केवला ५४. त्रैलोक्यविजया ५५. सौरी ५६. कराली ५७. वड़वा ५८. अपरा ५९. रौद्री ६०. शिशु ६१. मातङ्गी ६२. अभेद्या ६३. दहनी ६४. जित्रा ६५. बहुला ६६. वर्गभूमि ६७. कपाली ६८. अनिला ६९. अनला ७०. चान्द्री ७१. सूर्यबिम्बा ७२. ग्रहभूः ७३. राशिभूः ७४. लानभूः ७५. राहुकालानली ७६. स्वरभूमि ७७. रूद्र ७८. त्रिमासिक ७९. राहु-आठ प्रकार ८०. चन्द्र ८१. सदाविध ८२. सूर्यभूमि चार प्रकार ८३. योगिनीभूमि-तीन प्रकार ८४. काल चक्रभूमि-तीन प्रकार-तिथि, नक्षत्र तथा वारज "ये ८४ प्रकार के भूबल चक्र हैं। इस भूबलों को जानकर जो नृप युद्ध में प्रविष्ट होते हैं, उनके प्रबल शत्रु भी वैसे ही नष्ट होते हैं, जैसे प्रबल वायु वेग से मेघ।

यन्त्र मन्त्र तन्त्र तथा औषधि का बल- यदि शत्रु स्वर, चक्र तथा भूबल के योग करने पर भी बराबर या अधिक हो, वहां स्थान, सेना तथा बल एवं विज्ञान युक्त शत्रु के अभङ्गत्व, अभेदत्व, असाध्यात्व तथा दुर्जयत्व की स्थिति में स्वपक्ष के राजा के विजय निमित्त मन्त्रयन्त्रादि से बल देना चाहिए। इसमें मन्त्रबल, तन्त्रबल, यन्त्रबल तथा औषधि के बल से बलाधिक्य का साधन करना कहा है। एतदर्थ १. रणाभिषेक २. रणदीक्षा ३. रणार्चा ४. रणकङ्कण ५. वीरपट्ट ६. रणपट्ट ७. जयपट्ट ८. मेखला ९. कवचन्यास १०. मुद्रारक्षा ११. कंचुक १२. औषधि १३. तिलक १४. घुटिका १५. कपर्दिका १६. योग घटित शस्त्रास्त्र १७. शस्त्ररक्षा १८. भोटन १९. विविधशस्त्रलेप २०. बाणों के पिच्छ बन्धन, २१. त्रास देने वाले २२. काहला २३. ढक्का २४. मुरज २५. भस्म साधन २६. मा रम २७. मोहन २८. स्तम्भन २९. विद्वेषण ३०. उच्चाटन ३१. वशीकरण ३२. पताका ३३. पिच्छक ३४. परकृत्या विनाशक यन्त्र ३५. अपने सैन्यबल को सभी प्रकार के उपद्रव से बचाने के लिए शान्ति के उपाय जय चाहने वाले राजा को करना एवं कराना चाहिए। इन समस्त बलों को जानकर जो मनुष्य युद्ध करता है, वह इन्द्रतुल्य पराक्रमी शत्रु को भी परास्त कर सकता है। उसके लिए असाप्य कुछ भी नहीं रहता।

ज्योतिष का स्वर-शास्त्रीय निवेश-

ज्योतिष शास्त्र जहाँ आकाशस्थ ग्रहों तथा उनकी गति आदि से उत्पन्न परिणामों के आधार पर विचार करता है वहीं ग्रहों द्वारा नियंत्रित मानव शरीर में संचरित प्राणवायु के

प्रवाह द्वारा भी अनेक प्रकार के शुभाशुभ का विवेचन करता है। 'स्वर' शब्द से यहाँ दोनों प्रकार के स्वरों का ग्रहण किया गया है।

१. नासिका से श्वांस के प्रवेश और निर्गम से संबंधित स्वर।

२. अकारादि पांच प्रमुख स्वर।

इन दोनों के माध्यम से तथा शरीरस्थ सभी नाड़ियों एवं संबंधित वायु में प्रवाह से पञ्च महाभूतों एवं उनसे संबंधित ग्रहों से तथा विभिन्न चक्रों के माध्यम से व्यथाओं के प्रभावों का आकलन कर उनके प्रभावों का निरूपण किया गया है। यह विवेचन स्वर शास्त्र के ग्रन्थ नरपति जयचर्या के आधार पर किया गया है।

●●

वास्तुविद्या

प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी

वैदिक वाङ्गमय में वास्तु का सामान्य अर्थ गृह या भवन है तथा विशेष अर्थ-गृह निर्माण हेतु उपयुक्त भूखण्ड। वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति "वस्" वासे धातु से हुई है। यह "वस्" धातु किसी एक स्थान में वास करने की द्योतक है। उणादि सूत्र (वसेस्तुन् १-७८) के अनुसार इसमें 'तुन्' प्रत्यय लगाया गया है। प्रथम अक्षर 'व' के ह्रस्व 'अ' को दीर्घ 'आ' इसलिए किया गया है क्योंकि इस प्रत्यय को 'णित्' माना जाता है। (अगारे णिच्च १-७९)। वास्तु का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ है-**वसन्त्यस्मिन्नितिवास्तुः**। अर्थात् वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हैं, उसे वास्तु कहते हैं।

वास्तु के वैदिक देवता का नाम वास्तोष्पति है। ऋग्वेद के दो सूक्तों में वास्तु तथा भवन पर शासन करने वाले देवता "वास्तोष्पति"[1] से अपने सकल कल्याण की कामना से बार-बार प्रार्थना की गई है।

वास्तु शास्त्र के प्रवर्तक प्राचीनाचार्य

वास्तु विद्या की शास्त्रीय परम्परा की प्राचीनता विभिन्न प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों में संकलित वास्तु शास्त्रोंपदेष्टाओं के नामों की लम्बी-लम्बी सूचियों से स्वयं सिद्ध है।

मत्स्य पुराण की सूची में वास्तु शास्त्र के प्रवर्तक अठारह आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है-

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः।।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।। २५१, २-३.

अर्थात् १. भृगु २. अत्रि ३. वसिष्ठ ४. विश्वकर्मा ५. मय ६. नारद ७. नग्नजित् ८. विशालाक्ष ९. पुरन्दर १०. ब्रह्म ११. कुमार १२. नन्दीश १३. शौनक १४. गर्ग १५. वासुदेव १६. अनिरुद्ध १७. शुक्र १८. बृहस्पति। ये अठारह वास्तुशास्त्रोपदेशक मत्स्यपुराण के अनुसार हुए हैं। "अग्नि पुराण" में वास्तुशास्त्रोपदेशकों की सूची इससे भी अधिक लम्बी है जिसमें पच्चीस आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है।

व्यस्तानि मुनिभिर्लोके पञ्चविंशतिसंख्यया।
हयशीर्षं तन्त्रमाद्यं तन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम्।।

---

१. ऋग्वेद, ७-५४ तथा ५५ सूक्त।

वैभवं पौष्करं तन्त्रं प्रह्लादं गार्ग्यगालवम्।
नारदीयं च सम्प्रश्नं शण्डिल्यं वैश्वकं तथा।।
सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वसिष्ठं ज्ञान-सागरम्।
स्वायम्भुवं कापिलञ्च तार्क्ष्य-नारायणीयकम्।।
आत्रेयं नारसिंहाख्यमानन्दाख्यं तथारुणकम्।
बौधायनं तथार्षं तु विश्वोक्तं तस्य सारतः। ३६. १-५.

"मानसार" की सूची और भी लम्बी है जिसमें वास्तु शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य बत्तीस गिनाये गए हैं-

विश्वकर्मा च विश्वेशः विश्वसारः प्रबोधकः।
वृतश्चैव मयश्चैव त्वष्टा चैव मनुर्नलः।।
मानविन्मान-कल्पश्च मानसारो बहुश्रुतः।
प्रष्टा च मानबोधश्च विश्वबोधो नयस्तथा।।
आदिसारो विशालाक्षः विश्वकाश्यप एव च।
वास्तुबोधो महातन्त्रों वास्तुविद्यापतिस्तथा।।
पाराशरीयकश्चैव कालयूपो महाऋषिः।
चैत्याख्यः चित्रकः आवर्यः साधकसारसहितः।
ते एव ऋषयः प्रोक्ता द्वात्रिंशति संख्यया।। ६८. ५-६.

"विश्वकर्मा प्रकाश" में वास्तु के प्रवर्तक आचार्यों के बारे में संक्षिप्त उल्लेख है-

इति प्रोक्तं वास्तुशास्त्रं पूर्वं गर्गाय धीमते।
गर्गात्पराशरः प्राप्तस्तस्मात्प्राप्तो वृहद्रथः।।
वृहद्रथाद्विश्वकर्मा प्राप्तवान् वास्तुशास्त्रकम्।
स एव विश्वकर्मा जगतो हितायाकथयत्पुनः।।

इस प्रकार "विश्वकर्माप्रकाश" में उल्लिखित नामों के अनुसार गर्ग, पराशर, वृहद्रथ तथा विश्वकर्मा ये वास्तु शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हुए।

उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है। कि मत्स्यपुराणोक्त वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं की नामावली की अपेक्षा "अग्नि पुराण" तथा "मानसार" की सूचियाँ भ्रष्ट और काल्पनिक हैं जिनमें पुनरुक्ति दोष भी है। इन सूचियों के आचार्यों में कुछ ज्ञान-विज्ञान के देवता, कुछ वैदिक या पौराणिक ऋषि, कुछ असुर और कुछ सामान्य शिल्पज्ञ आचार्य हैं।

वेदों में वास्तु विद्या

वैदिक काल में वास्तु विद्या अपने विकसित स्वरूप में थी। वैदिक वाङ्ग्मय (वेदों में, ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा उपनिषदों में) में वास्तु कला से संबंधित अनेक प्रसंग एवं शब्द इस बात के साक्ष्य हैं, जैसे-स्कम्भ (घरों की छत आदि को टिकाने वाले स्तम्भ), इन्द्र को स्कभीयान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्तम्भ या खम्बे का स्वामी कहा गया है।[1] घर के भिन्न-भिन्न भागों को खम्भों पर (स्तम्भें पर) टिकाते थे।[2] एक मन्त्र में मजबूत आधार पर स्थापित किये गए तीन खम्भों का वर्णन है, उनके ऊपर तिकोनी या ढोलकाकार छत बनाई जाती थी।[3] स्तम्भ की नींव को 'धरुण' के नाम से जाना जाता था[4]।

वैदिक वास्तु-विन्यास-वेदों में भवन या घर के पर्याय के रूप में कई शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे- गृह, हर्म्य, सदन, दम, दुरोण, अस्त, शरण तथा पस्त्या। इस भवन के चार प्रमुख भाग होते थे। प्रथम भाग सामने के आँगन सहित गृह द्वार, दूसरा भाग सदस या स्थायिका (बैठक) थी जिसे सभा और कालान्तर में आस्थान मण्डप भी कहा गया है। राजमहलों का यह वह भाग था जिसमें राजदरबार का लगना तथा अतिथिस्वागतस्थल होता था। घर का तृतीय भाग पत्नी सदन हुआ करता था बाद में जिसे अन्तःपुर कहा जाने लगा। घर का चौथा भाग अग्निशाला या यज्ञशाला कहलाता था, जहाँ श्रौत अग्नियों का आधान किया जाता था इसीलिए इसे अग्निशरण भी कहते थे। कालान्तर में यही अग्निशरण देवगृह की संज्ञा से अभिहित हुआ। गृह या प्रासाद निर्माण की यह स्पष्ट योजना भारतीय परम्परा में निरन्तर चलती रही। गृह-निर्माण छोटे या बड़े अनेक रूपों में किया जाता था। बड़े गृह को बृहत्मान[5] (बृहन्तंमानंवरुण स्वधावः) तथा छोटे गृह को शाला कहा जाता था। अथर्ववेद के दो शाला सूक्तों में[6] घर के अन्य भागों का वर्णन किया गया है। घर के समस्त सौन्दर्य की पराकाष्ठा की अभिव्यक्ति के लिए उसकी तुलना (सद्यः विवाहिता) नववधू से की गई है[7]। उस युग में जब कोई गृहपति घर का निर्माण करवाता था तो उसके मानस में यही होता था कि यह शाला गोमती, अश्वावती, पयस्वती, घृतवती, ऊर्जस्वती और सुनृतावती बनकर मेरे लिए कल्याणकारी और महान सौभाग्य को प्रदान करने वाली होगी-

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।।[8]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार घर के दो भाग होते थे, एक पूर्वार्ध या सदस् जहाँ प्रायः पुरुषों का उठना-बैठना रहता था। इस सदस् से एक बड़ा स्तम्भ खड़ा किया जाता था,

---

१. ऋग्वेद, १०.११.५ २. ऋग्वेद, ८.४१.१० ३. ऋग्वेद, १.३४.२ ४. तत्रैव, १०.४४.४
५. तत्रैव, ७.८८.५ ६. अथर्ववेद, ३.११ तथा ६.३ ७. तत्रैव, ६.३.३५ ८. अथर्ववेद, ३.१२.२

जिसे वरसिष्ठ स्थूणाराज' का नाम दिया गया है। घर के पीछे वाले हिस्से में पत्नी सदन या अन्तःपुर बनाया जाता था। इसकी रचना भी पर्याप्त लम्बाई चौड़ाई में की जाती थी। जैसे सुन्दर स्त्री वरीयसी और पृथुश्रोणि होती है उसी प्रकार इस शाला के उत्तरार्ध भाग को भी बनाया जाता था। इसी बात को शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार कहा है-**अथ यत् पश्चात् वरीयसी भवति। पश्चात् वरीयसी पृथुश्रोणि वै योषां प्रशंसन्ति।**[२]

घर की नींव बहुत पक्की (ध्रुवा) होती थी अर्थात् आधार या बुनियाद को अत्यधिक मजबूती दी जाती थी।

अथर्ववेद तथा शुल्व सूत्र में वास्तु

वास्तु शास्त्रीय सैद्धान्तिक विवेचन तथा निर्माण विधियों के सर्वाधिक प्राचीन अंश अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं। इनमें स्तम्भ रचना विधि, उन स्तम्भों पर आश्रित परस्पर प्रतिस्थापित शहतीरों से उनको जोड़ने तथा उन पर बाँस की बल्लियों को छाकर छत बनाने और उसके ऊपर घास-फूस डालकर उसे छाने (ढकने) का वर्णन है। उसमें भवन की वैदिक गोष्ठी शाला, भण्डार गृह, अन्तःपुर, यज्ञशाला तथा अतिथि गृह जैसे घर महत्वपूर्ण भागों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अतः अथर्ववेद ऐसा सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। जिसमें वास्तुशास्त्रीय निर्माण विधि का सैद्धान्तिक उल्लेख मिलता है।

यज्ञ-यागादि विविध धार्मिक अनुष्ठानों के लिए आवश्यक यज्ञवेदियों के विभिन्न रूपों की निर्माण विधियों के विषय में ध्यानाकर्षक सूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं। इनमें इस बात को रेखांकित किया गया है कि विभिन्न तलों पर कितनी ईंटों की चिनाई करनी चाहिए? उन ईंटों की लम्बाई-चौड़ाई का परिमाप क्या होना चाहिए? विभिन्न दोषों से रहित ईंटों की चिनाई करने के लिए विभिन्न स्तरों का विभिन्न भागों में विभाजन किस प्रकार से करना चाहिए? बौधायन तथा आपस्तम्भ शुल्व सूत्रों में श्येनचित्, कंकचित् एवं द्रोणचित् आदि की निर्माण विधियों का सूक्ष्म तथा विशद विवेचन किया गया है।

विविध शास्त्रों में वास्तुविद्या

वास्तु के निर्माण संबंधी सिद्धान्तों एवं प्रविधियों का ज्ञान अनेक प्रकार के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। जैसे अथर्ववेद तथा शुल्वसूत्र साहित्य, कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र तथा शुक्राचार्य प्रणीत शुक्रनीति, नाट्य शास्त्र जैसे नाट्यकला प्रतिपादक ग्रन्थ एवं पुराण, तथा भुक्ति और मुक्ति का प्रतिपादन करने वाले आगम ग्रन्थ। इन ग्रन्थों में वास्तु शास्त्रीय सैद्धान्तिक सामग्री प्रसंगवश मिल जाती है। परन्तु इनके अतिरिक्त वास्तु कला संबंधी तीन प्राचीन परम्परायें हैं-१. शैव, २. ब्राह्म, तथा ३. माय। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि इन परम्पराओं

---

१. शतपथब्राह्मण ३.५.१.१ २. ३.५.१.११

का उल्लेख करने वाला साहित्य उस युग में लिखा गया था जिस समय ये परम्परायें परस्पर इतनी प्रभावित हो चुकी थीं कि उनके भेद सूचक विशेष लक्षण समाप्त हो चुके थे। इन्हीं परम्पराओं के आधार पर वास्तुकला के अत्यन्त विशाल साहित्य की रचना की गई थी।

वास्तुशास्त्र के ऐतिहासिक महत्व के कुछ ऐसे अवास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ हैं जिनका रचना काल निश्चित रूप से ज्ञात है। शुक्रनीति तथा कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र ऐसे ही ग्रन्थ हैं। अतएव वास्तु कला से संबंधित जो सामग्री इनमें वर्णित है उसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। इतिहासज्ञों के अनुसार ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नन्दवंश को पराजित किया था। यदि यह मान लिया जाय कि कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में **उशनस** के मतावलम्बियों के मत का उल्लेख शुक्रनीति के लेख के मत के अनुयायियों के मत का परिचायक है तो शुक्राचार्य अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य के पूववर्ती शास्त्रकार सिद्ध होते हैं। इस ग्रन्थ में चौथी शताब्दी ई०पू० में ज्ञात वास्तुशास्त्र का अस्पष्ट एवं धूमिलरूप मिलता है।

आचार्य शुक्रप्रणीत 'शुक्रनीति' में देवमन्दिर एवं राजप्रसाद के समकक्ष अन्य प्रकार के भवनों के निर्माण की विधियों, नियमों तथा उपनियमों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें दुर्ग रक्षित नगरों एवं दुर्गों के निर्माण प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। चाणक्य के समय में वास्तु कला विज्ञान ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। वास्तु कला के कुशल वैज्ञानिकों का वर्णन इन्होंने स्वकृत अर्थशास्त्र ग्रन्थ के इक्कीसवें अध्याय में किया है। कौटिल्य ने इस ग्रन्थ में एक राज्य में भूमि विभाजन प्रकार की ग्राम-निवेश एवं पुर-निवेश (नगर-निवेश) के विविध नियमों, उपनियमों तथा विधियों को विस्तार से प्रस्तुत किया है।

आगम साहित्य में वास्तु

हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों के पुरातात्विक भग्नावशेषों से यह सिद्ध होता है कि शैव आगम और वास्तुकला में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतः यह अनुमान तर्कसंगत है कि शैवागमों में निरूपित वास्तुकला की निर्माण विधि सर्वाधिक प्राचीन है। शैवागमों की संख्या ९२ है। सामान्यतः एक शैवागम के चार पाद अथवा भाग होते हैं। **ज्ञानपाद-योगपाद-चर्यापाद** तथा **क्रियापाद** क्रियापाद में वास्तुकला का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरण स्वरूप-कामिका आगम में कुल ७५ अध्याय हैं इनमें से १६ अध्यायों का विषय वास्तुकला एवं मूर्तिरचना कला से जुड़ा है। कारणागम में तृतीय अध्याय से लेकर ६ अध्यायों तक वास्तु कला के सिद्धान्तों एवं प्रविधियों का वर्णन है। सुप्रभेदागम के लगभग १५ अध्यायों में वास्तु विद्या का वर्णन किया गया है। काश्यप रचित अंशुमद्भेद भी वास्तुविद्या विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। ऐसा लगता है द्वैत शैवमत के प्रतिपादक अंशुमान आगम में लिखित प्राचीन सामग्री के आधार पर इस ग्रन्थ को लिखा गया था।

पौराणिक साहित्य में वास्तु

पौराणिक साहित्य का अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि लगभग बारह पुराणों में वास्तु कला संबंधी वर्णन मिलता है जिनमें मुख्यतः मत्स्यपुराण के आठ अध्यायों में वास्तुविद्या का वर्णन किया गया है। गरुड़ पुराण में वास्तुविद्या प्रतिपादक ४ अध्याय हैं। अग्निपुराण में वास्तुकला का वर्णन केवल तीन अध्यायों में ही किया गया है। भविष्य पुराण के एक अध्याय में वास्तुकला का उल्लेख किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इस वास्तु विद्या का प्रतिपादन ४३ अध्यायों में किया गया है, जिसमें वास्तु की समस्त विधाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

प्राचीन साहित्य में वास्तु

आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण के किष्किन्धाकाण्ड के ५०वें सर्ग से लेकर ५३वें सर्ग तक भूगर्भ में वर्तमान गिरिदुर्ग का बड़ा मनोहारी वर्णन किया गया है। इसकी रचना मय ने अपनी लोकोत्तर शक्तियों से की थी। सुन्दरकाण्ड में आदि कवि ने लिखा है कि लंका के बने हुए रावण के भवनों का सौन्दर्य तथा सर्वाङ्गीण रमणीयता अत्यधिक विलक्षण थी। महाभारत के सभापर्व के प्रथम अध्याय में वास्तुशास्त्र के जनक विश्वकर्मा और मय का वर्णन किया गया है। महाभारत में लिखा है कि ''देवताओं में जो प्रतिष्ठा विश्वकर्मा की है असुरों में वही प्रतिष्ठा मय की है।'' विलक्षण सौन्दर्य से युक्त पाण्डवों के सभा भवन की रचना मय ने ही की थी, जिसमें जल के स्थान पर स्थल और द्वार के स्थान पर दीवार दिखाई देती थी।

नाट्यशास्त्र में वास्तु

नाट्य शास्त्र के जनक भरतमुनि ने स्वरचित नाट्यशास्त्र में वास्तु नियमों के अनुसार रंगशाला की रचनाविधि के नियमों को स्पष्ट करते हुए उस के महत्व को भी प्रदर्शित किया है। भरतमुनि ने आकार के अनुसार रंगशाला को तीन श्रेणियों में रखा है। १. वर्गाकार, २. आयताकार और ३. त्रिकोणाकार। पुनः इन तीन आकारों के तीन परिमाण भेद भी बताए हैं, विशाल, मध्यम, लघु। इस प्रकार वास्तुकला सम्बन्धी सामान्य बातों से लेकर गृह-भूमि का चुनाव, उसका शोधन, विस्तार के परिमाण निर्धारण, नाट्यशाला का नक्शा, शिलान्यास विधि, भित्ति रचना, द्वारों से युक्त प्रसाधन प्रकोष्ठ, रंगमंच का चबूतरा, चार स्तम्भों पर आधारित रंगमंच के पार्श्व भागों में पूरी लम्बाई में बने हुए छज्जे या प्रग्रीव। भरतमुनि ने यह भी निर्देश किया है कि रंगमंच का फर्श कच्छप अथवा मच्छली की पीठ के समान वर्तुलाकार न होकर-दर्पण की भांति समतल होना चाहिए।

पूर्वमध्यकालीन युग में वास्तुविद्या

पूर्वमध्यकालीन युग में भारतीय ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सक्रियता निरन्तर बनी रही। विदेशी आक्रमणों की मार से भारत वर्ष को राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भारी आघात पहुँचा था। परन्तु भारतीय संस्कृति के पाये इतने दृढ़ एवं सशक्त थे कि आघात की भीषणता की तुलना में भारतीय चिन्तनधारा एवं भारतीय संस्कृति को कलात्मक दृष्टि से क्षति तो हुई; परन्तु सुरक्षात्मक प्रतिरोध की दिशा में भी नाना प्रयास होने लगे। प्राचीन ग्रन्थों एवं सांस्कृतिक शिष्टपरम्पराओं के संरक्षण का सराहनीय प्रयास हुआ। वास्तु एवं शिल्प शास्त्रीय विवेचन में इस युग में प्रचुर मात्रा में मौलिक ग्रन्थों एवं रचनाओं का प्रणयन हुआ। इस युग के वास्तु विद्या विशारदों ने पूर्वकालिक महनीय परम्पराओं का सम्यक् निर्वहन और संकलन करके नूतन उद्‌भावनाओं और प्रयोगों के प्रति अपनी मजबूत इच्छाशक्ति तथा दृढ़ आस्था को अभिव्यक्त किया है। प्राचीन और नवीन मान्यताओं और परम्पराओं का समन्वयात्मक निर्वाह जितना इस युग में हुआ है उतना अन्य किसी भी युग में नहीं हुआ है। जो कुछ जीर्ण-शीर्णावस्था में था उसको भी तत्कालीन वास्तु एवं शिल्प शास्त्रोपदेष्टाओं ने ऐसा भव्य एवं मनोहारी रूप दिया है कि **"पुरा नवं भवति"** की उक्ति यहाँ पूर्ण रूपेण चरितार्थ होती है। यद्यपि इस युग के वास्तु एवं स्थापत्य संबंधी शास्त्रीय ग्रन्थों की कोई क्रमबद्ध प्रामाणिक सूची सम्प्रति उपलब्ध नहीं है क्योंकि उस युग के वास्तुशास्त्रीय "कर्तृत्व" का बहुलांश या तो अज्ञात है, अथवा ज्ञात का भी अधिकांश खण्डित, अप्रकाशित और अप्राप्य है। उनमें से कुछ विशिष्ट ग्रन्थों की चर्चा वास्तु शास्त्र की गुप्तोत्तर परम्परा के ज्ञान के लिए आवश्यक है। **"मानसार"** और **"मयमत"** ग्रन्थ तो गुप्तोत्तर काल के हैं किन्तु इनमें वास्तु और शिल्प की अत्यन्त प्राचीन एवं महती परम्परा सुरक्षित है। ग्यारहवीं सदी में धाराधिपति भोज विरचित "समराङ्गण-सूत्रधार" तो वास्तु शास्त्रीय नियमोपनियमों एवं प्रविधियों विस्तृत जानकारी उपलब्ध करवाने वाला अनुपम ग्रन्थ है। वास्तव में यह काल खण्ड भौतिक विज्ञान और मानसिक पवित्रता दोनों के मेल का युग था।

वस्तुतः वास्तु विद्या की अनूठी युक्तियाँ सर्वविध-सुरक्षा एवं सुविधा के लिए ही थीं। और इनमें सामान्यतया उन्हीं अनुभूत परम्पराओं का संकलन था, जो युगों-युगों से भारतीय वास्तु-विशारदों के व्यवहार में थीं। इन शास्त्रीय युक्तियों और विधानों से वास्तु विद्या को सामाजिक उत्थान के लिए एक सशक्त माध्यम तथा अत्यधिक व्यवहारोपयोगी बनने में सुविधा मिली। वास्तुकलाविद् स्थपतियों को आदेश था कि वे भवन-निर्माण-विधान में सौन्दर्य-भावना की उपेक्षा न करें। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि व्यक्तिगत सौन्दर्यानुभूति ही सौन्दर्य का मानदण्ड नहीं है अपितु शास्त्रीय परम्परा तथा सामाजिक भावनाओं के आधार पर जिसे सुन्दर कहा जा सके वही सुन्दरता का मानदण्ड है। "शुक्रनीति" में सौन्दर्य एवं रमणीयता की व्याख्या इसी दृष्टि से की गई है-

शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि।
शास्त्रमानविहीनं यत्तदरम्यं विपश्चिताम्।। ४/५२७

वस्तुतः भारतीय दृष्टिकोण में (वैदिक चिन्तन के अनुसार) कलात्मक सौन्दर्य की पूर्णता आध्यात्मिक सौन्दर्य के साथ ही है। भारतीय वास्तु विद्या का उद्देश्य सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ देव-सान्निध्यानुभूति भी है। भारतीय वास्तुकला के प्रति इस युग की उपयोगितावादी दृष्टि का ही यह परिणाम है कि गुप्तकालीन सौन्दर्यनुभूति, प्रक्रिया और प्रवृत्ति क़ा स्वाभाविक विकास है, जिसमें भौतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक उत्कर्ष का समन्वय है।

वास्तुशास्त्र के मूल आधार पञ्चमहाभूत

प्राच्य चिन्तन धारा के अनुसार समस्त जीव एवं जगत् की रचना पञ्चमहाभूतों से ही हुई है। अतः जीव और ब्राह्मण्ड के बीच पाँच भौतिक सन्तुलन से ही प्राणी में निरन्तर सक्रियता एवं स्फूर्ति की वृद्धि के साथ-साथ मानव मात्र की शारीरिक, मानसिक आध्यात्मिक क्षमताओं का सहज विकास होता है। पाञ्चभौतिक असन्तुलन से निष्क्रियता की वृद्धि होती है जिससे प्राणी निराशा एवं हताशा के भंवर में फंस कर रह जाता है। वास्तुशास्त्र में प्रकृति का अनुसरण करते हुए गुरुत्वशक्ति, चुम्बकीय शक्ति एवं सौर ऊर्जा का समुचित प्रबन्ध ान तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पञ्चमहाभूतों के साथ उचित तालमेल, जिससे जीवन स्वतः स्फूर्त, रोगमुक्त, सुरक्षित तथा सुविधामय हो, इस महनीय उद्देश्य की पूर्ति के मूल आधार हैं।

पृथ्वी-संसार में उत्पन्न समस्त प्राणियों को मातृवत् आश्रय देने के कारण यह वसुन्धरा हमारी माता है। पञ्चमहाभूतों के आनुपातिक सम्मिश्रण से निर्मित प्राणी के शरीर में बहुलांश पृथ्वी तत्व का ही होता है। यह पृथ्वी गुरुत्वशक्ति एवं चुम्बकीय शक्ति का केन्द्र है। वैज्ञानिकों के अनुसार लगभग साढ़े चार अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी की रचना हुई थी। तब से लेकर लगातार अपने अक्षीय एवं कक्षीय भ्रमण के कारण ही पृथ्वी को गुरुत्व एवं चुम्बकीय शक्ति की प्राप्ति हुई है। गुरुत्व शक्ति तथा चुम्बकीय शक्ति द्वारा ही पृथ्वी हमारे जीवन को गतिशीलता तथा अपने धरातल पर निर्मित भवनों को ठोस आधार प्रदान करती है। अतः भवन निर्माण में इस महत्वपूर्ण पृथ्वी तत्व का विस्तार से विचार किया जाता है।

जल-पञ्चमहाभूतों में पृथ्वी के अनन्तर जल हमारे जीवन के लिए सबसे महत्वपूर्ण हैं। धरती पर अधिकतम लोगों का वास ऐसे स्थान पर है जहाँ पर्याप्त मात्रा में जल उपलब्ध होता है। इसी सन्दर्भ में भवन निर्माण में जल की उपयोगिता के साथ-साथ भवनवासियों को जल की उपलब्धि उचित मात्रा में हो इस हेतु जलापूर्ति एवं भण्डारण के विविध संसाधनों की उपयुक्त स्थिति के साथ-साथ जल का निकास कहाँ से हो? इत्यादि का विचार इस शास्त्र में किया जाता है।

तेज (अग्नि)-शरीर रचना में जल तत्व के बाद तेज (अग्नि) का क्रम आता है। विश्व में जितनी गति या स्पन्दन है वह तेज (अग्नि) के कारण ही है। पञ्चमहाभूतों से बना हुआ शरीर तो काष्ठ-पञ्जर को जोड़कर बनाये गए निर्जीव शकट के समान है। यह अग्नि ही है जो उसमें चेतना का संचार करती है। अग्नि या तेज का मुख्य स्रोत सूर्य है। सूर्य की जीवनदायिनी रश्मियों का वास्तुशास्त्र में सर्वाधिक महत्व है। भवन निर्माण करते समय सूर्य के प्रकाश, ताप तथा ऊर्जा की समुचित प्राप्ति को ध्यान में रखते हुए भूखण्ड की स्थिति के साथ-साथ मुख्य द्वार, प्रवेश द्वार, बरामदा, रसोईघर, खिड़कियों झरोखों तथा खुले स्थान आदि का विचार अग्नितत्व की समुचित उपलब्धि के लिए ही किया जाता है।

वायु-पृथ्वी पर न केवल स्थलचर, नभचर और जलचर अपितु पेड़-पौधे व वनस्पति भी वायु के सहारे ही जीवित रहते हैं। वैदिक विज्ञान के अनुयायियों ने वायु को पाँच प्रकार का माना है जो शरीर का संचालन करता है। यह वायु जब तक शरीर में सक्रिय रहता है तब तक जीवन चलता है। वायु की इस महत्ता को देखते हुए वास्तुशास्त्र में भवन-निर्माण में विशुद्ध वायु के समुचित आवागमन के लिए भूखण्ड के आस-पास के वातावरण, खुली जगह, खिड़कियों, दरवाजों तथा छल की ऊँचाई आदि के विचार के साथ-साथ पर्यावरण की दृष्टि से वृक्षारोपण का विचार भी किया जाता है, जिससे भवन वासियों को शुद्धवायु प्राप्त हो।

आकाश-चारों महाभूतों को अपने में व्याप्त करके रहने वाले आकाश तत्व का अपना विशेष महत्व है। अवकाश प्रदान करना आकाश का स्वभाव है। प्रत्येक क्रिया या गतिविधि के लिए आकाश अर्थात् खुला स्थान चाहिए।

जिस प्रकार प्राणी के शरीर के समस्त अंग अपनी-अपनी स्वाभाविक क्रियायें आकाश की उपलब्धि एवं सहायता से ही करते हैं उसी प्रकार भवन के भीतर एवं बाहर समस्त गतिविधियाँ आकाश की व्यवस्थित उपलब्धि से ही चलती है। वस्तुतः मानवजीवन में खुले आसमान का महत्व निर्विवाद है। इसी कारण वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण के सिद्धान्तों में भवन में चारों ओर तथा भवन के मध्य खुला स्थान छोड़ने के निर्देश के साथ-साथ एकशाला, द्विशाला, त्रिशाला, चतुःशाला आदि भवनों की ऊँचाई एवं छत की ऊँचाई आदि का विशेष विचार किया जाता है। जिससे आकाश तत्व का भवन निर्माण में समुचित उपयोग किया जा सके।

दिशा की अनुकूलता का विचार

निवास हेतु उपयुक्त ग्राम या नगर का चयन करने के अनन्तर ग्राम या नगर के किस **हिस्से (किस दिशा) में** किस व्यक्ति को आवास हेतु भूखण्ड का चयन करना चाहिए? **इसका विचार भी दो तरह से** ही किया जाता है-

१. **व्यक्ति की नाम राशि के अनुसार**

२. व्यक्ति के वर्ग के आधार पर।

१. **व्यक्ति की नाम राशि के अनुसार ग्राम या नगर की दिशा**-व्यक्ति की नाम राशि के अनुसार ग्राम या नगर की आठों दिशाओं में से मनोऽनुकूल एवं उपयुक्त दिशा का चुनाव किया जाता है। ग्राम या नगर के दक्षिण भाग में कन्या, नैर्ऋत्य में कर्क, पश्चिम में धनु, वायव्य में तुला, उत्तर में मेष, ईशान में कुम्भ, पूर्व में वृश्चिक तथा आग्रेय में मीन राशि वालों को अपने आवास हेतु भूखण्ड नहीं चुनना चाहिए। शेष राशि वालों को ग्राम या नगर के मध्य में निवास नहीं करना चाहिए।

२. **व्यक्ति के वर्ग के आधार पर ग्राम या नगर की दिशा**-पूर्वादि आठों दिशाओं में अवर्गादि आठों वर्ग क्रमशः बली होते हैं। अपने वर्ग से पञ्चम वर्ग शत्रुवर्ग होता है। जैसे७ गरुड़ के वर्ग से पञ्चम वर्ग सर्प का, मार्जार के वर्ग से पञ्चम वर्ग मूषक का, सिंह के वर्ग से पञ्चम मृग का, श्वान के वर्ग से पञ्चम वर्ग मेष का, सर्प के वर्ग से पञ्चम वर्ग गरुड़ का, मूषक के वर्ग से पञ्चम वर्ग मार्जार का, मृग के वर्ग से पञ्चम वर्ग सिंह का और मेष के वर्ग से पञ्चम वर्ग श्वान का शत्रु वर्ग होता है। अतः निवासेच्छु व्यक्ति को ध्यान रखना चाहिए कि अपने वर्ग से पञ्चम वर्ग की दिशा (शत्रु वर्ग की दिशा) को छोड़कर ग्राम, या नगर के किसी भाग में आवास का चयन करना चाहिए। इस प्रकार जो दिशा उपरोक्त दोनों तरीकों से विचार करने पर शुभ आये, ग्राम, या नगर की उसी दिशा में निवास का चयन करना श्रेष्ठ होता है।

उदाहरण-मान लो विचार करना है किसी विनोद कुमार के लिये गुड़गाँव के किस भाग में रहना उपयुक्त होगा? अब चूँकि वृष, मिथुन, सिंह एवं मकर राशि वालों को नगर के मध्य भाग में नहीं रहना चाहिए, श्री विनोद कुमार की नाम राशि वृष से स्पष्ट हो गया कि वे नगर के मध्यभाग को छोड़कर नगर के शेष किसी हिस्से में ही रह सकते हैं। श्री विनोद कुमार जी "य वर्ग" में आते हैं अतः वर्ग के आधार पर नगर या ग्राम के उत्तरी हिस्से में निवास करना इनके लिए सर्वाधिक उपयुक्त रहेगा। लेकिन अगर ये नगर के उत्तरी हिस्से में किसी कारणवश नहीं रह सकते हों तो अपने वर्ग से पाँचवें वर्ग "च वर्ग" की दिशा (दक्षिण दिशा) वाले हिस्से को छोड़कर अन्य किसी भी हिस्से में रहें तो लाभदायक होगा। चूँकि कुछ आचार्यों का मत है कि सम्भव हो तो अपने शत्रुवर्ग के पूर्वापरवर्ती वर्गों की दिशाओं को भी छोड़ देना चाहिए। इस तरह यदि सम्भव हो तो इन्हें अपने शत्रु वर्ग की पूर्वापरवर्ती आग्नेय तथा नैर्ऋत्य दिशाओं वाले भाग को भी छोड़ देना चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्राम या नगर में वास की अनुकूलता का विचार करने की अन्य विधियाँ भी है।

(क) ग्राम के नामाक्षर की वर्ग संख्या के अनुसार ग्राम के नामाक्षर की वर्ग संख्या को ४ से गुणा करके मनुष्य के नामाक्षर की वर्ग संख्या को उसमें जोड़ें। योगफल में

सात ७ का भाग देने पर यदि एक १ शेष बचे तो उस ग्राम या नगर में वास करने से पुत्र लाभ, २ शेष बचे तो धन प्राप्ति, ३ शेष बचे तो व्यय, ४ शेष बचे तो आयुलाभ, ५ शेष बचे तो शत्रुनाश, ६ शेष बचे तो राज्य लाभ और ७ शेष बचे तो मरण होता है।

उदाहरण- मान लीजिए पंकज शर्मा को देहरादूर में निवास करना है तो देहरादून के प्रथम नामाक्षर की वर्ग संख्या ५ को ४ से गुणा करके पंकज के प्रथम नामाक्षर की वर्ग संख्या ६ को उसमें जोड़कर (५ × ४ + ६ = २६), योगफल को सात का भाग दिया तो पांच शेष बचा इसलिए उक्त नगर में निवास करने से श्री पंकज शर्मा के शत्रुओं का नाश होगा अर्थात् वास लाभदायक होगा।[1]

इस प्रकार वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार गृहस्वामी के निवास हेतु उपयुक्त ग्राम या नगर तथा ग्राम या नगर के विशिष्ट भाग का निर्णय करने के उपरान्त गृहस्वामी के लिए कल्याणकारी भूमि का चयन भी वास्तुशास्त्रीय नियमानुसार करें।

(ख) **ग्राम वास नक्षत्र चक्र एवं नराकार चक्र द्वारा ग्रामवास फल विचार**-वास्तुशास्त्रीय अवकहड़ाचक्रानुसार ग्राम के नक्षत्र से निवास के इच्छुक व्यक्ति के नाम नक्षत्र तक गिनने पर इसका विचार किया जाता है। इस तरह ग्राम के नक्षत्र से गिनने पर व्यक्ति का नक्षत्र यदि क्रमशः पहले पाँच नक्षत्रों में पड़े तो लाभ, उससे आगे के तीन नक्षत्रों में पड़े तो धनक्षय, उससे आगे के पाँच नक्षत्रों में पड़े तो धन-धान्य की प्राप्ति, उससे आगे वाले छः नक्षत्रों में पड़े तो स्त्री हानि, उससे अग्रिम एक नक्षत्र हो तो पद हानि, उससे आगे के चार नक्षत्रों में पड़े तो सम्पत्ति लाभ, उससे आगे का एक नक्षत्र हो तो भय, उससे आगे एक अशुभ उससे आगे एक में भय की प्राप्ति होती है।

ग्राम नक्षत्र से अपने नक्षत्र तक गिनने पर ग्रामवास नक्षत्र चक्र[2]

स्थान	मस्तक	मुख	कुक्षि	पाद	पृष्ठ	नाभि	गुह्य	दायाँ-हाथ	बाँया-हाथ
नक्षत्र	५	३	५	६	१	४	१	१	१
फल	लाभ	धनक्षय	धनधान्य	पदहानि	सम्पत्ति	भय	क्रन्दन	अशुभ	भय

ग्राम या नगर के नाम नक्षत्र से व्यक्ति के नाम नक्षत्र तक गिने। यदि ग्राम के नक्षत्र से प्रथम सात नक्षत्रों के भीतर व्यक्ति का नक्षत्र पड़े तो वह ग्राम या नगर उस व्यक्ति को धनमासम्मानदायक होता है। यदि उससे आगे के सात नक्षत्रों में व्यक्ति का नक्षत्र पड़े तो वह नगर/ग्राम व्यक्ति के लिए हानि एवं निर्धनता का द्योतक होता है। उससे आगे के

---

१. वास्तुरत्नाकर, १/१४ २. तत्रैव, १/१५-१७

सात नक्षत्रों में पड़े तो फल सुखसम्पत्तिदायक होता है और यदि अन्तिम सात नक्षत्रों में व्यक्ति का नक्षत्र आये तो फल अस्थिरता, पर्यटन एवं प्रवास होता है।

ग्राम वास नराकार चक्र[1]

स्थान	मस्तक	पृष्ठ	हृदय	पाद
नक्षत्र	७	७	७	७
फल	धन-सम्मान	हानि-निर्धनता	सुख-सम्पत्ति	पर्यटन

(ग्राम तथा वासकर्त्ता दोनों की राशीश मैत्री हो या एकाधिपत्य हो तो वास करना उत्तम, समता हो तो सामान्य, शत्रुता हो तो वास करना हानिकर होता है।)

काकिणी विचार-अपने वर्ग (निवास कर्त्ता) की संख्या को २ से गुणा कर ग्राम के वर्ग की संख्या को जोड़कर ८ से भाग देने पर शेष अपनी काकिणी होती है। इसी प्रकार ग्राम के वर्ग की संख्या को २ से गुणाकर अपने (निवास कर्ता) के वर्ग की संख्या को जोड़कर ८ से भाग देने पर शेष ग्राम की काकिणी होती है। जिसकी काकिणी अधिक होती है वह होता है। अर्थात् ग्राम की काकिणी अधिक तथा निवासकर्ता की काकिणी अल्प हो तो शुभ होता है। यथा-पंकज को देहरादून में रहने हेतु विचार करना है। पंकज की वर्ग संख्या ६ तथा देहरादून की वर्ग संख्या ५, ६ × २ = १२ + ५ = १७, १७ ÷ ८ = शेष १ = पंकज की काकिणी।

५ × २ + ६ = १६, १६ ÷ ८ = शेष ८ = देहरादून की काकिणी।

यहाँ देहरादून की अधिक है अतः यहाँ रहना पंकज के लिए उत्तम है।

भूखण्ड का चयन

वास्तु शास्त्रीय नियमों के अनुसार वास योग्य ग्राम/नगर के चयन के बाद उस नगर या ग्राम के किस हिस्से में वास करना चाहिए? इसका भी शास्त्र-सम्मत निर्धारण कर लेने के उपरान्त उत्तम भूखण्ड का चयन ही निर्माण का मुख्य आधार होता है। स्थल निश्चित हो जाने के बाद उस स्थल की भूमि के शुभाऽशुभत्व का निर्णय वास्तु के सिद्धान्तों के आधारों पर करना आवश्यक है। सामान्यतया भूखण्ड की मिट्टी शल्यादि दोष से रहित, चिकनी तथा ठोस होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य लक्षणों का ज्ञान इस प्रकार करना चाहिये।

भूमि के प्रकार व गुण-दोष

मिट्टी के गुण-दोषों का विचार उसके शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धादि के अनुसार करने का विधान है। भारतीय वास्तुशास्त्र में भवन-निर्माण हेतु उपयुक्त भूमि को चार श्रेणियों में रखा गया है।

---

१. बृहद्दैवज्ञरञ्जन

१. **ब्राह्मणी भूमि**-ऐसी भूमि जिसका वर्ण श्वेत, स्वाद मधुर, गन्ध घी के सदृश, कुशायुक्त, स्पर्श करने पर जो स्निग्ध एवं सुखद लगे तथा उत्तर की ओर झुकाव वाली हो उसे ब्राह्मणी भूमि कहते हैं। ब्राह्मणी भूमि को सर्व-सुखदा कहा गया है। इस प्रकार की भूमि मन्दिर, मठ, धर्मशाला, न्यायालय, बैंक (वित्तीय संस्थानों) तथा शैक्षणिक संस्थानों आदि के निर्माण के लिए श्रेष्ठ होती है।

२. **क्षत्रिया भूमि**-ऐसी भूमि जिसका रंग लाल हो, गन्ध रक्त जैसी हो, स्वाद कषैला हो, स्पर्श कठोर हो, शर (मूँज) आदि से युक्त, तथा रक्तवर्णीय पुष्प अधिक हों तो ऐसी भूमि क्षत्रियाभूमि कहलाती है। यह भूमि वर्चस्व, पराक्रम एवं शासकीय गुणों को बढ़ाने वाली होती है। ऐसी भूमि शासकीय कार्यालय, सैनिकछावनी, सैन्य अकादमी, पुलिस थाना, शस्त्रागार, शासक, मन्त्री, राज्याधिकारी, सेना, पुलिस एवं प्रशासन के बड़े अधिकारियों के आवास तथा कार्यालय के निर्माण हेतु उपयुक्त होती है। ऐसी भूमि पर स्टेडियम एवं खिलाड़ियों के लिए प्रशिक्षणस्थल का निर्माण करना उत्तम होता है।

३. **वैश्या भूमि**-दक्षिण की ओर झुकाववाली यह भूमि हरे-पीले रंग वाली होती है। इसमें अन्न जैसी गन्ध पाई जाती है, इसका स्वाद अम्लीय होता है। कुश एवं कास इस प्रकार की भूमि पर उगते हैं। यह मिट्टी उपजाऊ होने के कारण कृषिकार्य के लिए तथा व्यापारिक कार्यों के लिए उत्तम मानी गई है। अतः इस प्रकार के लक्षणों से युक्त भूमि वाले भूखण्ड पर व्यापारिक प्रतिष्ठानों, दुकानों, व्यावसायिक संस्थानों, औद्योगिक कारखानों एवं व्यावसायिक केन्द्रों का निर्माण करना अच्छा होता है। वास्तु ग्रन्थों में इस प्रकार की भूमि को धन-धान्य प्रदायक कहा गया है।[1]

४. **शूद्राभूमि**-शूद्रा संज्ञक भूमि काले रंग की होती है। ऐसी भूमि में मद्य जैसी गन्ध होती है तथा स्वाद कड़वा होता है। पश्चिम की ओर झुकी हुई होती है इसमें कास आदि घास उगती है। निवास की दृष्टि से यह अच्छी नहीं मानी गई है।

५. **भूमि के दोष**-किसी भी प्रकार के भवन-निर्माण हेतु भूखण्ड की मिट्टी का प्रमुख गुण चिकनापन (स्निग्धता) तथा ठोस होना है। इसके विपरीत जिस भूखण्ड की मिट्टी रेतीली या पोली (खोखली) हो, बड़े-बड़े पत्थरों वाली हो, नीरस हो, सर्प-बिच्छु एवं चींटियों के बिलों से व्याप्त हो, वाल्मीक वाली हो, शल्ययुक्त हो, जहाँ दल-दल हो, जो बहुत ऊँची-नीची होने के कारण असमान हो ऐसी भूमि वाले भूखण्ड पर कभी भी गृह-निर्माण नहीं करना चाहिए।[2]

६. **प्रशस्त भूमि**-जहाँ उत्तमोत्तम औषधियाँ, वृक्ष, लतायें, खूब हरी भरी रहें, मिट्टी में स्निग्धता (चिकनापन), समानता तथा उपजाऊपन हो ऐसी भूमि मनुष्यों के आवास हेतु

---

१. बृहद्वास्तुमाला, श्लोक-३२। २. वास्तुरत्नाकर, १/६१-६२

उत्तम होती है। थका हुआ पथिक जिस धरती पर विश्राम के लिए बैठे और वहाँ बैठने पर जो प्राकृतिक ऊर्जा पाकर आनन्द का अनुभव करे ऐसी भूमि गृह निर्माण हेतु श्रेयस्कर मानी गई है।[1] वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं के अनुसार जिस भूमि पर जाने से नेत्र और मन सन्तुष्ट हो जाय वह भूमि वास हेते उत्तम होती है।

७. **जीवित भूमि**-जिस भूमि पर हरे-भरे वृक्ष लहलहा रहे हों और खेती की ऊपज उत्तमोत्तम हो वह भूमि जीवित भूमि होती है। ऐसी जीवित भूमि पर गृहनिर्माण से ही गृहपति का जीवन सुखमय होता है।[2]

८. **प्रकारान्तर से भूमि का जीवितादिज्ञान-**

(क) भूखण्ड की लम्बाई और चौड़ाई के योग में ग्राम के नामक्षर की वर्ग संख्या को जोड़कर योग फल को चार से गुणा करें, इस गुणनफल में निवास करने वाले के नामाक्षर की वर्ग संख्या को भी जोड़ दें। अब इस योग फल में तीन का भाग देने से यदि एक शेष बचे तो भूमि जीवित, दो शेष बचे तो सम और यदि तीन शेष बचे तो भूमि मृत कहलाती है, जहाँ रहने से धन-जन-चतुष्पद आदि सांसारिक सुखों की हानि होती है।[3]

(ख) **जागृतादि भूमिज्ञान**-गृह-निर्माण करने वाले के नाम, ग्राम और दिशा के स्वरों के योग में तीन का भाग देने से एक शेष रहने पर भूमि जागृत अवस्था में होती है, दो शेष रहने पर समफल देने वाली और तीन शेष रहने पर राक्षसी भूमि कहलाती है। इस पर निवास करने से मृत्यु या मृत्यु तुल्य कष्ट होता है।[4]

(ग) सूर्यनक्षत्र और चन्द्रनक्षत्र के आधार पर भूशयन का विचार-सूर्य के नक्षत्र से ५/७/६/१२/१६/२६ इन नक्षत्रों में भूमि सुप्तावस्था में होती है। भूमि की इस सुप्तावस्था में गृह-निर्माण, तालाब, वापी, कूप इत्यादि के लिए खनन आरम्भ करना शुभ नहीं होता।

भूमि परीक्षण

व्यक्ति जिस भूखण्ड पर गृह निर्माण करना चाहता है वहाँ की भूमि परीक्षण हेतु वास्तुग्रन्थों में अनेक सरल रीतियों का वर्णन मिलता है।

१. जिस भूमि पर गृह-निर्माण करना हो उसके बीचों-बीच (मध्यभाग में) गृहपति के हाथ के माप के आधार पर एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा तथा एक हाथ गहरा गड्ढा खोदकर उसी से निकली हुई मिट्टी से पुनः उस गड्ढे को भर दें। यदि गड्ढा भरने से मिट्टी बच जाय तो उत्तम, बराबर हो जाए तो सम और मिट्टी कम हो जाय तो निषिद्ध होता है। इस निषिद्ध भूमिपर मकान नहीं बनाना चाहिए।[5]

---

१. तत्रैव, १/६०, २. तत्रैव, १/६३, ३. तत्रैव १/६६-६७, ४. वास्तुरत्नाकर, १/६८-६६।
५. तत्रैव, १/७०।

२. गृहपति के हाथ के परिमाप के अनुसार एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा तथा हाथ गहरा गड्ढा खोदकर उसमें पानी भर दें। यदि पानी यथावत् रहे तो निवास हेतु उत्तम, उसी क्षण जल सूख जाय तो नाश, जल स्थिर रहे तो स्थिरता तथा दक्षिणावर्त्त घूमे तो सुखदायक और वामावर्त्त घूमे तो मृत्युदायक होता है।[1]

३. समराङ्गण-सूत्रधार में भवन निर्माण हेतु भूमि के घनत्व के परीक्षण की विधियाँ इस प्रकार बताई गई हैं- भूखण्ड के मध्य में एक हाथ लम्बा-चौड़ा-गहरा गड्ढा खोदकर उसे पूरा पानी से भर कर सौ कदम आगे जाकर लौट आए और जलपूरित उस गड्ढे को देखें, यदि चौथाई से कम जल शेष रहे तो अनिष्ट, चौथाई से अधिक और आधे से कम बचे तो मध्यम और आधे से अधिक बचे तो उत्तम फल जानना चाहिए।[2]

४. पूर्वोक्त प्रकार से गड्ढ़ा खोदकर सायं काल पानी से पूरी तरह भरकर प्रातः काल देखने पर यदि जल शेष बचा दिखाई दे तो वृद्धि, केवल कीचड़ ही बचा रहे तो समता और उसमें यदि दरारें पड़ जायें तो नाश होता है।[3]

५. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के लिए सफेद, लाल, पीला, और काले रंग का फूल इकट्ठा कर उसे गड्ढे में सायं काल के समय रख कर सुबह देखें कि जिस वर्ण का फूल न कुम्हलाया हो उस वर्ण के लिए वह भूमि उत्तम फल प्रदान करने वाली होती है। इस प्रकार उपरोक्त भूमि परीक्षण विधियों में से पहली चार विधियों के माध्यम से भूखण्ड की मिट्टी के घनत्व का परीक्षण तथा पाँचवीं विधि से भूखण्ड के वातावरण का परीक्षण किया जा सकता है।

वास्तु भवन का मुख्य आधार भूमि है। यह भूमि जितनी निर्दोष, ठोस और विभिन्न प्रकार के शुभ लक्षणों से युक्त होगी उस पर बनने वाला भवन भी उतना ही मजबूत, स्थायी तथा सुखदायी होगा।

भूमि प्लवत्व का फल

वास्तु भूमि के झुकाव की दिशा-उपदिशा	फल
पूर्व	श्री तथा सुख सम्पत्ति की प्राप्ति
अग्निकोण	दाह, आगजनी
दक्षिण	व्याधि, भय, मरण
नैर्ऋत्य	दुर्व्यसन, रोग
पश्चिम	अर्थक्षय, व्याधि
वायव्य	अस्थिरता, प्रवास

१. वास्तुरत्नाकर, १/७२-७३, २. स.सू., अध्याय-१०, ३. वास्तुरत्नाकर, १/७८ तथा स.सू., १०/७३.

उत्तर	लक्ष्मी की प्राप्ति
ईशान	विद्यालाभ, ईश्वर की कृपा प्राप्ति।

भवन-निर्माण के लिए भूखण्ड का चयन करते समय उपरोक्त बिन्दुओं का ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि भूमिप्लवत्व से संबंधित विभिन्न दिशाओं और उपदिशाओं में उसके ढलान के अनुसार उस वास्तु भूमि में बने भवन के निवासियों की मनःस्थिति प्रभावित होती है। मनःस्थिति के प्रभावित होने से जीवन के विकास की गति का प्रभावित होना स्वाभाविक है। अतः प्रस्तावित वास्तु भूमि के ढलान का सम्यक् विचार करके ही भवन निर्माण में प्रवृत्त होना चाहिए।

भूखण्ड की ऊँचाई-नीचाई के आधार पर वीथि विचार

वास्तुशास्त्र में चारों दिशाओं तथा चारों उपदिशाओं में वास्तु भूमि की ऊँचाई-नीचाई आदि भौगोलिक स्थिति के आधार पर आठ प्रकार की वीथियों की परिकल्पना कर उनके शुभाऽशुभत्व का विचार किया गया है।

१. जो वास्तु भूमि अग्निकोण में उठी हुई तथा वायव्य कोण में झुकी हुई हो उसे **नागवीथि** की संज्ञा दी गई है। ऐसी भूमि पर भवन निर्माण कर वास करने वाले को अशान्ति और अस्थिरता के साथ-साथ समस्त अशुभ फल प्राप्त होते हैं। अगर यह वास्तु भूमि ईशान कोण से ऊँची हो तो शुभ फल देती है।

२. जो वास्तु भूमि ईशान कोण में ऊँची और नैर्ऋत्यकोण में झुकी हुई हो उसे **भूतवीथि** कहा जाता है। ऐसी भूमि पर गृह-निर्माण कर निवास करने वाले को भयंकर आपत्तियों का सामना तथा धन-हानि जैसा अशुभ फल भोगना पड़ता है।

३. जो वास्तु भूमि वायव्यकोण में ऊँची और अग्नि कोण की ओर झुकाव लिये हो उसे **वैश्वानरी** की संज्ञा दी गई है। यह भूमि गृहपति के लिए शुभ फलदायक होती है।

४. जो वास्तु भूमि नैर्ऋत्य में ऊँची तथा ईशान कोण में झुकी हुई हो उसे **धनवीथि** से अभिहित किया गया है। ऐसी वास्तु भूमि पर निवास करने वाला गृहपति धन-धान्य से समृद्ध होकर सुख एवं शान्ति प्राप्त करता है।

५. जो वास्तु भूमि पश्चिम में ऊँची तथा पूर्व में नीची हो उसे **गोवीथि** कहते हैं। इस तरह की वास्तु भूमि पर निवास करने वाले गृहपति को धन-धान्य एवं यश का लाभ होता है।

६. जिस वास्तु भूमि का पूर्वी हिस्सा उठा हुआ तथा पश्चिमी हिस्सा झुका हुआ हो उसे **जलवीथि** कहा गया है। ऐसी भूमि पर बने गृह में वास करने वाला समस्त अशुभ फल प्राप्त करता है।

७.जो वास्तु भूमि उत्तर की ओर से ऊँची तथा दक्षिण की ओर से नीची हो उसे **यमवीथि** की संज्ञा दी गई है। ऐसी भूमि पर मकान बनाकर रहने वाले को दारिद्रय एवं कष्ट-जन्य फल प्राप्त होते हैं।

८. जिस वास्तु भूखण्ड का दक्षिणी हिस्सा उठा हुआ तथा उत्तरी हिस्सा झुका हुआ हो उसे **गजवीथि** कहा जाता है। इस प्रकार के भूखण्ड पर गृह-निर्माण करने से गृहपति को धन-धान्य की उत्तम प्राप्ति होती है।

वास्तु भूमि के मध्य के समस्त हिस्से को पृष्ठ (पीठ) कहा जाता है। भूमि की विभिन्न दिशाओं में ऊँचाई के आधार पर उस वास्तु-भूमि को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है-

१. **गजपृष्ठ भूमि**-जिस वास्तु भूमि का दक्षिण, पश्चिम, नैर्ऋत्य तथा वायव्य कोण ऊँचा उठा हो तो ऐसी भूमि को गजपृष्ठ भूमि कहते हैं। इस प्रकार की वास्तु भूमि पर भवन बनाकर वास करने वाले को निरन्तर धन-लाभ तथा आयु-वृद्धि होती है।

२. **कूर्मपृष्ठ भूमि**-जो वास्तु भूमि चारों ओर से नीची तथा मध्य में ऊपर उठी हुई हो तो ऐसी भूमि को कूर्मपृष्ठ भूमि कहते हैं। इस प्रकार की भूमि पर निवास करने से निरन्तर उत्साह, सुख एवं सर्वविध-धन-धान्य की वृद्धि होती है।

३. **दैत्यपृष्ठ भूमि**-जब वास्तु भूमि ईशान, आग्नेय तथा पूर्व दिशा में ऊँची तथा पश्चिम दिशा में नीची हो, तो इस प्रकार की भूमि को दैत्य पृष्ठ भूमि कहा जाता है। इस प्रकार के भूखण्ड पर निवास करने से धन-धान्य तथा पारिवारिक सुख-शान्ति की हानि होती है।

४. **नागपृष्ठ भूमि**-जो वास्तु भूमि पूर्व एवं पश्चिम दिशा में लम्बी उत्तर एवं दक्षिण दिशा में ऊँची तथा बीच में नीची होती है ऐसी भूमि नागपृष्ठ भूमि कहलाती है। इस तरह की भूमि पर निवास करने से मृत्युभय, स्त्री सुख हानि, सन्तान हानि तथा शत्रु वृद्धि होती है।

निवेश्य भूखण्ड के विविध आकार एवं फल

ग्रह-स्वामी के लिए निवासयोग्य भूमि का विधिवत् चयन कर लेने पर उपयुक्त आकार के आधार पर गृह निर्माणयोग्य भूखण्ड का चयन भी वास्तुशास्त्रीय रीति से करना चाहिए।

क्रम सं०	भूखण्ड का आकार	फल
१.	आयताकार	सर्वसिद्धि
२.	वर्गाकार	धनागम
३.	भद्रासन	कार्यसिद्धि

४.	वृत्ताकार	शरीरपुष्टि
५.	चक्राकार	दरिद्रता
६.	विषमबाहु	शोकप्रद
७.	त्रिकोणाकार	राजभय
८.	शकटाकार	धनक्षय
९.	दण्डाकार	पशुनाश
१०.	पणवाकार	नेत्रहानि
११.	मृदङ्गाकार	स्त्रीनाश
१२.	वृहन्मुख	बन्धुनाश
१३.	व्यजनाकार	अर्थहानि
१४.	कूर्मपृष्ठाकार	वध-बन्धन
१५.	सूर्पाकार	धननाशक
१६.	धनुषाकार	चोरभय

इन भूखण्डों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. शुभ आकार के भूखण्ड २. अशुभ आकार के भूखण्ड

इन दो तरह के भूखण्डों में सामान्यतया आयताकार, वर्गाकार, वृत्ताकार, भद्रासन भूखण्ड तथा षट्कोणाकार भूखण्ड गृह-निर्माण की दृष्टि से शुभ होते हैं। तथा अन्य अशुभ माने गये हैं।

शल्यादि के निष्कासन से भूमि शोधन

शल्य का शाब्दिक अर्थ है- हड्डी। परन्तु वास्तुशास्त्र में केश, चर्म, कोयला, काष्ठ, भस्म और तुष (भूसा) ये सब भी शल्य कहलाते हैं। जिस भूभाग पर मकान बनाना हो उसके भीतर अगर शल्य हो तो गृहस्वामी को जन-धन की हानि के साथ-साथ आकस्मिक दुर्घटनाओं का शिकार होना पड़ता है। अतः मकान बनाने से पूर्व भूमि का खनन कर जमीन में दबे हुए शल्य का विधिवत् निष्कासन करके ही गृह-निर्माण की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा।
क्षेत्रं संशोध्य वोद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत्।।

अर्थात् जलान्त (खुदाई करते हुए जहाँ जल निकल जाय), प्रस्तरान्त (जहाँ तक एक तरह की मिट्टी हो या बड़ी चट्टान आ जाय) अथवा पुरुष तुल्य (३१/३ हाथ) नीचे तक मिट्टी निकाल देने से शुद्ध वा निःशल्य भूमि मानी जाती है।

शल्यशोधन

शल्य जानने के लिये प्रथम विधि प्रश्नाक्षर विधि है। प्रश्न के प्रथम अक्षर से शल्य या अशल्य का ज्ञान होता है। शल्य ज्ञापक वर्ण अ, क, च, ट, प, य, श क्रमशः पूर्व आग्नेय, दक्षिण आदि दिशाओं के बोधक माने गये हैं। ह, प, य वर्ण मध्य भाग के बोधक हैं। शल्य के बारे में दैवज्ञ से प्रश्न पूछने वाला (गृहस्वामी) अपने प्रश्न में जिस वर्ण का सर्वप्रथम उच्चारण करे उसी वर्ण की दिशा में अर्थात् भूमि के जिस भाग (दिशा) में वह वर्ण है उसी भाग में शल्य की स्थिति है ऐसा समझना चाहिए। जैसे- यदि प्रश्न कर्ता के प्रश्न का प्रथम वर्ण ''द'' हो तो समझना चाहिए कि भूखण्ड के पश्चिमी हिस्से (त, थ, द, ध, न वाले हिस्से में) शल्य की स्थिति है। यहाँ इस बात का ध्यान रखें कि ह, प, य वर्णों की स्थिति भूखण्ड के मध्य भाग में भी है। अतः जब प्रश्नकर्ता के प्रश्न का प्रथमाक्षर ह, प, य वर्णों में से हो तो शल्य की स्थिति इन वर्णों की स्थिति के अनुसार दो स्थानों पर होगी। जैसे- मान लो प्रश्न का आद्यक्षर ''प'' है तो शल्य की स्थिति भूखण्ड के मध य और वायव्य दोनों स्थानों में होगी।

वास्तुशास्त्र में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि यदि प्रश्नाद्यक्षर अवर्ग का हो तो भूखण्ड के पूर्वी भाग में डेढ़ हाथ नीचे मनुष्य की हड्डी (नरशल्य) होती है। इससे परिजनों को मृत्यु या मृत्यु तुल्य कष्ट होता है। कवर्ग का प्रश्नाद्यक्षर होने पर आग्नेय दिशा में खर शल्य दो हाथ नीचे होता है। इसके कारण राजदण्ड की सम्भावना होती है। प्रश्न का आद्यक्षर चवर्ग का हो तो दक्षिण दिशा में नर शल्य, गृहस्वामी की कमर तक की गहराई में मिलता है। इसके कारण दीर्घ-व्याधि से गृह स्वामी की मृत्यु होती है। प्रश्न का आद्यक्षर यदि ट वर्ग का हो तो नैर्ऋत्य दिशा में डेढ़ हाथ नीचे कुत्ते की अस्थि मिलती है जिससे बच्चों की मृत्यु होती है। यदि प्रश्न का आद्यक्षर तवर्ग का हो तो पश्चिम दिशा में डेढ़ हाथ नीचे किसी बच्चे की हड्डी होती है इससे गृह-स्वामी हमेशा प्रवास में रहता है। प्रश्नाद्यक्षर यदि पवर्ग का हो तो वायव्य दिशा में तुष और कोयला मिलता है, इसे मित्रनाश और दुःस्वप्न का कारण माना गया है। प्रश्नाद्यक्षर यदि यवर्ग का हो तो उत्तर दिशा में विप्रशल्य कटिपर्यन्त गहराई पर मिलता है, इससे कुबेरसदृश अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति भी शीघ्र ही निर्धन हो जाता है। प्रश्नाद्यक्षर यदि शवर्ग का हो तो ईशान कोण में गोशल्य (गाय की हड्डी) डेढ़ हाथ नीचे मिलता है, इससे पशुधन का नाश होता है। यदि प्रश्नाद्यक्षर ह, प, य में से हो तो भूखण्ड के मध्यभाग तथा क्रमशः ईशान, वायव्य तथा उत्तर दिशा में नर कपाल, भस्म या लोहा छाती तुल्य गहराई कर पाया जाता है, यह कुल का नाश करने वाला होता है। इसे निम्नांकित शल्योद्धार चक्र से भली प्रकार समझा जा सकता है-

शल्य ज्ञान चक्र

प्रश्न प्रथमाक्षर	दिशा	शल्य का नाम/शल्य की स्थिति	फल
अ, आ, इ, ई उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ	पूर्व	नर शल्य, डेढ़ हाथ नीचे	मृत्यु
क, ख, ग, घ, ङ	अग्निकोण	खर शल्य, दो हाथ नीचे	राजदण्ड
च, छ, ज, झ, ञ	दक्षिण	नर शल्य, कमर तक गहराई में	मृत्यु
ट, ठ, ड, ढ, ण	नैर्ऋत्यकोण	कुत्ते की हड्डी डेढ़ हाथ नीचे	बाल-मृत्यु
त, थ, द, ध, न	पश्चिम	शिशुशल्य, डेढ़ हाथ नीचे	प्रवास
प, फ, ब, भ, म	वायव्यकोण	तुष और कोयला	मित्रनाश
य, व, र, ल	उत्तर	विप्रशल्य कमर पर्यन्त नीचे	निर्धनता
श, ष, स, ह	ईशान कोण	गोशल्य, डेढ़ हाथ नीचे	पशुधन हानि
ह, प, य	मध्यं एवं क्रमशः ईशान वायव्य, उत्तर	नरकपाल, भस्म, लोहा, छाती पर्यन्त नीचे	कुलनाश

२. वास्तु सारणी में एक अन्यरीति का भी उल्लेख किया गया है-

भूखण्ड को नौ बराबर भागों में विभाजित कर पूर्व-आग्नेय-दक्षिणादि दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से व, क, च, त, ए, ह, श, प तथा मध्य में य इन नौ अक्षरों को स्थापित करना चाहिए।

शल्य-बोधक-चक्र

ईशन — पूर्व — आग्नेय

	प	व	क	
उत्तर	श	य	च	दक्षिण
	ह	ए	त	

वायव्य — पश्चिम — नैर्ऋत्य

तदनन्तर वास्तु भूमि के मध्य में घट स्थापन करके स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन पूर्वक अपने इष्टदेव एवं कुलदेवता का स्मरण कर हाथ से भूमि का स्पर्श करता हुआ वास्तु भूमि के भीतर शल्य ज्ञान के निमित्त प्रश्न करें। प्रश्न के समय ब्राह्मण पुष्प, क्षत्रिय नदी, वैश्य देवता और अन्य लोग फल के नाम का उच्चारण करें। इस प्रकार गृह-स्वामी द्वारा उच्चारित पुष्पादिकों का प्रथमाक्षर जिस दिशा वाले भूभाग का प्रतिनिधित्व करता है उसी भूभाग में शल्य कहना चाहिए। इसे तालिका द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

शल्योद्धार तालिका

उच्चारित पुष्पादि का प्रथमाक्षर	दिशा	शल्य का नाम/शल्य की स्थिति	फल
व	पूर्व	नरशल्य, डेढ़ हाथ नीचे	मृत्यु
क	आग्नेय	खरशल्य, कमर पर्यन्त नीचे	राजदण्ड
च	दक्षिण	वानर शल्य, कमर पर्यन्त नीचे	मृत्यु
त	नैर्ऋत्य	कुत्ते की हड्डी, डेढ़ हाथ नीचे	महाभय
ए	पश्चिम	शिशु शल्य, डेढ़ हाथ नीचे	प्रवास
ह	वायव्य	नर शल्य, चार हाथ नीचे	मृत्यु
श	उत्तर	विप्र शल्य, कमर मात्र नीचे	गृहनाश-दरिद्रता
प	ईशान	वानर शल्य, कटिमात्र नीचे	पशुनाश
य	मध्य	कपाल की हड्डी एवं लोहभस्म, कटि मात्र नीचे	कुलक्षय

उदाहरणार्थ-यदि प्रश्नकर्ता द्वारा उच्चारित पुष्पादिकों का प्रथमाक्षर 'क' हो तो अग्निकोण में कमर पर्यन्त नीचे खर शल्य (गधे की हड्डी) होगा, जिसका फल गृहस्वामी को राजदण्ड होगा। यहाँ इस बात का ध्यान रखना होगा कि इस विधि को अपनाने से भूमि कई बार शल्य रहित सिद्ध हो सकती है, क्योंकि इसके अनुसार शल्य तभी सिद्ध होगा जब प्रश्नकर्ता द्वारा उच्चारित पुष्पादि का प्रथमाक्षर केवल व,क,च,त,ए,ह,श,प अथवा 'य' हो यदि इन अक्षरों के अतिरिक्त कोई अन्य अक्षर प्रश्न का आद्यक्षर हो तब भूमि में शल्य की स्थिति शून्य होगी।

शकुन के आधार पर शल्य ज्ञान

१. गृह-निर्माण हेतु खनन का आरम्भ करते समय गृह-स्वामी के जिस अंग में खुजली पैदा हो तो भूखण्ड में व्याप्त वास्तुपुरुष के उसी अंग में उस अंग तुल्य गहराई में ही शल्य होता है।

२. प्रश्न काल में गृह-स्वामी अपने जिस अंग के बल बैठा हो अथवा जिस अंग का स्पर्श कर रहा हो, वास्तु भूमि में वास्तु पुरुष के उसी अंग वाले हिस्से में उस अंग तुल्य गहराई में शल्य की स्थिति समझनी चाहिए।

३. "विश्वकर्मा प्रकाश" में कहा गया है कि सूत्र से भूमि संशोधन के समय अगर कोई उस सूत्र को लाँघ जाय तो वहाँ पर साढ़े तीन हाथ नीचे शल्य समझना चाहिए। अथवा उस समय भूखण्ड की जिस दिशा में कोई अभ्यागत दिखाई दे, तो उसी दिशा में सत्तर अंगुल नीचे शल्य जानना चाहिए। अथवा सूत्र-प्रसारण के समय यदि सूत्र के ऊपर कुत्ता आ जाय तो जिस दिशा में कुत्ता सूत्र के ऊपर आए उसी दिग्भाग में ६० अंगुल नीचे शल्य होता है। अथवा भूमि संशोधन हेतु प्रसारित सूत्र यदि टूट जाय अथवा घड़ा फूट जाय तो वहाँ बनने वाले घर में स्त्री-पुरुष दोनों की मृत्यु होती है।

शल्य की प्रभावहीनता

वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं का मत है कि एक पुरुष तुल्य (साढ़े तीन हाथ) गहराई से नीचे स्थित शल्य प्रभावहीन हो जाता है। अतः सम्पूर्ण वास्तु भूमि का पुरुष तुल्य साढ़े तीन हाथ गहराई तक उत्खनन कर उसका भली प्रकार शोधन करके शल्यादि का निष्कासन कर उसे कपिशीर्षप्रमाण (बन्दर के सिर के समान) अर्थात् छोटे-छोटे पत्थरों से भर देना चाहिए। वास्तु भूमि का खनन करते समय यदि पुरुषतुल्य गहराई तक जाने से पूर्व की कोई बड़ी शिला (चट्टान आदि) आ जाय या जलधारा निकल आए तो और उत्खनन की आवश्यकता नहीं मानी गई है-

जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा।
क्षेत्रं संशोध्य चोद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत्।[1]

वस्तुतः शल्योद्धार के विना निर्मित भवन में निवास करने वाले लोगों को वास्तुभूमि में व्याप्त दोष के कारण सुख, शान्ति एवं समृद्धि की प्राप्ति नहीं हो पाती। अतः उपरोक्त विधियों के अनुसार वास्तुभूमि का शल्य-निष्कासन करवाने के पश्चात् ही भवन निर्माण प्रक्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।

आयादि का आनयन

आय, व्यय, नक्षत्र, तारा, अंश, राशि, वार, द्रव्य, ऋण, तिथि, योग एवं आयु का सम्यक् विचार करके गृह-निर्माण करने पर गृहस्वामी को धन-धान्य, सुख-समृद्धि, यश में अधिक वृद्धि तथा सन्तुष्टि की प्राप्ति होती है।

---

१. वास्तु-सौख्यम्, ३/४०

आय

भूखण्ड के जितने भाग में निर्माण करना हो उस भूखण्ड के दैर्ध्य एवं विस्तार को गुणा कर गुणन फल (लम्बाई × चौड़ाई = क्षेत्रफल) में आठ से भाग देने पर जो शेष वचे वह ध्वजादि आय की संख्या होती हैं।

नक्षत्र

घर के क्षेत्रफल को ८ से गुणा करके गुणनफल को २७ का भाग देने पर जो शेष बचे उस अवशिष्ट संख्या तुल्य अश्विन्यादि गृह का नक्षत्र होता है।

व्यय

घर के नक्षत्र की संख्या को आठ से भाग देने पर जो शेष रहे वह व्यय समझना चाहिए। आय की संख्या से व्यय की संख्या न्यून, अधिक तथा बराबर होने पर क्रमशः ''यक्ष'', ''राक्षस'' तथा ''पिशाच'' नामक व्यय होते हैं। इनमें 'यक्ष' नामक व्यय उत्तम, 'राक्षस' नामक व्यय अधम तथा 'पिशाच'' नामक व्यय मध्यम फलदायक हैं।

तारा

गृह के नक्षत्र में गृहस्वामी के नाम नक्षत्र तक गणना करनी चाहिए। जो संख्या आये उसे नौ से भाग देकर शेष तुल्य ''तारा'' समझनी चाहिए। तारायें नौ हैं। जन्म, सम्पत्, विपत्, क्षेम, प्रत्यारि, साधक, वध, मित्र और अतिमित्र। इन ताराओं में क्रमशः, चौथी, छठी और नवीं शुभ, पहली, दूसरी और आठवीं मध्यम, तीसरी, पांचवीं और सातवीं अशुभ होती हैं।

राशि

गृह के नक्षत्र को चार से गुणा करके गुणनफल में नौ से भाग देने पर शेष घर की भुक्त राशि आती है। गृह एवं गृह-स्वामी की राशि यदि परस्पर छठी-आठवीं या दूसरी-वारहवीं है तो शुभ नहीं होती।

गांव या नगर में भूमि की इयत्ता से उसके विविध आकार वाले भूखण्डों में व्यक्ति विशेष का अधिकार सम्भव है, अतः उस भूमि के किसी भूखण्ड विशेष पर गृह-निर्माण की व्यवस्था प्राचीन वास्तुशास्त्रोपदेश्टाओं ने की है। दउदाहरणार्थ- किसी मनुष्य को कितने क्षेत्रफल वाले भूखण्ड पर गृह-निर्माण करना चाहिए? अथवा किस व्यक्ति के लिए कितने क्षेत्रफल वाला भूखण्ड कल्याणकारी होगा? इस सबका निर्धारण गृह-स्वामी, गृह के नक्षत्र तथा राशि पर निर्भर करता है।

ज्योतिष के सामान्य अवकहड़ाचक्र से कुछ भिन्न वास्तुशास्त्रीय अवकहड़ाचक्र' के आधार पर गृह-स्वामी के नाम के आद्यक्षर के अनुसार उसके नक्षत्र एवं राशि का निर्णय

---

१. अश्विन्यादित्रयं मेषे सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम्।
मूलादित्रितयं चापे शेषभेषु द्वयं द्वयम्।। - वृहद्वास्तुमाला, मेलापकाध्याय-२

किया जाता है। इस वास्तु शास्त्रीय अवकहड़ाचक्र के अनुसार विचार करके ही गृहस्वामी के नाम के प्रथमाक्षर के आधार पर उसके नाम नक्षत्र एवं नाम राशि का निर्धारण कर उन्हें ही भवन निर्माण के सन्दर्भ में प्रयुक्त करने का निर्देश वास्तुशास्त्र में किया गया है।

देशाग्रामगृहज्वर-व्यवहृतौ दाने च मन्त्रे तथा-
सेवाकाकिणिवर्गसङ्गरपुनर्भूमेलके नामभम्।।

अर्थात् देश, ग्राम, गृह-निर्माण, ज्वर, व्यवहार, दानकार्य, मन्त्र प्रयोग, नौकरी, काकिणी विचार, वर्ग-विचार, संग्राम और पुनर्भू मेलापक में नाम राशि से ही विचार करना चाहिए। यहां यह बात ध्यान रखने की है कि गृह के नक्षत्र एवं गृह की राशि का निर्णय भूखण्ड के क्षेत्रफल पर आधारित है। वास्तुशास्त्र में भूखण्ड के इस क्षेत्रफल को गृह-पिण्ड का नाम दिया गया हैं एक वर्ग हस्त में आठ नक्षत्र प्रकल्पित किये गये हैं। अतः भूखण्ड के वर्ग हस्तात्मक क्षेत्रफल को आठ से गुणा कर सत्ताईस से भाग करने पर शेष तुल्य गृह नक्षत्र की संख्या होगी।

भूखण्ड की लम्वाई, चौड़ाई एवं क्षेत्रफल का परिमाण हस्त के माध्यम से किया जाता है। कुहनी से लेकर अनामिका के अग्रभाग तक का परिमाण एक 'हस्त' कहलाता है। (मतान्तर से कुहनी से लेकर मध्यमा अंगुली के अग्रभाग तक भी 'हस्त' का परिमाण माना जाता है।) क्षेत्रफल के आनयन के लिए गृह-स्वामी, गृह-स्वामी की ज्येष्ट पत्नी या उसके ज्येष्ठ पुत्र के हस्त से ही यह परिमाण लेना चाहिए। नक्षत्र के आधार पर ही गृह की राशि का निर्णय भी वास्तु शास्त्रीय अवकहड़ाचक्र के अनुसार हो जाएगा। यद्यपि इस रीति से गृह-भूखण्ड के पिण्ड के आधार पर गृह का नक्षत्र एवं राशि का ज्ञान करना सरल है तथापि इस प्रकार आनीत गृह का नक्षत्र एवं राशि गृहस्वामी के नक्षत्र एवं राशि के सर्वथा अनुकूल ही हों यह आवश्यक नहीं है। गृह एवं गृह-स्वामी के नक्षत्रों के मेलापक का विचार विवाह में किये जाने वले मेलापक की तरह ही करना चाहिए।

''वास्तु-सौख्यम्' के अनुसार-

राशिकूटादिकं सर्वं दम्पत्योरिव चिन्तयेत्।
नैस्व्यं द्विर्द्वादशे नूनं त्रिकोणे त्वनपत्यता।। १६६।
षष्ठाष्टके नैधनं स्याद्व्यत्यये मध्यमं स्मृतम्।
परेषु शुभदं प्रोक्तं गेहं तत्कर्तृराशितः।। १६७।

गृह तथा गृहस्वामी के राशि-कूटादि का विचार वर-कन्या के मेलापक विचार की तरह ही करना चाहिए। दोनों की राशियों में द्विर्द्वादश भकूट हो तो गृहपति निर्धन रहेगा, दोनों की राशियां परस्पर पञ्चम-नवम हों तो अनपत्यता एवं सन्तान कष्ट होता है। दोनों

की राशियां परस्पर छटी-आठवीं हों तो गृहपति को मृत्यु एवं मृत्यु तुल्य कष्ट होता है। दोनों में व्यत्यय होने पर मध्यम फलदायी गृह होता है। अन्य अर्थात् षडष्टक, द्विर्द्वादश एवं नवपञ्चम को छोड़कर दोनों की एक राशि या परस्पर सातवीं या तृतीय-एकादश या चतुर्थ-दशम हो तो उत्तम फलदायी गृह होता है।

वर-कन्या के मेलापक की तरह ही गृह एवं गृह-स्वामी के नक्षत्रों से नक्षत्र मेलापक यहां भी करना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि वर-कन्या मेलापक में दोनों की नाड़ियां भिन्न होनी चाहिए, परन्तु यहां गृह-निर्माण में गृह एव गृह-स्वामी की परस्पर एक नाड़ी ही उत्तम मानी गई है। गृह एवं गृहस्वामी की एक नाड़ी होना जहां उत्तम माना गया है वहीं दोनों का एक नक्षत्र होना अशुभ माना गया हैं अतः नक्षत्र भिन्नता के साथ एक नाड़ी होना प्रशस्त है। गृह एवं गृहस्वामी का एक नक्षत्र न होने का वसिष्ठ संहिता में स्पष्ट निर्देश है-

गृहेश-गृहयोर्भैक्यं मृतिस्स्यान्नियमेन तु।
गृहेशस्य वदेन्नित्यं वसिष्ठो मुनिरब्रवीत्।।

अर्थात् गृहपति का नक्षत्र और गृह का नक्षत्र यदि एक ही हो तो गृहपति का विनाश होता है। ऐसा ऋषि वशिष्ठ का मत है।

अतः प्रत्येक गृह-स्वामी को अनेक गृह-नक्षत्रों में से स्वेच्छया अपने नक्षत्र के अनुकूल किसी भी गृहनक्षत्र को चुनकर उसके अनुसार ही अपनी वास्तु भूमि (भूखण्ड) के क्षेत्रफल का निर्धारण करना चाहिए। इस प्रकार गृह-स्वामी को वास्तु भूमि का ऐसा क्षेत्रफल निर्धारित करना होगा, जिसके अनुसार उसे अपने अनुकूल नक्षत्र मिल जाए। ऐसे क्षेत्रफल वाला भूखण्ड ही गृह-स्वामी के लिए कल्याणकारी होगा। यद्यपि इस प्रकार गृह-स्वामी के अनुकूल गृहनक्षत्र वाले गृह-भूखण्ड का क्षेत्रफल प्राप्त करना सरल है तथापि वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं ने इस तरह के कल्याणकारी क्षेत्रफल का निर्धारण करने के लिए विशेष प्रक्रिया का उल्लेख किया है। जिसमें वास्तु शास्त्रीय दृष्टि से पूर्वोक्त महत्त्वपूर्ण तत्व 'आय' को आधार वनाकर गृहस्वामी के इष्ट नक्षत्र को प्रयुक्त किया जाता है।

विभिन्न भूखण्डों का क्षेत्रफल जानने के लिए वास्तु शास्त्र के मनीषी आचार्यों ने ध्वजादि जिन आठ आयों का प्रयोग किया है वे निम्नवर्णित हैं- (१) ध्वज, (२) धूम्र, (३) सिंह, (४) श्वान, (५) वृष, (६) खर, (७) गज, (८) काक (ध्वांक्ष)। 'वास्तु-सौख्यम्' के अनुसार-

ध्वजोधूम्रो हरिश्वानौ खरेभौ वायसोऽष्टमः।
पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः।। ५/१२१

इन्हें इनकी उपरोक्त क्रम संख्या के अनुसार १, २, ३ आदि संख्याओं द्वारा ही व्यवहारिक उपयोग में लाया जाता है। जैसे- ध्वज के लिए १, धूम्र के लिए २, सिंह के

लिए ३, श्वान के लिए ४..... इत्यादि संख्या का प्रयोग किया जाता है। वास्तु शास्त्र मे भवन-निर्माण हेतु विषम संख्यक आयों (१, ३, ५, ७ अर्थात् ध्वज, सिंह, वृष एवं गज) को ही शुभ एवं कल्याणकारी माना गया हैं। अन्य समसंख्यक आयों (२, ४, ६, ८ अर्थात् धूम्र, श्वान, खर एवं काक) को गृह-निर्माण हेतु शुभ एवं उपयुक्त नहीं माना जाता। वास्तु रत्नाकर के अनुसार-

कीर्तिः शोको जयो वैरं धनं निर्धनता सुखम्।
रोगश्चेति गृहारम्भे ध्वजादीनां फलं क्रमात्। ५/२३

अर्थात् गृह-निर्माण हेतु अगर 'ध्वज' आय हो तो गृह-स्वामी के यश प्राप्ति, धूम्र आय हो तो शोक, सिंह आय हो तो जय, श्वान आय हो तो शत्रुता, वृष आय हो तो धन प्राप्ति, खर आय हो तो दरिद्रता, गज आय हो तो सुख, काक आय हो तो रोग जैसे फल की प्राप्ति होती है।

आय चक्र

आय	ध्वज	धूम्र	सिंह	श्वान	वृष	खर	गज	काक
दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
फल	कीर्ति	शोक	जय	शत्रुता	धन	दरिद्रता	सुख	रोग

गृह-पिण्डानयन

वास्तु शास्त्र में प्रतिपादित गृहस्वामी के अनुकूल नक्षत्र वाले गृह-भूखण्ड का क्षेत्रफल गृह स्वमी की अभीष्ट आय के अनुसार निर्धारित करने की विशेष प्रक्रिया का उल्लेख है।

अभीष्ट गृहनक्षत्र की संख्या में से १ घटाकर शेष को १५२ से गुणा कर गुणनफल को अन्यत्र स्थापित करके जो अभीष्ट आय हो उसमें से भी एक घटाकर शेष को ८१ से गुणा कर गुणनफल का पूर्व अन्यत्र स्थापित गुणनफल के साथ योग कर योगफल में १७ और जोड़कर उसमें २१६ का भाग देने से जो शेष बचेगा वह अभीष्ट आय के अनुसार अभीष्ट नक्षत्र वाले गृह-भूखण्ड का न्यूनतम क्षेत्र फल (वर्ग हस्तों में) होगा। इसी को गृह-पिण्ड भी कहते हैं। इस गृह-पिण्ड में २१६ को १, २, ३, ४, ५ आदि किसी भी संख्या से गुणा कर गृह-स्वामी अपनी आवश्यकता एवं सुविधानुसार अपने घर का क्षेत्रफल बढ़ा सकता है। जैसे- तरुण का स्वाती नक्षत्र है, तरुण की अभीष्ट तीसरी आय सिंह है और अभीष्ट नक्षत्र स्वाती की संख्या १५ है।

अतः अभीष्ट नक्षत्र संख्या १५-१ = १४ × १५२ = २१२८ = नक्षत्र सम्वन्ध से गुणनफल।

अभीष्ट आय ३-१ = २ × ८१ = १६२ आय सम्वन्ध से गुणनफल। अव दोनों गुणनफलों का योग २१२८ + १६२ = २२६०। २२६०-२१६ शेष = १३० के तुल्य पिण्ड वर्ग हस्तों में होगा। यदि लम्बाई त्र १३ हाथ तो चौड़ाई त्र १३०/१३ = १० हाथ। १३० के वर्ग हस्तात्मक पिण्ड में २१६ को आवर्त रूप से जोड़ने पर अनेक पिण्ड वन जायेंगे। जैसे- १३० + २१६ = ३४६, ३४६ + २१६ = ५६२, ५६२ + २१६ = ७७८, ७७८ + २१६ = ९९४ इत्यादि के रूप में गृहेश अपनी आवश्यकतानुसार अपने गृह का क्षेत्रफल वड़ा कर सकता है। पूर्वोक्त प्रकार से आनीत गृहपिण्ड को ९ स्थानों में रख कर ९, ९, ६, ८, ३, ८, ८, ४, ८ अंकों से पृथक्-पृथक् गुणाकर गुणनफल में क्रमशः ८, ७, ९, १२, ८, २७, १५, २७ तथा १२० का भाग देकर उक्त नौ स्थानों में जो शेष रहे वे गृह के क्रमशः आय, वार, अंश, धन, ऋण, नक्षत्र, तिथि, योग और आयु होती है।

गृह के ध्रुवादि षोडशनाम

वास्तुशास्त्र में गृह निर्माण भेद से ध्रुवादि षोड़श गृहों का वर्णन मिलता है जिनके नाम हैं- १. ध्रुव, २. धान्य, ३. जय, ४. नन्द, ५. खर, ६. कान्त, ७. मनोरम, ८. सुमुख, ९. दुर्मुख, १०. उग्र, ११. रिपुद, १२. वित्तद, १३. नाश, १४. आक्रन्द, १५. विपुल तथा १६. विजय।

१. गृह के क्षेत्रफल को चार से गुणा कर गुणनुल में १६ से भाग देने पर जो शेष वचे उतनी संख्या तुल्य ध्रुवादि गृह ज्ञात होते हैं। इन सभी के फल इनके नामों के सदृश ही होते हैं।[1]

२. वास्तु शास्त्र में गृह की प्रस्तार विधि से अलिन्द एवं शाला की विभिन्न स्थितियों के आधार पर भी सोलह प्रकार से वनने वाले इन गृहों के नाम का निर्धारण होता है। वास्तु शास्त्र में लघु को अलिन्द एवं गुरु को शाला के रूप में ग्रहण किया गया है। 'वास्तु सौख्यम्' के अनुसार-

स्यादलिन्दो लघुस्थाने नालिन्दं गुरुमाश्रितम्।
प्रादक्षिण्यैर्गृहद्वारालिन्दैर्दश च षड्विधाः।। २३७

अर्थात् लघु का अर्थ अलिन्द व द्वार तथा गुरु का अर्थ आलिन्द व द्वारहीन शाला है। पूर्वादि दिशाओं में प्रदक्षिणा क्रम से अलिन्द व द्वार नियोजन से गृह के ध्रुवादि षोडश

---

१. राजवल्लभमण्डन, ६/४-५

नाम प्रकल्पित होते हैं। यहां द्वार शब्द संज्ञा प्रयोजक तथा अलिन्द शब्द शोभातिशयाधायक है, जो भेदकारक नहीं है।

गृह के इन्द्रादि अंश

वास्तु शास्त्र में गृह के निम्नलिखित तीन अंश माने गये हैं-

१. इन्द्र २. यम ३. राजा

आचार्य राम दैवज्ञ ने 'मुहूर्त्त चिन्तामणि' के वास्तु प्रकरण में गृह के अंश साधन की प्रक्रिया इस प्रकार वताई हैं-

भं नागतष्टं व्यय ईरितोऽसौ ध्रुवादिनामाक्षरयुक् सपिण्डः।
तष्टो गुणौरिन्द्रकृतान्तभूपा ह्यंशा भवेयुर्न शुभोऽन्तिकोऽत्र।।१.७.

अर्थात् गृह-नक्षत्र को ८ से भाग देने से जो शेष रहता है वह व्यय होता है। व्यय में ध्रुवादिशाला के नाम की संख्या को पिण्ड (क्षेत्रफल) में जोड़ दो। उस योगफल में तीन का भाग देने पर १ वचे तो 'इन्द्र', २ शेष वचे तो 'यम' और ३ शेष बचे तो राजा का अंश होता है।

इन्द्रादि अंशों का फल

विश्वकर्मप्रकाश में गृह के उक्त इन्द्रादि अंशों के फल का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-

१. इन्द्रांश-"इन्द्रांशे पदवीवृद्धिमहत्सौख्यं प्रजायते"। १९८।

अर्थात् यदि गृह में इन्द्र का अंश आय तो गृहस्वामी को पदवृद्धि और सर्वविध-सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। धार्मिक महत्व के भवनों में जैसे- मन्दिर, मठ-मस्जिद, गुरुद्वारादि के निर्माण में इन्द्रांश लिया जाना चाहिए।

२. यमांश- "यमांशे मरणं नूनं रोगशोकमनेकधा"।

अर्थात् यदि गृह में यम का अंश आय तो गृह स्वामी को रोग, शोक, भय, वाधा, विपत्ति तथा मृत्युतुल्य अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। दुकान, व्यावसायिक भवन, सर्पगृह, श्मशान गृह, मुर्दाघर तथा भैरव एवं शनि मन्दिर के निर्माण हेतु यमांश ग्राह्य होता है।

३. राजांश- "राजांशे धन-धान्याप्तिः पुत्रवृद्धिश्च जायते ।। १९९

अर्थात् यदि गृह में राजा का अंश आय तो ऐसे घर में निवास करने वाले गृह-स्वामी को धन-धान्य का लाभ और पुत्र-सन्तति में वृद्धि होती है। गजशाला, अश्वशाला, गोशाला, वाहन भवन, सामान्य गृह, नगर एवं राजगृह अर्थात् सरकारी इमारतों के निर्माण में राज अंश शुभदायक होता है।

गृह का द्रव्यानयन

गृह के क्षेत्रफल को ८ से गुणाकर गुणनफल को १२ से भाग देकर जो शेष होगा उसे निम्नांकित क्रम से द्रव्य समझना चाहिए। १. शेष में वस्त्र, २. शेष में शस्त्र, ३. शेष में पुस्तक, ४. शेष में द्रव्य, ५. शेष में धान्य, ६. शेष में पृथ्वी, ७. शेष में कुटुव, ८. शेष में विद्या, ६. शेष में पशु, १०. शेष में वाटिका, ११. शेष में भाण्ड एवं भूषण तथा १२ शेष में धन समझें।

गृह का ऋणानयन

गृह के क्षेत्रफल को ३ से गुणाकर ८ से भाग देने पर जो शेष वचे उसको ऋण समझना चाहिए। इस प्रकार विचार करने पर यदि गृह का द्रव्य (शेष) इसके ऋण (के शेष) से अधिक हो तो उस गृह का गृहपति सम्पन्न रहता है। अतः गृह के आय-व्यय और गृह के धन-ऋण के परिणामों के तुलनात्मक विचार एवं आधार पर ही गृहस्वामी की सम्पन्नता एवं निर्धनता का निर्णय किया जाना चाहिए।

गृह की आयु

गृह की आयु के साधन के विषय में वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं के भिन्न-भिन्न मत हैं।

१. गृह के हस्तात्मक क्षेत्रफल को ८ से गुणा कर के गुणनफल में १२० से भाग देने पर प्राप्त शेष संख्या तुल्य वर्ष गृह की आयु के वर्ष होते हैं।

२. गृह के हस्तात्मक क्षेत्रफल को ८ से गुणा करके गुणनफल में ६० का भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो उसे १० से गुणा करने पर जो गुणनफल हो उतने वर्ष तक उस गृह का जीवन होता है।

३. गृह की तिथि संख्या को ६ से, वार संख्या को ५ से, योग संख्या को ४ से और नक्षत्र संख्या को ६ से गुणा करके सभी का योग कर योगफल में ८० का भाग देने पर जो शेष वचे उतनी संख्या तुल्य वर्ष उस गृह की आयु होती है।

गृह का वार

गृह के हस्तात्मक क्षेत्रफल को ६ से गुणाकर गुणनफल में ८ का भाग देने पर जो शेष वचे वही वार होता है।

मण्डलानयन

गृह भूखण्ड के हस्तात्मक लम्वाई व चौड़ाई के योग में ६ का भाग देने से शेष तुल्य क्रम से १. दाता २. भूपति, ३. नपुंसक, ४. चोर, ५. विचक्षण (पण्डित), ६. भोगी,

७. धनाढय, ८. दरिद्र और ९. धनद (कुबेर) ये ९ के मण्डल होते हैं। इनका फल इनके नाम के सदृश ही होता है।

मण्डलेशानयन

गृह स्वामी के हस्तात्मक मान से गृह-भूखण्ड की लम्बाई-चौड़ाई के योग को २ से गुणा करके ८ से भाग देने पर १ शेष बचे तो इन्द्र, २ शेष बचे तो विष्णु, ३ शेष बचे तो यम, ४ शेष बचे तो वायु, ५ शेष बचे तो कुबेर, ६ शेष बचे तो महादेव, ७ शेष बचे तो विधाता, ८ शेष बचे तो गणेश ये आठ गृह के मण्डलेश होते हैं। १ इन्द्र मण्डलेश हो तो सुख, २ विष्णु मण्डलेश हो तो यश, ३ यम हो तो सर्वदा दुःख, ४ वायु हो तो उच्चाटन, ५ कुबेर हो तो धनवृद्धि, ६ महादेव हो तो कलह वृद्धि, ७ ब्रह्मा हो तो सुख वृद्धि, ८ गणेश हो तो सर्वसिद्धि होती है।

गृह-तिथि का आनयन

तिथि आनयन के सन्दर्भ में दो मत मिलते हैं। प्रथम मत के अनुसार गृह के हस्तात्मक क्षेत्रफल को ८ से गुणा कर १५ का भाग देने पर शेष तुल्य तिथि होती है। अन्य आचार्यों के मत से गृह के क्षेत्रफल को १४ से गुणा कर गुणनफल में ३० का भाग देने पर शेष तुल्य शुक्ल पक्ष से प्रतिपदा आदि तिथियाँ होंगी। गृह-निर्माण हेतु रिक्ता (४-९-१४) तिथि एवं आमावस्या को वृहद्वास्तुमाला में त्याज्य माना गया है।

गृह के वार, तिथि एवं लग्न साधन के विषय में अन्य मत भी वास्तु शास्त्र में मिलते हैं। जो इस प्रकार हैं- आय, नक्षत्र, तारा, व्यय, एवं अंश इन सब की संख्याओं का योग करके योगफल में क्रमशः १५,७ और १२ से भाग देने पर जो शेष बचे वही क्रमशः तिथि, वार और लग्न होती है। जैसे- आय ७, नक्षत्र (स्वाती) १५, तारा २, व्यय ७, अंश ९ इन संख्याओं के योग = ७+१५+२+७+९=४० में, १५ का भाग दिया तो शेष १० मी० तिथि हुई। ७ का भाग दिया तो शेष ५ गुरूवार हुआ। तथा १२ का भाग दिया तो शेष ४ कर्क लग्न हुई।[1]

योग साधन

गृह-पिण्ड (हस्तात्मक क्षेत्रफल) को ४ से गुणाकर गुणनफल में २७ का भाग देने पर जो शेष आयेगा वह क्रमशः विष्कुम्भादि योग होंगे। इनका फल नाम के अनुरूप ही होता है। इनमें अतिगण्ड, धृति, शूल, गण्ड, व्याघात, वज्र, परिघ, व्यतिपात और वैधृति के योग गृहकर्म में वर्जित हैं।

---

१. बृहद्वास्तुमाला, आयाद्यायन, २७-२८

गृह के लग्न, तिथि एवं वार साधन की अन्य विधि

आय, नक्षत्र, व्यय, तारा, और अंश इनके संख्यांकों को गृह के वर्ग हस्तात्मक क्षेत्रफल में जोड़कर योगफल में १२ से भाग देने पर शेष तुल्य लग्न होती है। उपलब्ध लग्न संख्या को ८ से गुणा करके १५ से भाग देने पर शेष तिथि होती है। तिथि को ६ से गुणा करके गुणनफल में ७ का भाग देने से शेष क्रमशः सूर्यादि वार होते हैं।

उदाहरणार्थ-आय, नक्षत्र, व्यय, तारा और अंश इनके अंकों के योग = ७+१५+२+७= ४० को गृह के वर्ग हस्तात्मक क्षेत्रफल ६८७ में जोड़कर ६८७+४०=७२७ को १२ से भाग दिया तो शेष ७ (तुला) लग्न हुई। लग्न संख्या ७ को ८ से गुणा करके १५ से भाग दिया तो ७×८/१५ शेष = ११ तिथि (एकादशी) हुई। तिथि ११ को ६ से गुणाकर ११×६=६६, इसमें ७ का भाग दिया तो शेष एक अर्थात् रविवार हुआ।

ध्वजादि आयों का स्वरूप एवं उनकी गृह निर्माण में उपयोगिता

(क) **ध्वज आय**-ध्वज संज्ञक आय का मुख मनुष्य के सदृश होता है। छत्र, देवालय, ब्राह्मण का घर, वेदी, जलाशय, वस्त्रालय, धर्मशाला, वस्त्राभूषण, शैक्षणिक संस्थान, न्यायालय, पुस्तकालय, विद्यालय, आश्रम, अश्वशाला एवं यज्ञशाला के आयाम एवं विस्तार में ध्वज आय प्रशस्त होता है।

(ख) **धूम्र आय**-धूम्र संज्ञक आय का मुख बिल्ली के समान होता है। अग्नि से जीविकोपार्जन करने वालों जैसे-सुनार का घर, लोहार का घर, आयुध निर्माणगृह, बिजली का नियन्त्रण कक्ष, रसोईघर तथा कुण्ड एवं हवन के स्थल में यह धूम्र संज्ञक आय प्रशस्त होता है।

(ग) **सिंह आय**-सिंह संज्ञक आय का मुख सिंह के सदृश होता है। सिंहद्वार, राजगृह, आयुधभण्डारगृह, सैन्य अकादमी, खेल अकादमी, स्टेडियम, क्षत्रियगृह, मञ्च निर्माण, सुरक्षा वलों के उपयोग के लिए निर्मित भवन, यन्त्रालय एवं सिंहासन के प्रकल्पन में सिंह आय प्रशस्त एवं शुभ होता है। गोशाला या पशुशाला के लिए सिंह आय का निषेध है।

(घ) **श्वान आय**-श्वान आय का मुख कुत्ते के मुख से सदृश होता है। ये गृह दुर्गति और दारिद्रय ग्रस्त होते हैं।

(ङ) **वृष आय**-वृष आय का मुख वैल के मुख के समान होता है। व्यावसायिक भवनों, गोशाला, वाणिज्यिक संस्थान, अश्वशाला, पशुशाला, विश्रामगृह, नाट्यशाला, धान्यगृह, शयनागार तथा सामान्य गृह में वृष आय प्रशस्त होता है।

(च) **खर आय**-खर संज्ञक आय का मुख गधे के मुख के समान होता है। गर्दभशाला, वाद्य संवंधी गृह, मदिरालय, प्रेक्षागृह, एवं द्यूत भवनों में खर आय शुभ होता है।

(छ) **गज आय**-गज आय का मुख गज (हाथी) के समान होता है। नगर संयोजन में अर्थात् पुर निवेश में, गजशाला, भण्डार गृह, महल, मन्दिर, धार्मिक स्थल, उष्ट्रशाला, वाहन कक्ष, शयन कक्ष, विश्रामगृह, वापी, कूप, तालाब एवं समस्त सामान्य आवासीय भवनों में गज आय प्रशस्त होता है।

(ज) **ध्वांक्ष आय**-ध्वांक्ष संज्ञक आय का मुख कौए के मुख के सदृश होता है। शिल्पियों एवं तपस्वियों के गृह, भिखारियों के गृह, माँस विक्रेता के गृह, पक्षीगृह, आदि के लिए ध्वांक्ष आय हितकारक होता है।

खात दिशा एवं खनन स्थान निर्णय

गृहनिर्माण हेतु नींव खनन (खुदाई) का आरम्भ राहु की स्थिति के अनुसार की जाती है। राहु के मुख, पीठ एवं पुच्छ के भूखण्ड में स्थिति का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। सर्पाकार राहु प्रत्येक भूखण्ड में अपने शरीर को फैलाए हुए लेटा रहता है। सूर्य के राशिचार के अनुसार भूखण्ड में इसकी स्थिति में परिवर्तन होता रहता है। अतः भूखनन का प्रारम्भ भूखण्ड के उस हिस्से से करना चाहिए जिस हिस्से में सर्पाकार राहु का कोई अवयव न पड़ता हो। इस सन्दर्भ में वृहद्वास्तुमाला में कहा है-

देवालये गेहविधौ जलाशये राहोमुखं शम्भुदिशो विलोमतः।
मीनार्कसिंहार्कमृगार्कतस्त्रिभे खाते मुखात् पृष्ठविदिक् शुभा भवेत्।।

अर्थात् धार्मिक वास्तु, आवासीय वास्तु एवं जलाशयादि के निर्माण हेतु क्रमशः मीन, सिंह एवं मकर राशि से तीन-तीन राशियों में सूर्य की स्थिति के आधार पर ईशानादि विदिशाओं में विपरीत क्रम से चलते हुए राहु का मुख होता है। अतः जिस दिशा में राहु का मुख होता है, उससे पूर्ववर्ती दिशा में ही भूखनन करना चाहिए। इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं-राहु का मुख वृष, मिथुन एवं कर्क राशिस्थ सूर्य के समय भूखण्ड के आग्नेयकोण में, सिंह, कन्या एवं तुला राशिस्थ सूर्य के समय ईशान कोण में, वृश्चिक, धनु एवं मकर राशिस्थ सूर्य के समय वायव्य कोण में तथा कुम्भ, मीन एवं मेष राशिस्थ सूर्य के समय नैर्ऋत्य कोण में होता है। **"ईशानतः सर्पति कालसर्पो विहाय सृष्टिं गणयेद्विदिक्षु"** अर्थात् यह राहु ईशान से वायव्यादि कोणों में विपरीतगमन करता है। जिस विदिशा में राहु का मुख होता है, उससे पहले की दो विदिशाओं में इसका क्रमशः पृष्ठ तथा पुच्छ विद्यमान होता है। अतः गृह भूमि के खनन का आरम्भ पूर्वादि दिशाओं की अपेक्षा आग्नेयादि विदिशाओं से ही किया जाता है।

गृह-निर्माण हेतु-खात दिशा बोधक चक्र

सूर्य का राशिचार	राहुमुख की स्थिति	खात की दिशा
वृष, मिथुन एवं कर्क	आग्नेय कोण में	नैर्ऋत्य कोण
सिंह, कन्या एवं तुला	ईशान कोण में	आग्नेय कोण
वृश्चिक, धनु एवं मकर	वायव्य कोण में	ईशान कोण
कुम्भ, मीन एवं मेष	नैर्ऋत्य कोण में	वायव्य कोण

देवालय निर्माण हेतु-खातदिशा बोधक चक्र

सूर्य का राशिचार	राहुमुख की स्थिति	खात की दिशा
मीन, मेष, एवं वृष,	ईशान कोण में	आग्नेय कोण
मिथुन, कर्क एवं सिंह	वायव्य कोण में	ईशान कोण
कन्या, तुला एवं वृश्चिक	नैर्ऋत्य कोण में	वायव्य कोण
धनु, मकर एवं कुम्भ	आग्नेय कोण में	नैर्ऋत्य कोण

जलाशय निर्माण हेतु-खातदिशा बोधक चक्र

सूर्य का राशिचार	राहुमुख की स्थिति	खात की दिशा
मेष, वृष, एवं मिथुन	वायव्य कोण में	ईशान कोण
कर्क, सिंह एवं कन्या	नैर्ऋत्य कोण में	वायव्य कोण
तुला, वृश्चिक एवं धनु	आग्नेय कोण में	नैर्ऋत्य कोण
मकर, कुम्भ एवं मीन	ईशान कोण में	आग्नेय कोण

द्वार निर्णय

मुख्य द्वार गृह की दिशा के विषय में वास्तुशास्त्र के आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध हैं।

(i) ज्योतिर्निबन्ध के अनुसार कर्क, वृश्चिक और मीन राशि वालों के लिये पूर्व दिशा में, कन्या, मकर और मिथुन राशिवालों के लिये दक्षिण दिशा में; तुला, कुम्भ और वृष राशि वालों के लिये पश्चिम दिशा में एवं मेष, सिंह और धनुराशि वालों के लिये उत्तर दिशा में द्वार (मकान का मुख-गृह का दरवाजा) बनाना उत्तम फलदायक होता है।

(ii) वास्तुराजवल्लभ के अनुसार वृश्चिक, मीन और सिंह राशि वालों के लिये पूर्वदिशा में; कन्या, कर्क और मकर राशि वालों के लिये दक्षिण दिशा में; धनु, तुला और मिथुन राशि वालों के लिये पश्चिम दिशा में और कुम्भ, वृष तथा मेष राशि वालों के लिये उत्तर दिशा में मकान का दरवाजा बनाना उत्तम होता है।

(iii) वास्तुप्रदीप के अनुसार जो प्रायः सर्वमान्य है ब्राह्मण राशि (४/८/१२) वालों को पूर्वदिशा में; वैश्य राशि (२/६/१०) वालों के लिये दक्षिण दिशा में शूद्र राशि (३/७/११) वालों के लिये पश्चिम दिशा में एवं क्षत्रिय राशि (१/५/९) वालों के लिये उत्तर दिशा में घर का द्वार वनाना उत्तम होता है।[1]

द्वार प्रमाण

मकान के हस्तात्मक व्यास (विस्तार) के तुल्य अङ्गुल में ५० अङ्गुल और जोड़ देने पर कनिष्ठ द्वारा की ऊँचाई, ६० अङ्गुल और जोड़ देने से मध्यम द्वार की ऊँचाई और ७० अङ्गुल और जोड़ देने से उत्तम द्वार की ऊँचाई होती है। लम्बाई के १३वें हिस्से से युक्त लम्बाई के आधे के बराबर उत्तम द्वार की चौड़ाई, लम्बाई में लम्बाई का तृतीयांश १/३ कम (अर्थात् लम्बाई के २/३ के बराबर) मध्यमद्वार की चौड़ाई और तथा लम्बाई के आधे के तुल्य निकृष्ट द्वार की चौड़ाई का मान होता है[2]। उतने ही अङ्गुल द्वार की चौड़ाई और द्वार की चौड़ाई का दूना द्वार की ऊँचाई बनानी चाहिये।

यदि मकान में एक ही दरवाजा वनाना हो तो पूर्व दिशा में वनाना उत्तम होता है। ब्रह्मा, भूतेश (महादेव) और जैन इनके मन्दिर में चारों ओर द्वार वनाना श्रेष्ट होता है। यदि मकान में दो ओर द्वार वनाना हो तो पूर्व और पश्चिम दिशा में एक साथ कदापि दरवाजा न बनावें।

द्वार-स्थापन मुहूर्त्त

द्वार स्थापन के लिए मुहूर्त्त का विचार करने में द्वारशाखा, चक्र नक्षत्र, वार एवं तिथ्यादिक के द्वारा निर्णय किया जाता है।

ग्राह्यवार : चन्द्र, वुध, गुरु शुक्रवार।

ग्राह्य नक्षत्र : अश्विनी, रोहिणी, मृगशिर, पुष्य, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, स्वाती, उत्तराषाढा, श्रवण, उत्तराभाद्रपदा एवं रेवती।

ग्राह्य तिथियाँ : पञ्चमी, सप्तमी, अष्टमी एवं नवमी तिथियाँ शुभ होती हैं।

वस्तुतः सुमुहूर्त्त में गृहद्वार की स्थापना करने पर द्वार गृहस्वामी के लिए शुभफलदायक एवं अरिष्टनिवारक होता है।

---

१. स्यात् प्राङ्मुखं ब्राह्मणराशिसद्म, वोदङ्मुखं क्षत्रियराशिकानाम्।
वैश्यस्य ज्ञेयं यमदिङ्मुखं हि शूद्राभिधानामपि पश्चिमास्यम्।।८६.

२. वास्तुराजवल्लभ, ५/७३-७४

कपाटमुहूर्त

चर (स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठ, शतभिषा), स्थिर (रोहिणी, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपद) इन ६ नक्षत्रों में बुध, शुक्र वारों में, शुभ (१/२/३/५/७/१०/११/१३/१५) तिथियों में और द्विस्वभावराशि (३/६/६/१२) के लग्नों के कपाट लगाना शुभदायक होता है।

गृहारम्भ मुहूर्त्त

वास्तुभूमि पर गृहनिर्माण हेतु कार्यारम्भ करना अथवा गृह-निर्माण के लिए उसकी नींव रखना गृहारम्भ कहलाता है। धर्म, अर्थ एवं काम को प्रदान करने वाला, शीत, वृष्टि एवं आतप का निवारण कर सुविधा और सुरक्षा प्रदान करने वाला गृह, सुख का अधिष्ठान होता है। ऐसे सुख के अधिष्ठानस्वरूप गृह का निर्माण एक महत्वपूर्ण कार्य है। अतः इसका शुभारम्भ सुमुहूर्त्त में ही करना चाहिए। सामान्यतया गृहारम्भ में भद्रा, गुरु-शुक्रास्त काल, अधिकमास, क्षयमास, तिथिवृद्धि, तिथिक्षय, ग्रहणकाल, संक्रान्ति, विष्कुम्भादि योगों के वर्जितकाल, क्रूरग्रहयुति, क्रूरग्रहवेधादि दोषों से रहित काल को ही लिया जाता है।

१. **मासशुद्धि**-गृह-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने के लिए मासशुद्धि के सन्दर्भ में वास्तुग्रन्थों में कहा गया है कि- चैत्रमास में गृह-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने से शोक, वैशाख में अर्थप्राप्ति, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में पशुहरण, श्रावण में पशुवृद्धि, भाद्रपद में शून्यता, आश्विन में कलह, कार्तिक में मृत्यु एवं नाश, मार्गशीर्ष एवं पौष में अन्नलाभ, माघ में अग्निदाह का भय एवं फाल्गुन में लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

ग्राह्य मास-अतः वैशाख, श्रावण, मार्गशीर्ष, पौष एवं फाल्गुन मास गृहारम्भ हेतु उत्तम हैं। मतान्तर से कार्तिक एवं माघ मास भी ग्राह्य हैं।

२. **ग्राह्य पक्ष**-श्राद्ध पक्ष एवं त्रयोदशदिन पक्ष को छोड़कर शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष की पञ्चमी तक गृह-निर्माण करना शुभ होता है।

३. **ग्राह्य तिथि**-गृहराम्भ में २,३,५,६,७,१०,११,१२,१३ एवं १५ तिथियाँ शुभ होती हैं। अर्थात् प्रतिपदा, रिक्ता, अमा और अष्टमी को छोड़कर शेष सभी तिथियाँ शुभमानी गई हैं।

४. **ग्राह्य वार**-सोमवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार एवं शनिवार गृहारम्भ के लिए प्रशस्त होते हैं। रविवार और मंगलवार का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

५. **ग्राह्य नक्षत्र**-रोहिणी, मृगशीर्ष, हस्त, चित्रा, स्वाति, अनुराधा, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, घनिष्ठा, शतभिषा एवं रेवती नक्षत्र गृहारम्भ में शुभ होते हैं। कुछ आचार्यों के मत में पुष्य एवं पुनर्वसु नक्षत्र भी ग्राह्य माने गए हैं। गृह के मुख्य द्वार की दिशा के

अनुसार भी गृहारम्भकालीन शुभ नक्षत्रों का निर्णय "दिग्द्वारनक्षत्रचक्र" द्वारा करने का निर्देश मुहूर्तग्रन्थों में दिया गया है।

> शलाका सप्तके देयं कृत्तिकादि क्रमेण च।
> वामदक्षिणभागं तु प्रशस्तं शान्तिकारकम्।।
> अग्रे पृष्ठे न दातव्यं यदीच्छेच्छ्रेयमात्मनः।
> ऋक्षं चन्द्रस्य वास्तोश्च ह्यग्रे-पृष्ठे न शस्यते।।[1]

अर्थात् कृत्तिका से आरम्भ करके सात-सात नक्षत्र पूर्वादि दिशाओं में विभाजित हैं। पूर्वद्वार गृह के लिए कृत्तिका से आश्लेषा तक सम्मुखस्थ नक्षत्र और पश्चिमाभिमुख द्वार के लिए पृष्ठस्थ नक्षत्र होंगे। अतः कृत्तिकादि सात-सात नक्षत्र पूर्वादि दिशाओं के दिग्द्वार नक्षत्र हैं, उनमें सम्मुख व पीछे के नक्षत्रों में गृहारम्भ निषिद्ध व दक्षिण, वाम भाग के नक्षत्रों में गृहारम्भ विहित है।

वृष वास्तु चक्र

गृहारम्भ के समय नक्षत्र शुद्धि का विचार वृष वास्तु चक्र के आधार पर किया जाता है। जैसे-गृहारम्भ के समय सूर्यनक्षत्र से दिन नक्षत्र तक गणना करने पर प्रथम ७ नक्षत्र तक अशुभ, तदनन्तर ८वें नक्षत्र से १७वें नक्षत्र तक शुभ, उसके वाद १८वें नक्षत्र से २८वें नक्षत्र तक अशुभ होते हैं। (यहाँ नक्षत्र गणना साभिजित् होती है।)

वृष वास्तु चक्र

अंग	शिर	अग्रपाद	पृष्ठपाद	पृष्ट	वामकुक्षि	दक्षिणकुक्षि	पुच्छ	मुख
नक्षत्र	३	४	४	३	४	३	४	३
फल	ग्रहदाह	विनाश	स्थिरता	धनलाभ	लक्ष्मीलाभ	शून्यता	दरिद्रता	मृत्यु

भारतीय वास्तुविद्या के अनुरूप कक्ष विभाजन

पाकशाला, स्नानागार आदि विभिन्न कक्षों का निर्माण गृह के किस-किस भाग में किया जाय? इस सन्दर्भ में भारतीय वास्तुग्रन्थों में जो निर्देश दिया गया है वह इस प्रकार है-

गृह की पूर्व दिशा में स्नानागार, आग्नेयकोण में पाकशाला, दक्षिण में शयनकक्ष, नैर्ऋत्य में शस्त्रगृह, पश्चिम में भोजनकक्ष, वायव्य में धान्यागार, उत्तर में कोषागार और ईशान में पूजाग्रह का निर्माण होना चाहिए। प्राचीन वास्तु ग्रन्थों के अनुसार १६ खण्डों में

---

१. वास्तुसौख्यम् = ४/१७-१८

कक्षों आदि का विभाजन कर, प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक् दिशाओं का उल्लेख किया गया है।

कक्ष विभाजन

ऐशान्य — पूर्व — आग्नेय

उत्तर ↓ / दक्षिण →				
पूजागृह	सर्ववस्तुसंग्रह	स्नानागार	मन्थनगृह	पाकशाला
औषधगृह				घृतागार
कोषागार		ब्रह्मास्थान		शयनकक्ष
रतिगृह				शौचालय
धान्यागार	रोदनकक्ष	भोजनकक्ष	अध्ययनकक्ष	शस्त्रागार

उत्तर — दक्षिण

वायव्य — पश्चिम — नैर्ऋत्य

१६ कक्षों के आधार पर किये गए इस विभाजन को अगर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो ज्ञात होता है कि कक्ष-निर्माण की यह व्यवस्था तत्कालीन समाज की परिस्थितियां एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की गई है और आज इनके कतिपय कक्षों की उपादेयता दृष्टिगोचर नहीं होती। इसलिए यह आवश्यक है कि जिन कक्षों की प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है जितनी पहले थी उनका निर्धारण उसी दिशा क्रम में करना चाहिए। जैसे- अग्नि से संबंधित कार्य पाकशाला एवं बिजली के उपकरणादि आग्नेयकोण में, पूजा का कक्ष ईशानकोण में, शयन कक्ष, अध्ययन कक्ष, तथा अनाज के आदि का निर्धारण/भण्डारण इसी निर्दिष्ट क्रम में करना चाहिए। वास्तुशास्त्रीय सूत्रों का अनुसरण करते हुए भवन को आधुनिक स्वरूप प्रदान कर गृहस्वामी सर्वविध अभ्युन्नति, परिवार, धन-धान्य एवं मानसिक शान्ति के साथ-साथ प्राकृतिक आपदाओं से रहित व्यतीत कर सकता है। चूँकि प्रत्येक दिशा से प्रकृति की शक्ति की तरंगे सतत प्रवाहित होती रहती हैं, अतः वास्तुशास्त्र में जो-जो दिशायें जिस-जिस कक्ष-विशेष के लिए निर्दिष्ट हैं उसी क्रम से कक्षों का निर्माण एवं उपयोग करना चाहिए।

वर्तमान समय में जन-सामान्य के पास इतने विशाल भूखण्ड नहीं होते हैं कि वह वास्तु सम्मत १६ कक्षों के सिद्धान्तानुसार गृह-निर्माण कर सके। अतः उपलब्ध भूखण्ड को विभिन्न दिशाओं एवं विदिशाओं में विभक्त कर वास्तु के अनुसार गृह में कक्षों का समायोजन किया जा सकता है।

गृहवाटिका एवं गृह के समीप वृक्ष विचार

भारतीय संस्कृति में वृक्ष संरक्षण, वृक्षारोपण तथा वृक्ष संवर्धन को विशेष महत्व दिया गया है। यही नहीं देवमयी भारतीय संस्कृति में तो वृक्षों की पूजा का विधान भी है। वृक्ष जहाँ तीव्रगति से बढ़ रहे प्रदूषण के दुष्प्रभाव को रोकने में पूर्ण सक्षम हैं वहीं प्राणिमात्र के स्वास्थ्य के लिए नितान्त लाभप्रद विशुद्ध वायु भी प्रदान करते हैं। वास्तव में पेड़ पौधों का मानव-जीवन से सीधा संवंध है, इसीलिए वास्तुशास्त्र के अनुसार आवास स्थलों में वृक्षारोपण का उल्लेख है।

गृह-भूमि के वातावरण को प्रदूषणमुक्त एवं पवित्र बनाने के लिए वास्तुशास्त्रोक्त पेड़-पौधों को लगाना महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में वृहत्संहिता में कहा है-

वर्जयेत्पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा।
न्यग्रोधं पश्चिमे भागे उत्तरे वाप्युदुम्बरम्।।
अश्वत्थे तु भयं ब्रूयात् प्लक्षे ब्रूयात्पराभवम्।
न्यग्रोधे राजतः पीड़ा नेत्रामयमुदुम्बरे।।
वटः पुरस्तात् धन्यः स्याद् दक्षिणे चाप्युदुम्बरः।
अश्वत्थः पश्चिमे धन्यः प्लक्षस्तूत्तरतः शुभः।। ५२/६२

अर्थात् भूखण्ड की पूर्व दिशा में पीपल, दक्षिण में प्लक्ष (पलाश), पश्चिम में वट (बरगद) और उत्तर में गूलर का वृक्ष नहीं होना चाहिए। पूर्व दिशा में पीपल के होने से गृहस्वामी को भय, दक्षिण में प्लक्ष (पलाश) के होने से पराभव, पश्चिम में वट वृक्ष होने से शासन की ओर से दण्ड भय और उत्तर में गूलर का वृक्ष होने से भवनवासियों को नेत्र-व्याधि होती है। यदि पश्चिम में पीपल, उत्तर में पलाश, पूर्व में वट वृक्ष और दक्षिण में गूलर का वृक्ष हो तो शुभ होता है।

गृहवाटिका में त्याज्य वृक्ष एवं उनके दोष का परिहार

ऐसे वृक्ष जिन्हें भवन के आस-पास लगाने से भवन-स्वामी को अनेक प्रकार के कष्ट हो सकते हैं, वे गृहवाटिका में त्याज्य रखने चाहिए। वराहमिहिर ने इस विषय में कहा है-

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकराः दारुण्यपि वर्जयेदेषाम्।।
छिद्याद्यदि न तरुंस्ताँस्तदन्तरे पूजितान्वपेदन्यान्।
पुन्नागाशोकारिष्टवकुलपनसान् शमीशालौ।।

अर्थात् भवन के पास काँटेदार वृक्ष जैसे वेर, ववूल, कटारि आदि नहीं लगाने चाहिए। गृह-वाटिका में काँटेदार वृक्ष होने से गृह-स्वामी को शत्रुभय, दूध वाले वृक्षों से धन-हानि तथा फल वाले वृक्षों से सन्तति कष्ट होता है। अतः इन वृक्षों और मकान के बीच में शुभदायक वृक्ष जैसे-नागकेसर, अशोक, अरिष्ट, मौलश्री, दाड़िम, कटहल, शमी और शाल इन वृक्षों को लगा देना चाहिए। ऐसा करने से अशुभ वृक्षों का दोष दूर हो जाता है।

●●●

काल विधान

काल विज्ञान का क्रमिक वर्णन

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्रा

वेदों एवं पुराणादि में सृष्टि-प्रलयात्मक अनादि एवं अनन्त काल प्रवाह के परिज्ञान तथा ब्रह्म की उत्पत्ति एवं उनकी आयु की गणना, कल्प, ब्राह्मदिन, मन्वन्तर, युग, संवत्सर, मनु, मास, पक्ष, तिथि, वार, घटी, पल, निमेष काष्ठादि सूक्ष्म एवं स्थूल काल परिमाणों का वर्णन किया गया हैं। इस काल गणना के नियामक सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की स्थिति गति एवं निरूपण में सहायक नक्षत्रों एवं राशियों का भी विवरण उपलब्ध होता है। पुराणों में ब्राह्म दिवसादि के अतिरिक्त वैष्णव एवं रौद्र काल का भी वर्णन हुआ है जो ब्राह्म काल की अपेक्षा अति दीर्घकाल का संकेत करता है।

१-ब्रह्मा

''सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।'' इस वाक्य में विधाता ब्रह्मा द्वारा सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रहों, नक्षत्रों तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की पूर्वानुकल्पीय रचना का वर्णन किया गया है।

विष्णु पुराण के प्रथम अंश के तृतीय अध्याय में ब्रह्मा की उत्पत्ति एवं उनकी आयु आदि का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है। तदनुसार ''मैत्रेय ने प्रश्न किया कि जो ब्रह्मा निर्गुण अप्रमेय शुद्ध और निर्मलात्मा है उसका सर्गादि का कर्ता होना कैसे कहा जा सकता हैं ? इसके उत्तर में पाराशर ने कहा समस्त भाव पदार्थो की शक्तियाँ ज्ञान की विषय होती है। अतः अग्नि की शक्ति उष्णता के समान ब्रह्म की भी सर्गादि रचना रूप शक्तियाँ स्वाभाविक है। उनके अपने काल मान से उनकी आयु सौ वर्ष की कही जाती है। उस सौ वर्ष के काल का नाम 'पर' है। इसका आधा परार्द्ध कहलाता है। विष्णु के काल स्वरूप द्वारा उस ब्रह्मा की तथा अन्य और भी जो पृथ्वी, पर्वत, समुद्र एवं चराचर जीव हैं उनकी आयु का परिमाण ज्ञात किया जाता है। वह इस प्रकार है-पन्द्रह निमिष को काष्ठा कहते है। तीस काष्ठा की एक कला तथा तीस कला का एक मुहूर्त होता हैं। तीस मुहूर्त का मनुष्य का एक अहोरात्र होता हैं। उतने ही दिन रात के दो पक्षों का एक मास तथा छः महीनों का एक अयन होता है। दक्षिणायन और उत्तरायण इन दो अयनों का एक वर्ष होता है। दक्षिणायन देवताओं की रात्रि है और उत्तरायण दिन। देवताओं के बारह हजार वर्षो का एक महायुग होता है जिसमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग नामक चार युग होते हैं।

कल्प

कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है। दिन के तुल्य ही (१ कल्प की) रात्रि होती है-
१. श्वेतवाराह २. नीललोहित ३. वामदेव ४. गाथान्तर ५. रौरव ६. प्राण ७. बृहत्कल्प

८. कन्दर्प ९. सत्य १०. ईशान ११. ध्यान १२. सारस्वत १३. उदान १४. गरुड़ १५. कौर्म (कौर्म को ब्रह्मा की पूर्णमासी का दिन कहा जाता हैं।), १६. नारसिंह १७. समाधि १८. आग्नेय १९. विष्णुज २०. सौर २१. सोमकल्प २२. भवन २३. सुप्रमाली २४. वैकुण्ठ २५. आर्चिप २६. वल्मीक २७. वैराज २८. गौरी कल्प २९. माहेश्वर ३०. पितृकल्प।

तीस कल्पात्मक दिनों से ब्रह्मा का एक मास होता है। ऐसे बारह महीनों का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षो की ब्रह्मा की परमायु होती है। इस विवरण के अनुसार वर्तमान ब्रह्मा की आयु के पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

मन्वन्तर (मनु)

७१ महा युगों (चतुर्युगों) का एक मनु होता है आर्थात् एक मनु (मन्वन्तर) में; (७१ × १२००० दिव्य वर्ष) = ८५२००० दिव्य वर्ष तथा मानवीय मान (सौर वर्ष) के अनुसार ३०६७२०००० वर्ष होते हैं। इसी प्रमाण वाले कुल १४ मनु होते हैं। मनुओं के नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं।

१-स्वायम्भुव २-स्वारोंचिष ३-उत्तम ४-तामस ५- रैवत ६- चाक्षुप। इन छः मनुओं का काल व्यतीत हो चुका है। सम्प्रति ७-वें वैवस्वत मनु का काल चल रहा है। तदनन्तर ८-सावर्णि ९-दक्षसावर्णि १०-ब्रह्मसावर्णि ११-धर्मसावर्णि १२-रुद्रसावर्णि १३-देवसावर्णि तथा १४-इन्द्रसावर्णि।

वेद एवं ब्राह्मणों वचनों में युग के प्रसंग में कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त संहिता एवं ब्राह्मण वचनों में अनेकत्र संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर एवं इद्वत्सर नामक पञ्चवत्सरों का उल्लेख प्राप्त होता है। वेदांग ज्योतिष एवं महाभारत में इस पाँच संवत्सरात्मक युग का वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों में वर्णित सृष्टिक्रम के प्रसंग में उल्लिखित कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग नामक लाखों वर्षो वाले चार युगों के उल्लेख से यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि यह चतुर्युगी कल्पना सृष्टिकाल के विस्तृत अवधि के मापनार्थ निरूपित है। किन्तु पञ्चसंवत्सरात्मक युग की कल्पना पञ्च वर्षव्यापी किसी वैदिक याग की अवधि को निरूपित करती है। मानव वर्ष के अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, एवं कलियुग का कालपरिमाण क्रमशः निम्न प्रकार है-

सत्ययुग	-	१७२८००० सौर वर्ष
त्रेतायुग	-	१२९६००० मानव वर्ष
द्वापर युग	-	८६४००० मानव वर्ष
कलियुग	-	४३२००० मानव वर्ष

यज्ञीय दृष्टि से परिकल्पित युग में क्रमशः संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर

एवं इद्वत्सर नामक पाँच वर्षो की आवृत्ति मानी जाती है। इसके लिये युग का प्रयोग औपचारिक ही प्रतीत होता है। वस्तुतः "युग" शव्द 'चार' संख्या का द्योतक होता हैं। अत एव कृत आदि के अर्थ में ही 'युग' शव्द रूढ़ हो गया हैं।

संवत्सर

भारतीय संवत्सर पाँच प्रकार के हैं। सावन, सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और वार्हस्पत्य। इनमें नाक्षत्र और वार्हस्पत्य संवत्सर का उपयोग ज्योतिष विषयक गणना में प्रमुख रूप से होता है। अन्य तीन संवत्सरों का विवरण क्रमशः निम्नांकित हैं:-

सावन वर्ष-यह वर्ष ३६० दिनों का होता हैं। एक दिन का मान सूर्योदय से सूर्योदय तक होता है। संवत्सर की स्थूल गणना इसी के अनुसार होती है। इसमें एक महीना तीस दिनों का होता है।

चान्द्र वर्ष-यह वर्ष ३६० चान्द्र दिनों (प्रायः ३५४ सावन दिनों) का होता है। अधिक मास का निर्धारण इसी संवत्सर के अनुसार माना जाता है। अधिक मास होने पर इसमें १३ मास अन्यथा १२ मास होते हैं। इसमें एक मास शुक्ल प्रति पदा से अमावस्या तक अथवा कृष्ण प्रतिपदा से पूर्णिमा तक माना जाता है। प्रथम को अमान्त मास एवं द्वितीय को पूर्णिमान्त मास कहते हैं। दक्षिण भारत में अमान्त मास एवं उत्तर भारत में पूर्णिमान्त मास प्रचलित हैं।

सौर वर्ष-यह वर्ष ३६० सौर दिनों (प्रायः ३६५ सावन दिनों) का होता हैं। यह सूर्य की मेष संक्रान्ति के आरम्भ से प्रारम्भ होता है और पुनः मेष संक्रान्ति आने तक चलता है। सूर्य प्रतिदिन १ अंश की गति से चलता प्रतीत होता है। सूर्य के एक अंश का भोग काल एक सौर दिन होता हैं।

भारत के व्रत-उत्सवादि में प्रायः चान्द्र संवत्सर ही उपयोग में आता है किन्तु बंगाल, पंजाव, नेपाल तथा कहीं-कहीं अन्यत्र सौर वर्ष भी व्यवहृत होता है।

अस्तु, भारतवर्ष में प्रायः चान्द्र एवं सौर यही दो संवत्सर सम्प्रति उपयोग में आते हैं। स्थूल दृष्टि से ३६० दिनों के संवत्सर की चर्चा की जाती है। किन्तु व्यवहार में प्रायः इसका उपयोग नहीं होता है। क्योंकि व्यवहार में दिन के रूप में सावन दिन तथा वर्ष के रूप में सौर-वर्ष ही लिए जाते हैं। अतः एक वर्ष में सावन दिनों की संख्या ३६५ दिन १६ घटी के आसन्न मानी जाती हैं।

"संवसन्ति ऋतवोऽस्मिन् संवत्सरः" (क्षीर स्वामी, अमरकोश, कालवर्ग २०) तथा "संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि"।[1] निरुक्त की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों के अनुसार ऋतुओं

---

१. निरुक्त अ-४ पा० ख-२६

के परिवर्तन (चक्कर) को संवत्सर या वत्सर कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी ऋतुयें जव एक बार समाप्त हो जाती हैं और जब उनका दूसरा चक्कर आरम्भ होता है, तब एक संवत्सर पूर्ण होकर दूसरा संवत्सर आरम्भ होता है। इसीसे यह कहा जाता है कि संवत्सर के भीतर सभी ऋतुयें रहती हैं। सभी प्राणियों की आयु की गणना भी इन्हीं संवत्सरों के द्वारा होती है। अतएव यह भी कहा गया है कि जिसमें सभी प्राणी रहते हैं उस काल-विभाग का नाम संवत्सर हैं। वस्तुतः यदि मानव को संवत्सर का ज्ञान न होता तो वह न ऋतु विभाग को समझता और न प्राणियों के आयु की गणना ही कर पाता।

यह संवत्सर अर्थात् ऋतु-विभाग सूर्य के परिभ्रमण से सम्बन्धित हैं। सूर्य के परिभ्रमण के विषय में मतभेद है। आधुनिक विद्वानों का यह मत है कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। किन्तु प्राचीनों का यह मत है कि 'सूर्य' ही पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इसी से संस्कृत के कोशों में पृथ्वी के पर्यावाची शब्द 'अचला' एवं 'स्थिरा' पाये जाते हैं। भारतीय ज्योतिष में दोनों प्रकार के मत पाये जाते हैं। अस्तु, "सूर्य के परिभ्रमण" का अर्थ "पृथ्वी द्वारा सूर्य का परिभ्रमण" इस प्रकार का अर्थ करने से दोनों प्रकार के मतों का समन्वय हो जाता है। सूर्य संवत्सर अथवा काल का अधिदेवता कहा जाता है। क्योंकि यदि सूर्य न हो तो न संवत्सर रहे और न काल-विभाग। प्रकृत में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है।

"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।।"[1]

अर्थात् एकाकी विचरण करने वाले एक पहिये वाले रथ (अर्थात् सूर्य) को सात (वर्ण वाली) रश्मियां अपने साथ जोड़ती हैं। अकेला सब को व्याप्त करने वाला वह सूर्य सात रश्मियों से रस लेता हुआ अथवा सप्तर्षियों से स्तुति किया जाता हुआ जा रहा है। यह (ग्रीष्म, वर्षा, और हेमन्त इन) तीन नाभियों वाला कभी जीर्ण न होने वाला और किसी के सहारे न चलने वाला चक्र (संवत्सर) हैं। इसमें यह सब लोक स्थित हैं:- "संवत्सर-प्रधान उत्तरोऽधर्चः"[2] ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र के पूर्वार्ध में सूर्य का एवं उत्तरार्धमें संवत्सर का वर्णन किया गया हैं।

सौर और चान्द्र वर्ष के सदृश भारतीय ज्योतिष में वृहस्पति की गति के कारण एक वार्हस्पत्य वर्ष भी माना जाता है। दैनिक व्यवहार में इस वर्ष का कोई महत्व नहीं है। किन्तु संहिता-प्रकरण की दृष्टि से वर्ष के शुभाशुभ का निर्धारण करने में इस संवत्सर का विशेष उपयोग होता है। बार्हस्पत्य वर्षो के नाम निम्न प्रकार से हैं।

---

१. ऋग्वेद-२।२६४।२
२. निरुक्त अ-४ पा० ४ ख-२६

१. प्रभव २. विभव ३. शुक्ल ४. प्रमोद ५. प्रजापति ६. अंगिरा ७. श्रीमुख ८. भाव ६. युवा १०. धाता ११. ईश्वर १२. बहुधान्य १३. प्रभाथी १४. विक्रम १५. वृष १६. चित्रभानु १७. सुभानु १८. तारण १६. पार्थिव २०. व्यय २१. सर्वजित् २२. सर्वधारी २३. विरोधी २४. विकृतः २५. खर २६. नन्दन २७. विजय २८. जय २६. मन्मथ ३०. दुर्मुख ३१. हेमलम्ब ३२. विकारी ३३. शर्वरी ३४. प्लव ३५. शुभकृत् ३६. शोभन ३७. क्रोधी ३८. विश्वावसु ३६. पराभव ४०. प्लवंग ४१. कीलक ४२. सौम्य ४३. साधारण ४४. विरोधकृत ४५. परिधावी ४६. प्रमाथी ४७. आनन्दो ४८. राक्षस ४६. नल ५०. पिंगल ५१. कालयुक्त ५२. सिद्धार्थ ५३. रौद्र ५४. दुर्मति ५५. दुन्दुभि ५६. रुधिरोद्गारी ५७. रक्ताक्ष ५८. क्रोधन एवं ५६. क्षय।

इनकी गणना प्राचीन काल में 'प्रभव' से न होकर 'विजय' संवत्सर से होती थी।

अयन

सूर्य की गति को अयन कहते हैं। "अयने द्वे गतिरुदग् दक्षिणार्कस्य" (अमरकोश, काल वर्ग १३)। "इण्" धातु से भावार्थक ल्युट् प्रत्यय करने से "अयन" शब्द बनता है। इस का अर्थ "गति" होता हे। अयन दो होते हैं:- दक्षिणायन और उत्तरायण। कर्क संक्रान्ति से लेकर धनु संक्रान्ति तक अर्थात् सौर श्रावण से सौर पौष ये छः महीने होते हैं। इसी प्रकार मकर संक्रान्ति से मिथुन संक्रान्ति पर्यन्त उत्तरायण होता है। इसमें माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये छः मास होते हैं। "तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण"[१]।

'अयन' शब्द का अर्थ "गति और मार्ग" होता है। सूर्य सदा पूर्व दिशा के मध्य विन्दु पर नहीं रहता। अपितु चैत्र (मेष संक्रान्ति) से श्रावण (कर्क संक्रान्ति) के आरम्भ तक पूर्व के दक्षिण भाग से उत्तर की ओर आता है। इसी प्रकार श्रावण से कार्तिक (तुला संक्रान्ति) के आरम्भ तक लौटकर पूर्व के मध्य-विन्दु पर आ जाता है। कार्तिक से माघ (मकर संक्रान्ति) के आरम्भ तक पूर्व के उत्तर भाग से दक्षिण में बढ़ता है। पुनः वहाँ से लौटकर वैशाख (मेष संक्रान्ति) के आरम्भ में पूर्व के मध्य बिन्दु पर आ जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि श्रावण से लेकर पौष तक जिन मासों में उत्तर के अन्तिम छोर से दक्षिण के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ महीनों का दक्षिणायन और माघ से आषाढ़ तक जिन महीनों में दक्षिण के अन्तिम छोर से उत्तर के अन्तिम छोर तक सूर्य हटता है उन ६ मासों को उत्तरायण कहते हैं।

उत्तरायण में दिन वड़ा होता हैं। अतः समय प्रकाश की अधिकता रहती हैं। दक्षिणायन में रात्रि बड़ी होने से अन्धकार की अधिकता रहती है। शास्त्रों में प्रकाश को

१. तै०स० ६.५.३

देव तत्व और अन्धकार को असुरतत्व कहा गया है। अतः उत्तरायण को देवताओं का दिन और दक्षिणायन को देवताओं की रात्रि मानते हैं।

ऋतु

संवत्सर के प्रकरण में यह लिखा गया है कि ऋतुओं के परिवर्तन का नाम ही संवत्सर है। तात्पर्य यह कि ऋतुएं ही संवत्सर या काल का परिज्ञान कराती हैं। वस्तुतः ऋतुओं का ज्ञान न होने पर समय या काल का परिज्ञान असम्भव प्राय होता है। अतः यह कहना सर्वथा यथार्थ है कि ऋतुएँ ही समय का स्वरूप अथवा लक्षण हैं।

'ऋतु' शब्द ''ऋ गतौ'' धातु से निष्पन्न है। अमरकोश के टीकाकार क्षीर स्वामी ने लिखा है ''इयर्ति ऋतु'' एवं पाणिनि के उणादि प्रकरण के अनुसार ''अर्तेश्च तुः (१-७१)'' इस प्रकार ऋतु शब्द की निष्पत्ति होती हैं।

''ऋग्वेद के ''त्रिनाभिचक्रं (२-३-१४)'' इस अंश की व्याख्या निरुक्त में है। ''ऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति'' अर्थात् सवत्सर में तीन ऋतुएं ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त होती है। वस्तुतः ऋतुएं तीन ही होती है। कालान्तर में इन तीनों के दो-दो विभाग होकर छः ऋतुएं मानी गयी। यथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त एवं शिशिर। वेदों में कहीं-कहीं पाँच ऋतुएं भी मानी गयी है। यथा ''पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने''[1] इति पञ्चर्तुतया। यथा ''पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम्। हेमन्तशिशिरयोः समासेन''[2] ''पञ्च शारदीयेन यजेत। पञ्च वा ऋतवः, संवत्सर''[3] पाँच ऋतुओं की गणना में हेमन्त एवं शिशिर नामक ऋतुओं का संयुक्त नाम हेमन्त माना गया है। किन्तु इन दोनों ऋतुओं से लक्षित होने वाली विशेषताओं के कारण दोनों की पृथक् गणना की जाने लगी।

चैत्र और वैशाख इन दो महीनों को वसन्त, ज्येष्ठ आषाढ़ को ग्रीष्म, श्रावण, भाद्रपद को वर्षा, आश्विन-कार्तिक को शरद, मार्गशीर्ष-पौष को हेमन्त एवं माघ फाल्गुन को शिशिर कहते हैं। शास्त्रों में ऋतु के अनुसार ही वस्तुओं का परिणाम बताया गया है। प्रत्येक प्राणी, वृक्ष, लता इत्यादि का विकास ऋतु के अनुसार ही होता है। अस्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर ऋतुओं को काल का लक्षण कहा जाना यथार्थ प्रतीत होता हैं। वेदों में चन्द्रमा को ऋतुओं का विधाता (निर्माणकर्ता) कहा गया है।

पूर्वापरं चरतो माययैतो शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनानि चष्टे ऋतूरन्यो विदधज्जायते पुनः।।[4]

उपर्युक्त ऋचा के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा दोनो ऋतुओं के विधाता हैं। वस्तुतः चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। अतः चन्द्रमा की गति के अनुसार पृथ्वी को प्रतिदिन सोमरस

---

१. ऋ०स० १-१६४-१३, २. नि० ४-४-२६, ३. तै०ब्रा० २/६/१०, ४. ऋग्वेद १०-८५-१०

समानरुप से प्राप्त होता रहता है किन्तु सूर्य का प्रभाव पृथ्वी पर सदा समान नहीं पड़ता। उत्तरायण में सूर्य की किरणें पृथ्वी पर सीधी पड़ने से सोम के प्रभाव को क्रमशः कम करती है। अतः उष्णता की वृद्धि होती जाती है। उष्णता एवं शीत के इस न्यूनाधिक्य के कारण ही ऋतुयें वनती हैं।

जब हम एक वर्ष में तीन ऋतुओं को ही ग्रहण करते हैं तब एक-एक ऋतु का एक-एक चातुर्मास्य होता है। फाल्गुन से ज्येष्ठ तक चार महीनों की ग्रीष्म ऋतु, आषाण से आश्विन तक वर्षा ऋतु तथा कार्तिक से माघ तक हेमन्त ऋतु होती हैं। जिस ऋतु में सूर्य की किरणें रसों को ग्रसित करती है उसे ग्रीष्म कहते हैं। जब मेघ बरसते हैं उस काल को वर्षा कहते है। जिस ऋतु में हिम (शीत अथवा बर्फ) रहता है उसे हेमन्त कहते हैं।

ऋतुओं के नामों की सार्थकता

वसन्त

'मधु' एवं "माधव" ये दोनों ही शब्द मधु से निष्पन्न है। 'मधु' का अर्थ होता है एक प्रकार का रस। यह वृक्ष, लता तथा प्राणियों को मत्त करता है। इस रस की जिस ऋतु में प्राप्ति होती है उसे वसन्त कहते हैं। अतएव यह देखा जाता है कि इस ऋतु में वृष्टि के बिना ही वृक्ष, लतादि पुष्पित होते हैं एवं प्राणियों में मदन-विकार होता है। अतएव क्षीर स्वामी ने कहा है "वसन्त्यस्मिन् सुखम्" अर्थात् जिसमें प्राणी सुख से रहते हैं। निष्कर्ष यह कि जिस ऋतु में सर्वत्र आनन्द एवं माधुर्य की व्याप्ति होती है उसे वसन्त कहते हैं।

ग्रीष्म

"शुक्रः शोचतेः। शुचिः शोचतेर्ज्वलित कर्मणः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शुक्र' व शुचि' शब्द "शुच्" धातु से निष्पन्न हैं। शुच्' का अर्थ है जलना या सुखाना। अस्तु जिस ऋतु में पृथ्वी का रस (जल) सूखता या जलता है उस ऋतु का नाम "ग्रीष्म" हैं। है। अतः यह देखा जाता है कि ग्रीष्म ऋतु में वसन्त के उत्पन्न फल, पुष्प आदि में जल के आधिक्य से जो कोमलता होती है उसे त्याग कर वे परिपक्व हो जाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी भी शुष्क हो जाती हैं। अतएव ग्रीष्म उस ऋतु को कहते हैं जो पदार्थो को सुखाती एवं परिपक्व करती है।

वर्षा

"नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणयः, अपि वा मन एव स्याद्विपरीतः। न भातीति वा' अर्थात् नभ का अर्थ आदित्य होता है। (सूर्य) जब पूर्ण

निरुक्त २/४/१४

रूप से प्रकाशित नहीं होता उस काल को 'नभस्' कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिस पदार्थ के द्वारा 'रस' अर्थत् जल पहुँचाया जाता है अथवा जो प्रकाश को अवरुद्ध करता है उस तत्व का नभस् है। जिस ऋतु में प्रकाश का आच्छादक तत्त्व प्रधान रहता है उस ऋतु को वर्षा ऋतु कहते हैं। अभिप्राय यह कि आठ महीने तक जो जल सूर्य की किरणों से वाष्प बनकर आकाश में अव्यक्त रूप से स्थित रहा उसे व्यक्त रूप में लाकर जल का स्वरूप देने वाले तत्त्व अर्थात् सूर्य को आच्छादित करने वाले तत्त्व को 'नभस्' कहते हैं। यह तत्त्व जिस काल में क्रियाशील रहता है उस ऋतु का नाम वर्षा हैं। यथाः-

''अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते।।[1]

शरद्

''सा नो मन्द्रेषमूर्ज दधाना[2] इस ऋगंश की व्याख्या में कहा गया है ''इषम् अन्नम् ऊर्जम् पयोघृतादि रूपं रसं च''। जिस ऋतु में अन्न और घृत एवं दुग्ध इत्यादि रस का परिपाक एवं प्राप्ति होती है उस ऋतु को शरद् कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि जिस ऋतु में औषधियाँ (फसलें) पक जाती हैं अथवा जल निर्मल हो जाता है उसे शरद् ऋतु कहते हैं। ''शारच्छता अस्यामोपधयो भवन्ति, शीर्णा आप इति।[3]

हेमन्त

''सहस्'' शब्द का अर्थ निघण्टु[4] में बल किया गया है। क्योंकि सहन करना प्रकारान्तर से बल का कार्य हैं। 'सहाः' और 'सहस्य' शब्द इसी 'सहस्' शब्द से बने हैं। तात्पर्य यह कि जिस ऋतु में अन्न-पानादि के उपयोग से बल की वृद्धि होती है उस ऋतु को हेमन्त कहते हैं। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि अन्नपानादि अन्य ऋतुओं की अपेक्षा हेमन्त में अधिक बलप्रद होते हैं एवं प्राणियों की कार्य क्षमता भी हेमन्त में अधिक हो जाती हैं।

शिशिर

''शिशिरं श्रृणारोः शम्नातेर्वा''[5] 'तपस्' शब्द ''तप सन्तापे'' धातु से बना है। अभिप्राय यह कि जिस ऋतु में उष्णता की वृद्धि होने से वृक्षादि के पत्रादि पक कर गिरते हैं उसे शिशिर कहते हैं। अस्तु ''शीर्यन्ते पर्णानि अस्मिन्निति शिशिरः'' यह भी व्युत्पत्ति की गयी है।

---

१. श्रीमद्भागवत १०/२०/५, २. ऋ. ६/७/५, ३. निरुक्त ४/४/२५, ४. निघण्टु २/६/१६
५. निरुक्त १/३/१०.

निष्कर्ष यह कि काल अथवा समय के कारण वर्ष में जो विभिन्न परिणाम भिन्न-भिन्न अन्तराल पर दिखलायी पड़ते हैं उसका कारण ऋतु नामक काल का अवयव ही होता है। ये परिणाम जब अपना रूप दिखलाकर अपनी पुनरावृत्ति करते हैं तव सब ऋतुएँ समाप्त हो जाती है और नवीन संवत्सर का आरम्भ होता है। अतः काल के स्वरूप को यथार्थतः प्रकट करने वाली ऋतुयें ही होती हैं। अतएव भारतीय व्रतोत्सवों में ऋतुओं को प्रधानता प्राप्त हैं।

मास

'मास' शब्द का अर्थ होता है "चन्द्रसम्बन्धी"। अमरकोश के टीकाकार श्री क्षीरस्वामी ने कहा है "माश्चन्द्रः तस्यायं मास" अर्थात मा (चन्द्र) का जो हो उसे "मास" कहते हैं। चन्द्रमा से ही मास का ज्ञान होता है एवं चान्द्रमास ही मुख्य हैं। यही कारण है कि मासों के चैत्रादि प्रचलित नाम पूर्णिमा को जिस नक्षत्र पर चन्द्रमा की स्थिति रहती है उसी के अनुसार पड़ा है। अमरकोश के निम्न श्लोक से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है।

"पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा।
नाम्ना स पौषो माघाद्याश्चैवमेकादशापरे।।

अर्थात् जिस पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र पर रहता है उस पूर्णिमा का नाम पौषी है एवं वह पूर्णिमा जिस मास में हो उसे "पौष" कहते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र "सास्मिन् पौर्णमासीति (४/२/२१) से "पौषी" से "अण्" प्रत्यय होकर "पौष" शब्द निष्पन्न होता हैं। इसी प्रकार माघ इत्यादि अन्य ग्यारह मास भी होते हैं। अस्तु, यह सिद्ध होता है कि:-

- **चैत्र**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "चित्रा नक्षत्र" पर स्थित हो।
- **वैशाख**-उस मास का नाम है जिसकी पूणिमा के दिन चन्द्रमा "विशाखा नक्षत्र" पर हो।
- **ज्येष्ठ**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "ज्येष्ठा नक्षत्र" पर हो।
- **आषाढ़**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "आषाढ़ा नक्षत्र" पर हो।
- **श्रावण**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "श्रवण नक्षत्र" पर हो।
- **भाद्रपद**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "भाद्रपद नक्षत्र" पर हो।
- **आश्विन**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "अश्विनी नक्षत्र" पर स्थित हो।

- **कार्तिक**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "कृत्तिका नक्षत्र" पर स्थित हो।
- **मार्गशीर्ष**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "मृगशिरा नक्षत्र" पर स्थित हो।
- **पौष**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "पुष्य नक्षत्र" पर स्थित हो।
- **माघ**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "मघा नक्षत्र" पर स्थित हो।
- **फाल्गुन**-उस मास का नाम है जिसकी पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा "उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र" पर स्थित हो।

मासों का उपर्युक्त विवरण पूर्णिमा के दिन विभिन्न नक्षत्रों पर चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार है। किन्तु, वैदिक-विज्ञान के अनुसार मासों का विवरण किञ्चित् भिन्न प्रकार से होता है। यथा तैत्तिरीय संहिता[1] में इन नामों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है।

"मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसि स सर्पोस्य हस्पत्याय त्वा।।"

अर्थात् हे सोम। उपयाम (स्थाली) द्वारा गृहीत तुम हो, माधव हो, शुक्र हो, शुचि हो, नभ हो, नभस्य हो, ऊर्ज हो, सह हो, सहस्य हो, तप हो एवं तपस्य हो तथा संसर्प और अंहस्पति हो। इस मन्त्र में मधु आदि वारह मासों के अतिरिक्त अधिमास के लिये संसर्प तथा क्षयमास के लिये अंहस्पति नाम का प्रयोग हुआ है। अस्तु वैदिक नामों के अनुसार चैत्रादि मासों का विवरण निम्न प्रकार से होगा। यथाः-

- **चैत्रः** इस महीने का नाम 'मधु' है। इस मास में मधु रस की उत्पत्ति होती है जिससे वृक्षादि पुष्प एवं फल से युक्त हो जाते हैं। मधु मक्ख्यिाँ इस मास से प्रायः मधु सञ्चय करती देखी जाती हैं।
- **वैशाखः** इस मास को 'माधव' कहते हैं। क्योंकि इस समय चैत्र मास में उत्पन्न होने वाले मधुरस का परिपाक होता हैं।
- **ज्येष्ठः** इस महीने का नाम शुक्र हैं। क्योंकि इस मास में सूर्य की उष्णता वढ़ती हैं।
- **आषाढ़ः** इस मास का नाम "शुचि" है। इस मास में सूर्य के ताप से उत्पन्न परिणाम की प्रतीति होती है। इस काल में आम्रादि फल परिपक्व हो जाते हैं। तथा उष्णता की अधिकता के फलस्वरुप वृष्टि के आरम्भ की सूचना प्राप्त होती हैं।
- **श्रावण :** इस महीने का नाम 'नभस्' है। इस मास में जल को रोकने वाले तत्वों का विनाश होता है।

---

१. १/४/१५

- **भाद्रपद :** इस मास का नाम 'नभस्य' है। इस समय जल को अवरुद्ध करने वाले तत्वों के विनाश का परिणाम प्रतीत होता है।
- **आश्विन-** इस महीने का नाम 'इष' है क्योंकि इस मास में नवीन अन्न परिपक्व होता है।
- **कार्तिक**-इस मास का नाम "ऊर्जा" हैं। इस समय अन्न-तृण आदि से गौ इत्यादि प्राणियों में घृत-दुग्ध आदि रसों का परिपाक होता है।
- **मार्गशीर्ष**-इस मास का नाम "सहस्" है। इस समय बल की वृद्धि होती है।
- **पौष**-इस मास का नाम "सहस्य" है। इस मास में प्राणियों का बल स्थिर होता है।
- **माघ**-इस मास का नाम 'तपस्' है। इस महीने में ताप की क्रमशः वृद्धि होने लगती है। अतः शीतकालीन सस्य का परिपाक प्रारम्भ होता हैं।
- **फाल्गुन-** इस महीने का नाम 'तपस्य' है। क्योंकि इस मास में 'जौ, गेहूँ, चना आदि का परिपाक होता है।
- **मधु**-माधव आदि नामों के अतिरिक्त पूर्णिमाओं के आधार पर प्रचलित "चैत्रादि" महीनों के नामों का भी उल्लेख वेदों में हुआ है।

यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता[1] में फाल्गुनी पूर्णमास और चित्रापूर्णमास का उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[2], शतपथ ब्राह्मण[3] में भी 'फाल्गुनी पौर्णमासी का वर्णन हैं। इसी प्रकार सांख्यायन ब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण में फल्गुनी, रौहिणी (ज्येष्ठी) और पौषी पूर्णमासी का उल्लेख है। कौषीतकि ब्राह्मण[4] में तैषस्य (पौषस्य) एवं माघस्य तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[5] में फाल्गुन एवं गृह्य सूत्र[6] में श्रावण्याम् पौर्णमास्याम् और मार्गशीर्ष्याम् चतुर्दश्याम्[7] तथा पारस्कर गृह्य सूत्र[8] में 'मार्गशीर्ष्याम् पौर्णमास्याम्' का उल्लेख हुआ है। वैदिक-संहिताओं एवं गृह्य सूत्रों के सदृश ही महाभारत, पुराण एवं मनुस्मृत्यादि में भी यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भी आजकल की तरह चैत्रादि मासों का प्रचलन था।

पक्ष-विचार

एक मास में दो पक्ष होते हैं। शुक्लपक्ष एवं कृष्ण पक्ष। प्रत्येक पन्द्रह दिनों (तिथियों) का होता है। शुक्ल पक्ष को पूर्वपक्ष एवं कृष्ण पक्ष को अपर पक्ष कहते हैं। यद्यपि महीने के दोनों पक्षों में प्रकाश और अन्धकार समान ही रहता है। किन्तु जिस पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि के कारण प्रतिदिन प्रकाश की वृद्धि होती है उस पक्ष को शुक्ल पक्ष एवं

---

१. ६/४/८, २. १/१/२/८, ३. २/६, ४. १६/२/३, ५. ५/६/६, ६. २/१/१, ७. २/३/१
८. ३/१२

जिस पक्ष में चन्द्रमा की कला में ह्रास होने से अन्धकार की वृद्धि होती है उसे कृष्णपक्ष कहते हैं। अमावस्या के वाद पूर्णिमा के १५ दिनों का शुक्ल पक्ष एवं पूर्णिमा के वाद अमावस्या तक के १५ दिनों का कृष्ण पक्ष होता है।

तिथि-विचार

भारतवर्ष में दो प्रकार की तिथियाँ प्रचलित हैं। सौर तिथि एवं चान्द्र तिथि। सूर्य की गति के अनुसार मान्य तिथि को सौर तिथि तथा चन्द्रगति के अनुसार मान्य तिथि को चान्द्र तिथि कहते हैं।

सौर-तिथिः सौर तिथि दो प्रकार से मानी जाती है। एक प्रकार यह है कि जिस-जिस दिन सूर्य की संक्रान्ति लगती है उस दिन को प्रथम तिथि मानी जाय। दूसरा प्रकार यह है कि संक्रान्ति के दूसरे दिन से प्रथम तिथि मानी जाय। बंगाल एवं पञ्जाव में इन तिथियों का प्रयोग विशेष रूप से होता है। अन्यत्र भी सौर तिथि के नाम से इनका प्रचलन है। किन्तु, भारत में प्रचलित व्रतों एवं उत्सवादि में इन तिथियों का प्रयोग प्रायः कम ही होता हैं।

चान्द्र तिथि-भारत के धार्मिक कर्यो में विशेषरूप से चान्द्र तिथियों का ही प्रयोग होता है। इन तिथियों का नाम क्रमशः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी एवं कृष्ण पक्ष की पन्द्रहवीं तिथि को अमावस्या तथा शुक्ल पक्ष की पन्द्रहवी तिथि को पूर्णिमा कहते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा जिस दिन एक विन्दु पर आ जाते हैं उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। अमरकोश की टीका में क्षीरस्वामी ने कहा है "अमा सह सवतोऽस्यां चन्द्रार्कौ"। इसी प्रकार जिस तिथि को सूर्य एवं चन्द्रमा परस्पर आमने-सामने रहते हैं, उस तिथि को पूर्णिमा या पौर्णमासी कहते हैं। सामान्यतः अमावस्या या पूर्णिमा में पन्द्रह दिन का अन्तर रहना चाहिए। किन्तु, प्रत्येक तिथि एक दिन-रात अर्थात् २४ घण्टे अथवा ६० घटी में समाप्त नहीं होती। अतएव अमावस्या से पूर्णिमा और पूर्णिमा से अमावस्या कभी १५ दिनों के अन्तर पर कभी १४ दिनों, कभी १६ दिनों अथवा कभी १३ दिनों के अन्तर पर आती हैं।

इस अन्तर का कारण यह है कि तिथियाँ सूर्य एवं चन्द्रमा की गति से सम्बन्धित होती है। अतः जब सूर्य एवं चन्द्रमा की गति का अन्तर अधिक रहता है तब चन्द्रमा १५ दिनों की अपेक्षा १४ दिनों में ही सूर्य के सामने से साथ अथवा साथ से सामने आ जाता है। यदि गति का अन्तर मन्द रहता है तो १६ दिन लग जाते हैं। इसे ही तिथियों की क्षय-वद्धि अर्थात् घटना और बढ़ना कहा जाता है।

स्पष्टार्थ यह कि अमावस्या के दिन चन्द्रमा और सूर्य एक राशि पर समान अंशादि में रहते हैं। अतएव अमावस्या को सूर्येन्दु संगम भी कहा जाता हैं।

चन्द्रमा को पुनः उसी स्थान पर पहुँचने में प्रायः ३६ दिन लगते है। प्रायः इतने ही दिनों में सूर्य अपनी एक राशि समाप्त कर पाता है। इस प्रकार सूर्य के दूसरी राशि पर चन्द्रमा पुनः सूर्य के साथ सम्मिलित होता है। उदाहरणार्थ यदि चैत्र मास की अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा मीन राशि पर थे तो वैशाख की अमावस्या के दिन उन दोनों को मेष राशि पर होना चाहिये। इस प्रकार सूर्य से पुनः मिलने के लिये चन्द्रमा को तेरह राशियों का चक्कर लगाना पड़ेगा। यह चक्कर उपर्युक्त प्रकार से ३० दिनों में पूर्ण होगा।

एक राशि में ३० अंश होते हैं। इस प्रकार अमावस्या से अमावस्या अथवा पूर्णिमा से पूर्णिमा तक चक्कर लगाने के लिये चन्द्रमा को ३० × १२ = ३६० अर्थात् ३६० अंश चलना पड़ेगा। इन ३६० अंशो को यदि ३० तिथियों में विभाजित किया जाय तो एक तिथि में प्रायः १२ अंश होते है। अस्तु, सूर्य से चन्द्रमा के १२ अंश हटने को एक तिथि कहते है। यह १२ अंश जब कभी चन्द्रमा शीघ्र चलता है तो ५४ घटी में ही समाप्त हो जाता है। और जब चन्द्रमा की गति मन्द होती है तो उक्त १२ अंशो के समाप्त होने में ६५ घटी का समय लगता है। अर्थात् चन्द्रमा को सूर्य से १२ अंश आगे जाने में कभी २१ घण्टे या २२ घण्टे और कभी २४ घण्टे के स्थान पर २६ घण्टे लगते है। इसी ह्रासवृद्धि को धर्मशास्त्र में "वाणवृद्धि रसक्षय" कहा गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जब चन्द्रमा सूर्य से १२ अंश आगे बढ़ता है। तो शुक्लपक्ष की प्रतिपदा समाप्त होती है एवं २४ अंश आगे बढ़ने पर द्वितीया समाप्त होती है। इसी क्रम से दिन-रात की की जितनी घटियों पर प्रत्येक १२ अंश समाप्त होते रहते है तदनुसार ही प्रतिपदा एवं द्वितीयादि तिथियाँ क्रमशः समाप्त होती हैं।

तिथियों के क्षय-वृद्धि का क्रम

उपर्युक्त रीति से यदि चन्द्रमा शीघ्र चलता रहा और अपनी गति से दो-दो घण्टे कम किये तो १२ दिनों में २४ घण्टे कम होगें। इस प्रकार एक अहोरात्र पूर्व ही अर्थात् बारहवें दिन ही चन्द्रमा की गति का (१२ अंशो वाला) तेरहवाँ भाग समाप्त हो जायेगा। इसे ही त्रयोदशी का क्षय कहेंगे। क्योंकि साधारण गणना के अनुसार तो प्रत्येक अहोरात्र में चन्द्रमा के बारह अंश ही समाप्त होने चाहिये एवं इस प्रकार तेरहवें अहोरात्र में चन्द्रमा के बारह अंश ही समाप्त होने चाहिये एवं इस प्रकार तेरहवें अहोरात्र में तेरहवाँ अंश आना चाहिये। परन्तु जब यह देखा जाता है कि तेरहवें अहोरात्र में तेरहवें भाग का कोई स्थान नहीं है अपितु, उस दिन प्रातः काल से ही चौदहवाँ भाग आरम्भ हो गया है तो इस प्रकार बारहवें अहोरात्र में ही तेरहवें भाग के समाप्त हो जाने से त्रयोदशी का क्षय होना कहा जाता हैं।

इसी प्रकार यदि चन्द्रमा मन्दगति से चला और उसने १२ अंश वाला भाग २४ घण्टे के स्थान पर २६ घण्टे में समाप्त किया तो ये २-२ घण्टे बचते-बचते अपने यथासंख्य

अहोरात्र से आगे वढ़ जायेंगें। यदि १२-१२ अंशो का चतुर्थ भाग चौथे अहोरात्र में समाप्त न होकर पाँचवे अहोरात्र में कुछ शेष रह गया तो इसे चतुर्थी की वृद्धि कहा जायेगा, क्योंकि वह भाग चतुर्थ अहोरात्र में तो रहा ही तथा पञ्चम अहोरात्र के सूर्योदय के समय भी वही रहा। यह नियम है कि सूर्योदय के समय १२-१२ अंशो वाले भाग में से जिस संख्या का भाग चल रहा होगा वही उस दिन की तिथि होगी। अस्तु पहले सूर्योदय को भी चतुर्थी रही और दूसरे दिन के सूर्योदय के समय भी चतुर्थी रही। इस प्रकार दो चतुर्थियाँ हो जाती है। इसे ही तिथि की वृद्धि कहते हैं।

उपलब्ध वैदिक संहिताओं में तिथियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। किन्तु वेदों के ब्राह्मण भाग में तिथियों का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद ज्योतिष, यजुर्वेद ज्योतिष एवं अथर्ववेद ज्योतिष के वचनों में भी तिथियों का उल्लेख प्राप्त होता है-

> ''तृतीयां नवमीञ्चैव पौर्णमासीं त्रयोदशीम्
> षष्ठीञ्च विषुवान् प्रोक्तो द्वादश्यां समं वैत्।।३३।।
> चतुर्दशीमुपवसथस्तथोदितचन्द्रमाः।।''[1]
> तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
> वारश्चाष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम्।। ६०।।[2]

वार-विचार

''वार'' शब्द का अर्थ अवसर अर्थात् नियमानुसार प्राप्त समय होता है। तद्नुसार ''वार'' शब्द का प्रकृत अर्थ यह होता है कि जो अहोरात्र (सूर्योदय से आरम्भ कर २४ घण्टे अथवा ६० घटी अर्थात् पुनः सूर्योदय होने तक) जिस ग्रह के लिये नियमानुसार प्राप्त होता है अर्थात् जो ग्रह जिस अहोरात्र का स्वामी है उसी ग्रह के नाम से वह अहोरात्र अभिहित होता है। उदाहरणार्थ जिस अहोरात्र का स्वामी रवि है वह रविवार एवं जिस अहोरात्र का स्वामी सोम है वह सोमवार इत्यादि होगा। यह खगोल में ग्रहों की स्थिति के अनुसार नहीं है।

इस असंगति का समाधान यह है कि खगोलीय क्रम के अनुसार ग्रहो की होराये होती है न कि पूर्ण अहोरात्र। प्रत्येक होरा ढाई घटी अर्थात् ६० मिनट की होती है। इस प्रकार एक अहोरात्र में २४ होरायें होती है। इस क्रम में पहली होरा अहोरात्र के स्वामी की होती है बाद में उसी पूर्वोक्त खगोलीय क्रम के अनुसार क्रमशः निम्नवर्ती ग्रह की होरा आती हैं। उदाहरणार्थ यदि प्रथम होरा रवि की हुयी तो उस के निम्नवर्ती ग्रहों के अनुसार शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, गुरु मंगल की होरायें होंगी। पचीसवें घण्टे में अर्थात् दूसरे दिन प्रातः काल

---

१. ऋग्वेद ज्योतिष, (भारतीय ज्योतिष), २. अथर्ववेद ज्योतिष (भारतीय ज्योतिष)

चन्द्र की होरा होगी। तद्नुसार रविवार के दूसरे दिन चन्द्रमा की, तीसरे दिन मंगल की, चतुर्थ दिन बुध की, पञ्चम दिन गुरु की, छठवें शुक्र की एवं सातवें दिन पुनः रवि की होरा होगी।

निष्कर्ष यह कि प्रातःकाल जिस ग्रह की होरा होती है वही ग्रह उस अहोरात्र का स्वामी माना जाता है। अतः वह अहोरात्र उसी ग्रह का 'वार' माना जाता है। यहाँ पर शंका हो सकती है कि उपर्युक्त क्रम मानकर यदि ऊपर से चला जाय तो प्रथम दिन शनिवार होना चाहिये एवं यदि नीचे से चला जाय तो प्रथम वार सोमवार होना चाहिये। किन्तु व्यवहार में रविवार को ही प्रथम वार माना जाता है। इसका समाधान भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि में निम्न प्रकार से दिया हैं-

"लंका नगर्यामुदयाच्च भानोस्तथैव वारो प्रथमो बभूव।
मधोः सितादेर्दिनमास-वर्ष-युगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः।।

अर्थात् लंका नगरी में सर्वप्रथम सूर्योदय रविवार को हुआ। अतः चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से दिन, मास, वर्ष एवं युगादि की एक साथ प्रवृत्ति हुयी। निष्कर्ष यह कि काल गणना का आरम्भ ही रविवार से हुआ। अतः रविवार को ही प्रथम वार मानना युक्तिसंगत हैं।

यद्यपि ऋग्वेद ज्योतिष में वारों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं। किन्तु अथर्वज्योतिष में स्पष्ट रूप से वाराधिपों का उल्लेख किया गया है।

"आदित्यः सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती।
भार्गवः शनैश्चरश्चैव एते सप्तदिनाधिपाः।। ९३।।

अर्थात् आदित्य, सोम, भौम, बुध, वृहस्पति भार्गव (शुक्र) एवं शनि ये क्रमशः वारों के स्वामी होते हैं।

नक्षत्र-विचार

नक्षत्र २७ हैं। अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तराफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा एवं रेवती। उत्तराषाढ़ा के चतुर्थ चरण एवं श्रवण के प्रथम चरण को मिलाकर अभिजित के नाम से अट्ठाइसवाँ नक्षत्र भी माना गया है। किन्तु व्यवहार में प्रायः सत्ताइस नक्षत्रों का ही उपयोग होता है। इसका उपयोग पञ्चशलाका चक्र, सप्तशलाका चक्रादि की गणना एवं कुछ अन्य कार्यो में ही होता हैं।

प्रत्येक ग्रह खगोल की परिधि में पूर्ण परिभ्रमण के बाद पुनः उसी स्थान पर आ जाता है जहाँ से वह चलता है। इस भ्रमण को एक भगण कहा जाता है। इस प्रकार एक ग्रह

का एक अण्डाकार मार्ग वन जाता है। इसे ही उस ग्रह की कक्षा वृत्त कहते हैं। सूर्य के कक्षा वृत्त को क्रान्ति वृत्त कहते हैं तथा उसके वारह भागों का नाम मेषादि राशियाँ हैं। क्रान्ति वृत्त क्षेत्र में आने वाले तारा समूहों को २७ भागों में विभक्त करने पर प्रत्येक खण्ड का मान १३°.२०' का माना जाता हैं। इस क्षेत्र में आने वालों तारों को समूह को एक नक्षत्र कहते है। उनके सर्वाधिक तेजस्वी तारा को योगतारा कहा जाता है तथा वही नक्षत्र का प्रधान विन्दु होता है जहाँ से उसकी गणना होती हैं।

पञ्चागों में प्रतिदिन उल्लिखित नक्षत्र इन्हीं तारा समूहों के निकट चन्द्रमा की स्थिति को सूचित करते हैं। तात्पर्य यह कि जिस दिन चन्द्रमा जिस तारा समूह के निकट रहता है उस दिन वह उसी नक्षत्र पर स्थित माना जाता है।

ग्रहों के पूर्णवृत्त को सुविधानुसार अश्विनी आदि २७ तारा समूहों में विभक्त किया गया हैं। चन्द्रमा की गति के अनुसार क्रान्तिवृत्त का सत्ताइसवाँ भाग जितने समय में समाप्त होता है अर्थात् चन्द्रमा एक तारक-समूह से दूसरे तारक समूह तक जाता है उसे उस-उस नक्षत्र का भाग कहते हैं। यह भाग भी तिथि के अनुसार २४ घण्टे या ६० घटी में एवं कभी-कभी उससे अधिक या अल्प समय में चन्द्रमा पार करता है। इस प्रकार जव उक्त सत्ताइसों भाग समाप्त हो जाते हैं तव चन्द्रमा आकाश में पुनः उसी स्थान पर आ जाता हैं।

कालगणना की कुछ अन्य रीतियाँ

पूर्व में ब्राह्म दिन अर्थात् कल्प एवं युगादिके क्रमानुसार कालगणना का दिग्दर्शन हुआ है। किन्तु इनके अतिरिक्त ध्रुव नक्षत्र एवं सप्तर्षि-नक्षत्र के द्वारा भी काल गणना का उल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ-ऋग्वेद (१/२४/१०), (१०/८२/२ एवं १०/१०९/४) के मन्त्रों में सप्तर्षिमण्डल का विवरण हैं। अतएव यह माना जा सकता है कि वेदों में सप्तर्षियों के परिभ्रमण से भी कालगणना की जाती रही है। ऋग्वेद (१०/१४/११) में सौरमण्डल के विशालतम ग्रह बृहस्पति और शुक्र की अश्विनी संज्ञा होने के अतिरिक्त उन्हें यमगृह के दो श्वान कहा गया हैं।

पुराणों में भी अनेक स्थलों पर सप्तर्षि से कालगणना का उल्लेख प्राप्त होता हैं। उदाहरणार्थ वायु पुराण[1], ब्रह्माण्ड पुराण[2], मत्स्य पुराण[3], भागवतपुराण[4], एवं विष्णु पुराण[5] के अंशों को देखा जा सकता हैं।

पार्जिटर के अनुसार एक-एक नक्षत्र पर सप्तर्षियों की स्थिति सौ-सौ वर्षों की मानी जाती है। इनका पूर्ण परिभ्रमण सात दिव्य वर्ष और छह दिव्य माहों का माना जाता है।

१. ९९/४१८-४२३, २. ३/७४/२२५-२३६, ३. २७२/३८-४३, ४. १२/२/२७-३१
५. ४/२४/१०५-११६.

यह अवधि मानव वर्षों में २६०० वर्षों के तुल्य हैं। किन्तु पुराणों में सप्तर्षि संवत्सर ३०३० वर्षों का बताया गया है। तीन सप्तर्षि संवत्सरों के व्यतीत होने पर एक क्रौञ्च अर्थात् ध्रौव संवत्सर पूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण में उल्लिखित है कि स्वायंभव मनु के पुत्र उत्तानपाद ने उत्कृष्ट तपस्या से सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। उसी समय क्रौञ्च संवत्सर (तीन सप्तर्षि संवत्सरों की पूर्ति होने पर) पूर्ण हुआ। अतएव उस संवत्सर को ध्रौव संवत्सर कहा जाने लगा।

अधर्व ज्योतिष में तिथि, नक्षत्र, वार, करण, योग, तारा तथा चन्द्रमा के बलावल का विचार करने का उल्लेख किया गया है।

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
वाराश्चाष्टगुणाः प्रोक्ताः करणं षोडशान्वितम्।।६०।।
द्वात्रिंशद् योगस्तारा षष्ठिसमन्विता।
चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रबलाबलम्।।६१।।

तदनुसार ही भारतीय पञ्चांगों में प्रतिदिन योग एवं करणों का विवरण दिया जाता है। योग सत्ताइस हैं। इनका नाम क्रमशः १. विष्कम्भ २. प्रीति ३. आयुष्मान् ४. सौभाग्य ५. शोभन ६. अतिगण्ड ७. सुकर्मा ८. धृति ९. शूल १०. गण्ड ११. वृद्धि १२. ध्रुव १३. व्याघात १४. हर्षण १५. वज्र १६. सिद्धि १७. व्यतीपात १८. वरीयान १९. परिघ २०. शिव २१. सिद्ध २२. साध्य २३. शुभ २४. शुक्ल २५. ब्रह्म २६. ऐन्द्र एवं २७. वैधृति हैं।

करण

तिथि के आधे भाग को करण कहते हैं। करणों के नाम निम्न हैं। यथाः-१. बव २. बालव ३. कौलव ४. तैतिल ५. गर ६. वणिज ७. विष्टि ८. शकुनि ९. चतुष्पद १०. नाग ११. किंस्तुघ्न। इन करणों में प्रथम सात चरकरण एवं अन्तिम चार स्थिर करण कहे जाते हैं।

राशिवर्णन

क्रान्तिवृत्त के ३६० अंशों को तारा समूहों के आधार पर बारह भागों में विभक्त किया गया है। इन तारा समूहों को ही राशि कहते हैं। राशियों के नाम क्रमशः निम्न हैं। यथाः-

१. मेष २. वृष ३. मिथुन ४. कर्क ५. सिंह ६. कन्या ७. तुला ८. वृश्चिक ९. धनु १०. मकर ११. कुम्भ एवं १२. मीन।

वेद एवं वेदांग ज्योतिष में राशियों का नाम नहीं मिलता किन्तु पुराणों में राशियों के आधार पर शुभा-शुभत्व का निर्णय किया गया है।

ब्राह्म दिनादि के सदृश ही विष्णु एवं रुद्र के समय का वर्णन भी ज्योतिष की गणना में उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में सूर्य सिद्धान्त में कहा गया है।

"चतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
पितामहसहस्रेण विष्णोश्च घटिकास्मृता।।
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्द्धं रौद्रमुच्यते।
रुद्रस्यार्बुदसंख्याभिस्ततो ब्रह्माक्षरं भवेत्।।"

अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इस प्रकार ब्रह्मा के सहस्र वर्षों के तुल्य विष्णु की एक घटी होती है। इस परिमाण से श्री विष्णु के बारह लाख वर्षों के बराबर रुद्र की आधी कला होती है तथा रुद्र के एक अरब वर्षों के बराबर अक्षर ब्रह्म का दिवस होता है।

●●●

ग्रहण चन्द्र सूर्य पृथ्वी

डॉ. पी.वी.वी. सुब्रह्मण्यम्

ग्रहणसाधनप्रयोजन

ग्रहण खगोलीयपिण्डों के भ्रमण वश आकाश में उत्पन्न होने वाली एक अद्भुत घटना है। भारतीय ज्योतिष के अनुसार सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। भूकेन्द्र से इन कक्षाओं की दूरी भी विलक्षण हैं। अर्थात् ग्रह कक्षाओं का केन्द्र बिन्दु पृथ्वी पर नहीं है। इसलिए एक तरफ वृत्त की परिधि के अत्यन्त सन्निकट तथा दूसरी ओर अत्यन्त दूरी पर है। ये सभी ग्रह एक दूसरे से ऊर्ध्वाधः स्थित कक्षाओं में पूर्वाभिमुख भ्रमण करते हैं। यद्यपि इन ग्रहों की योजनात्मिका गति समान है तथापि भूकेन्द्र से विलक्षण अन्तरालों में स्थित होने के कारण इनकी अंशात्मक या कोणीय गति भी विलक्षण है। अतः ये ग्रह एक दूसरे से पूर्वापरान्तर से भी अन्तरित रहते हैं।

सन्दर्भानुसार यहां रैखिक (परिधिगत, योजनात्मक या मीलात्मक) गति एवं कोणीय गति का सामान्य विचार प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे विषय का ज्ञान सुगम होगा। भूकेन्द्र से ग्रहभ्रमण मार्गों की या कक्षाओं की दूरी भिन्न-भिन्न है यह पूर्व में ही स्पष्ट किया गया है। दूरी में भिन्नता के कारण उन कक्षाओं के प्रमाणों में भी भिन्नता है। कक्षाओं की परिधि और व्यास का प्रमाण ऊर्ध्वोर्ध्व क्रम से बढ़ता जाता है। भूकेन्द्र से दूरी में भिन्नता होने पर भी ये सभी ग्रह आकाश में एक ही तल पर दृश्य होते हैं। जिसे दृश्य क्षितिज कहा जाता है। वे दृश्य ग्रह ही अभीष्ट कार्य सम्पादन हेतु उपर्युक्त स्पष्ट ग्रह माने जाते हैं। जब दृश्यमान ग्रहों की स्थिति एक ही है तो उनके भिन्न दूरी का हमें कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु कक्षा भेद से दूरी के कारण दृश्यमान ग्रह की गति में अन्तर तो होता ही है। दृश्यमानस्थिति वास्तव स्थिति से अलग होने के कारण वास्तविक ग्रहों की अपनी अपनी कक्षाओं में जो गति होती है वह ग्रहसाधन हेतु निरुपयुक्त है। ग्रहों की स्व कक्षा गति के कारण दृश्य (स्पष्ट) ग्रहों के स्थान में जो अन्तर आता है वही ग्रह की गति मान्य होती है। अर्थात् ग्रह अपने कक्षा में आगे बढ़ते हुये दृश्यमान ग्रहबिम्ब के स्थान में जो कोण उत्पन्न करता है वही ग्रह की वास्तव गति है। और इस गति से ग्रह जो राश्यादि स्थान प्राप्त करता है वही कालसाधन हेतु या कार्यसम्पादन हेतु उपयुज्यमान स्पष्ट ग्रह है। ग्रह जहां दृष्टिपथ में आता है उसे राशिचक्र कक्षावृत्त या काल्पनिक दृग्वृत्त भी कहते हैं। प्रथम पौरुष सिद्धान्त ग्रन्थकार आर्यभट के अनुसार वही काल्पनिक दृग्वृत्त है जहाँ एक स्वस्थ पुरुष आकाशस्थ समस्त ज्योतिष्पिण्डों को उनके ऊपर नीचे की अन्तर के बावजूद एक स्थान में देखता हैं। अतः ग्रहों की अपने अपने कक्षाओं की गति के अपेक्षा उनके चलने से भूकेन्द्र में उत्पन्न होने वाले कोण ही महत्वपूर्ण होते हैं जिसे हम कोणीयगति कहते हैं।

भूकेन्द्र से ग्रहों की दूरी भिन्न-भिन्न होने के कारण उनके कक्षाओं का प्रमाण भी भिन्न-भिन्न होता है। पृथ्वी से जैसे-जैसे ग्रह की दूरी बढ़ती है वैसे-वैसे ग्रह कक्षा का प्रमाण भी बढ़ता जाता हैं। जिस ग्रह की कक्षा बड़ी होती है उसे भोगने के लिये उस ग्रह को अधिक समय की आवश्यकता होती है। जिसका ग्रह की कक्षा का प्रमाण कम होता हैं वह अल्प समय में ही अपने कक्षा का भोग कर लेता है। यही ग्रहों की कोणीय गति विलक्षण होने का मुख्य कारण हैं।

ग्रहों की कोणीय गति विलक्षण होने के कारण, ग्रहकक्षा में उच्च पात आदि कालमूर्तियों के कारण स्पष्टग्रहसाधन जटिल होता है। उच्च पातादि के कारण स्पष्टग्रहसाधन हेतु अनेक उपकरणों का साधन करना पड़ता है। जैसे त्रैराशिक से मध्यमग्रह, वेध एवं गणित के माध्यम से मन्द एवं शीघ्रपरिधि, वेध से अन्त्यफलज्या आदि। इनके साधन में स्थानवश अथवा उपयुज्यमान वेधयन्त्रवश, अथवा प्रक्रिया की स्थूलता के कारण इनकी सहायता से साधित ग्रह शास्त्रोक्त स्पष्टग्रहलक्षण से रहित हो सकता है। शास्त्रोक्त स्पष्टग्रह का लक्षण है दृग्गणितैक्य होना। अर्थात् गणितागत ग्रह एवं वेधादिना साधित ग्रह में दृक्तुल्यता या एकरूपता होना अनिवार्य है तभी वह स्पष्ट ग्रह कहा जाता है। उसी स्पष्टग्रह के ऊपर लग्न और लग्न के ऊपर ज्योतिषशास्त्र का फल निर्भर होता है। यात्रा विवाहोत्सवजातकादि कार्यो का सम्पादन भी स्पष्टग्रह से ही हो सकता हैं।

उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि प्रयोग में लेने से पहले साधित स्पष्टग्रहों की प्रमाणिकता सिद्ध होनी चाहिये। अतः साधित ग्रहों को उपपन्न या सिद्ध करने हेतु प्रत्यक्षगोचर सूर्य और चन्द्र का प्रयोग किया जाता है। समय समय पर सूर्य और चन्द्र के कारण उत्पन्न होने वाला खगोलीय दृग्विषय के अतिरिक्त इस कार्य में सहायक और कुछ भी प्राप्त नहीं है। ये खगोलीय दृग्विषय शास्त्रज्ञ एवं शास्त्रज्ञान से रहित सामान्य जन के लिये भी अनुभव योग्य होता है। इसी विषय को लगधाचार्य का यह वचन स्पष्ट करता है कि 'प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ''।

संहितास्कन्ध के अनुसार भी इन ग्रहणों का साधन आवश्यक हैं। जहाँ निरवशेष शास्त्रविषय का विचार होता है और जहाँ समष्टि रूप से जनकल्याण हेतु खगोलीय घटनाओं के आधार पर शुभाशुभ प्रगट किया जाता है वह संहितास्कन्ध है। यह त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिषशास्त्र का एक मुख्य और प्राचीन स्कन्ध है। ग्रहण के समय में स्नान दान जपादि के महत्व का वर्णन इस स्कन्ध में उपलब्ध है। 'प्रकृतेर्वै परीत्यमुत्पातः' इस वचन में बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि प्रकृति के विरुद्ध जो घटना घटती है उसे उत्पात कहते हैं और उत्पात जन कल्याण और लोककल्याण के विरुद्ध फल देने वाले होते हैं। अतः इस कारण से भी ग्रहण का साधन वा विचार करना अनिवार्य हैं।

(२) ग्रहयुद्ध

ग्रहों में ऊपर नीचे का अन्तर रहने पर भी जब ये राशिवृत्त में अथवा दृश्यमानवृत्त (दृश्यक्षितिज) में एक स्थान में आ जाते है तो उसे ग्रहयुद्ध कहते हैं। ग्रह बिम्बों के एक स्थान में आने पर होने वाले ये युद्ध भी भेद, उल्लेख, अंशुमर्दन और अस्त नाम से चार प्रकार का होता है। ग्रहों के बीच में युद्ध होना शुभ नहीं माना जाता हैं। यदि दोनों बिम्ब एक ही स्थान में आ जाते हैं अर्थात् दोनों बिम्ब मिलकर एक ही बिम्ब लगता है तो उसे भेद नामक युद्ध कहते है। यह भेद संज्ञक ग्रहयुद्ध अनावृष्टि और मित्र राजाओं में कलह उत्पन्न करता है। यदि दो बिम्बों के परिधियों का स्पर्श होता है तो उसे उल्लेख कहते हैं जो शस्त्रों से भय, मन्त्रियों में विरोध और दुर्भिक्ष का भय उत्पन्न करता है। आसन्नवर्ति ग्रहों के किरणों के एक दूसरे से मर्दन होने पर अंशुमर्दन नामक ग्रहयुद्ध होता है जो राजाओं में युद्ध उत्पन्न करता है और जनों को शस्त्र रोग और क्षुधा से पीड़ित करता हैं। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि ग्रहबिम्बों का एक स्थान में रहना, जिसे हम ग्रहयुद्ध कहते हैं, शुभफलदायी नहीं होता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भिन्न भिन्न प्रकृति के ये ग्रह एक दूसरे से मिलने पर विकृत हो जाते है। फलस्वरुप प्राणियों को इनके विपरीत फल भोगना पड़ता हैं। यह सर्वविदित है कि पृथ्वी को अधिक रूप से प्रभावित करने वाले दो ग्रह हैं। वे है सूर्य और चन्द्रमा। सूर्य किरणों के अभाव में कोई भी प्राणी इस पृथ्वी पर जीवित नहीं रह सकता है। अतः सभी प्राणियों को जीवित रखने के कारण तथा काल का नियमन करने के कारण सूर्य को काल की आत्मा माना जाता हैं। मन को प्रभावित करने वाला चन्द्रमा हैं। अतः दोनों का ग्रहण होने से उनका विकृत फल प्राप्त होने के कारण संहिता स्कन्ध में इनका होना अशुभ माना गया हैं। अतः ग्रहणकाल में ग्रस्त ग्रह के विमोचन हेतु, उत्पन्न होने वाले अशुभ को भंग करने हेतु स्नानादि की व्यवस्था की गई है। ज्योतिर्निबन्धकार के अनुसार स्पर्शकाल में स्नान, मध्यस्थिति में जप होम और सुरार्चन, मोक्ष के आसन्न स्थिति में दान और विमुक्ति में (स्नान) करना चाहिये। महर्षि पराशर के अनुसार ग्रहण समय में जन्मलिया जातक दरिद्र अथवा विकलांग आदि होता है। अतः आचार्य ग्रहण के कारण वा सूर्य चन्द्र राहु वा केतु के कारण उत्पन्न सकल अरिष्ट के शमन हेतु प्रयास करने का निर्देश स्वकीय ग्रन्थ बृहत्पराशरहोराशास्त्र में दिये हैं। इसी प्रकार की चर्चायें अन्य होरा ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। अतः शान्ति की कामना वाले या अपनी सन्तानों का शुभ चाहने वाले व्यक्ति स्वाभाविक रूप से इस आपदा से बचना चाहते हैं। इस उद्देश्य से भी सूर्य एवं चन्द्रग्रहण का साधन आवश्यक हो जाता है। भास्कराचार्य ने भी सिद्धान्त शिरोमणि में ग्रहणसाधनविधि के वर्णन के पहले ग्रहण प्रयोजन का इस प्रकार का वर्णन किया है "ग्रहणसमय में जप दान हवनादि बहुफल को देने वाला है ऐसे स्मृति और पुराण के वेत्ता कहते हैं, और चमत्कार भी है जो जानने की इच्छा को उत्पन्न करता है अतः मैं सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण को कह रहा हूँ।"

ग्रहणपरिचय

'ग्रह् उपादाने' धातु से ग्रहण शब्द निष्पन्न है। ग्रहण का अर्थ स्वीकार करना है। आकाशीय ग्रहपिण्डों के द्वारा दूसरे ग्रहपिण्डों को स्वीकारना या अपने में समाहित करना (तात्कालिक रूप से) ही यहाँ ग्रहण कहा जाता है। ग्रहण के समय ग्रस्त बिम्ब भूमिस्थित द्रष्टा को नहीं दिखाई देता है। इस अदृश्य होने की स्थिति को ग्रहण कहते हैं। दूसरे ग्रहपिण्ड के द्वारा स्वीकार करने पर भी यदि ग्रहबिम्ब जनों को दिखाई देता है तो वह ग्रहण नहीं कहा जाता है। खगोलीयपिण्डों के स्थिति के अनुसार एवं पृथ्वी से उनकी दूरी के अनुसार दूसरे ग्रहों वा तदुत्पन्न छाया के द्वारा स्वीकार करने के बाद न दृश्य होने वाले वा अनुभव में न आने वाले ग्रहबिम्ब दो ही है। वे है सूर्य और चन्द्रमा। अतः ज्योतिष शास्त्र में सूर्य और चन्द्रमा के ही ग्रहण वर्णित है। यद्यपि ग्रहण की स्थिति प्रायः सभी ग्रहों के साथ होती है तथापि सामान्यदृष्टिगोचर होने के कारण सूर्य और चन्द्र के ही ग्रहण स्वीकार किये गये है। इसी प्रकार पृथ्वी का भी ग्रहण होता है। छादक चन्द्रमा छाद्य पृथ्वी को आच्छादित करने के कारण चन्द्रकक्षा के ऊपर स्थित लोगों को अथवा चन्द्रकक्षोपरि प्रदेश की स्थिति के अनुसार पृथ्वी का कुछ भाग अथवा पूरी पृथ्वी आच्छादित होती है जिसे पृथ्वीग्रहण कहते है। यह सत्य है कि पृथ्वी पर स्थित लोगों को यह ग्रहण दृश्य नहीं होता है।

ग्राह्य और ग्राहक

ग्रहण के समय में जो ग्रहबिम्ब ग्रहण का कारण होता है अथवा जो दूसरे बिम्ब को आच्छादित करता है उसे ग्राहक या छादक और ग्रस्त होने वाले बिम्ब को ग्राह्य अथवा छाद्य बिम्ब कहते है। सूर्यग्रहण में ग्राहक चन्द्रमा और ग्राह्य सूर्य होते हैं। सूर्य बिम्ब को चन्द्रबिम्ब मेघ की तरह आच्छादित कर देता है। चन्द्रग्रहण में ग्राह्य चन्द्र ग्राहक भूभा में पूर्वाभिमुख प्रवेश कर लेता है। स्वाभाविक बात यह है कि ग्राहक के द्वारा ग्राह्य को स्वीकार करने के लिये दोनों बिम्बों को एक स्थान में रहना अनिवार्य होता है। उस प्रकार दोनों बिम्बों के एक स्थान में रहने वाले समय में ही ग्रहण सम्भव हो सकता है।

ग्रहणसम्भवकाल

सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा की कक्षा पृथ्वी के समीप है। चन्द्रमा का कोणीय वेग भी सूर्य की अपेक्षा अधिक है। सूर्य और चन्द्रमा के गति का दैनिक अन्तर १२ अंश का होता है जिस को एक चान्द्र दिन कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के १८० अंश के अन्तर में दोनों ग्रह एक सरलरेखा के दो अन्तिम बिन्दुपर रहते है या आमने सामने रहते है। यह स्थिति चन्द्र के पन्द्रहवें दिन

के अन्त में सम्भव होती है। इस पन्द्रहवे दिन को पूर्णिमा कहते है। सूर्य विम्ब के प्रकाश के कारण सूर्य के विरुद्ध दिशा में पृथ्वी की सूच्याकार छाया बनती है जिसको कुभा भूभा इत्यादि नामों से व्यवहार करते है। सूर्य विम्ब की पृथुता के कारण उससे अल्प भूगोल की छाया आरम्भ में स्थूल एवं बाद में सूची का आकार धारण करती है। यह छाया सर्वदा सूर्य से भार्ध (१८०°) में सूर्य की समान गति से भ्रमण करती है। सूर्य से भार्ध (१८०° अंश के दूर) में चन्द्रमा इस छाया में ही प्रवेश करता है जिससे उसका अदर्शन भूवासियों के लिये होता है, और इसी दृग्विषय को चन्द्रग्रहण कहते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा की युवि अमान्त को होती है। अर्थात् अमान्त को सूर्य और चन्द्रमा एक ही दृक्सूत्र में स्थित होते हैं। उस स्थिति में चन्द्र सूर्य के नीचे मेघ जैसे रहने के कारण वहां के लोगों को सूर्य का दर्शन नहीं होता है जिसे सूर्य ग्रहण कहते है। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि सूर्यग्रहण अमान्त को चन्द्रग्रहण पूर्णिमान्त को लगता है।

पात वा राहु विचार

ग्रहण हर एक अमान्त और पूर्णिमान्त को नहीं लगता है। प्रत्येक पूर्णिमा को और अमान्त को ग्राहक और ग्राह्य के बीच में पूर्वापरान्तर तो शून्य हो जाता है किन्तु उन दोनों के वीच में दक्षिणोत्तरान्तर रहने के कारण ग्राहक ग्राह्य का ग्रहण करने में सक्षम नहीं होता है। इसका विवरण इस प्रकार है। ग्राहक और ग्राह्य की कक्षा स्थिति एक धरातल में नहीं होती है। भिन्न धरातलों में कक्षाओं की स्थिति के कारण दोनों बिम्बों में दक्षिणोत्तरान्तर रहता है। यह दक्षिणोत्तरान्तर दोनों कक्षाओं के योग बिन्दु में शून्य रहता है। सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं के योगविन्दुओं को पात कहते है और इनका सम्पात भी नाम है। इनमें पूर्व सम्पात को राहु और पश्चिम सम्पात को केतु भी कहते हैं।

पौराणिक गाथाओं में तो स्पष्ट रूप में उपलब्ध है कि ग्रहण का कारण सिंहिका का पुत्र राहु और केतु है। ये राहु और केतु एक ही शरीर के दो भाग है ऐसा कहा जाता है। राहु नामक असुर को भगवान विष्णु अमृतवितरण के समय में चक्र से संहार करने का प्रयास करते हैं किन्तु तब तक राहु के द्वारा अमृत निगलने के कारण उसकी मृत्यु नहीं होती है और शिर और धर अलग अलग प्राण से युक्त रह जाते हैं। अमृत वितरण के समय में राहु का देवताओं की पंक्ति में अमृत लेने की बात विष्णु को सूर्य और चन्द्रमा ने बतलाया था। अतः ये दोनों सूर्य और चन्द्रमा को अवसर मिलने पर निगलते एवं छोड़ते रहते है।

इसी गाथा का शास्त्रीय विश्लेषण इस प्रकार है। सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं का दो सम्पात बिन्दु होता है। उनमें एक सम्पात को पार करने के बाद चन्द्र सूर्य कक्षा के धरातल के ऊपर विचरण करने लगता है। अतः इस सम्पात को आरोहण सम्पात कहते

हैं। और इसी विन्दु की संज्ञा सिद्धान्तज्योतिप में राहु है। भास्कराचार्य के अनुसार यद्यपि ग्रहण का कारक यह सम्पात विन्दु है तथापि परम्परागत विचारों की पुष्टि हेतु इसे राहु कहने में कोई आपत्ति नहीं है। दो वृत्तों का अधिकाधिक सम्पात दो विन्दुओं में हो सकता है और वे दोनों विन्दु एक दूसरे से वृत्तार्ध की दूरी पर सर्वदा रहते है। अतः इस राहु नामक आरोहण सम्पात से १८० अंशों के अन्तराल में दूसरा सम्पात होता है जिसे प्राप्त कर चन्द्रमा सूर्य की कक्षा के धरातल के नीचे चला जाता है। अतः इसे अवरोहण सम्पात कहते है और इसी की संज्ञा है केतु। दोनों एक दूसरे से सर्वदा भार्घ में रहने के कारण और दोनों में तुल्यलक्षण और तुल्य गति के कारण इनको एक ही शरीर के दो अंग मानने में भी आपत्ति नहीं होती है। अतः हमारी परम्परा में, जनमानस में निर्विवाद स्थान प्राप्ति हेतु एवं जनसामान्य को सुलभरूप से अवगत कराने हेतु हमारे पूर्वजों ने इन गाथाओं को जन्म दिया है। जिनके कारण भारतवर्ष की जनसामान्य शास्त्रीय विपयों को न जानते हुये भी ग्रहण का कारण पीढ़ियों से जानता आ रहा है।

अब विचार करने योग्य विषय यह है कि ये राहु और केतु ग्रहण के कारक कैसे होते हैं? सूर्य और चन्द्रमा की कक्षायें एक धरातल में नहीं रहने के कारण दोनों के बीच में दक्षिणोत्तरान्तर उत्पन्न होता है। ग्रह सभी पूर्वाभिमुख भ्रमण करते है अतः इनके भ्रमण मार्ग भी पूर्वापरस्थिति में ही रहते है। यह दक्षिणोत्तरान्तर दोनों कक्षाओं के योगविन्दु में शून्य रहता है उस योगविन्दु के दोनों धरातलों में उभयनिष्ट होने के कारण। ग्राहक विम्ब के द्वारा ग्राह्य विम्ब का ग्रहण करने हेतु दोनों के बीच में सभी प्रकार के अन्तरों का अभाव होना अनिवार्य होता है। अतः जिस पूर्णिमान्त और अमान्त में यह राहु वा केतु नामक सम्पात विन्दु भी उसी सूर्य वा चन्द्रमा के साथ रहते हैं उसी पूर्णिमान्त का अमान्त को चन्द्र और सूर्य के ग्रहण लग सकते हैं। अतः प्रत्येक पूर्णिमान्त और अमान्त को राहु वा केतु की स्थिति सूर्य और चन्द्र के साथ नहीं होती है और इस कारण से ग्रहण नहीं लगता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वापरान्तर प्रत्येक मास में एक वार शून्य होने पर भी सम्पाताभाव के कारण ग्रहण लगने से वंचित हो जाता है। अतएव ग्रहण के मुख्य कारक ये राहु और केतु नामक सम्पात ही माने जाते है।

गोलविदों को यह वात स्पष्ट है कि ग्रहण का कारण राहु नामक कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यदि इस बात का सरासर खण्डन किया जाय तो स्मृतिपुराणों में बतायी गयी वात असत्य सिद्ध होगी। यह स्थिति परम्परा एवं धर्म को संकटग्रस्त कर सकती है। अतः अधिकतर सिद्धान्तकार सामंजस्य वैठाने का प्रयास करते है। उनमें से कुछ प्रसिद्ध सिद्धान्तकार है ग्यारहवीं सदी के आचार्य भास्कर जो सिद्धान्तशिरोमणि के प्रणेता हैं, धीवृद्धिद के रचयिता आचार्य लल्ल जो आर्यभट के शिष्य माने जाते हैं, और सिद्धान्तशेखर के प्रणेता श्री श्रीपति। इन आचार्यों का विचार इस प्रकार है-

ब्रह्मा से वरदान प्राप्त राहु चन्द्रग्रहण के समय में भूच्छाया में प्रवेश करके चन्द्रमा का ग्रहण करता है और सूर्यग्रहण में चन्द्रमा में प्रवेश करके सूर्य को आच्छादित कर देता है। अर्थात् इस प्रकार के विचार से गोलयुक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है और स्मृति पुराणवचन भी पुष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं यह बात इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि स्मृतिपुराण ज्योतिषपरक ग्रन्थ नहीं होने के कारण अत्यन्त दुष्कर गोलविज्ञानयुक्तियों को न बताकर जनसामान्य को अवगमन कराने हेतु महर्षियों का यह एक अद्भुत प्रयास है जो आज भी जनमानस में निर्द्वन्द्व है।

ग्रहणसम्भवस्थिति

ग्रहण गणित में ग्रहों के बिम्ब मानकर प्रमाण योजनों में न लेकर कलाओं में लेते हैं। ग्रहण में योजनात्मक ग्रह बिम्ब का प्रयोग नहीं होकर कलात्मक बिम्ब का प्रयोग होता है। सूर्य योजनात्मक बिम्ब के रूप में चन्द्रमा से अधिक होने पर भी वह पृथ्वी से चन्द्र की अपेक्षा अधिक दूरी में स्थित होने के कारण चन्द्र से छोटा दिखाई देता है। ग्रहण में दृश्य बिम्ब का महत्व होता है। इन ग्राहक (छादक) और ग्राह्य (छाद्य) बिम्बों के व्यासार्धों के योग को मानयोग दल कहते हैं। मानयोगदल और शर दोनों के मान तुल्य होने पर दोनों बिम्बों को परिधियाँ स्पर्श करती हैं। ज्यों-ज्यों शर अल्प होता जायेगा छादक बिम्ब छाद्य बिम्ब को ढकता जायेगा (आच्छादित करेगा) इस प्रकार शर पर दोनों के केन्द्रान्तर अन्तर शून्य न होकर कम होने पर भी ग्रहण हो सकता है। किन्तु इस स्थिति में ग्राहक ग्राह्य को पूर्ण रूप से न ढक कर जितना भाग ढक पाता है उतने का ही ग्रहण करता है। इस प्रकार ग्रह जब खण्डित रूप में दिखाई देता है या ग्रह का कुछ अंश अदृश्य होता है तो उस ग्रहण को खण्ड ग्रहण कहते हैं।

ग्राहक एवं ग्राह्य के बीच में पूर्वापरअन्तर और दक्षिणोत्तरअन्तरों का पूर्ण रूप से अभाव होने पर पूर्णग्रहण लगता है। पूर्णग्रहण की स्थिति भी दो प्रकार की होती है। १. वलय, २. खग्रास। १. यदि ग्राह्य बिम्ब ग्राहक बिम्ब से कलादिक मान में अधिक होता है तो वलयाकार ग्रहण होता है। यह ग्रहण केवल सूर्य में होता है। इस ग्रहण में परिधि प्रकाश मान तथा मध्य भाग काला होता है। जब ग्राहक बिम्ब ग्राह्य बिम्ब से बड़ा होता है तब बिम्ब के साथ-साथ आकाश का भी कुछ भाग ढक जाता है इस प्रकार के ग्रहण को खग्रास या खच्छन्न कहा जाता है।

ग्रहणसम्भवविचार

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट हुआ है कि ग्राहक एवं ग्राह्य के पूर्वापरान्तर का अभाव हो और उनके साथ पात की स्थिति हो तो ग्रहण लग सकता है। किन्तु वह कितने अन्तर पर लग सकता है इस बात का विचार यहां पर प्रस्तुत है। ग्राहक ग्राह्य बिम्बों के केन्द्रों

का दक्षिणोत्तरान्तर शर कहा जाता है। और यह शर सम्पात विन्दु में शून्य होता है। दोनों विम्वों के मानैक्यार्ध (दोनों विम्वों के व्यासार्धों के योग) तुल्यान्तर में दोनों विम्वों का स्पर्श होता है। अर्थात् मानैक्यार्धतुल्य शर में ग्रहण का प्रारम्भ हो जाता है। यदि इस स्थिति के बाद वह अन्तर क्रमशः अल्प होता है तो शर का मान मानैक्यार्ध से अल्प हो जाता है। अर्थात् ग्राहक के द्वारा ग्राह्य विम्व का कुछ अंश ग्रस्त (ढक) जाता है। यदि वह अन्तर कम होते-होते शून्य हो जाता है तो दोनों विम्वों का केन्द्र भी एकत्र हो जाने से सर्वग्रहण (खग्रास) का सूचक होता है। इससे स्पष्ट है कि मानैक्यार्ध से अल्प शर होने पर ही ग्रहण सम्भव होता है।

ग्रहण सम्भव की सीमा निर्धारित करते हुये आचार्यों ने कहा है कि पर्वान्त में मानैक्यार्ध से शर अल्प हो तो राहु रहित सूर्य का भुजांश भी १४ अंश से अल्प हो तो चन्द्रग्रहण सम्भव होता है।

इस प्रकार-सूर्य से साधित क्रान्त्यंश को अक्षांश से संस्कृत करने पर नतांश प्राप्त होते हैं। उन नतांशों के छटें भाग से संस्कृत सपातसूर्य (राहु+सूर्य) के भुजांश स्पष्ट होंगे। यदि ये भुजांश ७ अंश से कम होते है तो सूर्यग्रहण सम्भव होता है अन्यथा नहीं। सूर्यग्रहण में सूर्य और चन्द्रमा का मानैक्यार्ध मध्यमान से ३२ कला होता है। उस मान के बराबर शर सपातार्कभुजांश के ७ अंश से कम रहने पर उत्पन्न होता है।

किन्तु सूर्य और चन्द्रमा के कक्षाओं में ऊर्ध्वाधरान्तर के कारण पृष्ठीयचन्द्रमा गर्भीय चन्द्रमा से लम्बित होता है जिससे उपयुक्त परिस्थिति होने पर भी कभी-कभी ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता है। उसका कारण इस प्रकार है। भूगर्भ से ग्रह विम्वों के केन्द्र तक जाने वाली रेखा को गर्भीय दृक्सूत्र कहा जाता है तथा भू पृष्ट स्थान से ग्रहविम्वों के केन्द्र तक जाने वाली रेखा को पृष्ठीय दृक्सूत्र कहते हैं। अमान्त के समय में चन्द्रमा के केन्द्र से होते हुये निर्गत दृक्सूत्र क्रान्तिवृत्त में जहां स्पर्श करता है वहां चन्द्रमा का क्रान्तिवृत्तीय स्थान होता है। अमान्त काल में सूर्यविम्व और चन्द्रबिम्ब दोनों के केन्द्र भूगर्भीय दृक्सूत्र में रहने पर भी भूपृष्ठ स्थिल द्रष्टा चन्द्र विम्व के स्थान को क्रान्तिवृत्त में सूर्य बिम्ब से पृथक् देखता हो अर्थात् गर्भीय दृक्सूत्र में दोनों विम्व एक ही स्थान पर रहते हुये भी पृष्ठीय दृक्सूत्र के अनुसार अन्तरित हो जाते हैं। क्रान्ति वृत्त में इस अन्तर को लम्बन कहा जाता है। दृक्सूत्रस्थ चन्द्रमा के लम्वित होने पर वह सूर्य विम्व को मेघवत् आच्छादित करने में असमर्थ रहता है ऐसी स्थिति में ग्रहण सम्भव नहीं होता। अतः सूर्यग्रहण हेतु लम्वनाभाव भी आवश्यक है। एक ही समय में किसी पृष्टस्थान में शून्य लम्बन तथा किसी स्थान में परमलम्बन हो भी सकता है। अतः जिस अमान्त में जिस स्थान में चन्द्रमा लम्बित नहीं होता (लम्बन नहीं होता) उस स्थान में सूर्यग्रहण देखा जा सकता है। यही कारण है सूर्य ग्रहण सभी स्थानों में एक समान नहीं देखा जा सकता। लम्बन के समय में गर्भपृष्ठाभिप्रायक

विम्बों के उपरिगत कदम्वप्रोतवृत्तों में जो दक्षिणोत्तरअन्तर होता है उसे 'नति' कहते हैं। सूर्य के मध्यलग्न के वरावर होने पर अर्थात खमध्य में रहने पर लम्वन का अभाव तथा क्षितिज के असान्न परम लम्वन होता है। इससे विपरीत खमध्य में नति का परमत्व तथा क्षितिजमें नति का अभाव होता है।

संहितास्कन्ध के अन्तर्गत ग्रहण का विचार

संहिताग्रन्थ में भी ग्रहण बहुधा वर्णित है। इन विचारों के अवलोकन से समसामयिक विषयों का एवं उस समय के ज्योतिषशास्त्र की स्थिति की भी जानकारी प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में ग्रहण का वर्णन विस्तृत रूप से उपलब्ध है। भिन्न प्रकार के ग्रहणों का भिन्न प्रदेशों में भिन्नफल, मास की दृष्टि से ग्रहण का फल आदि बहुत विषय इस स्कन्ध में प्रस्तुत है।

राहु की कल्पना के सन्दर्भ में बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर लोकश्रुति-स्मृति एवं संहिताओं में सामञ्जस्य रखने के लिये राहु को ग्रह मानने की बात कही। इस सन्दर्भ में कहते हैं कि ग्रहण काल में आचरित हवन जप दान आदि का अंश प्राप्त करने का वरदान राहु को ब्राह्मा ने दिया था। उसी राहुचाराध्याय में आचार्य मिहिर ने लोक में प्रचलित अनेक तर्कविहीन बातों का वर्णन कर उनका खण्डन भी किया है। यथा जल में तेल डाल कर ग्रहण के स्पर्श मोक्ष की दिशाओं का ज्ञान, वेलाहीन तथा अतिवेला ग्रहण आदि अनेक प्रसङ्गों को उद्धृतकर उनका खण्डन किया है। वराह मिहिर का स्पष्ट दृष्टिकोण रहा है कि गणितगत परिणामों में लोकश्रुति को कोई स्थान नहीं है गणित स्वयं प्रमाण है। सिद्धान्ततः ग्रहण की स्पर्श और मोक्ष की दिशायें सुनिश्चित हैं।

एकमास में दो ग्रहण

संहितास्कन्ध के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण यदि एक ही मास में लगते है तो राजा अपने बल सहित नष्ट हो जाता है और उस स्थान में शस्त्र कोप होता है। इसी विषय की चर्चा महाभारत में भी प्राप्त होती है। इसी का उद्धरण आचार्य भटोत्पल ने अपनी वृहत्संहिता की व्याख्या में की है। कुरूक्षेत्र संग्राम के पहले धृतराष्ट्र को दिये उपदेश में आचार्य व्यास के कुछ वचनों से यह बात स्पष्ट होती है। व्यासवचनों के अनुसार युद्ध के पूर्व कार्तिकपूर्णिमा में चन्द्रग्रहण और उससे आगे वाली अमावास्या में सूर्यग्रहण हुआ था। एकमास में दो ग्रहण लगना अस्वाभाविक नहीं है किन्तु दोनों का एक स्थान में दीखना कम सम्भव होता है। यदि ऐसा हुआ तो उसे उत्पात माना जाता है।

ग्रहण की विभिन्न स्थितियाँ

ग्रहण में स्पर्श सम्मीलन मध्यग्रहण उन्मीलन मोक्ष ये पांच स्थितियाँ होती हैं। मानैक्यार्धतुल्य शर के होने पर ग्राहक एवं ग्राह्य के आमने सामने स्थित पालियों का स्पर्श

चन्द्रग्रहण
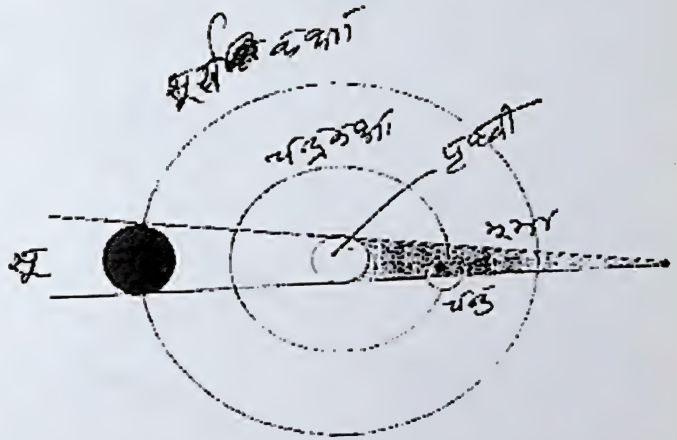
सूर्यग्रहण
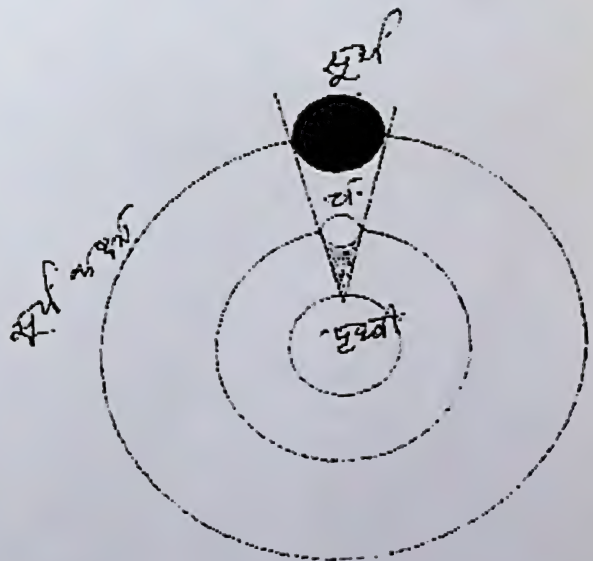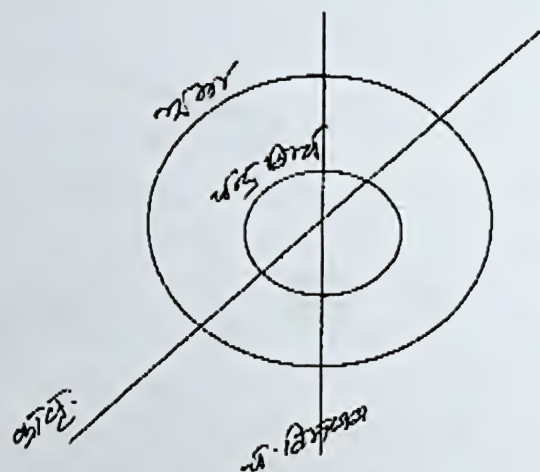
मध्यग्रहण

उन्मीलन
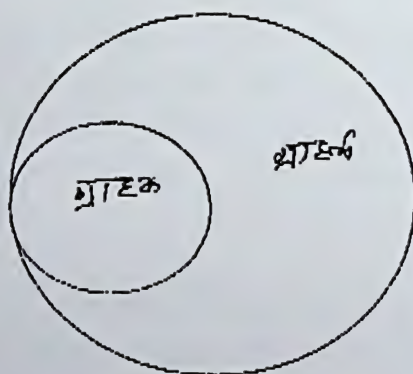
मोक्ष
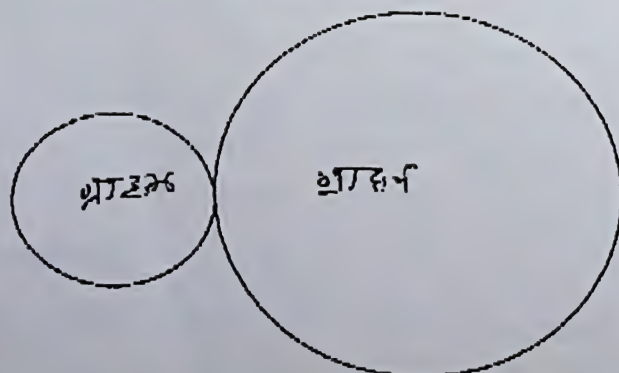
पृथ्वीग्रहण
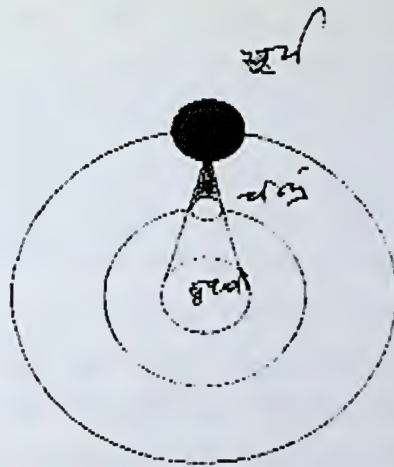
स्पर्श
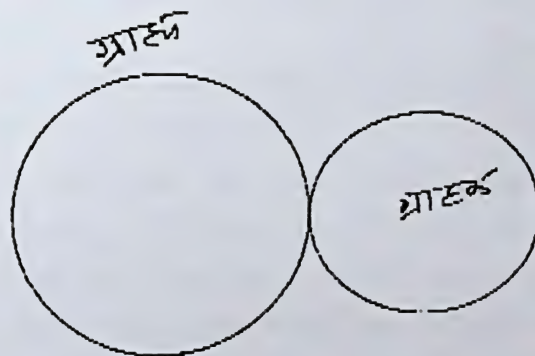
सम्मीलन
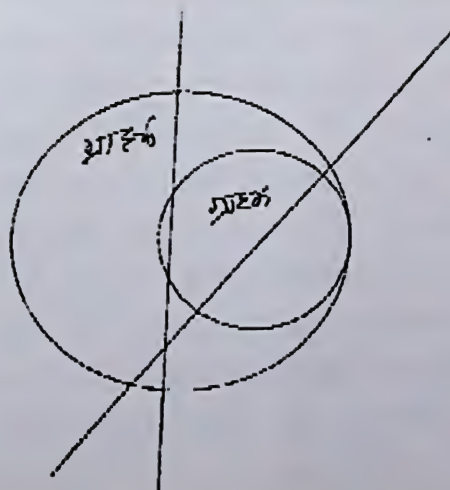
होता है जो ग्रहण की प्रारम्भिक दशा होती है। इसे स्पर्श कहते है। उसके बाद जव ग्राह्य विम्व ग्राहक विम्व में पूर्ण रूप से प्रवेश कर लेता है किन्तु उसका एक पाली ग्राहक विम्व की पाली से युक्त रहती है, इस स्थिति को सम्मीलन कहते हैं। जव दोनों विम्वों के केन्द्रों की युति होती है तो उसे मध्यग्रहण कहते हैं। ग्राह्य बिम्व ग्राहक विम्व से वाहर आने के प्रयास में जव उसकी पाली ग्राहक की दूसरी पाली को स्पर्श करती है तो उसे उन्मीलन कहते हैं। उन्मीलन के बाद ग्राह्य विम्ब का ग्राहक बिम्व से बाहर आने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। सम्पूर्ण ग्राह्य विम्व ग्राहक बिम्ब से वाहर आ जाता है किन्तु उसकी एक पाली अभी भी ग्राहक की पाली को स्पर्श कर रही होती हो तो उस स्थिति को मोक्ष कहते हैं। यह ग्रहण की अन्तिम स्थिति होती है। इसके बाद ग्रहण समाप्त माना जाता है।

ग्रहण में स्पर्श से लेकर मोक्ष तक जो समय लगता है उसे स्थिति काल कहते हैं और उसके अर्धभाग को स्थित्यर्ध कहते है। इसी प्रकार सम्मीलन से लेकर उन्मीलन कालपर्यन्त जो समय लगता है उसे विमर्दकाल कहते है और उसका जो अर्थभाग होता है उसकी विमर्दार्ध संज्ञा है।

पृथ्वीग्रहण

सूर्यग्रहण की स्थिति के समय जिस प्रदेश के जनों को सूर्य का दर्शन नहीं होता है उस प्रदेश का दर्शन सूर्य के पृष्ठ में भी नहीं हो सकता है, जिसे पृथ्वीग्रहण कहा जाता है। यह पृथ्वी ग्रहण का साधन शास्त्र पटुता को प्रगट करता है। यह ग्रहण भी संक्षेप में कमलाकर भट्ट जैसे महान खगोल विदों के द्वारा वर्णित है।

जो विचार सूर्यग्रहण के लिये प्रस्तुत किये गये हैं तथा जो विशेष परिस्थितियाँ सूर्यग्रहण के अन्तर्गत बताई गयी है वे सभी पृथ्वीग्रहण में भी होती है। इस ग्रहण में भी ग्राहक चन्द्र ग्राह्य पृथ्वी को मेघवत आच्छादित कर लेता है। परिणामतः चन्द्रग्रहण की भाँति पृथ्वी भी चन्द्रच्छाया में प्रविष्ट होकर अदृश्य हो जाती है। इस स्थिति में चन्द्रकक्षा से ऊपर स्थित किसी भी कक्षा में भ्रमण करने वाले किसी भी खगोलीय पिण्ड के पृष्टभाग में स्थित द्रष्टा को पृथ्वी का दर्शन नहीं होगा। अतः इसे पृथ्वीग्रहण कहते है। ग्राहक ग्राह्य विम्बों के कक्षा भिन्न होने के कारण लम्वन आदि अन्तर यहां भी विचारणीय हो सकता है, किन्तु चन्द्रग्रहण की भांति यहाँ भी चन्द्रच्छाया में पृथ्वी प्रविष्ट होकर ग्रहण ग्रस्त होगी। इस प्रकार पृथ्वी और चन्द्रच्छाया दोनों ही एक कक्षागत हो जायेगी। अतः गणित पूर्णतः चन्द्रग्रहण की तरह ही होता है। स्थिति स्थित्यर्ध विमर्द विमर्दार्ध मध्यग्रहण आदि जो स्थितियाँ उपर्युक्त ग्रहणों में वर्णित है वे सभी स्थितियाँ पृथ्वीग्रहण में भी उत्पन्न होती हैं।

ग्रास

ग्राहक विम्ब के द्वारा ग्राह्य विम्ब का जो भाग आच्छादित किया जाता है उसे ग्रास कहते है। अर्थात् ग्रहण के समय में विम्ब का जो भाग अदृश्य होता (ढक जाता) है उसे ग्रास कहते हैं। ग्राह्य और ग्राहकविम्बों के योगार्ध से शर को घटाने (रहित करने) पर जो शेष होता है उसे ग्रासमान कहते हैं। अर्थात् उतना ही भाग ग्रसित होता है।

ग्रहण का वर्ण

यदि चन्द्रमा का ग्रस्तभाग अर्धाल्प होता है। तब धूम्रमय वर्ण होता है। यदि अधिक विम्ब ग्रस्त होता है तो ग्रस्त भाग का वर्ण कृष्णवर्ण होता है। मोक्षाभिमुख ग्रस्त चन्द्रविम्ब का वर्ण कृष्णताम्र होता है और चन्द्र का सम्पूर्ण ग्रहण लगने पर बिम्ब का वर्ण कपिल अर्थात हल्का पीतवर्ण होता हैं। ग्रस्त सूर्यविम्ब का वर्ण सर्वदा कृष्णवर्ण होता है।

एक वर्ष में ग्रहणों की संख्या

एक वर्ष में ग्रहणों की अधिकतम संख्या ७ होती है जिसमें ५ सूर्यग्रहण एवं २ चन्द्रग्रहण अथवा ४ सूर्यग्रहण और ३ चन्द्रग्रहण होते हैं।

●●●

भारतीय पञ्चाङ्ग

प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी

विभिन्न आकाशीय सूचनाओं से युक्त विस्तृत तिथि पत्र एवं कालदर्शक को पञ्चाङ्ग कहा जाता है। इसमें तिथि, वार नक्षत्र योग और करण ये पाँच प्रमुख अंग होते है। इन्हीं पाँच अंगों के कारण इसे 'पञ्चाङ्ग' कहा भी जाता है। तिथि नक्षत्र आदि का साधन चन्द्रमा और सूर्य के योगांशों से किया जाता है। इसलिए भारतीय पञ्चांगों को चान्द्र-सौर पञ्चांग भी कहा जाता है अमान्त को आकाश में चन्द्र एवं सूर्य का क्रान्तिवृत्तीय आभासिक पूर्वापरान्तराभाव होता है। उसके पश्चात् सामान्यतया अपनी अधिक गति के कारण चन्द्र, सूर्य से आगे जाता हुआ प्रतीत होता है। जब चन्द्र एवं सूर्य के मध्य १२° का अन्तर होता है तब एक तिथि की पूर्ति होती है। इसलिए एक चान्द्रमास में (३६०° भ्रमण करने में) ३० तिथियां होती हैं। वार का मान एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त होता है। नक्षत्रमण्डल अथवा क्रान्तिवृत्त को आठ सौ कलाओं से विभक्त करने पर २७ समान भाग होते हैं। प्रत्येक भाग को नक्षत्र और उसे भोगने में चन्द्र को जितना समय लगता है, उसे नक्षत्र मान कहते हैं। सूर्य एवं चन्द्र के भोगांशों को जोड़ने से योग नामक अंग का साधन होता है। सूर्य एवं चन्द्र की गति को योग ८०० कला होने में जितना समय लगता है उसे योग मान कहते हैं। इनकी संख्या २७ होती है। 'करण' नामक अंग तिथि का आधा माना गया है। कह सकते हैं कि सूर्य एवं चन्द्र में ६ अंश का अंतर जितने समय में पड़ता है उसे करण कहते हैं। वस्तुतः करण का अलग से साधन नहीं किया जाता है अपितु तिथिकाल के आधे को करणकाल कहा जाता है। उपर्युक्त पांच अंगों के अतिरिक्त सम्प्रति पञ्चाङ्ग पत्रकों में दैनिक व्यवहारोपयोगी दिनमान, ग्रहों के उदयास्त, ग्रहण विवरण, दैननन्दिन स्पष्ट ग्रह, दिनांक आदि सामग्रियां भी दी जाती हैं।

भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति निरयण चान्द्र सौरात्मक हैं। वर्ष प्रमाण निरयण सौरवर्ष के अनुसार तथा मास चान्द्रमान के अनुसार दिये जाते हैं किन्तु सौर एवं चान्द्र वर्षो में प्रायः ११ दिन का अन्तर प्रत्येक वर्ष परिलक्षित होता है। इसलिए लगभग प्रति तृतीय वर्ष (३२ मास १६ दिन ४ घटी पर) एक अधिमास प्रक्षेपण का आविष्कार हमारे चिन्तकों ने किया है, जिसके कारण ऋतुओं एवं मासों में सामंजस्य बना रहता हैं। इस प्रकार भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति में सौर चान्द्रमासों का संतुलन स्वयमेव होता रहता हैं।

पञ्चाङ्ग की आवश्यकता

सम्प्रति संपूर्ण विश्व के साथ-साथ भारत में भी ख्रीष्टीय सौर पञ्चाङ्ग का प्रचलन अधिक है जिससे अतिसामान्य दिनांक वार-मास एवं वर्ष की ही गणना की जाती है, किन्तु धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के लिए भारतीय पञ्चाङ्गों की उपादेयता अधिक है। हमारे

व्रतपर्वोत्सव प्रायः चान्द्रमासों एवं ऋतुओं के सह संबंध पर आश्रित है। यज्ञोत्सव-व्रत-पर्वादि के सम्यक् निर्धारण के लिए पञ्चाङ्ग की आवश्यकता होती है। जैसे रामनवमी, जन्माष्टमी, रक्षाबन्धन, विजयादशमी, होली, दीपावली आदि पर्वमहोत्सव, एकादशी, चतुर्थी, पूर्णिमा आदि व्रत, ग्रहणकाल, संक्रान्ति, महावारुणी, कुम्भयोगादि, पितरों के श्राद्धतिथिज्ञान, नवरात्रि में घटस्थापनादि, यात्रा-वास्तु-गृह प्रवेश आदि मुहूर्त्त, षोडशसंस्कार, भद्रा-रिक्ता-पञ्चक गण्डमूलादि दोषों का ज्ञान आदि सभी पञ्चाङ्ग की सहायता से निर्धारित होते हैं। ग्रामीण अञ्चलों में वृष्टि का पूर्वानुमान तिथि-नक्षत्र वारादिकों में वायु सञ्चारण के अनुसार ही ग्रामीण जन कर लिया करते हैं। सामाजिक कार्यो में भी जैसे जलाशय-खनन-भवननिर्माणादि के लिए शुभ काल का ज्ञान एवं सामाजिक महोत्सवों के निर्धारण के लिए पञ्चाङ्ग की आवश्यकता होती हैं। इसलिए भारत सरकार द्वारा भी 'राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग' का प्रकाशन प्रतिवर्ष किया जाता हैं।

पञ्चाङ्ग का उद्भव

धर्मपरायण भारत वर्ष में पञ्चाङ्ग का व्यवहार अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि पञ्चाङ्ग का प्रचलन उस काल से आरम्भ हुआ जिस काल में ज्योतिष विषयक ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था में रहा होगा। वस्तुतः पञ्चाङ्ग का उद्भव किस समय हुआ तथा किस कालखण्ड में उसका व्यवहार में सर्वप्रथम प्रचलन हुआ, यह कहना अति कठिन है किन्तु वैदिक वाङ्मय में पञ्चाङ्ग के कतिपय अंगों का विस्तृत एवं विकसित वर्णन से अनुमान किया जाता है कि यह ज्ञान वैदिक काल से ही विद्यमान रहा होगा। अपने प्रारंभिक अवस्था में पञ्चाङ्ग के पाँचों अंग न होकर विकास क्रम में एकाङ्ग, द्वयङ्ग, त्र्यङ्ग एवं चतुरंग रहे होंगे। यद्यपि वे प्राचीन कालदर्शकपत्रक आज के मुद्रित पञ्चाङ्गों की भांति शुद्ध, स्पष्ट एवं विस्तृत नहीं रहे होंगे तथापि तत्कालीन परिस्थितियों एवं ज्ञान के अनुकूल यह एक महान उपलब्धि रही होगी। लिपि ज्ञान से पूर्व सम्भवतया यह ज्ञान भी मौखिक रूप से विद्यमान रहा होगा। हमारे देश में प्राचीन काल से ही **श्रुतिपरम्परा** रही है।

आकाश का अवलोकन करने पर सर्वप्रथम सूर्य एवं चन्द्र ने ही मनुष्य को प्रभावित किया होगा। प्रतिदिन सूर्य के उदय के साथ ही धरती पर प्रकाश का साम्राज्य एवं उसके अस्त होने पर अन्धकार का होना तथा रात्रि में चन्द्रमा के शीतल प्रकाश के साथ उदय होना, चन्द्रमा का प्रतिदिन स्वरूप परिवर्तन करना कभी अदृश्य हो जाना तथा कभी पूर्ण विम्ब में दिखाई देना निश्चय ही मानव मस्तिष्क को आपने विषय में सोचने के लिए विवश किया होगा। परिणामतः मनुष्य सूर्य एवं चन्द्र को आश्चर्य एवं कौतूहल दृष्टियों से देखते देखते इनके उदय अस्त के रहस्यों को समझने का प्रयास किया होगा तथा सूर्योदयों की

गणना प्रारंभ की होगी। वस्तुतः चन्द्र के अनियमित उदयों की गणना की अपेक्षा सूर्य के नियमित उदयों की गणना अधिक स्वाभाविक एवं सरल हैं। अतः सर्वप्रथम पञ्चाङ्गों में 'सावन दिन' का ज्ञान हुआ होगा। सम्प्रति सावन दिन के स्थान पर 'वार' का प्रयोग होता है। सावनगणना से ही सर्वप्रथम ३० सावन दिनों का १ मास एवं १२ सावन मासों का १ वर्ष। इस प्रकार ३६० सावन दिनों का १ वर्ष प्रचलित हुआ होगा। सूर्य के उदयों की गणना के कारण संभवतया सर्वप्रथम १ सावन वर्ष को ही सौरवर्ष कहते रहे होंगे। वेदों में ३६० दिवसात्मक संवत्सर का वर्णन प्राप्त होता हैं।[1] तत्पश्चात् चन्द्रमार्ग में आने वाले नक्षत्रों का ज्ञान हुआ। उसके बाद तिथि का ज्ञान हुआ। शंकर बाल कृष्ण दीक्षित जी का कथन है[2] कि वेदांग ज्योतिष काल (लगभग १४०० वर्ष शकपूर्व) तक तिथि और नक्षत्र अथवा सावन दिन और नक्षत्र ये दो ही अंग प्रचलन में थे। तत्पश्चात् 'करण' नामक अंग का ज्ञान हुआ। वस्तुतः करण तिथि के ही भाग होते हैं। 'तिथ्यर्धम् करणम्' अर्थात् तिथि का आधा एक करण होता है। अतः एक तिथि में दो करण होते हैं। रवि आदि सात बारों की गणना पञ्चाङ्गों में ६०० शकवर्ष के बाद ही हुई।

इस प्रकार पञ्चाङ्ग के पाँचों अंगों का प्रचार एक साथ न होकर विकास क्रम से हुआ। सर्वप्रथम वर्ष एवं मास सावनात्मक ही रहे होंगे। धीरे-धीरे सावन मास एवं सावन वर्ष के स्थान पर चान्द्रमास एवं सौरवर्ष की स्थापना हुई होगी। भारतीय पञ्चाङ्ग पद्धति 'चान्द्रसौरात्मक' हुई। वस्तुतः वैदिक काल से ही पञ्चाङ्ग का ज्ञान विद्यमान था। यद्यपि उसमें सभी (पाँचो) अंगों का समावेश न रहा हो। फिर भी वैदिक वाङ्मय में पञ्चाङ्ग के कतिपय अंगों की चर्चा हमें इस ज्ञान के अत्यन्त प्राचीन होने के अनुमान को बल प्रदान करती है।

पञ्चाङ्ग का वैदिककालीन स्वरूप

वैदिकसाहित्य में उपलब्ध पञ्चाङ्ग विषयक वर्णन से अनुमान होता है कि उस काल में चान्द्रसौर पञ्चाङ्ग प्रचलन में था। काल के संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, मुहूर्त्तादि विभाग व्यवहार में थे।

एक वर्ष में १२ मास एवं १३ मास दोनों का ही वर्णन[3] चान्द्रसौर पञ्चाङ्ग पद्धति का समर्थन करता है। चान्द्रमासों एवं ऋतुओं के सामंजस्य के लिए अधिमास प्रक्षेपण की कोई विधि अवश्य ही उस काल में विकसित रही होगी। उस काल में मासों की 'मधु, माधव आदि संज्ञा[4] तथा पर्यायरूप में 'अरुणरज आदि संज्ञाएं[5] मिलती हैं किन्तु चैत्र वैशाख

---

१. ऋ० सं० १/१६४/११ एवं १/१६४/४, २. भा० ज्यो० दीक्षित (हि० अनु०) पृष्ठ ५१७
३. द्र० तै० सं. ५/६/७, ४. तत्रैव ४/४/११ तथा वाजसनेयि संहिता अ० १३,१४,१५
५. ३ तै० ब्रा० ३!१०/१

आदि संज्ञायें प्राप्त नहीं होती। पूर्णिमान्त एवं अमान्त दोनों ही मासान्तों का प्रचलन होते हुए भी पूर्णिमान्त मान का ही वर्चस्व दिखाई देता है। मास के शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष के पर्याय रूप में 'पूर्व' एवं पर पक्ष का वर्णन प्राप्त होता हैं। पञ्चाङ्गों में तिथि नामक अंग का साम्प्रतिक अर्थ वेदों में प्राप्त नहीं होता किन्तु वहाँ 'एकाष्टका, व्यष्टका, पूर्णमासी, अमा, उदृष्टा, इत्यादि तिथिसंज्ञक शब्द मिलते हैं। संभवतया वे रात्रिवाचक रही होंगी। बहुत समय के बाद वे 'तिथिवाचक' रूप में प्रयुक्त होने लगी होंगी। अमावस्या को चन्द्र सूर्य में प्रवेश करता हैं।[1] इस वचन से अमावस्या को चन्द्र सूर्य का क्रान्तिवृत्तीय आभासिक मिलन का आशय प्रकट होता है। वेदो में सप्तवारों, योग एवं करणों की चर्चा प्राप्त नहीं होती। किन्तु नक्षत्रों के विषय में विशद रूप से वर्णन प्राप्त होता है। नक्षत्रों की संज्ञा उनके देवता, उनकी तारासंख्या आदि के विषय में मनोहारी वर्णन अनेक स्थलों में प्राप्त होते हैं। साथ ही सप्तर्षितारामण्डल, नौतारापुञ्ज, श्वानतारापुञ्ज आदि के विषय में भी सुन्दर वर्णन मिलता है। सूर्य चन्द्र के अतिरिक्त शुक्र एवं गुरु का भी स्पष्ट वर्णन अनेक स्थानों में प्राप्त होता है जिससे 'पञ्चग्रहों[2] के ज्ञान का अनुमान होता है।

खग्रास सूर्यग्रहण की चर्चा वहाँ सामान्य रूप से मिलती हैं।[3] इससे ग्रहण गणित का उत्तम ज्ञान परिलक्षित होता है। अत्रिकुलोत्पन्न लोग अथवा अत्रिशिष्य ग्रहण गणित में निष्णात थे। ग्रहण चक्र के उल्लेख से अनुमान होता है कि ग्रहगति विषयक ज्ञान भी उस काल तक हो चुका था। दीक्षित महोदय के अनुसार वैदिक काल की उत्तर सीमा लगभग १५०० वर्ष शकपूर्व है।[4]

वेदाङ्ग काल में पञ्चाङ्ग

वेदांग काल की मर्यादा लगभग १५०० वर्ष शकपूर्व से २०० वर्ष शकपूर्व तक मानी जा सकती है।[5] वेद के षडङ्ग माने गये हैं-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और छन्द। इनमें ज्योतिष नामक वेदांग की महात्मा लगध प्रणीत वेदाङ्गज्योतिषम् नामक पुस्तक मिलती है। वेदाङ्ग ज्योतिष के भी ३ विभाग हैं।

१. ऋग्वेद ज्योतिष या आर्च ज्योतिष (३६ श्लोक)
२. यजुर्वेद ज्योतिष या याजुष ज्योतिष (४३ श्लोक)
३. अथर्ववेद ज्योतिष या आथर्वणज्योतिष (१६५ श्लोक)

इनमें आर्च एवं याजुष ज्योतिष में लगभग ३० श्लोक दोनों में एक जैसे हैं। आथर्वण ज्योतिष दोनों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं।

---

१. ऐ० ब्रा० ४०/५.
२. ऋ० सं. १/१०५/१० द्रष्टव्य-भगण समीक्षा पृष्ठ १८.
३. ऋ० सं. ५/४०/५-६.
४. भा० ज्यो० दीक्षित (हि०अनु०) पृष्ठ १६२.
५. वही पृष्ठ १६६.

वेदाङ्गज्योतिष पद्धति की प्रमुख विशेषता 'पञ्चसंवत्सरात्मक युगपद्धति है। यद्यपि इसके बीज वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होते हैं। पञ्चसंवत्सरात्मक युग का आरंभ माघ शुक्ल प्रतिपदा एवं युग की समाप्ति पौष कृष्णामान्त को होती है।[1] उस समय यद्यपि विषुव एवं अयन का ज्ञान था किन्तु अयन-चलन की चर्चा प्रायः नहीं दिखाई देती। वेदांग युग में सौर, चान्द्र, सावन, नक्षत्र एवं आर्क्षमानों का व्यवहार में प्रचलन था।[2] मास मुख्य रूप से चान्द्र थे किन्तु सौरमास का भी प्रचार था। युग में २ अधिमासो की व्यवस्था सौरचान्द्रमासों में सामंजय करने हेतु थी।[3] ऋत्वारम्भ सूर्य नक्षत्र के अनुसार होता था। अमान्तमान का प्रचलन तथा पूर्णिमा एवं अमावस्या की पर्वसंज्ञा उस काल की विशेषता थी।

उस काल में पञ्चाङ्ग के २ अंग तिथि एवं नक्षत्र का ही प्रचलन मिलता है। यद्यपि अथर्वणज्योतिष में वार एवं करणों का भी वर्णन मिलता है किन्तु उसकी रचना प्रायः वेदांग काल की उत्तरमर्यादा के आसपास की हैं। ऋग्यजुर्वेदज्योतिष काल में 'कालदर्शक पञ्चाङ्ग पत्रक में दिनमान, सावनदिन, तिथि, सूर्यनक्षत्र एवं चन्द्र नक्षत्र ही मुख्य अंग थे।

वेदांग ज्योतिषकाल में सूर्य व चन्द्र की मध्यमागति का ही ज्ञान था। अन्य ग्रहों एवं मेषादिराशियों का उल्लेख नहीं मिलता। उस समय सूर्यचन्द्र की स्थिति का निरूपण भी नक्षत्र के अनुसार ही किया जाता था। धनिष्ठादि नक्षत्र सामान्य व्यवहार में कृतिकादिगणना थी। वेदांग ज्योतिष पद्धति के अनुसार यदि एक बार ५ वर्ष का पञ्चाङ्ग निर्माण किया जाय तो प्रत्येक पञ्चवर्षीय युग के लिए वह उपयुक्त होगा, ऐसा ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है किन्तु वेदांग ज्योतिषोक्त वर्षादिकों के मान में त्रुटियों के कारण वह पञ्चाङ्ग शीघ्र ही अनुपयोगी हो जायेगा।[4] इस पद्धति में क्षयतिथि, अधिकमास, नक्षत्रवृद्धि इत्यादि सभी कुछ हमेशा एक रूप हैं किन्तु वास्तविक रूप में उपर्युक्त गणनाएं एकरूप नहीं हैं उनमें ह्रासवृद्धि होती रहती है। वस्तुतः पंचसंवत्सरात्मक युग में गणना के लिए सरलता देखकर वेदांग ज्योतिषकार ने ३६६ दिन स्वीकार किये किन्तु कुछ समय बाद ही वह पद्धति प्रत्यक्ष रूप से स्थूलता का प्रदर्शन करने लगी किन्तु अन्य मनीषियों ने यथायोग्य स्थलों पर संशोधन करते हुए भी इस पद्धति को आगे भी प्रचलित रहने दिया। अतः अपने मूल स्वरूप से कुछ भिन्न रूप में भी बहुत समय तक वेदांग ज्योतिष पद्धति प्रचलित रही। इसी कारण गर्गादि ऋषियों के लेखों में इसका वर्णन प्राप्त होता है। समीक्षात्मक हष्टि से देखा जाय तो वेदांग ज्योतिष, जैन पद्धति के ग्रन्थों एवं पितामहसिद्धान्त के अति सन्निकट हैं।

अन्य वेदांगों में यद्यपि ज्योतिषीय पारिभाषिक शब्द प्राप्त नहीं होते किन्तु उनमें नक्षत्र तिथि मेषादि राशियों का वर्णन प्राप्त होने से स्पष्ट है कि उस काल में भी सामान्य जन

---

१. द्रष्टव्यं या. ज्यो. ५, २. या० ज्यो० २८-३१, ३. ३ या० ज्यो० १३

४. द्रष्टव्यं भा० ज्यो० दीक्षित (हिं० अनु०) पृष्ठ १३१-१३३

पञ्चाङ्ग पत्रकों का प्रयोग करते थे। अनुमान होता है कि वेदांग काल के उत्तर में पञ्चवर्षात्मकयुगपद्धति के स्थान पर कल्पादि युग व्यवस्था धीरे-धीरे स्वीकृत होने लगी। निरुक्त[1] के वर्णन से कल्पादि युगपद्धति के प्रचलन का आभास होता है। उस समय मुहूर्त्त नाड़ी अहोरात्र-पक्ष मास-अयन-ऋतु वर्ष इत्यादि काल विभागों के ज्ञान का अनुमान होता है। वस्तुतः वेदांग काल में पञ्चाङ्ग ज्ञान विकासशील अवस्था में था।

स्मृति-पुराण एवं महाकाव्यों में पञ्चाङ्ग

स्मृति-पुराण-रामायण-महाभारतादि धर्मग्रन्थों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद दिखाई देता है। फिर भी स्मृतिग्रन्थों, रामायण एवं महाभारत का रचनाकाल ५०० वर्ष ई० पू० से अर्वाचीन नहीं है। पुराणों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ५०० ईसा तक मानी जा सकती है। इसी प्रकार बौद्ध एवं जैन धर्मो का मुख्य प्रचलन काल एवं प्राचीन ग्रन्थों का लेखन काल भी ५०० ईसा तक स्वीकार किया जा सकता हैं। वस्तुतः यह समय वेदांगकाल एवं प्रसिद्ध सिद्धान्त युग का संक्रमण काल हैं।

स्मृतिग्रन्थों में मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति प्रसिद्ध हैं। सर्वप्रथम मनुस्मृति में ही पुराण-सिद्धान्तज्योतिष ग्रन्थोक्त युग पद्धति का पूर्ण वर्णन मिलता हे।[2] यद्यपि व्यतिपात नामक योग[3] का वर्णन प्राप्त होता है किन्तु उसका वर्णन 'क्रान्तिसाम्य' के कारण किया गया प्रतीत होता है। अन्य योगों की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती। ऋग्गृह्यपरिशिष्ट एवं आथर्वण ज्योतिष में करणों की चर्चा है, परन्तु याज्ञवलक्य स्मृति में उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि वारज्ञान का अनुमान होता है। इसी प्रकार मेषादि संज्ञाएं प्रचलित न होते हुए भी क्रान्तिवृत्त की द्वादशविभाग कल्पना प्राप्त होती है। ग्रहगति एवं ग्रहयुति के प्रति जिज्ञासा दिखलाई देती है। इस प्रकार स्मृति काल में पञ्चाङ्ग विज्ञान बाल्यावस्था से शैशव काल में पदार्पण करता हुआ सा आभासित होता है।

रामायण एवं महाभारत दोनों के काल में संवत्सर-अयन-ऋतु-मास-पक्ष-तिथि-अहोरात्र मुहूर्त्त आदि काल विभागों के वर्णन कई स्थलों पर उपलब्ध होते हैं। रामायण में यद्यपि 'पञ्चसंवत्सरात्मकयुगपद्धति' नहीं प्राप्त होती किन्तु महाभारत में मनुस्मृति में उक्त युगपद्धति के साथ-साथ पञ्चसंवत्सरात्मक युगपद्धति का भी वर्णन मिलता हैं। दोनों में चान्द्रमास का ही व्यवहार है साथ ही उनका संबंध ऋतुओं के साथ भी परिलक्षित होता है। तिथियों की संज्ञा तथा मध्यम तिथि गणना का भी उल्लेख प्राप्त होता हैं। महाभारत में पूर्णान्त एवं आमान्त दोनों मासान्तों का प्रचलन उपलब्ध होता है किन्तु रामायण में इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। पञ्चाङ्गों में वार, योग एवं करणों की चर्चा दोनों ही में नहीं मिलती। यद्यपि तिथि व नक्षत्रों का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। रामायण में कुछ स्थलों

१. निरुक्त १४/४, २. मनु०स्मृ० प्रथमा० ६८-७६, ३. या० स्मृ० आचाराध्या० २६७-२६८

पर राशि संज्ञा मिलती है किन्तु विद्वान् उन स्थलों को क्षेपक मानते है। महाभारत में कहीं भी राशियों की चर्चा प्राप्त नहीं होती, फिर भी क्रान्तिवृत्त के द्वादश विभाग कल्पना अवश्य परिलक्षित होती है। प्रायः ग्रहों की स्थिति का निरूपण दोनों ग्रन्थों में नक्षत्र के आधार पर किया गया है। ग्रह, ग्रह युद्ध, वक्रत्व तथा ग्रहण आदि का वर्णन दोनों ही ग्रन्थों में मिलता हैं किन्तु आश्चर्यजनक है कि दोनों ही ग्रन्थों में 'अपर्व' के ग्रहण की भी चर्चा मिलती है। महाभारत में १३ दिवसात्मक पक्ष की चर्चा है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सूक्ष्मग्रहगणित का ज्ञान नहीं था तथापि स्थूलरूप से स्पष्ट गति का ज्ञान अवश्य था। महाभारत में मासादिकों के क्षयज्ञान के वर्णन से इसकी पुष्टि होती है। वस्तुतः काल के सूक्ष्म विभाग परिकल्पना, ग्रहोदयास्त वर्णन इत्यादि विषय उस काल में ज्योतिश्शास्त्र की उन्नत अवस्था को संसूचित करते हैं। पुराणों में विष्णुधर्मोत्तर,[1] आग्निपुराण तथा नारदपुराण[2] में अन्यपुराणों की अपेक्षा ज्योतिष का विकसित शास्त्रीय स्वरूप दिखाई देता है। कालमान विभाग में मुख्यतया मुहूर्त्त के नीचे के कालमानों को लेकर पुराणों में परस्पर मतवैभिन्य है। यद्यपि मुहूर्त्त से कल्पपर्यन्त कालमान में सभी में एकवाक्यता है। ब्रह्मा की आयुप्रमाण में भी कुछ मतभेद है। इसमें विष्णुपुराण[3] का क्रम प्रायः सभी पुराणों में स्वीकृत है। इसी प्रकार दिन के ५ विभाग प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्ण एवं सायांह्न इनकी चर्चा[4] वर्तमान युग पद्धति के साथ पञ्चसंवत्सरात्मक युग पद्धति,[5] मासों के चैत्र वैशाखादि नाम के साथ मधुमाधवादि वेदोक्त संज्ञाएं भी प्राप्त होती हैं।[6] इसी प्रकार श्रीमद्भागवत[7] नारदपुराण[8] मार्कण्डेयपुराण[9] भविष्यपुराण[10] ब्रह्मवैवर्तपुराण[11] लिंगपुराण[12] स्कन्दपुराण[13] प्रभृति सभी महापुराणों में कालमान की चर्चा प्राप्त होती है।

पुराणों में नक्षत्रों का ६ वीथियों में विभाजन मिलता है। इन्हीं वीथियों में ग्रहभ्रमण की पुराणों की मान्यता है परन्तु इन वीथियों के नाम, नक्षत्रों का वीथियों में निवेशक्रम सभी पुराणों में अलग-अलग प्रकार से किया गया है, जिनमें विष्णुधर्मोत्तर पुराण[14] देवीभागवत[15] मत्स्यपुराण[16] आदि प्रमुख हैं। पुराणकाल में ज्योतिषीय दृष्टिकोण से ग्रहों का निरीक्षण, विशेष रूप से किया जाता था। साथ ही ज्योतिष का परीक्षण भी किया जाता था। द्वादश राशि, २७ नक्षत्रों की तारासंख्या, नक्षत्रों के प्रकाशवर्णों की भी चर्चा पुराणों में प्राप्त होती है। पुराणों में सप्तवारों का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। इस प्रकार तिथि वार नक्षत्रों का स्पष्ट वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है।

---

१. वि०ध०पु० पितामहसिद्धान्त २/१६६-१७८, २. ना०पु०अ० ५४-५६, ३. वि०पु० १/३/७-२७
४. वही २/८/६१-६३ ५. वही २/८/७०-७२, ६. वही २/८/०६, ७. श्रीमद्भागवत् ३/११/१-७
८. ना०पु०पूर्वार्द्ध ५४/६१-६३, ९. मा०पु० ४३/२३-४४, १०. भवि०पु० १/५३-५४
११. ब्रह्मवै०पु० ५/५-१५, १२. लिङ्ग पुराण पूर्वार्द्ध अ०४, १३. स्क०पु०ना०हा०मा०२७२/३-७
१४. वि०ध०पु०/८५/२-६, १५. दे०भा०पु० ८/१५/१-६, १६. मत्स्य पुराण १२३/५२:५६

पुराणकाल के साथ ही जैन एवं बौद्ध धर्मों का उत्थानकाल भी प्रारम्भ होता है। जैन ग्रन्थों में प्रायः वेदाङ्ग ज्योतिष पद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु जैन ग्रन्थों में २ सूर्य २ चन्द्र ५६ नक्षत्र इत्यादि की भी चर्चा मिलती है। जैन ग्रन्थों में नक्षत्र गणना प्रायः अभिजित् नक्षत्र से प्रारंभ होती है। वहाँ ८८ महाग्रहों का वर्णन भी मिलता है। दिन-मास-पक्ष-अयनादि की पर्याप्त चर्चा जैनग्रन्थों में स्वीकृत है। बौद्ध धर्म में ज्योतिश्शास्त्र को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था। फलतः इस शास्त्र की समृद्धि में बौद्धों का सहयोग प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार प्रायः ५०० ईसावर्ष तक का यह काल ज्योतिष शास्त्र का संक्रमण काल था जिसमें सिद्धान्तों एवं गणितीय प्रविधि में क्रमशः विकासशीलता दिखलाई देती है। भारतीय ज्योतिष के प्रसिद्ध त्रिस्कन्धज्योतिर्विद महर्षियों[1] में से अधिकांश का काल भी इसी समयावधि में माना जा सकता हैं।

प्रथम सिद्धान्तकालीन युग में पञ्चाङ्ग

भारतीय ज्योतिष का यह युग स्वर्णिम युग कहा जाता है। इसकी कालावधि प्रायः ५ वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक मानी जा सकती है। इस काल में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, लल्ल, श्रीधर, मुञ्जाल, श्रीपति, भास्कराचार्य प्रभृति विद्वानों ने अपने गणितीय कौशल से ज्योतिष शास्त्र एवं पञ्चाङ्ग विज्ञान् को समृद्ध बनाया। प्रसिद्ध वर्तमान सूर्य सिद्धान्त का काल भी इसी समयावधि के बीच विद्वान् लोग मानते हैं। वर्तमान युग पद्धति का सुदृढ़ीकरण, ग्रहगतियों का नभनिरीक्षण द्वारा सत्यापन, ग्रहभगणों के मानों का संशोधन, वेधपरम्परा का विकास, पञ्चाङ्ग के गणितीय नियमों की स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयत्न इत्यादि इस सिद्धान्तकालीन युग की प्रमुख विशेषता थी।

सर्वप्रथम आर्यभट्ट प्रथम ने अपने 'आर्यभटीयम्' नाम ग्रन्थ (४२१ शक) में पृथ्वी के स्वाक्षभ्रमण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[2] अपने वेधों के द्वारा ग्रहभगणों के मूल्यांकों में संशोधन कर उन्होंने पञ्चाङ्ग पद्धति को 'दृक्प्रत्यपद' करने की चेष्टा की। ग्रहण गणित एवं उसके कारणों की व्याख्या भी उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से की। वराहमिहिर (४२७ शक) ने अपने समय में प्रचलित पाँच प्रमुख सिद्धान्तों-पितामह-वासिष्ठ-रोमक-पोलिश एवं सूर्य सिद्धान्तों के गुण दोषों का सम्यक् समीक्षा कर 'पञ्चसिद्धान्तिका' नामक करणग्रन्थ की रचना की जिसमें उक्त पाँच सिद्धान्तों के नियमों का प्रतिपादन मिलता है। उन्होंने अपने काल में 'सूर्यसिद्धान्त' को सर्वाधिक स्पष्ट एवं 'दृक्प्रत्यपद' कहा है। स्मरणीय है कि वर्तमान उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त, वराहोक्त सूर्यसिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। दोनों के मूल्यांको एवं अन्य गणितीय प्रविधियों में अन्तर स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। सम्भवतया

---

१. आर्यभट्टीय २. आर्यभट्टीय

नभनिरीक्षण द्वारा निरन्तर प्राचीन सूर्यसिद्धान्त को संशोधित कर 'दृक्प्रत्यपद' करते हुए वर्तमान सूर्य सिद्धान्त का संस्करण तैयार हुआ होगा। कुछ विद्वानों का कथन हैं कि वर्तमान सूर्य सिद्धान्त 'लाटदेव' द्वारा परिष्कृत हैं। इसलिए वर्तमान उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल इसी कालावधि के अन्तर्गत है। प्रो० सेनगुप्त का कथन है कि 'वराहमिहिर के द्वारा सूचित सूर्यसिद्धान्त ने खगोल विद्या के तत्वों को आर्यभट्ट से लिया और इस समय प्रचलित सूर्य सिद्धान्त ने ब्रह्मगुप्त से अपने तत्वों को लिया।'[1] किन्तु अधिकांश विद्वानों का मत हैं कि वराह द्वारा सम्पादित सूर्यसिद्धान्ता आर्यकष्ट और ब्रह्मगुप्त से भी प्राचीन हैं। आज भी सूर्यसिद्धान्त भारतीय ज्योतिषों द्वारा अत्यन्त श्रद्धा से देखा जाता है तथा प्राचीन पञ्चाङ्ग पद्धति का मुख्य ग्रन्थ इसे ही माना जाता हैं।

ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना की। इसे ही 'ब्रह्मसिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। इन्होंने ग्रहभगणों एवं वर्षादिकों के मानों में प्रत्यक्ष वेधोपलब्ध मान द्वारा संशोधन किया। इस प्रकार सिद्धान्त युग में सौर, आर्य एवं ब्राह्म इन तीन पञ्चाङ्ग पक्षों की स्थापना हुई। इसके बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने इन तीनों पक्षों में से ही एक का आश्रय लेकर अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है। जैसे आर्यसिद्धान्त का पक्ष लेकर लल्ल ने शिष्यधीवृद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त-पक्षीय, भास्वतीकरण, ब्राह्मपक्षीय-राजमृगाङ्क' 'करणकमलमार्तण्ड, आर्यपक्षीय 'करणप्रकाश' प्रभृति करणग्रन्थ इस काल के प्रमुख करणग्रन्थ हैं। मुञ्जाल (८५४ शक) ने सर्वप्रथम अयन-चलन के संपूर्ण भ्रमण की बात कही। इस प्रकार यह सिद्धान्त युग वस्तुतः भारतीय ज्योतिष का स्वर्णयुग है जिसमें निरन्तर वेध परम्परा गणित कुशलता एवं पञ्चाङ्गीय पद्धतियों का विकास दृष्टिगोचर होता है।

उत्तरसिद्धान्तकालीन युग

इसकी कालावधि प्रायः १३ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी पर्यन्त मानी जा सकती है। यह काल भारतीय ज्योतिष की दृष्टि से अन्वेषण एवं शोध के ह्रास का काल है। यद्यपि मकरन्द, केशव, गणेश, कमलाकर, प्रभृति, उद्‌भट विद्वान् इस काल में हुए तथापि इस काल के अधिकांश ज्योतिर्विदों ने अपना परिश्रम प्रायः उपपत्ति, पञ्चाङ्ग सारिणीनिर्माण एवं अपने-अपने पक्ष का अभिमानी ग्रन्थ लिखने में ही लगा दिया। नवीन शोध एवं अन्वेषण इस काल में कम ही हुए जबकि इसी काल के उत्त्रार्ध से यूरोप में ज्योतिर्विज्ञान संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त होने लगी। मकरन्दरचित सूर्यसिद्धान्त की पञ्चाङ्ग निर्माणोपयोगी सारिणी मकरन्द-प्रकाश सौर पक्षीय प्रमुख सारिणी ग्रन्थ है। इसमें सूर्यसिद्धान्त के भगणों का संस्कार किया गया है। इस काल में केशवाचार्य और गणेशदैवज्ञ दोनों पिता

१. उद्धृत-पञ्चाङ्ग सुधार समिति का प्रतिवेदन हि.अनु. पृ. ४७६.

पुत्र प्रमुख ज्योतिर्विद हुए। इन्होंने वेध द्वारा ग्रहों के भगणादिकों का शुद्ध मान स्थिर किया तथा क्रमशः 'ग्रहकौतुक' एवं 'ग्रहलाघव' नामक करण ग्रन्थों की रचना की, किन्तु केशव का 'ग्रहकौतुक' ग्रन्थ अपने पुत्र गणेश के 'ग्रहलाघव' के सामने अधिक प्रसिद्ध नहीं हो पाया। इस का एक मात्र कारण यही है कि ग्रहलाघव ज्या चाप आदि गणितीय जटिलताओं से मुक्त था। अत्यन्त सरल होने के कारण ही यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। आज भी कतिपय स्थानों में ग्रहलाघव के अनुसार पञ्चाङ्ग बनते हैं किन्तु लाघव के कारण आज इसके ग्रहादिकों में अत्यधिक अन्तर आचुका है। गणेशादैवज्ञ ने 'तिथि चिन्तामणि' नामक सारिणी ग्रन्थ की भी रचना की। गणेशदैवज्ञ के उपरान्त प्रायः ज्योतिर्विदों ने ग्रहलाघव आदि ग्रन्थों के अनुसार पञ्चाङ्गनिर्माणोपयोगी सारिणियों के निर्माण पर ही अधिक बल दिया। यद्यपि कमलाकर, मुनीश्वर सदृश ज्योतिर्विदों ने कुछ सिद्धान्तग्रन्थों की रचना की किन्तु पञ्चाङ्ग निर्माण के क्षेत्र में तथा वेध परम्परा में कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ।

अर्वाचीन काल

इस काल का प्रारंभ प्रायः १७ वीं शताब्दी से माना जा सकता है। इस काल में सर्वप्रथम आमेर के राजा जयसिंह (राज्याभिषेक शक १६१५) ने पञ्चाङ्ग के क्षेत्र में सुधार हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय यवन एवं तत्कालीन यूरोपियन ज्योतिषग्रन्थों से दृक्प्रत्यय न होता देखकर इन्होंने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, काशी एवं मथुरा में वेधाशालाएं बनवाई। जयप्रकाशयन्त्र, सम्राट्यन्त्र, भित्तियन्त्र वृत्तषष्ठांश राम यन्त्र दिगंशयन्त्र, चक्रयन्त्र आदि कुछ नवीन यन्त्रों का निर्माण करवाया तथा उत्तम ज्योतिषज्ञों के द्वारा कई वर्षों तक वेध कराकर अरबी में जिजमहम्मद (शक १६५०) तथा संस्कृत में पण्डित जगन्नाथ द्वारा सिद्धान्त सम्राट् नामक (१६५३) ग्रन्थों की रचना करवाई[1]। यह गर्व की बात है कि तत्कालीन यूरोपियन ग्रन्थागत ग्रहगति स्थिति की अपेक्षा जयसिंह की गणना अधिक सूक्ष्म होती थी। किन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि उनके बाद उनकी वेधशालाओं का उपयोग बन्द हो गया। न तो उनके ग्रन्थ प्रचलित हुए न उनके अनुसार दृक् पञ्चाङ्ग निर्माण परम्परा प्रारंभ हुई यद्यपि पाश्चात्य ज्योतिष का प्रवेश भारत में इसी समय होने लगा था। बापूदेव शास्त्री, विनायक केरो, लक्ष्मण छत्रे, विराजी लेले, रघुनाथ चिंतामणि, शंकरबाल कृष्ण दीक्षित, बालगंगाधर तिलक प्रभृति विद्वानों ने नाटिकल अल्मनाक के आधार पर पञ्चाङ्ग निर्माण कर नवीन पद्धति का सूक्ष्म पञ्चाङ्ग प्रचलित करने का प्रयास किया। इसी दिशा में चन्द्रशेखर सिंह सामन्त (१७५७ शक) ने स्वनिर्मित स्थूल यन्त्रों की सहायता से 'दृक्प्रत्ययद' परिणाम प्राप्ति हेतु ग्रहों के मूल्यांकों का संशोधन कर 'सिद्धान्त दर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की। वेंकटेशबाबूजी केतकर ने ग्रहलाघवीय ढंग पर संस्कृत श्लोकों

---

१. उद्धृत भा०ज्यो० दीक्षित (हि०अनु०) पृष्ठ ४०१

में अर्वाचीन ज्योतिष के आधार पर पञ्चाङ्गनिर्माणोपयोगी 'केतकी ग्रहगणित' नामक ग्रन्थ की रचना १८६८ शक में की। इसके गणितीय परिणाम पर्याप्त शुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने नाटिकल अल्मनाक के आधार पर ही पञ्चाङ्ग निर्माणोपयोगी ज्योतिर्गणित नामक कोष्ठक सारणी ग्रन्थ, वैजयन्ती पंचांग नामक सारणी ग्रन्थ, 'सौरार्यब्राह्मपक्षीय-तिथिगणितम्' प्रभृति अनेक ग्रन्थों की रचना की। केतकर मुख्यतया 'चित्रापक्षीय अयनांश' के समर्थक थे। शक १६५१ में ग्रहलाघव के ढंग पर ही गोविन्द सदाशिव आप्टे महोदय ने नाटिकल आल्मनाक के आधार पर ही 'सर्वानन्द करण' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये 'रैवतपक्षीय आयनांश के समर्थक तथा केतकर के चित्रापक्षीय अयनांश के प्रबल विरोधी थे। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के समय विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न मतानुसार पञ्चाङ्ग पत्रकों का निर्माण होता था जिस कारण व्रत पर्वोत्सवों के उचित निर्णय करने में अत्यन्त कठिनाई लगी। इसके अतिरिक्त सायन एवं निरयण पक्षाभिमानी अपने-अपने पक्षों के अनुसार पञ्चाङ्गनिर्माण का आग्रह करने लगे थे। अतः भारत सरकार ने अखिल भारतीय पञ्चाङ्ग के बारे में सुझाव देने के लिए नवम्बर सन् १६५२ में प्रो० मेघनाद साहा की अध्यक्षता में पञ्चाङ्ग सुधार समिति का गठन किया। इस समिति ने सायन वर्ष सौर पञ्चाङ्ग एवं सायनवर्ष चान्द्र सौर पञ्चाङ्ग की संस्तुति की। सरकार द्वारा सायनवर्ष सौरपञ्चाङ्ग स्वीकृत कर २२ मार्च १६५७ ई० से 'राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग' में गणित नाटिकल आल्मनाक पद्धति से किया जाता है। किन्तु पञ्चाङ्गकर्त्ताओं एवं पारम्परिक दैवज्ञों तथा धर्मशास्त्रियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे अपनी-अपनी पद्धतियों से पञ्चाङ्ग निर्माण करते रहे। फरवरी सन् १६८६ ई० में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग ने प्रो० एस० पी० पांड्या की अध्यक्षता में "भारतीय पञ्चाङ्ग एवं अवस्थानिक खगोलशास्त्र समीक्षा" समिति द्वारा जनवरी १६८७ में मुम्बई में एक विचार गोष्ठी आयोजित की जिसमें निश्चित दिनों वाले निरयण सौर महिनों तथा आधुनिक पद्धति के गणित की संस्तुति की गयी थी किन्तु समिति ने अन्तिम रिपोर्ट में ५ वर्ष की और अवधि राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के प्रचार-प्रसार के लिए देना उचित समझा। इससे राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग के अपेक्षित उपयोग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अप्रैल सन् १६६४ में दिल्ली में श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली एवं महर्षि सन्दीपनी राष्ट्रीय वेद विद्यापीठ ने एक 'अखिल भारतीय पञ्चाङ्गकर्त्ता सम्मेलन' आयोजित किया' जिसमें विचार विमर्श के बाद निरयण सौर पद्धति एवं आधुनिक गणित द्वारा पञ्चाङ्ग निर्माण धार्मिक एवं सामाजिक उपयोग के लिए युक्ति संगत स्वीकार किया गया।

---

१. देखिए पञ्चांग में काल गणना पृष्ठ १६-२५

आजकल प्रायः सम्पूर्ण भारत में निरयण पद्धति एवं आधुनिक गणित द्वारा ही पञ्चाङ्ग निर्माण का प्राधान्य है।

सम्प्रति पञ्चाङ्गों की स्थिति

यह अत्यन्त हर्ष की वात है कि प्राचीन स्थूल पञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति को छोड़कर अधिकांश विद्वान अर्वाचीन सूक्ष्मपञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति को अपना रहे हैं। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में मकरन्द सारिणी, ग्रहलाघवादि प्राचीन पद्धतियों द्वारा निर्मित पञ्चाङ्ग भी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु उन पञ्चाङ्गों में भी ग्रहण, ग्रहों के उदयास्त आदि अंश अर्वाचीन प्रद्धति से ही साधित होते हैं। यदि प्राचीन पद्धति से ग्रहणादि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली घटनाओं के काल का निर्धारण किया जाता है तो प्रत्यक्ष ही विषमता परिलक्षित होती हैं। इसी भय से प्रायः प्राचीन स्थूल पद्धति से निर्मित पञ्चाङ्गों में परीक्षणीय घटनाओं का निर्धारण अर्वाचीन गणित से ही दे दिया जाता हैं।

सम्प्रति अर्वाचीन पद्धति से निर्मित होने वाले पञ्चाङ्गों के मुख्यतया ३ पक्ष हैं। प्रथम-केतकरीय चित्रापक्षीयपद्धति, द्वितीय रैवतपक्षीय पद्धति एवं तृतीय सायनपद्धति। इसमें सायन पद्धति प्रत्यक्ष दृक्सिद्ध होती है। इसकी गणना वेधशालाओं एवं शुद्ध सारिणीयों द्वारा दी हुई है। रैवतपक्षीय पद्धति में रैवतीय अयनांश का संस्कार किया जाता है। केतकरीय पद्धति में चित्रापक्षीय अयनांश का संस्कार होता हैं। 'ज्योतिर्गणित', 'केतकी ग्रहगणित', 'ग्रहगणित मालिका', 'वैजयन्ती पञ्चाङ्गगणित' आदि इसके प्रमुख ग्रन्थ हैं। सम्प्रति केतकरीय चित्रापक्षीय पद्धति अधिक प्रचलित है। निरयण पक्ष का भारतीय ज्योतिष में महत्व के कारण सायनपक्षीय पञ्चाङ्ग अत्यन्त प्रचलित हैं। ध्यातव्य है कि केतकरीय पञ्चाङ्ग गणना में भी प्रत्यक्ष दृक्प्रत्ययद निरयण गणना के सापेक्ष कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होने लगे हैं। अतः उचित संस्कार कर केतकरीय पद्धति से निर्मित पञ्चाङ् आज भी सामयिक एवं उपयोगी हो सकते हैं।

पञ्चाङ् के अवयवों के नाम एवं परिचय-

१. **तिथि**-चन्द्रमा की दैनिक गति की सूचक होती है। इसे सूर्य और चन्द्रमा के आन्तरांश को ६२ से भाग देकर ज्ञात किया जाता है। तिथियाँ ३० होती हैं। प्रतिपदा से पूर्णिमा तक १५ तिथियाँ शुक्ल पक्ष में प्रतिप्रदा से अमावस्या तक १५ तिथियाँ कृष्ण पक्ष होती हैं। पूर्णिमा को १५ तथा अमावास्या को ३० संख्या से व्यक्त किया जाता है। पूर्णिमा और अमावास्या के आतिरिक्त शेष प्रतिपदा, द्वितीया, तृत्रीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी तथा चतुर्दशी दोनों में पक्षों में समान रूप से होते हैं।

२. **वार**- वार सात होते जिसके नाम क्रम से रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, तथा शनिवार हैं। इनके क्रम का निर्धारण भूमेन्द्रिक ग्रह कक्षा के आधार पर किया जाता है। शनि से आरम्भ कर अधोधः क्रम से चौथी-चौथी कक्षा का ग्रह वार का स्वामी होता हैं। यथा शानि से चौथी कक्षा सूर्य की अतः पहला वार रविवार रवि से चौथी कक्षा चन्द्र की अतः दूसरा वार सोमवार (चन्द्रवार), चन्द्रमा से चौथी कक्षा भौम अतः तीसरा वार भौमवार आदि।

३. **नक्षत्र**-नक्षत्र २७ होते हैं। इनके नाम क्रम से अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, श्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफल्गुनि, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिष, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभद्रा, रेवती। उत्तराषाढ़ा के अन्तिम तथा श्रवण के आदि के अंशों को अभिजित कहा जाता है। इसको सम्मिलित करने पर नक्षत्रों की संख्या २८ हो जाती है। एक नक्षत्र का मान नक्षत्र कक्षा में ८०० कला के तुल्य होता है।

४. **योग**-सूर्य और चन्द्र में भोगांशों के योग से योग साधित होता है। योग भी २७ होते हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-१. विष्कुम्भ, २. प्रीति, ३. आयुष्मान, ४. सौभाग्य, ५. शोभन, ६. अतिगण्ड, ७. सुकमी ८. धृतिः, ६. शूल, १०. गण्ड, ११. वृद्धि, १२. ध्रुव, १३. व्याघात, १४. हर्षण, १५. वज्र, १६. सिद्धि, १७. व्यतिपात १८. वरीयान, १६. परिध, २०. शिव, २१. सिद्धि, २२. साध्य, २३. शुभः २४. शुक्ल, २५. ब्रह्म, २६. ऐन्द्र, २७. वैधृति। इन्हें चर योग कहा जाता है। इनके अतिरिक्त आनन्द, कालदण्ड, धूम्र, धाता आदि २८ स्थिर योग होते हैं किन्तु इनकी गणना पाँच अवयवों में नहीं है।

५. **करण**-एक तिथि के आधे भाग को एक करण कहते है। अतः एक तिथि में दो करण होते हैं। करण दो प्रकार के होते हैं-१. चर करण, २. स्थिर करण। चरकरण ७ होते हैं। क्रमशः इनके ऩाम हैं बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर बणिज, विष्टि। स्थिर करण-की संख्या चार होती है तथा इनके नाम हैं क्रमशः १. शकुनि, २. चतुष्पद, ३. नाग, ४. किंस्तुघ्न।

इन्हीं पाँचों अवयवों के संयुक्त विवरण ही पञ्चाङ्ग कहलाता है।

●●●

वराहमिहिर और पञ्चसिद्धान्तिका

डॉ. मोहन गुप्त

यच्छास्त्रं सविता चकार विपुलैः स्कन्धैस्त्रिभिर्ज्यौतिषं
तस्योच्छित्तिभयात् पुनः कलियुगे संसृत्य यो भूतलम्।
भूयः स्वल्पतरं वराहमिहिर-व्याजेन सर्वं व्यधा-
दित्थं यं प्रवदन्ति मोक्षकुशलास्तस्मै नमो भास्वते।[1]

"विपुल तीन स्कन्धों से युक्त जिस ज्योतिष शास्त्र को भगवान भास्कर ने बनाया, कलियुग में उसमें विच्छेद न आ जाय, इस भय से सारी पृथ्वी का भ्रमण करके, वराह मिहिर रूपी सत्पात्र पाकर उसके व्याज से संक्षेप में जिन्होंने पूरा शास्त्र कह डाला, ऐसा जिनके बारे में मुमुक्षु जन कहते हैं उन भगवान् भास्कर को मेरा प्रणाम"।

१.१ ज्योतिष शास्त्र के भुवन दीपक सदृश आचार्य वराह मिहिर के विषय में उनके प्रशस्त टीकाकार आचार्य भट्टोत्पल ने उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहिता की टीका प्रारंभ करते समय ये विचार व्यक्त किये हैं। समुद्र की विशालता तथा गहराई को वास्तव में वही व्यक्ति समझ सकता है जिसने उसे पार किया हो। इसलिये यद्यपि आचार्य भट्टोत्पल की इस प्रशस्ति में कुछ अर्थवाद हो सकता है किन्तु आचार्य वराहमिहिर की जिस प्रतिभा का निदर्शन उनके ग्रन्थों से होता है, उस पर विचार कर यह यथार्थ ही लगता है। वराह मिहिर आधुनिक वैज्ञानिक ज्योतिष के आधार स्तम्भ हैं। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों-सिद्धान्त होरा तथा संहिता पर प्रामाणिक तथा सांगोपांग ग्रन्थों की रचना की। वे भारतीय ज्योतिष के प्रकाश स्तम्भ हैं। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र के अतीत पर प्रकाश डाला अन्यथा पैतामह तथा वासिष्ठ जैसे अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त जो भारत में ज्योतिष के आविर्भाव की कहानी कहते हैं, विस्मृति के गर्त में चले जाते और विश्व के सन्दर्भ में ज्योतिर्विज्ञान के जनक के रूप में भारत की पहचान तिरोहित हो जाती। उन्होंने वर्तमान का शोधन किया। उनके समय के अनेकों पूर्वाचार्यों-प्रद्युम्न, विजयनन्दी, सिंहाचार्य, मणि, यवन, भद्रविष्णु, पादादित्य तथा आर्यभट आदि के मतों की समीक्षा की तथा अपने युग की ग्रहस्थिति को दृक्तुल्य बनाने के लिये मध्यम मान में बीज संस्कार दिये। गणित की प्रक्रिया को सरल तथा अधिक बोधगम्य बनाया एवं अनावश्यक बारीकियों को, जिनके न रहने से ग्रह गति स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, प्रक्रिया से अलग किया। उसके स्थान पर सरलतर प्रक्रिया देकर भविष्य के लिये दैवज्ञों तथा गणकों का मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि

---

१. बृहत्संहिता : वराह मिहिर, भट्टोत्पल की टीका सहित-वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय। सं० अवध विहारी त्रिपाठी (शक १८९० सन् १९६८) पृ० १.

आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान के आधार स्तम्भ के रूप में आचार्य आर्यभट का महत्व भी वराह मिहिर के समान ही है-वे वराह मिहिर से किंचित् पूर्व के भी हैं, किन्तु उनका क्षेत्र गणित तथा सिद्धान्त ज्योतिष तक ही सीमित रहा जबकि वराह मिहिर ने तीनों स्कन्धों पर अपने विशाल सर्वांगपूर्ण ग्रन्थों की रचना करके अपनी मेधा की आर्ष विशालता का परिचय दिया। ज्योतिष शास्त्र के क्षेत्र में उनका अवदान, व्याकरण के क्षेत्र में महामति पाणिनि तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य कौटिल्य के समकक्ष हैं। वे इतिहास के ऐसे मोड़ पर आये जब पिछली अनेक सदियों से विस्मृत, विछिन्न तथा विभ्रान्त ज्योतिष शास्त्र का उद्धार अपेक्षित था। ईस्वी पूर्व प्रथम शती की गर्ग संहिता के बाद से वराह मिहिर तक का काल ज्योतिष शास्त्र के विस्मरण का काल है। वराह मिहिर ने उसका उद्धार कर ठोस वैज्ञानिक धरातल पर उसे स्थापित किया।

१.२ जीवनवृत्त तथा काल-वराह मिहिर ने अपने विषय में अपने ग्रन्थों में कुछ विशेष नहीं लिखा। अतः आभ्यन्तर तथा आनुषंगिक प्रमाणों के आधार पर ही उनका जीवनवृत्त तथा काल उभरता है। अपने जातक ग्रन्थ बृहज्जातक में उन्होंने अपने पिता तथा जन्मस्थान के बारे में स्पष्ट संकेत दिया हैं-

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यक् होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार।।[1]

'कापित्थक' नामक नगर में भगवान् सूर्य से वरदान प्राप्त करके, आदित्यदास के पुत्र अवन्तिकावासी वराह मिहिर ने, उन्हीं से विद्या प्राप्त करके तथा प्राचीन मुनियों के मतों का अवलोकन कर इस सुन्दर होरा शास्त्र (बृहज्जातक) को बनाया।

इससे स्पष्ट है कि वे आदित्यदास के पुत्र थे तथा उन्हीं से उन्होंने ज्योतिष का प्रारंभिक ज्ञान भी प्राप्त किया था। वे अवन्तिका क्षेत्र के निवासी तथा कापित्थक ग्राम उनकी कर्मस्थली था। इस श्लोक में जो 'कापित्थक' शब्द आया है उसके कुछ पाठान्तर भी हैं तथा कुछ व्याख्यान्तर भी है।

श्री के साम्बशिव शास्त्री द्वारा सम्पादित होरा शास्त्र में 'कापिष्ठिल' यह पाठ है। इसकी श्री रुद्रकृत व्याख्या के आधार पर 'कापिष्ठिलः कपिष्ठिलगोत्रजात इत्यनेनाभिजन्म सूचितम्' इसके अनुसार वे 'कपिष्ठिल' गोत्र के थे, यह व्याख्या की गई है। बम्बई से प्रसिद्ध 'खेमराज श्री कृष्णदास' मुद्रणालय से भट्टोत्पल की टीका सहित प्रकाशित कृति में 'कापित्थके' यही पाठ है। भट्टोत्पल ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है-

---

१. बृहज्जातक : वराह मिहिर, चौखम्बा संस्कृत सीरज ऑफिस वाराणसी १६७६ सं० पं० अच्युतानन्द झा २८/६, पृष्ठ ३२२.

'कापित्थाख्ये ग्रामे योऽसौ भगवान् सविता
सूर्यस्तस्माल्लब्धः प्राप्तो वरः प्रसादो येन'

(कापित्थ ग्राम में जो भगवान सूर्य विराजते हैं, उनसे जिसने वरदान प्राप्त किया था)। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्योतिष' में भी 'कापित्थक' यही पाठ संग्रहीत किया है। केवल सुधाकर द्विवेदी ने अपने गणक तरंगिणी में 'काम्पिल्लके' पाठ लिया है और उसका अर्थ काल्पी नगर किया है जो उत्तरप्रदेश में है। किन्तु सन्दर्भ से यह स्पष्ट रूप से असंगत लगता है। श्लोक का 'आवन्तिक' शब्द इस बात का परिचायक है कि कापित्थक कहीं तो भी अवन्ती जनपद में ही होना चाहिये और आज वह उज्जैन से बीस कि०मी० दूर उज्जैन मक्सी रोड़ पर है भी। दूसरे भट्टोत्पल जो वराह मिहिर के शक ८८८ के टीकाकार हैं उन्होंने 'कापित्थक' यही पाठ स्वीकार किया है। इतनी प्राचीन प्रति के पाठ को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। चौखम्बा वाराणसी द्वारा प्रकाशित प्रति में भी 'कापित्थके' यही पाठ है तथा उसका अर्थ उज्जैन के समीप एक ग्राम ही किया गया है। अतः 'कापित्थक' पाठ को ही शुद्ध पाठ स्वीकार किया जाना चाहिये। इस ग्राम का वर्तमान नाम 'कायथा' है जो 'कापित्थक' का ही अपभ्रंश हैं। इसके अतिरिक्त कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध पुराविद् श्री वी०एस० वाकणकर के नेतृत्व में कायथा की खुदाई की गई थी। वहाँ एक अत्यन्त समृद्ध ताम्राश्मयुगीन सभ्यता के प्रमाण मिले तथा एक रथारूढ़ सूर्य की प्रतिमा भी मिली[1] विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि यह वही सूर्य प्रतिमा है जिसकी उपासना वराह मिहिर किया करते थे। यह औदीच्य वेश में है जैसी कुशाणकालीन प्रतिमाएँ पाई जाती है। इससे तथा वराह मिहिर के नाम में स्थित 'मिहिर' शब्द से जो संस्कृत मित्र शब्द का प्रतिरूप है तथा सूर्य का वाचक है, यह अनुमान लगाया गया है कि वराह मिहिर शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। भट्टोत्पल ने भी उन्हें इसी रूप में स्वीकार किया है- **'तदयमप्यावन्तिकाचार्यो मगधद्विजो वराहमिहिरोऽर्कलब्धवरप्रसादः'**।

यहाँ मगद्विज का अर्थ मगदेशीय अर्थात् शाकद्वीपीय ब्राह्मण ही है। यहाँ पर मगद्विज के स्थान पर मगधद्विज पाठ प्रतिलिपिकार के प्रमादवश किया जान पड़ता है। सम्भावना यह है कि वराह मिहिर के पिता आदित्यदास जो स्वयं प्रसिद्ध ज्योतिर्विद रहे होंगे, उज्जैन के इस क्षेत्र में प्रसिद्धि सुनकर बालक वराहमिहिर के साथ उज्जयिनी के 'कापित्थक' ग्राम में आकर बस गये। वहाँ उन्होंने एक कापित्थक गुरुकुल की स्थापना की तथा बड़े होकर वराहमिहिर ने उज्जैन में आकर अपनी सारस्वत साधना की[2] इसलिये उन्हें आवन्तिक कहलाने में गौरव का अनुभव हुआ। उज्जैन गुप्तकाल में न केवल एक समृद्ध तथा प्रसिद्ध

---

१. दी गोल्डन एज ऑफ मैथामेटिक्स इन इण्डिया, जी०एस० पाण्डेय, पृष्ठ ११.
२. तत्रैव, पृष्ठ ९.

नगर था अपितु समूचे भारतवर्ष में विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र था। ज्योतिर्विदाभरण की नवरत्नों की किवदन्ती जिनमें वराह मिहिर भी शामिल है, इसी का परिणाम हैं।

कुछ विद्वान् उज्जैन को ही वराहमिहिर की जन्मस्थली मानते हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं आवन्तिक शब्द का प्रयोग किया हैं-

'मम मते तु 'आवन्तिक' इति विशेषणोपादानादनेनोज्जयिन्यस्य जन्मभूमिरासीत्। यथाऽऽर्यभटोक्ते-आर्यभट्टस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्' इत्यस्मिन् पद्ये 'कुसुमपुरे' इति शब्द प्रयोगेणार्यभटस्य जन्मभूरपि कुसुमपुरमेव विद्वद्भिः स्वीकृतम्।'[1]

आचार्य वराह मिहिर के काल के विषय में ज्यादा विप्रतिपति नहीं है। उनके काल के विषय में दो सूत्र सम्यक् प्रकाश डालते हैं। एक तो 'पञ्चसिद्धान्तिका' में गणना के प्रयोजन के लिए उन्होंने जो युगारंभ स्वीकार किया है वह शक ४२७ है-

'सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालपमास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सोमदिवसाद्यः।।'[2] (पं० सि० १/८)

'अहर्गण लाने के लिये वर्तमान शककाल में से ४२७ घटाऐं तथा चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सोमवार से गणना करें।' यह ग्रहस्थिति यवनपुर में अर्धास्त सूर्य के समय की होगी।' चूँकि यह पद्य रोमक सिद्धान्त के सन्दर्भ में है अतः इसका स्थान 'यवनपुर' तथा समय अर्धसूर्यास्त लिया है। सौर सिद्धान्त के सन्दर्भ में उन्होंने उज्जयिनी मध्यरात्रि को युगारंभ माना है। दूसरा सूत्र उनके समय के विषय में ब्रह्मगुप्त के टीकाकार आमराज का यह वाक्य है-

'नवाधिकपंचशतसंख्यशाके वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः।'[3]
'शक ५०९ में वराह मिहिराचार्य स्वर्ग को सिधारे'।।

अतः मोटे तौर पर शक ४२७ से शक ५०९ तक का काल मिहिर का है। अपने करण ग्रन्थ में कोई भी ज्योतिर्विद अपने जीवनकाल के किसी महत्वपूर्ण वर्ष को लेता है जो ज्योतिष के प्रयोजन के लिये भी ठीक हो। शक ४२७ में मध्यम सूर्य की मेष संक्रान्ति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही हैं।[4] अतः यह वर्ष गणना के लिये उपयुक्त था। यों मध्यम मेष संक्रान्ति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के आसपास शक ४१९ तथा शक ४३८ को भी है, किन्तु ये

---

१. वृहत्संहिता (सं० १. उद्धृत) की 'भूमिका' द्वारा अवध विहारी त्रिपाठी, पृ० १३.
२. पञ्चसिद्धान्तिकाः वराह मिहिर, अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी सहित सं० टी०एस० कुप्पन्न शास्त्री तथा के०वी० शर्मा, पी०पी०एस०टी० फाउण्डेशन अड्यार मद्रास, १९९३ पृ० ६.
३. भारतीय ज्योतिष : शंकर वालकृष्ण दीक्षित, हिन्दी संस्करण अनु शिवनाथ झारखण्डी, उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९७५, पृष्ठ २९०, ४. तत्रैव, पृष्ठ २९१.

वर्ष उन्होंने नहीं लिये। अतः शक ४२७ का विशेष महत्व होना चाहिये। विद्वानों का यह अनुमान है कि या तो यह शक ४२७ पञ्चसिद्धान्तिका की रचना का वर्ष है या उनके जन्म का वर्ष। यदि जन्म का वर्ष मानें तो उनकी आयु ५०९-४२७=८२ वर्ष ठहरती है जो उचित है। यदि इसे पञ्चसिद्धान्तिका का रचनाकाल मानते हैं तो इतनी प्रौढ़ रचना के लिये कम से कम २५ वर्ष की आयु उस समय होना चाहिये। इस मान से उनका जन्म ४०२ शक में ठहरता है किन्तु इससे उनकी आयु १०७ वर्ष हो जायेगी जो असंभव तो नहीं किन्तु सन्दिग्ध लगती है। अतः कुछ विद्वान् उनका जन्म शक ४०२ और ४२७ के बीच ४१२ मानते हैं-**'इतिहासकारैः ४१२ शकासन्नकालोऽस्य निर्धारितः। स युक्तियुक्तः प्रतिभाति।'**[1]

इसके सम्बन्ध में एक पोषक प्रमाण अलबरुनी का है। सन् १०३० में अलबरुनी ने लिखा है कि उसके समय से ५२६ वर्ष पहिले 'पञ्चसिद्धान्तिका' लिखी गई।[2] इससे वही ४२७ शक की तिथि आती है। निश्चय ही यह भी उसका अनुमान ही है जो उस करण ग्रन्थ के युगारंभ पर आधारित है। अतः शक ४२७ को ही आचार्य का जन्म मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि आधारहीन अनुमानों की अपेक्षा तो एक स्पष्ट उल्लिखित तिथि को स्वीकार करना ज्यादा तर्कसंगत है। ४१२ शक जन्म मानने पर शक ४२७ में उनकी आयु १५ वर्ष ही रहती है और इस आयु का बालक पञ्चसिद्धान्तिका जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त वराह मिहिर ने 'आर्यभट' का उल्लेख अपनी पञ्चसिद्धान्तिका में आलोचनापूर्वक किया हैं-

'लंकार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभटः।
भूयः स एव सूर्योदयात्प्रभृत्याह लङ्कायाम्।। (पं० सिं० १५.२०)[3]

आर्यभट का काल शक ४२१ है। उनके ग्रन्थ तथा उनके पश्चात्वर्ती औदयिक सिद्धान्त की पर्याप्त प्रसिद्धि होने पर वराह मिहिर ने उक्त टिप्पणी की होगी। अतः आर्यभट से किंचित् पश्चात्वर्ती मानकर वराह मिहिर का जन्म शक ४२७ मानना ही समीचीन होगा। पञ्चसिद्धान्तिका की रचना उन्होंने शक ४५२ के आसपास की होगी।

एक और महत्वपूर्ण आभ्यन्तर प्रमाण उनके काल के विषय में उनकी रचना 'वृहत्संहिता' में है। उसके शाकुनाध्याय में औलिकर शासक द्रव्यवर्धन का आवन्तिक नृपति के रूप में अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख हैं-

भारद्वाजमतं दृष्ट्वा यच्च श्रीद्रव्यवर्धनः।
आवन्तिकः प्राह नृपो महाराजाधिराजकः।।[4] **(बृ० सं. ८६/२)**

---

१. बृहत्संहिता, सं. ५ में उद्धृत 'अवतरिका', पृष्ठ १४.
२. दी गोल्डन एज आफ मैथामेटिक्स इन इण्डिया; सं. ३ में उद्धृत, पृष्ठ १०.
३. पञ्चसिद्धान्तिका (सं. ६ में उद्धृत) पृष्ठ २८८.
४. बृहत्संहिता (सं. १ में उद्धृत) पृष्ठ ८६४.

इसकी भट्टोत्पल कृत टीका इस प्रकार हैं-

यच्च शाकुनं भारद्वाजाख्यस्य मुनेर्मतं दृष्ट्वावलोक्य श्रीद्रव्यवर्धनाख्यो महाराजाधिराजवंशप्रसूत आवन्तिक उज्जयिन्या नृपो राजा प्राहोक्तवान्।

'जिस शकुन शास्त्र को भारद्वाज नामक ऋषि के मत का अवलोकन कर उज्जयिनी के राजा महाराजाधिराज श्री द्रव्यवर्धन ने कहा था (उसे मैं कहता हूँ)।' इसमें औलिकर नृपति द्रव्यवर्धन का निर्भ्रान्त उल्लेख है। द्रव्यवर्धन का कार्यकाल वी०वी० मिराशी ४६५-५१५ ई० (शक ४१७ से ४३७) मानते हैं, बुद्धप्रकाश ५३० ई० (शक ४५२) तथा श्यामसुन्दर मिगम ४६१-५१५ (शक ४१३ से ४३७) मानते हैं।[1] अतः वराह मिहिर जो द्रव्यवर्धन के किंचित् पश्चात्वर्ती प्रतीत होते हैं, उनका काल शक ४२७ से ५०६ (ई० ५०५ से ५८७) उचित ही हैं। द्रव्यवर्धन का काल इस अवधि के बीच ही है।

१.३ वराह मिहिर की रचनाएँ

(अ) प्रमुख रचनाएँ-१. पञ्चसिद्धान्तिका २. बृहज्जातक ३. बृहत्संहिता।

(ब) गौण रचनाएँ-१. लघुजातक २. जातकार्णव ३. समास संहिता ४. योग यात्रा ५. विवाह पटल।

कुछ अन्य ग्रन्थ जैसे 'विवाह खण्ड', 'ढ़िकनिक यात्रा, 'ग्रहणमण्डलफलम', 'पंचपक्षी', 'दिक्किनी यात्रा' भी वराह मिहिर के नाम से पाये जाते हैं। किन्तु उनके आभ्यन्तर परीक्षण से विद्वानों को उनके वराहमिहिर के ग्रन्थ होने में सन्देह है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष' में वराह मिहिर के ये ही ग्रन्थ माने हैं[2]। उसमें केवल जातकार्णव का उल्लेख नहीं है। किन्तु वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'बृहत्संहिता' की भूमिका में सम्पादक श्री अवधबिहारी त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ के अस्तित्व के विषय में निश्चयात्मक रूप से लिखा है-

'श्री-शंकर-बालकृष्ण-दीक्षितेन 'भारतीय ज्यौतिषे' वराहस्य ''पञ्चसिद्धान्तिका'' एव करणग्रन्थ इति यन्मतमुपन्यस्तम् तज्जातकार्णवदर्शनेनापास्तं भवति। वराहस्य पञ्चसिद्धा-न्तिकातिरिक्तः करणग्रन्थो जातकार्णवो नेपालदेशीय काठमण्डूस्थ वीरपुस्तकालये वर्तते।[3]

इससे स्पष्ट है कि 'जातकार्णव' नाम का एक और करण ग्रन्थ वराहमिहिर का नेपाल के काठमाण्डू नगर के वीर पुस्तकालय में हैं।

---

१. ए रिएप्रेजल ऑफ औलीकर हिस्ट्री इन द लाइट ऑफ नैगमकुल : डॉ० श्याम सुन्दर निगम : दी बाउन्टियस ट्री : ट्रेजर्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड कल्चरः के०के० चक्रवर्ती, पृष्ठ ३५१.

२. भारतीय ज्योतिष : शंकर बालकृष्ण दिक्षित (संख्या ७ में उद्धृत) पृष्ठ २६३-२६४.

३. बृहत्संहिता, अवतरिका (संख्या ५ में उद्धृत), पृष्ठ १४.

वराह मिहिर ने अपने इन ग्रन्थों के पौर्वापर्य का संकेत भी इन ग्रन्थों में दिया हैं। अपनी 'बृहत्संहिता' के पहिले ही अध्याय में उन्होंने लिखा हैं-

वक्रानुवक्रास्तमयोदयाद्यास्तारा-ग्रहाणां करणे मयोक्ताः।
होरागतं विस्तरतश्च जन्म-यात्राविवाहैः सह पूर्वमुक्तम्।।[१]

(बृहत्संहिता सं. १/१०)

'ग्रहों के वक्रत्व, मार्गत्व, उदयास्त तथा तारा-ग्रहों के स्फुटीकरण आदि विषयों को मैंने अपने करण ग्रन्थ (पञ्चसिद्धान्तिक) में बतलाया है। और जन्म संबंधित जातक शास्त्र का भी विस्तार से वर्णन किया है एवं उसके साथ यात्रा तथा विवाह सम्बधी ग्रन्थ भी लिखे हैं। इससे स्पष्ट है कि बृहत्संहिता से पूर्व उनके ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धान्तिका', बृहज्जातक, योगयात्रा और 'विवाह पटल' लिखे जा चुके थे। इनमें भी 'विवाह पटल' तथा 'पञ्चसिद्धान्तिका' बृहज्जातक के पूर्व के हैं, क्योंकि बृहज्जातक उपसंहाराध्याय में वे स्वयं लिखते हैं-'**विवाहकालः करणं ग्रहाणां प्रोक्तं पृथक् तद् विपुला च शाखा।।**[२] (२८/६)

'योग यात्रा' का प्रणयन बृहज्जातक के बाद का हैं। 'लघुजातक' और 'समाससंहिता' अपने बृहत् स्वरूपों-'बृहज्जातक' तथा 'बृहत्संहिता' के संक्षिप्त रूप हैं-विषय में प्रवेश करने वाले अध्येताओं के लिये। संस्कृत वाड्मय में इस प्रकार विशाल ग्रन्थों के लघु संस्करण बनाने की परम्परा रही है जैसे 'सिद्धान्त कौमुदी' की 'लघु सिद्धान्त कौमुदी', 'बृहत्पाराशर होताशास्त्र' की 'लघु पाराशरी' आदि।

१.४ ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय-'बृहज्जातक' जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, उसमें व्यक्तियों के जन्म के आधार पर जो ग्रह स्थिति होती है उसके फल का निरूपण है। इसी को 'जातक' या 'होरा शास्त्र' कहते हैं। इसमें आचार्य ने संवंधित सभी विषयों का समावेश किया है जैसे राशि प्रभेद, ग्रहभेद, वियोनिजन्म, निषेक, सूतिका, अरिष्ट, आयुर्दाय, दशान्तर्दशा, अष्टकवर्ग, कर्माजीव, राजयोग, नाभसयोग, ऋक्षशील, राशिशील, भावफल आश्रमयोग, अनिष्ट स्त्रीजातक तथा नष्ट जातक आदि। आचार्य की विशेषता यह है कि उन्होंने इस ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों के मतों की समीक्षा की है तथा अपना निर्भ्रान्त मत स्थापित किया है। उनसे समय तक यवन देशों से भारतवर्ष का गहन सांस्कृतिक सम्बन्ध हो गया था और इस आदान-प्रदान के फलस्वरुप जो ज्ञान यवनों से प्राप्त हुआ उसका भी उन्होंने उपयोग किया है तथा उनकी शब्दावली का भी प्रयोग किया है। यावनी भाषा की बारह राशियों के नाम उन्होंने बृहज्जातक में इस प्रकार दिये हैं-

---

१. बृहत्संहिता (सं. १ में उद्धृत), पृष्ठ ११.
२. बृहज्जातक (सं. २ में उद्धृत) पृष्ठ ३२०.

'क्रिय तावुरि जितुम कुलीर लेय पाथोन जूक कौर्प्याख्याः।
तौक्षिक आकोकेरो ह्रद्रोगश्चान्त्यभश्चेत्थम्।।'[1] (बृ०जा० १/८)

अर्थात् मेष = क्रिय, वृषभ = तावुरि मिथुन = जितुम, कर्क = कुलीर, सिंह = लेय, कन्या = पाथोन, तुल = जूक, वृश्चिक = कौर्प्य, धनु = तौक्षिक, मकर = आकाकेर, कुम्भ = ह्रद्रोग, मीन = अन्त्यभ।

इनमें कुछ राशियों का मूल यूनान प्रतीत होता है, जैसे तावुरि = ताउरस, जितुम = जेमिनि, कुलीर = कैंसर, लेय = लियो तथा कौर्प्य = स्कोर्पियो किन्तु कुम्भ तथा मीन के लिये ह्रद्रोग तथा अन्त्यभ ये नाम भारतीय मूल के ही प्रतीत होते हैं। शेष नाम अन्य प्राचीन भाषाओं के मूल के प्रतीत होते हैं।

वराह मिहिर की दशा अन्तर्दशा पद्धति प्रचलित पाराशरी पद्धति से भिन्न है जिसमें विंशोत्तरी या अष्टोतरी परमायु के आधार पर दशाओं का निर्णय किया गया है। वराह मिहिर की दशा पद्धति क्लिष्ट तथा अनिश्चित हैं। इसमें दशाओं का क्रम भी निश्चित नहीं हैं तथा ग्रहों के बलाबल के आधार पर तय किया जाता है। जन्मपत्र से यह निर्धारित करना इतना सरल नहीं होता कि अपेक्षाकृत कौन सा ग्रह अधिक बली है। इसका दशाक्रम इस प्रकार बताया गया है-

१. लग्न, रवि, चन्द्र इन तीनों में जो अधिक बलवान हो पहिले उनकी दशा होती है।
२. फिर उसके बाद जो चार केन्द्र स्थान हैं उनमें स्थित ग्रहों की दशा होती है। यहाँ भी पौर्वापर्य बलाबल के आधार पर होता है।
३. फिर उसके बाद मध्यवय में प्रथम दशाप्रद से पणफर स्थित ग्रहों की दशा होती है।
४. उसके बाद अन्तवय में प्रथम दशाप्रद से आपोक्लिम में स्थित ग्रहों की दशा होती है। यदि केन्द्र या पणफर में कोई ग्रह न हो तो प्रथम और मध्य वय में फल नहीं होता। किन्तु इस स्थिति में अन्त वय में आपोक्लिम स्थान स्थित ग्रहों की ही दशा होती है।[2] दशाओं के वर्ष वे ही होते हैं जितना ग्रह का आयुर्दाय होता है। यह दशापद्धति यवन देशों से प्राप्त प्रतीत होती है तथा ज्योतिर्विदों के अनुभव पर खरी न उतरने एवं अपनी क्लिष्टता के कारण विद्वानों में समादृत नहीं हो सकी।

आचार्य ने बृहज्जातक में आयुर्दाय, निषेक, अरिष्ट, स्त्रीजातक तथा नष्टजातक से संबंधित कुछ अद्भुत बातें लिखी हैं जो फलित ज्योतिष के लिये बहुत उपयोगी है। दशापद्धति को छोड़कर सम्पूर्ण ग्रन्थ का आज भी विद्वानों में बहुत समादर है।

'बृहत्संहिता' जीवनोपयोगी व्यावहारिक ज्ञान का महासागर है। आचार्य ने स्वयं कहा है-

---

१. तत्रैव, पृष्ठ १३. २. तत्रैव, पृ० १४६-१४७.

ज्योतिः शास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितं
तत्कात्स्न्योपनयस्य नाम मुनिभिः संकीर्त्यते संहिता'।। (बृह० सं० १/६)

'स्कन्धत्रयात्मक ज्योतिष शस्त्र के अनेक भेद हैं। किन्तु जिसमें उन सबकी सम्पूर्णता है, उसे मुनियों ने संहिता कहा है।' यह ग्रन्थ ज्ञान विज्ञान की सबसे अधिक श्रीवृद्धि करने वाला तथा लोक का सर्वाधिक उपकार करने वाला ग्रन्थ है। इसमें कुल १०७ अध्याय हैं। इनमें सूर्यादि ग्रहों के चार, धूमकेतुओं के लक्षण तथा प्रभाव, सप्तर्षियों के उदयादि, नक्षत्रव्यूह, सांवत्सरिक फल, पर्जन्य गर्भ लक्षण, भूमि में जल ज्ञात करने की विधि, भूकम्प, अर्घकाण्ड, वास्तु, प्रतिमालक्षण, उत्पात, वृक्षायुर्वेद, विभिन्न पशु पक्षियों के लक्षण, अंगविद्या, शकुन आदि अनेक लोकोपयोगी विषयों का समावेश हैं। इसका कूर्मचक्राध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें बृहत्तर भारतवर्ष के ९ विभाग मानकर उन विभागों तथा तदन्तर्गत देशों को एक नक्षत्र के आधिपत्य में माना है-

१.	भद्र, मरू, मत्स्य, पांचाल, हस्तिनापुर आदि मध्यदेश	कृत्तिकादि तीन नक्षत्र अर्थात् कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा।
२.	माल्यवान्, सुहम मगध, प्राग्ज्यौतिष क्षीरोद समुद्र आदि पूर्व के देश	आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य।
३.	कौशल, कलिंग, वंग विदर्भ आदि आग्नेय देश	आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी।
४.	लंका, मलय, दर्दुर, महेन्द्र पर्वत, केरल कर्णाट आदि दक्षिण के देश	उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा।
५.	पह्लव, काम्बोज, सिन्धु सौवीर आदि नैऋत्य देश	स्वाति, विशाखा, अनुराधा।
६.	मणिमान् अस्तागोरे अपरान्तक आदि पश्चिम दिशा के देश	ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा।
७.	माण्डव्य, भद्र, मरूकच्छ आदि वायव्य देश	उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा।
८.	कैलाश, हिमवान् क्रौंच, मेरू, उत्तर कुरु, कैकय आदि उत्तर के देश	शतभिषा, पूर्वाभाद्रापद, उत्तराभाद्रपद।
९.	कश्मीर, किरात, चीन, गन्धर्व देश आदि ईशान कोण के देश	रेवती, अश्विनी, भरणी।

१. बृहत्संहिता (सं० १ में उद्‌धृत), पृ० १०.

इसके अतिरिक्त आग्नेय आदि नव वर्गों में क्रमशः पांचाल, मगध, कलिंग, अवन्ती, आनर्त, सिन्धु सौवीर, हारहौर, भद्र तथा कालिन्द देशों को भी रखा गया है।[१]

इसके अतिरिक्त तत्कालीन 'जनों' का अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ इस महाग्रन्थ में है। अपरान्तक, कुकुर, कोटिवर्ष, शूलिक इत्यादि लगभग ६५ प्रकार के 'जनों' का उल्लेख इस ग्रन्थ में है जो तत्कालीन मानवभूगोल का एक दुर्लभ आकर है। नक्षत्र व्यूहाध्याय में प्रत्येक नक्षत्र के प्रभाव में कौन-कौन वस्तु तथा कौन-कौन से आजीवक हैं यह वर्णन है। स्त्री प्रशंसा में एक पूरा अध्याय लिखा गया है-

ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः गावो मेध्याश्च पृष्ठतः।
अजाश्वा मुखतो मेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः[२]।। (बृ० सं० ७३/८)

'ब्राह्मण चरणों से पवित्र होते हैं, गायें पृष्ठ भाग से पवित्र होती हैं, बकरी तथा घोड़े मुख से पवित्र होते हैं किन्तु स्त्रियाँ सब ओर से पवित्र होती हैं। रत्नपरीक्षा, अन्तःपुर विवरण तक इस ग्रन्थ में है। उपयोगी मानवीय ज्ञान विज्ञान का यह विश्वकोष सदृश ग्रन्थ हैं।

१.५ भाषा तथा साहित्यिक सौष्ठव।

बृहत्संहिता में आचार्य की कवित्व शक्ति, भाषासमृद्धि तथा साहित्य सौष्ठव भी दर्शनीय है।

आचार्य ने बृहत्संहिता में साठ प्रकार के छन्दों का सफल सार्थक प्रयोग किया है, जो किसी भी प्रतिष्ठित महाकवि के लिये भी ईर्ष्या का विषय हो सकता है। इनमें न केवल प्रचलित शिखरिणी, बसन्ततिलका, उपजाति, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, भुजंग-प्रयात, द्रुत विलम्बित, शार्दूल विक्रीड़ित, मालिनी आदि छन्द हैं अपितु सत्रह रगण विशिष्ट समुद्रदण्डाक नामक अत्यप्लज्ञात गद्यगन्धी पद्य का भी प्रयोग उन्होंने किया है।[३] छन्दों संबंधी उनकी बहुविध छटा के दर्शन ग्रहगोचराध्याय में होते हैं, जहां गोचर फल के साथ उन्होंने छन्द का लक्षण भी दिया है। उनकी भाषा सरल प्रसाद-गुणयुक्त होने पर भी अत्यन्त प्रौढ़ है। उन्होंने सन्नन्त प्रयोग-बिभक्षयिषु, यङन्त प्रयोग पेपीयते, जेगीयते बोभुज्यते इत्यादि तथा यङ्लुगन्त-नरीनर्ति आदि का भी प्रयोग किया है। उनकी उत्प्रेक्षाएँ हृदयग्राही हैं तथा उपमाएँ मनोहारिणी हैं। सप्तर्षिचार अध्याय का पहला श्लोक जिसमें सप्तर्षियों को एकावली हार की उपमा दी गई है। अन्यन्त मनोहारी है-

सैकावलीव राजति ससितोत्पलमालिनी सहासेव।
नाथवती च दिग् यैः कौबेरी सप्तभिर्मुनिभिः[४]।। (बृ० सं० १३/१)

---

१. तत्रैव, पृ० २५६ से २६८, २. तत्रैव पृ० ८२१, ३. तत्रैव, पृ० २४७ (१२/६)
४. तत्रैव, पृ० २५४.

'इन सात मुनियों के द्वारा उत्तर दिशा नाथवती सुन्दरी सी प्रतीत होती है जिसने एकावली हार पहन रखा है तथा श्वेत रत्नों की माला पहने हुए मानों मुस्करा रही है।'

वृहत्संहिता का ही संक्षिप्त स्वरूप 'समास-संहिता' होना चाहिये। उसका ज्ञान हमें भट्टोत्पल की टीका में उद्धृत उसके वचनों से होता है। लघुजातक स्पष्ट ही वृहज्जातक का संक्षिप्त रूप है। योगयात्रा राजाओं के अभियान हेतु उपयुक्त मुहूर्तों का संग्रह तथा विवरण है। विवाह पटल भारतीयों के इस अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार का सांगोपांग मार्गदर्शक निरूपण है। यह भी मुहूर्त ग्रन्थ ही है। 'जातकार्णव' की प्रति केवल नेपाल में उपलब्ध है। किन्तु उसके विषय में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह ऐसा ग्रन्थ है जिसमें ज्योतिष के तीनों स्कन्धों का समावेश रहा होगा क्योंकि वृहत्संहिता के एक श्लोक में आचार्य ने कहा है-

युद्धं यथा यदा वा भविष्यमादिश्यते त्रिकालज्ञैः।
तद्विज्ञानं करणे मया कृतं सूर्यसिद्धान्तात्' ।। (बृ० सं० १७/१)

यद्यपि भट्टोत्पल की सुधाकर-संशोधित टीका में इस श्लोक में पञ्चसिद्धान्तिका का संकेत बताया गया है किन्तु वह समीचीन नहीं जान पड़ता। 'सूर्यसिद्धान्ते' पाठ लेने पर करण ग्रन्थ का नाम ही सूर्यसिद्धान्त हो जायेगा। किन्तु पञ्चसिद्धान्तिका को सूर्य सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। उसमें पुलिश सिद्धान्त का वर्णन सौर से ज्यादा है तथा सौर सिद्धान्त के नाम से वर्णित अध्यायों में ग्रहयुद्धाध्याय भी नहीं है मध्यम मान, स्पष्टमान, सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण ये चार ही अध्याय उसमें हैं। अतः 'सूर्यसिद्धान्ते' पाठ की अपेक्षा 'सूर्यसिद्धान्तात्' पाठ ही उपयुक्त है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने यही पाठ लिया है। ऐसी स्थिति में यह सन्दर्भ पञ्चसिद्धान्तिका से अतिरिक्त किसी अन्य करण ग्रन्थ का प्रतीत होता है, मेरे मत से यह संकेत 'जातकार्णव' की ओर है जो उनका एक अन्य 'करण ग्रन्थ' है। आचार्य की समास-कथन की प्रवृत्ति तथा 'जातकार्णव' नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इस एक ग्रन्थ में आचार्य ने सम्पूर्ण ज्योतिश्शास्त्र को समाहित किया है- जातक, सिद्धान्त संहिता।

२. वराह मिहिर का ज्योतिःशास्त्र को अवदान-जैसा कि पहिले कहा जा चुका है आचार्य आर्यभट्ट प्रथम तथा आचार्य वराह मिहिर इतिहास के ऐसे मोड़ पर आये जब यह शास्त्र विस्मरण के गर्त में डूब रहा था तथा विज्ञान एवं अन्धविश्वास मिलकर इस शास्त्र की विश्वसनीयता को ही संकट में डाल रहे थे। आर्यभट्ट ने गणित स्कन्ध को ठोस आधार प्रदान किया तथा आचार्य वराह मिहिर ने तीनों ही स्कन्धों को वैज्ञानिक आधार पर

---

१. तत्रैव, पृ० २६०.

प्रतिष्ठित किया और पूर्व आचार्यों के अवदान को संग्रहीत कर सुरक्षित किया। संक्षेप में उनके द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट सिद्धान्त तथा प्रक्रियाऐं इस प्रकार हैं।

१. शास्त्रोक्त उत्तरायण/दक्षिणायन का परीक्षण-

> **आश्लेषार्धाद्दक्षिणमुत्तरमयनं रवेर्धनिष्ठाद्यम्।**
> **नूनं कदाचिदासीत् येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु।।**
> **साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत्।**
> **उक्ता भावो विकृतिः प्रत्यक्ष-परीक्षणैर्व्यक्तिः[१]।। (बृ० सं० ३/१)**

'पूर्व शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि किसी समय सूर्य का दक्षिण गमन आश्लेषा के आधे भाग से होता था तथा उत्तर गमन धनिष्ठा के आदि से। किन्तु इस समय (वराह मिहिर के समय) सूर्य का दक्षिणायन कर्क राशि के प्रारंभ से तथा उत्तरायण मकर राशि से होता है। यह जो अभाव है वह एक विकृति है जो प्रत्यक्ष परीक्षण से स्पष्ट है।' इसमें आचार्य ने तत्कालीन सूर्य के दक्षिणायन/उत्तरायण गमन की वास्तविक स्थिति बतलाई है। किन्तु इसे वे विकार कहते हैं जिससे स्पष्ट है कि उस समय उन्हें अयनचलन का ज्ञान नहीं था क्योंकि उस समय अयनांश शून्य था।

२. ब्रह्माण्ड में पृथ्वी की स्थिति

> **पंचमहाभूतमयस्तारागणे महीगोलः।**
> **खेऽयस्कान्तस्थो लोह इवावस्थितो वृत्तः[२]।। (पं० सि० १३-१)**

'इस तारागण के मध्य में पंचमहाभूतात्मक पृथ्वी का गोला आकाश में उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार चारों ओर से चुम्बक लगे घेरे में लोह'।

उन्होंने पृथ्वी को शून्य में अधर लटका हुआ माना क्योंकि चारों ओर से गुरुत्वाकर्षण से वह टिकी है। किन्तु वे पृथ्वी को स्थिर मानते थे। घूमती हुई नहीं।

३. दक्षिण ध्रुव पर मनुष्य उल्टा लटका हुआ रहता है किन्तु अपने को सीधा समझता है।

> **सलिलतटासन्नानाम् अवाङ्मुखी दृश्यते यथा छाया।**
> **तद्वद्गतिरसुराणां मन्यन्ते तेऽप्यधो विवुधान्[३]।। (पं० सि० १३/२)**

'नदी या तालब कि किनारे खड़े हुए व्यक्ति की छाया जिस प्रकार नीचे मुख तथा ऊपर पैर किये दिखती है, दक्षिण ध्रुव पर रहने वाले असुरों की वही गति है। वे उत्तर ध्रुव के देवताओं को भी वैसा ही मानते हैं अर्थात् नीचे शिर तथा ऊपर पैर।'

---

१. तत्रैव, पृ० ७९, २. २. पञ्चसिद्धान्तिका (सं० ६ में उद्‌धृत) पृ० २४८.
३. तत्रैव, पृ० २४८.

४. पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त-

गगनमुपैति शिखि-शिखा क्षिप्तमपि क्षितिमुपैति गुरुः किंचित्।
तद्वदिह मानवानामसुराणां तद्वदेवाधः[1]।। (पं०सि० १३/४)

अग्नि चूंकि वायवीय तत्व है (वह वायु से ही उत्पन्न है) अतः अग्नि की शिखा आकाश की ओर जाती है। उसी प्रकार कोई भी पार्थिव तत्व जो जरा भी भारी हो पृथ्वी की तरफ आता हैं यही यहाँ मनुष्यों की स्थिति है। उसी प्रकार नीचे (दक्षिण ध्रुव में) वही असुरो की स्थिति है। (वे आकाश में गिरते नहीं, पृथ्वी से चिपके रहते हैं भले ही यहां की अपेक्षा से वे अधोमुख हैं)

५. पृथ्वी स्थिर है, तारामण्डल प्रवह वायु के द्वारा घूमता है।

तत्र निबद्धो मरुता प्रवहेन भ्राम्यते भगणः।
भ्रमति भ्रमिस्थितेव क्षितिरित्यपरे वदन्ति नोडुगणः।।
यद्येवं श्येनाद्याः न खात्पुनः स्वनिलयमुपेयुः[2]। (पं०सि० १३-५,६)

'यह नक्षत्र चक्र प्रवह वायु से आबद्ध होकर घूम रहा हैं कि चक्र पर स्थित के समान पृथ्वी घूमती है। यदि ऐसा होता तो श्येन आदि पक्षी आकाश से पुनः अपने घोंसलों को नहीं लौट पाते।'

आचार्य पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त के विरोधी थे। जबकि आर्यभट्ट ने यह स्थापित किया कि पृथ्वी घूमती है, नक्षत्र चक्र नहीं।

६. सूर्य की परम उत्तरा क्रान्ति २४° थी तथा उस समय सूर्य उज्जैन के ऊपर घूमता था।

'मिथुनान्ते च कुवृत्तादंश-चतुर्विंशतिं विहायोच्चैः।
भ्रमति हि रविरमराणां समोपरिष्टात्तदावन्त्याम्[3]।। (पं० सि० १३-१०)

जब सूर्य मिथुन के अन्त में अर्थात् कर्क राशि में प्रवेश करता है, उस समय विषुवत् रेखा से २४° ऊपर सूर्य उत्तरी गोलार्ध में अवन्तिका के ऊपर घूमता है। यह इस बात का द्योतक है कि उस समय उज्जैन कर्क रेखा पर था तथा सूर्य उज्जैन के खमध्य में आकर दक्षिण की ओर लौटता था।

७. पृथ्वी की परिधि का परिमाण ३२०० योजन माना तथा पृथ्वी के चतुर्थांशके ९० विभाग किये। अतः ९०° त्र ८०० योजन, १० = ८ $\frac{८}{९}$ योजन, उज्जैन से सुमेरु की दूरी ५८६ $\frac{२}{३}$ योजन।

---

१. तत्रैव, पृ० २४८ २. तत्रैव, पृ० २४९ ३. तत्रैव, पृ० २४९

'योजन-शतानि भूमेः परिमाणं षोडश द्विगुणितानि' (पं० सि० १३-१८)

'भूमि का परिमाण सोलह का दुगुना अर्थात् ३२ सौ योजन है।'

'षडशीतिं पंचशतीं त्रिभागहीनं योजनं च गत्वा।
क्षितिमध्यमुदगवन्त्या लंकाया योजनाष्टशतीम्'[1]।। (पं० सि० १३-१६)

'उज्जयिनी से ५८६ $\frac{२}{३}$ योजन उत्तर की ओर जाने पर उत्तर ध्रुव की पृथ्वी का मध्य भाग मिलेगा तथा वही स्थान लंका से ८०० योजन है।'

उज्जैन से उत्तर ध्रुव की दूरी ६०-२.१ = ६६° है। अतः

९०° = ८०० योजन

$$\therefore ६६° = \frac{६६ \times ८००}{९०} = \frac{१७६०}{३} = ५८६ \, ^{२}/_{३}$$

लंका विषुवत् रेखा पर होने से उसकी दूरी ९०° = ८०० योजन है।

भूमि की परिधि का आचार्य का यह मान सूर्य सिद्धान्त से भिन्न है। वहां भूमि का परिमाण-

'योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु।
तद्वर्गतो दशगुणात् पदं भूपरिधिर्भवेत्'[2]।। (सू०सि० १/५६)

पृथ्वी का व्यास ८०० × २ योजन है। उसके वर्ग के दशगुने का वर्गमूल भूपरिधि होता है।

$$\sqrt{१६००^{२} \times १०} = १६००\sqrt{१०} = ५०५९६४ \text{ योजन}$$

यहाँ π का मान $\sqrt{१०}$ बताया गया है।

८. सूर्य तथा राशियों का दृश्यादृश्यत्व-आचार्य ने उज्जैन के सन्दर्भ से सूर्य किन-किन अक्षांशों में कितना दिखेगा तथा राशि चक्र की राशियां कहां कहां अदृश्य हो जायेंगी इसका बड़ा स्पष्ट विवरण दिया है।

किसी भी अक्षांश पर सम्पात के सूर्य का नत उसके अक्षांश के बराबर होता है तथा उत्तर की ओर उसका ध्रुव पृथ्वी से उतना ही उठा होता है जितना वहां का अक्षांश। उज्जैन

---

१. तत्रैव, पृ० २५३

२. सूर्यसिद्धान्त (१/५६) चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, सं० प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय, २०००, पृ० ३७

से ३७३ १/३ योजन उत्तर जाने पर (अर्थात् ६६° उत्तर अक्षांश पर) भचक्र में विचित्रताएँ आने लगती हैं। वहाँ सूर्य २४ घण्टे उदित रहेगा और जितना उत्तर की ओर बढ़ेंगे दिन बढ़ता जायेगा तथा सुमेरु (उत्तर ध्रुव) पर यह छः माह का होगा। इसी प्रकार ६६°-२४' उत्तर अक्षांश के पश्चात् धनु और मकर राशियाँ दिखाई नहीं देंगी। ७८°-१६' उत्तर के बाद वृश्चिक और तुला भी दिखाई नहीं देंगे तथा ध्रुव पर तुला से मीन छः राशियाँ दिखाई नहीं देंगी।[1]

९. आकाश में ग्रहों की क्रमिक स्थिति तथा समान गति-

> 'चन्द्रादूर्ध्वं बुधसित-रविकुज-जीवार्कजास्ततो भानि।
> प्राग्गतयस्तुल्यजवा ग्रहास्तु सर्वे स्वमण्डलगाः[2]।। (पं० सि० १३-३९)

चन्द्रमा के ऊपर क्रमशः बुध, शुक्र सूर्य, मंगल, गुरु, शनि हैं तथा उनके ऊपर नक्षत्रगण, ये सभी पूर्व की ओर जाने वाले तथा समान गति के हैं। सभी ग्रह अपनी कक्षा में विचरण करते हैं।

१०. वार प्रवृत्ति अनिश्चित होने से उन्होंने तिथि को प्रामाणिक माना।

११. ज्योतिर्गणित की प्रक्रिया को उन्होंने सरल किया-

(अ) युगीन भगणों के स्थान पर छोटे काल के भगण लिये। सूक्ष्मता के लिये संशोधन सुझाये।

(ब) मन्द तथा शीघ्र परिधियों को स्थिर किया, सूर्य सिद्धान्त में ये फैलती तथा सिकुड़ती हैं।

(स) लघुज्या की कल्पना उनका अपना अवदान है। ३४३८' त्रिज्या के स्थान पर १२०' की त्रिज्या मानी तथा ज्याएँ त्रिवर्ग प्रमेय (बोधायन प्रमेय) के आधार पर निकालीं। यह प्रक्रिया सूर्य सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है।

(द) स्फुटीकरण की प्रक्रिया को सरल बनाया।

१२. परिधि तथा विष्कम्भ का अनुपात सूक्ष्मतर माना। यद्यपि वे $\sqrt{१०}$ की बात करते हैं, जो ३.१६२२ होता है किन्तु वास्तव में उन्होंने जो ज्याएँ निकालीं उसके अनुसार सबसे छोटी ज्या ७'-५१'' की मानी जो चाप के बराबर होती है। यह वृत्त की १/९६ होती है। अतः यदि इसको ९६ से गुणा किया जाय तथा २ x त्रिज्या से भाग दें तो ७'-५१'' × ९६/१२० × २ = ३.१४ आता है जो आधुनिक मान ३.१४१६ के अत्यन्त समीप है।

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका (सं० ६ में उद्धृत) पृ० २५४-२५५, २. तत्रैव पृ० २५६.

१३. जातक के क्षेत्र में योगों की उपपत्ति यथास्थान दी। पूर्वाचार्यों-मयासुर, यवनाचार्य, सत्याचार्य आदि के मतों की समीक्षा की।

१४. सिद्धान्तों को व्यावहारिक धरातल पर परीक्षण कर अपने मत स्थापित किये। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र को अन्धविश्वास, पुराण तथा विज्ञान के मिश्रण से निकाल कर वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया।

१५. सूर्यग्रहण आदि से संबंधित अन्धविश्वासों का निराकरण किया।

३. पञ्चसिद्धान्तिका-आचार्य ने यदि पञ्चसिद्धान्तिका नहीं लिखी होती तो भारत के प्राचीन सिद्धान्त विस्मृति के गर्त में खो जाते और हमारा ज्योतिष का वैश्विक ज्ञान उधार लिया हुआ माना जाने लगता। अतः आचार्य ने पञ्चसिद्धान्तिका लिखकर न केवल ज्योतिष शास्त्र की अपितु भारत की सांस्कृतिक अस्मिता की भी सुरक्षा की।

वराह मिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में ज्योतिष के सिद्धान्त स्कन्ध से संबंधित प्राचीन पाँच सिद्धान्त हैं। सिद्धान्त, गणित की एक विशिष्ट पद्धति है जिसके द्वारा किसी भी दिन के सूर्य तथा चन्द्रमा के मध्यम तथा स्पष्ट मान, तिथि, नक्षत्र, दिनमान, संक्रान्तियाँ, ग्रहों के मान, अस्तोदय, ग्रहण नक्षत्र-युति इत्यादि निकाले जाते हैं। वैदिककाल से लेकर आचार्य वराह मिहिर तक ऐसे पाँच सिद्धान्त प्रचलित थे जो कालक्रम से इस प्रकार हैं-

१. पैतामह सिद्धान्त।
२. वासिष्ठ सिद्धान्त।
३. रोमक सिद्धान्त।
४. पौलिश सिद्धान्त।
५. सौर सिद्धान्त।

इस संबंध में सूर्यारुण संवाद के रूप में यह सिद्धान्त परम्परा सुरक्षित है-

पैतामहं च सौरं च वासिष्ठ पौलिशं तथा।
रोमकं चेति गणितं पञ्चकं परमाद्भुतम्।।
वेदैः सह समुद्भूतं वेद-चक्षुः सनातनम्।
रहस्यं वेदमध्यस्थं स्मृतवान् यद् पितामहः[1]।

'इस अद्भुत गणित शास्त्र के पाँच सिद्धान्त हैं-पैतामह, सौर, वासिष्ठ, पौलिश तथा रोमक। यह शाश्वत ज्ञान जो वेदों के नेत्रों के समान है, वेदों के साथ ही उत्पन्न हुआ तथा वेद में ही समाहित था। पितामह ने उसका स्मरण किया। इसलिये वेदसम्मत पैतामह सिद्धान्त ही आद्य सिद्धान्त हैं। पितामह ने यह ज्ञान अपने पुत्र महात्मा वसिष्ठ को दिया।

---

१. पञ्चसिद्धान्तिकाः वराह मिहिर, जी. थीबो तथा सुधाकर द्विवेदी, चौखम्बा सं.सि. आ., वाराणसी, १९६८, संस्कृत टीका, पृ. २

यह वासिष्ठ सिद्धान्त कहलाया। अंशावतार के समय भगवान विष्णु ने जब कमलोद्भव ब्रह्मा को यह आदेश दिया उसी समय सृष्टि के निमित्त काल की सिद्धि के लिये यह ज्ञान प्रसारित करने के लिये मुझे भी आदेश दिया। मैंने जो ज्ञान प्रसारित किया वह 'सौर' सिद्धान्त कहलाया। मैंने यह ज्ञान मय नामक शिष्य को उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर दिया। उधर वसिष्ठ ने यह ज्ञान अपने पुत्र पाराशर को दिया। उन्होंने अनेक मुनियों को यह ज्ञान दिया। उनमें से पुलिश मुनि ने जो ज्ञान गर्ग आदि ऋषियों को दिया वह पौलिश सिद्धान्त कहलाया। ब्रह्मा के शाप से यवन जातियों में जन्म लेने के कारण मैंने रोमक सिद्धान्त रोमक को दिया। उसको रोमक ने रोमक नगर में प्रचारित किया। इस प्रकार ये ही पाँच पुराण गणित के कहे जाते हैं।'

इस सूर्यारुण संवाद के अनुसार ये सिद्धान्त इस क्रम में प्रादुर्भूत हुए-

परात्पर विष्णु
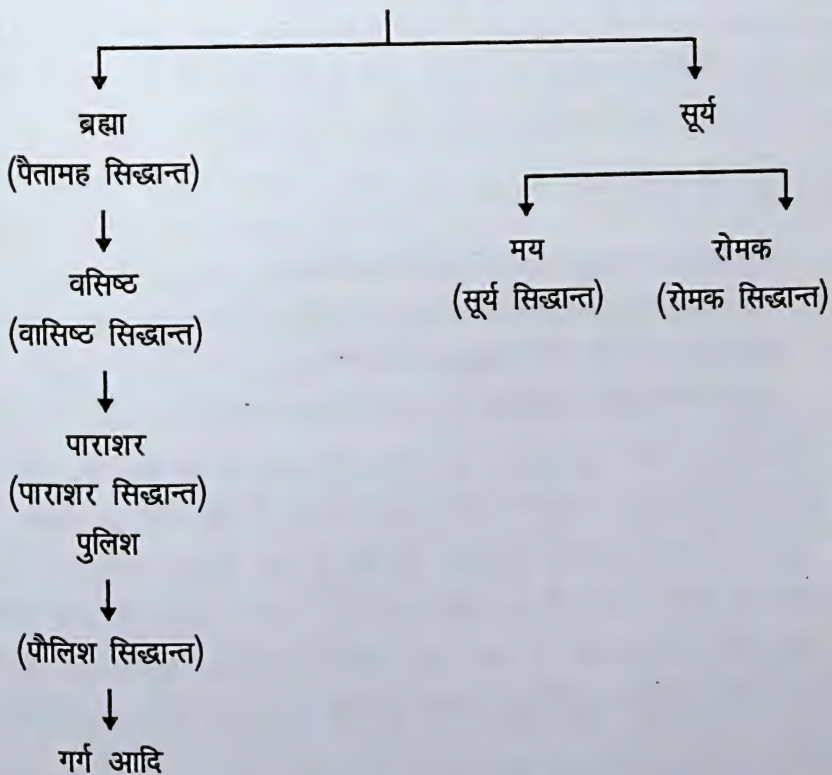
इस क्रम में महर्षि पाराशर का भी नाम है। किन्तु उनके सिद्धान्त को अलग से मान्यता नहीं दी गई है। यद्यपि एक पाराशर सिद्धान्त भी उपलब्ध है, जिसके भगणादि का ज्ञान आर्यभट द्वितीय से होता हैं।

३.१ पैतामह सिद्धान्त

पैतामह सिद्धान्त भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष का सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। वराह मिहिर ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका के १२ वें अध्याय में इसका निरूपण किया है। इसमें केवल पाँच आर्याऐं हैं और उनमें निहित सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि इसमें वेदांग ज्योतिष के सभी तत्त्व यथावत् हैं। इस सिद्धान्त में मध्यमान के सूर्य और चन्द्र की गणना की गई है तथा तिथि, नक्षत्र, पर्व आदि की गणना भी मध्यमान से की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ष ३६६ दिन का है तथा पाँच वर्ष का युग है। युग के अन्त में आवश्यकता पड़ने पर एक दिन छोड़ने की भी व्यवस्था थी। जैसा कि वेदांग ज्योतिष के इस वाक्य से स्पष्ट है-**"स्यात्तदादि युगं माघः तपः शुक्लो दिनं त्यज।"**

इसमें जो 'दिनं त्यज' का निर्देश हैं, वह इस बात को बताता है कि युग के अन्त में आवश्यकता पड़ने पर वे एक दिन छोड़ दिया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस अत्यन्त प्राचीन काल में वर्ष ३६५ १/२ से अधिक तथा ३६६ दिन से कुछ कम रहा होगा। इसके संकेत हमें तैत्तिरी संहिता तथा निदान सूत्र से भी प्राप्त होते हैं।[1] बाद में वासिष्ठ सिद्धान्त के समय से वर्ष ३६५ १/४ दिन का माना जाने लगा।

३.१.१ युग के तत्व तथा अहर्गण

रविशशिनो पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि।
अधिमासास्त्रिंशद्भिर्मासैरवमो द्विषष्ठ्यऽह्नाम्।।१।।
द्व्यूनं शकेन्द्रकालं पंचभिरुद्धृत्य शेषवर्षाणाम्।
द्युगणं माघसिताद्यं कुर्याद्युगणानि तदहन्युदयात्।।२।।[2]

पैतामह के सिद्धान्त के अनुसार सौर चान्द्र युग पांच वर्ष का होता है। तीस चान्द्र मास के बाद एक अधिमास होता है तथा बासठ तिथियों के बाद एक क्षय तिथि।

शक वर्ष में से दो घटाईये तथा वर्षों को पाँच से भाग दीजिए। युगारंभ से अहर्गण की गणना माघ शुक्ल प्रतिपदा से की जाती है तथा यह गणना सूर्योदय से मानी जाती है।

इन श्लोकों के आधार पर तथा इस सिद्धान्त के वेदांग ज्योतिष से साम्य के आधार पर म०म० सुधाकर द्विवेदी ने पैतामह सिद्धान्त के विभिन्न युगीन तत्व निम्नानुसार दिए हैं।

---

१. निदानसूत्र : पतञ्जलि सं. के.एन. भटनागर, महेरचंद लक्ष्मनदास, दिल्ली, १९७१, पृ. ९३ तथा आर. शामशास्त्रीः वैदिक केलेण्डर, पृ. २६.

२. पञ्चसिद्धान्तिका पृष्ठ, २४६.

एक युग	५ वर्ष
सौर मास	५ × १२ = ६०
अधिमास	प्रति तीस माह में = २
चान्द्रमास	६० + २ = ६२
नक्षत्र मास या चन्द्रमा के भगण	६२+५=६७
तिथियां	६२ × ३० = १८६०
सावन दिन	५ × ३६६ = १८३०
क्षय तिथि	१८६०-१८३० = ३०
अयन	३६६/२ = १८३ दिन
युगारंभ की तिथि एवं नक्षत्र	माघ शुक्ल प्रतिपदा धनिष्ठा।

ज्योतिर्वैज्ञानिक गणना में सबसे पहला कार्य अहर्गण निकालना होता है। ये अहर्गण किसी युग विशेष के आरंभ से निकाले जाते हैं। सूर्य सिद्धान्त में ये अहर्गण कलियुग के आरंभ से निकाले जाते हैं। पञ्चसिद्धान्तिका के सौर सिद्धान्त में इन अहर्गणों का युगारंभ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा शक ४२७ से है। वहीं पैतामह सिद्धान्त के प्रयोजन के लिए अहर्गण का युगारंभ माघ शुक्ल प्रतिपदा धनिष्ठा नक्षत्र से है। यद्यपि विश्व का यह प्राचीनतम सिद्धान्त मध्यममान के गणित पर आधारित है किन्तु इसकी पद्धति इतनी वैज्ञानिक है कि आज के समय में भी इसके आधार पर किसी तिथि विशेष का चान्द्र नक्षत्र शुद्ध निकाला जा सकता है। तिथि की भी सही गणना की जा सकती हैं।

उदाहरण के लिए यदि श्रावण शुक्ल अष्टमी शक १९२७ सूर्योदय का अहर्गण निकालना है तो सिद्धान्त की पद्धति के अनुसार १९२७-२=१९२५। १९२५ ÷ ५=३८५ और कोई शेष नहीं बचा। मास गणना माघ शुक्ल प्रतिपदा से श्रावण शुक्ल अष्टमी तक करना है जो ६ मास और ८ तिथि होती है। युगारम्भ से ६ माह में कोई अधिमास नहीं है। तिथि ६ × ३० + ८ = १८८ से तीन क्षय तिथि घटाने पर युगारम्भ से अहर्गण १८८-३ = १८५ सौर दिन होता है।

३.१.२ नक्षत्र एवं तिथि आनयन

पैतामह सिद्धान्त का श्लोक क्रमांक ३ इस प्रकार हैं-

त्रिंशत्वं चेद्युगणे तिथिर्भमार्कं नवाहतेऽक्ष्यर्कैः।
दिग्रसभागैः सप्तभिरूनं शशिभं धनिष्ठाद्यम्।।

थीबो और सुधाकर द्विवेदी के पञ्चसिद्धान्तिका के संस्करण में इस आर्या के प्रथम चरण को 'सैकषष्ठ्यंशे गणे' इस प्रकार संशोधित कर दिया गया है तथा कुपन्नशास्त्री एवं

के०वी० शर्मा के संस्करण में 'सैकर्त्वंशे द्युगणे' ऐसा संशोधन किया गया है। मेरे विचार से दोनों ही संशोधन अनावश्यक हैं। पद्य की प्रक्रिया का आशय ठीक से स्पष्ट नहीं होने से संभवतः उन्होंने ऐसा किया। किन्तु इस प्रथम चरण में 'त्र्यंशत्व' के स्थान पर मात्र 'त्रिंशत्वं' करने से आर्या का अर्थ ठीक बैठ जाता है। जो संशोधन सुधाकर द्विवेदी और कुपन्नशास्त्री ने किया है, उसके अनुसार इस आर्या का अर्थ होता है-

'अहर्गणों में उसका १/६१ जोड़ दें तो तिथियों की संख्या आ जाती है।' इसके अनुसार हमारे उदाहरण में १८५ में उसका १/६१ भाग अर्थात् ३ जोड़ दें तो तिथियां १८५+३=१८८ हो जाती हैं। यह एक अजीब सा निष्कर्ष है क्योंकि १८८ तिथियां तो हम पहले ही निकाल चुके हैं और उसी के आधार पर क्षय तिथियां घटाकर हमनें १८५ सावन दिन निकाले हैं। यदि सावन दिन से तिथियां निकालनी हों तो उनमें क्षय तिथियां जोड़कर ही तिथि निकाली जा सकती हैं। इसलिए यह संशोधन और यह प्रक्रिया समीचीन नहीं जान पड़ती। इसके स्थान पर मूल आर्या के आधार पर हम अर्थ निकालें तो सुगमता से तिथि निकाली जा सकती है। तद्नुसार इसका अर्थ यह होता है कि अहर्गण के १/३० भाग की एक तिथि लें। यह प्रक्रिया अहर्गण में से क्षय तिथि घटाने के बाद करनी होगी। उपर्युक्त उदाहरण में अहर्गण १८५ है, उसमें से क्षय तिथि ३ घटाने पर १८२ हुआ इसमें ३० का भाग देने पर ६ भागफल आया तथा २ शेष है, अतः ६+२ = अष्टमी तिथि हुई। ग्रन्थकार का आशय यह है कि अहर्गण में से क्षय तिथि घटाकर ३० दिन के पीछे एक तिथि मानना चाहिये और ३० का भाग देने पर जो शेष तिथियां बचती हैं, उसमें इसे जोड़ देना चाहिये। इस प्रकार १/६१ का भाग देने की आवश्यकता नहीं है तथा मूल में इसका कहीं कोई जिक्र भी नहीं है। इस संशोधन के बाद उपर्युक्त आर्या का अर्थ इस प्रकार होगा-

'अहर्गण के प्रत्येक ३० दिन के लिए एक तिथि मानें (उसमें ३० का भाग देने पर जो तिथियां बचें उसे जोड़ दें) तो वर्तमान तिथि आ जायेगी : अहर्गण को ९ से गुणा कर १२२ से भाग दे दें, इस प्रकार सौर नक्षत्र प्राप्त होगा, जिसकी गणना धनिष्ठा से की जायेगी। ७ में ६१० का भाग दें तथा अहर्गण में से उसे घटा दें तो चान्द्र नक्षत्र प्राप्त होगा। इसकी गणना भी श्रविष्ठा या धनिष्ठा नक्षत्र से ही की जायेगी।'

इस आर्या की ऊपर जो व्याख्या की गई है, उसकी उपपत्ति इस प्रकार है-

चूँकि ६० सौर माह के १८३० दिनों में १८६० अर्थात् ३० तिथि अधिक हैं।

∴ ६० सावन माह के १८०० दिन में १८६० तिथि होंगी अर्थात् +६० तिथि।

∴ ६० सावन माह में +६० तिथि।

∴ १ सावन माह में अर्थात् ३० दिन में १ तिथि।

६० सौर मासों को ६० सावन मासो में परिणत करने के लिए अहर्गण में से क्षय तिथियां घटानी होंगी। इसलिए उक्त गणित अहर्गण में से पहले क्षय तिथियां घटाने पर ही

किया जाना चाहिए! इसके आधार पर आर्या के प्रथम चरण का तिथि आनयन संबंधी जो गणित किया गया है, वह सही हैं।

नक्षत्र

जहाँ तक सौर और चान्द्र नक्षत्रों का प्रश्न हैं, वे युगीन सावन दिनों का अहर्गण से जो अनुपात है तथा युग में सूर्य और चन्द्रमा जितने नक्षत्रों का भोग करते हैं, उसके आधार पर निकाले गए हैं। उदाहरण के लिए पाँच वर्ष के एक युग में १८३० दिन होते हैं और सूर्य ५×२७=१३५ नक्षत्रों का भोग करता है तो दिए हुए अहर्गणों में कितने नक्षत्रों का भोग करेगा-

∴ सौर नक्षत्र : १३५ :: अहर्गण : १८३०

∴ सौर नक्षत्र = १३५ × अहर्गण /१८३० = अहर्गण × ६/१२२

यही बात 'भमार्कं नवाहतेऽक्ष्यर्कैः' में कही गई है अर्थात् सूर्य का नक्षत्र अहर्गण में ६ का गुणा कर १२२ से भाग देने से प्राप्त होता है।

इसी प्रकार चन्द्रमा एक युग में ६७ ×२७ = १८०६ नक्षत्रों का भोग करता है।

∴चन्द्र नक्षत्र : १८०६ :: अहर्गण : १८३०

∴चन्द्र नक्षत्र = अहर्गण × १८०६/१३३०=६०३ × अहर्गण /६१० (१.७/६१०) अहर्गण। यही बात इस आर्या की दूसरी पंक्ति में कहीं गई हैं-

'दिग्रसभागैः सप्तभिरूनं शशिभं धनिष्ठाद्यम्'

अर्थात् अहर्गण में (१-७/६१०) का गुणा करने पर धनिष्ठा आदि चान्द्र नक्षत्र प्राप्त होता है। उदाहरण- श्रावण शुक्ल अष्टमी के उदाहरण में अहर्गण १८५ हैं।

∴ सौर नक्षत्र = १८५ × ६/ १२२ = १३ ७६ १२२

इसका अर्थ यह हुआ कि धनिष्ठा से गणना करने पर १३ नक्षत्र व्यतीत हो गए और १४वां नक्षत्र वर्तमान है। यह नक्षत्र आश्लेषा हुआ। चित्रा पक्ष के पंचांग के अनुसार श्रावण शुक्ल अष्टमी शक १६२७ को सूर्य का नक्षत्र वास्तव में आश्लेषा ही हैं।

∴ चन्द्र नक्षत्र = १८५ (१.७/६१०) = १८२.८७७

इसको २७ से भाग देने पर शेष २०.८७७ बचता है। इसका आशय यह हुआ कि धनिष्ठा से २१ वां नक्षत्र वर्तमान है। धनिष्ठा से २१ वां नक्षत्र विशाखा है अर्थात् श्रावण शुक्ल अष्टमी शक १६२७ को चान्द्र नक्षत्र विशाखा था। पंचांग के अनुसार वास्तव में उस दिन विशाखा नक्षत्र है।

इससे स्पष्ट है कि हजारों वर्ष पूर्व प्रतिपादित किए गए इस मध्यममान के सिद्धान्त के आधार पर भी आज की परिस्थिति में भी सूर्य और चन्द्र के सही नक्षत्र निकाले जा सकते हैं। यह इस सिद्धान्त की वैज्ञानिकता का द्योतक हैं।

३.१.३ व्यतिपात

पैतामह सिद्धान्त की चौथी आर्या इस प्रकार हैं-

**'प्रागर्धे पर्व यदा तदोत्तरातोऽन्यथा तिथिः पूर्वा।
अर्कध्ने व्यतिपाता द्युगणे पंचाम्बर हुताशैः।।'**[1]

'यदि पूर्णिमा या अमावस्या का पर्व दोपहर के पूर्व हो तो दूसरी तिथि ग्रहण करना चाहिये अन्यथा पहली।'

'अहर्गणों को १२ से गुणा कर ३०५ से भाग देने पर व्यतिपात प्राप्त होता है।'

इस आर्या की पहली पंक्ति पर्व के निर्णय के लिए है। जिस दिन का निर्णय करना है, उस दिन यदि पूर्णिमा या अमावस्या दोपहर के पूर्व प्राप्त होती है, तो उस दिन प्रतिपदा गिनी जानी चाहिये। अन्यथा उस दिन पूर्णिमा या अमावस्या ही मानी जानी चाहिये। इससे यह प्रतीत होता है कि मध्यममान के इस गणित में तिथि का निर्णय सूर्योदय के आधार पर नहीं अपितु मध्याह्न के आधार पर होता था। यदि पर्व मध्याह्न के पूर्व हो गया तो मध्याह्न के बाद प्रतिपदा होने से उस दिन को प्रतिपदा ही माना गया। किन्तु यदि पर्व मध्याह्न के बाद हुआ तो उस तिथि को पूर्णिमा या अमावस्या ही माना गया।

इस आर्या की दूसरी पंक्ति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व की ओर इंगित करती हैं और वह है व्यतिपात। 'व्यतिपात' और 'वैधृति' ये अत्यन्त महत्वपूर्ण योग हैं तथा सायन, सूर्य और चन्द्रमा के भोगों का योग १८०° और ३६०° होने पर ये घटित होते हैं। इस आर्या में यह बताया गया है कि जिस दिन का विचार करना है, उस दिन से व्यतिपात कितना आगे या पीछे है और उसके निकालने की प्रक्रिया क्या है। प्रक्रिया के विषय में इसमें लिखा है कि अहर्गण को १२ से गुणा करो और ३०५ से भाग दे दो तो व्यतिपात प्राप्त होगा।

उपपत्ति–व्यतिपात का निर्णय भी सौर, चन्द्र नक्षत्रों की तरह युगीन व्यतिपात संख्या और युगीन अहर्गण का जो वर्तमान अहर्गण से अनुपात है, उसके आधार पर किया गया है। एक युग में चन्द्रमा के ६७ भगण होते हैं तथा सूर्य के ५ भगण होते हैं। इन दोनों का योग ७२ होता है। इस प्रकार युग के १८३० दिनों में ७२ व्यतिपात होते हैं।

व्यतिपात : ७२ :: अहर्गण : १८३०

व्यतिपात = अहर्गण × ७२/१८३० = १२ × अहर्गण /३०५

यही इस आर्या की दूसरी पंक्ति में बताया गया है कि अहर्गण में १२ का गुणा करो और ३०५ का भाग दो व्यतिपात आता है।

उदाहरण–अहर्गण = १८५.

व्यतिपात = १८५ ×१२/३०५ = ४४४/६१ = ७ १७/६१ = ७ ८५/३०५

---

१. तत्रैव, पृष्ट २४४.

इसका आशय यह हुआ कि ७ व्यतिपात चले गये। चूंकि ३०५ दिन में १२ व्यतिपात होते हैं, इसलिये १ व्यतिपात २५ दिन २५ घड़ी में होता है। जो ८५/३०५ शेष बचा है, उसमें १२ से भाग देने पर ७ दिन और ५ घड़ी का समय आता है और ३०५ में से ८५ घटाने पर तथा १२ का भाग देने पर १८ दिन २० घटी आता है। इसका आशय यह हुआ कि जिस दिन का विचार हम कर रहे हैं, उस दिन पिछले व्यतिपात को घटित हुए ७ दिन ५ घटी व्यतीत हो गया और अगला व्यतिपात १८ दिन २० घटी बाद आयेगा।

व्यतिपात के सिद्धान्त से, इस सिद्धान्त के काल के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत मिलता है। व्यतिपात सूर्य और चन्द्रमा के सायन भोग पर आश्रित होता हैं। युगारंभ के नक्षत्र धनिष्ठा होने से यह स्पष्ट है कि युगारंभ के समय सूर्य और चन्द्र दोनों २२ नक्षत्र पार कर चुके थे। अश्विनी से श्रवण तक २२ नक्षत्र होते हैं। दोनों के निरयन भोगों का योग ४४ नक्षत्र होता है। इसमें अगर २७ का भाग दें तो १७ बचता है। इसका आशय यह हुआ कि उस दिन सूर्य और चन्द्रमा का निरयन भोग सायन भोग से १० नक्षत्र कम था। अर्थात् प्रत्येक के मामले में ५ नक्षत्र कम था। यह पांच नक्षत्र ६६°-४०' के बराबर होता है। इसका आशय यह हुआ कि पैतामह सिद्धान्त के निर्माण के समय अयनांश -६६°-४०' था। यही वेदांग ज्योतिष की भी स्थिति है और उससे स्पष्ट हुआ कि वेदांग ज्योतिष और पैतामह सिद्धान्त के समय अयनांश रेवती से ५ नक्षत्र पहिले अर्थात् धनिष्ठारंभ में था। अयनांश की ४८.५" प्रतिवर्ष की गति लेने पर यह समय ईसा पूर्व २१५०० के लगभग आता है। इस काल के संबंध में आश्चर्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उस समय वर्षमान जो ३६६ दिन का दिया गया है वह भी यही संकेत करता है कि इस सिद्धान्त का निर्माण ईसा से हजारों वर्ष पूर्व हुआ था। वेदांग ज्योतिष में धनिष्ठा में सूर्य और चन्द्रमा के एक साथ स्वर्ग गमन की बात कही गई है तथा यह भी कहा गया है कि उस समय युग का प्रारंभ होता है, माघ मास शुक्ल पक्ष तथा अपेक्षाकृत ऊष्म. ऋतु (वसन्त) का प्रारंभ होता है।

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ।
स्यात्तदादि युगं माघः तपः शुक्लो दिनं त्यज।।[1]

३.१.४ दिनमान

पैतामह सिद्धान्त की यह पांचवी और अंतिम आर्या है।

धृतिमयनादुत्तरतो रसमृणं तदपि च याम्यस्य।
द्विघ्नं शशिरसभक्तं द्वादशहीनं दिवसमानम्।। ५।।[2]

---

१. ऋक्ज्योतिष (१-५) सुधाकर द्विवेदी, पृ० ६२.
२. पञ्चसिद्धान्तिका (पूर्व उद्धृत), पृ० २५.

इस आर्या को सुधाकर द्विवेदी तथा कुप्पन्न शास्त्री दोनों के ही संस्करणों में अत्यन्त विकृत कर दिया गया है। जिनसे यद्यपि गणितीय अर्थ तो ठीक लग जाता है किन्तु मूल से उनका कहीं कोई साम्य नहीं दिखता। सुधाकर द्विवेदी ने इसका पाठ इस प्रकार बनाया है-

द्वयग्निनगेषूत्तरतः स्वमितमेष्यदिनमपि याम्यायनस्य[1]।

तथा कुप्पन्न शास्त्री ने इसका पाठ इस प्रकार बनाया है-

(गतमयानादुतरतो) (द्यूनां) (गन्तव्य) मपि च याम्यस्य[2]।

ये दोनों ही पाठ अनावश्यक हैं और इससे मूल को पूरी तरह से बदल दिया गया है। अतः स्वीकार करने योग्य नहीं है। बिना इन परिवर्तनों के मूल का समीचीन अर्थ प्रकट हो रहा है। वह इस प्रकार है-

'अयन से परम उत्तर में दिनमान १८ मुहूर्त होता है (धृति = १८) तथा अयन से परम दक्षिण में यह उससे ६ कम अर्थात् १२ मुहूर्त होता है। न्यूनतम दिनमान से जितने भी दिन व्यतीत हुए हों अथवा न्यूनतम दिनमान के दिन में जितने भी दिन शेष हों उसको २ से गुणा करो और ६१ से भाग दो तो यह १२ से रहित दिनमान होता है। अर्थात् इसमें १२ जोड़ने से दिनमान आ जाता है।'

उदाहरण-अहर्गण = १८५

वसंत संपात से १८३ दिन शरद संपात तक व्यतीत हुए। इसलिए परम दक्षिण गमन तक के लिए शेष दिन रहे १८३/२.२=८६.५.

∴ ८६.५ × २/६१ = १७६.६१ = २.६३४४ मुहुर्त

१२ जोड़ने पर १४.६३४४ मुहूर्त अर्थात् २६.८६८८ घटी या २६ घटी ५२ पल उस दिन का दिनमान हुआ।

इस प्रकार यद्यपि पैतामह सिद्धान्त के लिए वराह मिहिर ने केवल पांच आर्याऐं दी हैं किन्तु इन पांच आर्यायों के माध्यम से वेदांग ज्योतिष के लगभग सभी तत्व आ गए हैं। यह बात इस बात की भी पुष्टि करती है कि ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थ वेदों की रचना के साथ-साथ ही निर्मित हो रहे थे। आधुनिक आचार्यों के भारतीय इतिहास की प्राचीनता के विषय में कुछ भ्रान्त मत होने के कारण हम इन प्राचीन सिद्धान्तों के सही काल का ज्ञान नहीं कर पा रहे हैं। किन्तु अब समय आ गया है, जब पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सिद्धान्त में दिए गए संकेतों के आधार पर ही हम उनका निर्णय करें। पैतामह सिद्धान्त

---

१. तत्रैव, पृ० २४६.
२. तत्रैव, पृ० २४६.

का प्रतिपादन ऐसे समय में हुआ जिस समय विश्व में कहीं भी व्यवस्थित ज्योतिर्वैज्ञानिक गणना उपलब्ध नहीं थी। वस्तुतः भारतीयों ने ही विश्व भर में इस अद्‌भुत ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-प्रसार किया।

३.२ वासिष्ठ सिद्धान्त

पैतामह सिद्धान्त से वासिष्ठ सिद्धान्त पर आने पर भारतीय ज्योतिष में वहुत बड़ा परिवर्तन होता है। जहां पैतामह सिद्धान्त में मध्यममान का गणित था और केवल सूर्य और चन्द्र से संबंधित गणनाऐं थीं, वहीं वासिष्ठ सिद्धान्त में आकर हम स्पष्ट मान के गणित पर पहुँचते हैं। किन्तु स्पष्ट मान का यह गणित, गणित पर उतना आधारित नहीं है जितना कि वेध और छाया पर आधारित है। यही उसकी सवसे बड़ी विशेषता है। स्पष्ट सूर्य, दिनमान, लग्न इत्यादि निकालने के लिए १२ अंगुल के शंकु की छाया का प्रयोग किया गया है जो प्राचीनकालीन ज्योतिर्गणित पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इस समय तक वर्षमान ३६५ सही १/४ दिन हो गया है, जो इस बात का प्रमाण है कि ज्योतिष वासिष्ठ सिद्धान्त तक आते-आते वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हो रहा था। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रहों के विषय में दीर्घकाल तक वेध लेकर के इस सिद्धान्त में उनकी गतियों का निरूपण किया गया है तथा यह भी बताया गया है कि कितने अंतराल के वाद कौन सा ग्रह वक्री होता है, कब मार्गी होता है, और फिर कितने अंतराल पर उसकी गति क्या रहती है, इत्यादि। इसके आधार पर सूर्य, चन्द्रमा के अतिरिक्त अन्य पंच ताराग्रहों के भी स्पष्ट मान व्यावहारिक प्रयोजन के लिए काफी शुद्ध निकाले जा सकते हैं।

पञ्चसिद्धान्तिका का जो संस्करण श्री सुधाकर द्विवेदी और थींवो ने निकाला था, उसमें वे वासिष्ठ सिद्धान्त को विल्कुल नहीं समझ सके। किन्तु कुप्पन्न शास्त्री और के०वी० शर्मा ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ जो संस्करण निकाला, उसमें उन्होंने वासिष्ठ सिद्धान्त के रहस्यों को सम्यक् रूप से खोला है। यद्यपि वासिष्ठ सिद्धान्त भी अन्य सिद्धान्तों जैसे रोमक और पॉलिश से अत्यन्त प्राचीन है किन्तु वह पैतामह सिद्धान्त से काफी बाद में बना होगा और इसका प्रमाण दोनों के वर्षमान हैं। जहां पैतामह सिद्धान्त में ३६६ दिन का वर्षमान आधुनिक वर्षमान के अत्यन्त समीप होने से दोनों सिद्धान्तों के बीच बहुत अन्तराल रहा होगा। वासिष्ठ सिद्धान्त के कुछ मुख्य तत्व निम्न प्रकार के हैं।

३.२.१ स्पष्ट सूर्य

वासिष्ठ सिद्धान्त में स्पष्ट सूर्य निकालने की बड़ी उत्तम और सरल विधि दी हुई है। इसमें ३६५ १/४ दिन के वर्ष को चौथाई दिनों में विभक्त किया गया है और इस प्रकार एक वर्ष के १४६१ चौथाई दिन होते हैं। अनेक वर्षों तक लगातार वेध लेने के पश्चात् इस सिद्धान्त में स्थिर किया गया है कि सूर्य मेष आदि राशियों में क्रमशः १२५, १२६,

१२६, १२६, १२४, १२२, ११६, ११७, ११७, ११८, १२० तथा १२१ (कुल १४६१) चौथाई दिनों में यात्रा करता है। इसका आशय यह हुआ कि सूर्य मेष में ३१.१/४ दिन, वृषभ में ३१. १/२ दिन, मिथुन में ३१. १/२ दिन, कर्क में ३१. १/२ दिन, सिंह में ३१ दिन, कन्या में ३०. १/२ दिन, तुला में २६. ३/४ दिन, वृश्चिक में २६. १/४ दिन, धनु में २६. १/४ दिन, मकर में २६. १/२ दिन, कुम्भ में ३० दिन तथा मीन में ३० १/४ दिन रहता है। इसी के आधार पर उन्होंने स्पष्ट सूर्य निकालने के लिए यह सुन्दर सिद्धान्त प्रतिपादित किया है-

कृतगुणमृतुयुतमेकर्तुमनुहृतं षड्यमेन्दुभिर्विभजेत्।
शशि ख ख ख यमकृत स्वर नव नव वसु षट्क विषयोनैः[1]।।

अहर्गणों को ४ से गुणा करो, उसमें ६ जोड़ों, इसको १४६१ से भाग दो तथा शेष को क्रमशः १२६ प्रति राशि गिनो, जिनमें से क्रमशः १, ०, ०, ०, २, ४, ७, ६, ६, ८, ६ व ५ घटाओ। (१२६ में से इन राशियों को घटाने पर वे ही राशियां १२५ १२६ इत्यादि प्राप्त होती हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका हैं।) ६ जोड़ने की बात इसलिये कही गई है कि इस सिद्धान्त का युगारंभ स्पष्ट मेष संक्राति से १ १/२ दिन बाद प्रारंभ हुआ हैं।

सुधाकर द्विवेदी ने इस श्लोक की व्याख्या करते समय लिखा है-

'अनेन श्लोकेन किं साधयतीति न ज्ञायतेऽत्यशुद्धत्वात्[2]।'

जिससे स्पष्ट है कि उनको इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका तथा थीबो ने यह टिप्पणी दी है- 'अ स्टेंजा ओफ ओब्स्क्योर इंपोर्ट'[3] इससे स्पष्ट है कि दोनों ही वासिष्ठ सिद्धान्त के इस महत्वपूर्ण आधारभूत तत्व को नहीं समझ सके।

उदाहरण

मान लीजिए हमें जन्माष्टमी भाद्रपद कृष्ण अष्टमी शक १९२७, (२६ अगस्त २००५) का स्पष्ट सूर्य निकालना हैं।

चूंकि सिद्धान्त में युगारंभ नहीं दिया गया है, इसलिये हमने १५ अप्रैल २००५ को मध्यान्ह में युगारंभ माना। क्योंकि इससे डेढ़ दिन पूर्व १४ अप्रैल २००५ को शून्य घण्टा ६ मिनिट पर स्पष्ट मेष संक्राति हुई थी।

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका (सं० ६ में उद्धृत), पृ० २५.
२. तत्रैव (सं. ४० में उद्धृत), संस्कृत टिप्पणी, पृ. ७.
३. तत्रैव, पृ. ८

२६ अगस्त २००५ तक के कुल दिवस	= २३८
१ जनवरी से १४ अप्रैल तक के दिवस	= -१०४
२३८-१०४	= १३४
आधे दिन के लिए घटाया	= -१/२
१३४- १/२	= १३३.५
उक्त सिद्धानत के अनुसार १३३. ५ × ४	= ५३४

इसमें ६ जोड़ा = ५४० चौथाई दिवस.

मेष १२५, वृष, मिथुन एवं कर्क १२६ कुल चौथाई दिन हुए ५०३

५४० में से घटाने पर ३७ शेष रहते हैं।

सिंह राशि में सूर्य १२४ चौथाई दिन रहता है, अतः

∴ १२४ चौथाई दिन = ३०°

∴ ३७ चौथाई दिन = ३७ × ३०/१२४ = ८.९५° = सिंह ८°५७'

२६ अगस्त २००५ की लाहिरी की एफेमरीज के अनुसार उस दिन सूर्य का स्पष्ट सिंह में ८° -५५'-३८" हैं। इससे स्पष्ट है कि हजारों वर्ष पहिले वनाया गया यह सिद्धान्त आज के युग में प्रयोग करने पर भी कितना शुद्ध है। यह उनके वेध की वैज्ञानिकता को प्रमाणित करता है।

३.२.२ स्पष्ट चन्द्र

वासिष्ठ सिद्धान्त का स्पष्ट चन्द्र बहुत जटिल है। यद्यपि यह भी वेध पर आधारित है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्राचीन प्रचलित सिद्धान्त का आधार लेकर इसको वनाया गया है। इसमें चन्द्रमा के ३०३१ दिन के मन्द केन्द्रीय चक्र (११० भगण) को लिया गया है, जिसको उन्होंने 'घन' कहा है। इसके बाद मन्द केन्द्र के एक भगण को लिया है, जो २४८/९ दिन का होता है, जिसे उन्होंने 'गति' कहा है तथा उसके पश्चात् दिन के नौवें भाग का ग्रहण किया गया है, जिसको उन्होंने 'पद' कहा है। एक पद में उन्होंने १°-२७ २०९/२४८ की चन्द्रमा की मध्यम गति मानी है और इन्हीं के आधार पर मध्यमान निकालने की प्रक्रिया दी है। मध्यमान निकालने के पश्चात् स्पष्ट मान निकालने के लिए कुछ सूत्र दिए है। यह सारी प्रक्रिया पञ्चसिद्धान्तिका के मूल वासिष्ठ सिद्धान्त में देखी जा सकती है।

३.२.३ नक्षत्र तथा तिथि

चन्द्र स्पष्ट निकालने के बाद नक्षत्र और तिथि निकालने की प्रक्रिया बहुत सरल है। उन्होंने यह बताया है कि २, १/४ नक्षत्र की एक राशि होती है और इसलिए चन्द्र स्पष्ट

में ९ का गुणा कर ४ का भाग देने की बात कही गई है। ऐसा करने पर राशियों के स्थान पर जो अंक आये, वह गत नक्षत्र होगा और अंशों के स्थान पर जो अंक आये वह उस नक्षत्र का गत मुहूर्त होगा। यह इसलिए ठीक है क्योंकि जिस प्रकार ३०° की एक राशि होती है, उसी प्रकार ३० मुहूर्त का एक नक्षत्र होता है। इसलिए अंश और मुहूर्त का साम्य रखा गया है।

तिथि के विषय में यह बताया गया है कि चन्द्रमा के स्पष्ट मान में से सूर्य का स्पष्ट मान घटाइये तथा इसमें ५ का गुणा कर २ का भाग दीजिए। जो अंक राशियों के स्थान पर आयेगा वह गत तिथि है तथा जो अंक अंश के स्थान पर आयेगा वह गत मुहूर्त है। यह गणना स्थूल ही है किन्तु व्यावहारिक प्रयोजन के लिए पर्याप्त है। क्योंकि यहां पर एक तिथि को भी ३० मुहूर्त का माना गया है।

३.२.४ दिनमान

दिनमान निकालने के लिए इस सिद्धान्त में आधार वही लिया गया है जो पैतामह सिद्धान्त में है। अर्थात् सूर्य की परमोत्तर स्थिति में १८ मुहूर्त का दिनमान होता है और परम दक्षिण स्थिति में १२ मुहूर्त का दिनमान होता है। किन्तु इसका विवरण उन्होंने सूर्य की संक्रान्तियों के आधार पर दिया है। अर्थात् सूर्य के मेष आदि राशियों में रहते हुए कितना दिनमान होगा, यह गणित बताया गया है। सिद्धान्त इस प्रकार है-

मकरादौ गुणयुक्तो मेषादौ तिथियुतो रविर्दिवसः।
कर्कटकादिषु सत्सु त्रयस्त्रिका शर्वरीमानम्[1]।।

अर्थात् सूर्य जब मकर आदि तीन राशियों में रहे तब गत राशि में ३ जोड़ने पर दिनमान आता है, मेष आदि तीन राशियों में रहने पर १५ जोड़ने पर दिनमान आता है। किन्तु कर्क आदि ६ राशियों में जब सूर्य रहता है तो गत राशि में ९ जोड़ने पर रात्रिमान आता है। अतः दिनमान निकालने के लिए इसे ३० में से घटाना चाहिये। उक्त व्याख्या के अनुसार सूर्य की प्रत्येक संक्रांति में निम्नानुसार दिनमान रहता है-

मेष	०+१५	=	१५ मुहूर्त
वृषभ	१+१५	=	१६ मुहूर्त
मिथुन	२+१५	=	१७ मुहूर्त
कर्कट	३०-(३+९)	=	१८ मुहूर्त
सिंह	३०-(४+९)	=	१७ मुहूर्त

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका (सू० ६ में उद्धृत), (११.८ पृ० ३४).

कन्या	३०-(५+६)	=	१६ मुहूर्त
तुला	३०-(६+६)	=	१५ मुहूर्त
वृश्चिक	३०-(७+६)	=	१४ मुहूर्त
धनु	३०-(८+६)	=	१३ मुहूर्त
मकर	६+३	=	१२ मुहूर्त
कुम्भ	१०+३	=	१३ मुहूर्त
मीन	११+३	=	१४ मुहूर्त

३.२.५ शंकु की छाया से सूर्य स्पष्ट निकालना

कर्कटकादिषु भुक्तं द्विगुणं माध्यन्दिनी छायाम्।
मकरादिषु चाप्येवं कि चास्मिन्मण्डलाच्छोध्यम्।।
मध्याह्नच्छायार्धं सत्रिभमर्कोऽयने भवेद्याम्ये।
उदगयने संशोध्यं पंचदशभ्यो रविर्भवति'।।

'जब सूर्य कर्क आदि ६ राशियों में हो तो कर्क से जितनी राशियां व्यतीत हुई हैं, उसका २ से गुणा करो तो मध्याह्न की छाया प्राप्त होती है। जब सूर्य मकर आदि ६ राशियों में हो तो भी गत राशियों को २ से गुणा करो किन्तु इसे १२ में से घटाओ, उतने ही अंगुल शंकु की छाया रहती है।'

'जब सूर्य दक्षिणायन की ओर गमन कर रहा हो तो मध्याह्न छाया के आधे में ३ जोड़ने पर सूर्य की राशियां प्राप्त होती हैं। जब सूर्य उत्तरायण के मार्ग में हो तो १५ में से मध्यान्ह छाया का आधा घटाने पर सूर्य की राशियां प्राप्त होती हैं।'

---

१. तत्रैव, (११.६-१०) पृ० ३५.
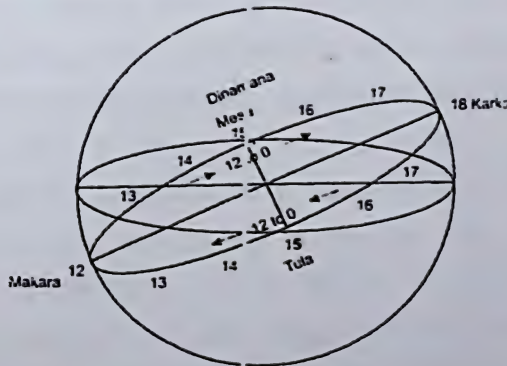
यह अत्यन्त ही स्थूल सिद्धान्त है तथा केवल व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए है। इसके अनुसार जब सूर्य की क्रान्ति २४° उत्तर को होती है तो मध्याह्न शंकु की छाया शून्य होती है और यह प्रति राशि दो अंगुल बढ़ती है। इस प्रकार कर्क राशि के अंत में यह छाया १ × २ = २ अंगुल रहती है, सिंह के अंत में ४ अंगुल तथा कन्या के अंत में ६ अंगुल। सूर्य के परम दक्षिण विन्दु पर यह छाया १२ अंगुल रहती है और प्रति राशि २ अंगुल कम होती जाती है। इस प्रकार मकर के अंत में १० अंगुल, कुम्भ के अंत में ८ अंगुल तथा मीन के अंत में ६ अंगुल मध्याह्न छाया रहती है। सम्पात बिन्दुओं पर छाया ६ अंगुल रहती है।

इसी के आधार पर छाया से सूर्य की राशि निकालने का सिद्धान्त दिया गया है। जब सूर्य दक्षिणायन को गमन कर रहा होता है तो मध्याह्न छाया में २ का भाग देने से कर्क आदि सूर्य की राशि आ जाती है और इसलिए ३+ छाया/२ = सूर्य की राशि यह सिद्धान्त दिया गया है। जब सूर्य उत्तर की यात्रा कर रहा होता है तो १२ में से मध्याह्न सूर्य की छाया/२ घटाने पर तथा उसे १५ में से घटाने पर सूर्य की राशि आती है। जैसे परम दक्षिण विन्दु पर सूर्य की छाया १२ रहती है तो १५-१२/२ = ९ यह सूर्य की राशि हुई।

इसी प्रकार इस सिद्धान्त में छाया के आधार पर लग्न और लग्न के आधार पर शंकु की छाया निकालने का सिद्धान्त भी दिया गया है। आशय यह है कि धार्मिक प्रयोजनों के लिए तथा ज्योतिष सम्बन्धी गणना के लिए इस छाया वेध के द्वारा सभी आवश्यक क्रियाऐं की जा सकती थीं। यही इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता है।

३.२.६ ग्रहों के उदयास्त तथा स्फुटीकरण

इस सिद्धान्त की एक और विशेषता यह है कि इसमें भौम आदि पांच ग्रहों के वेध के आधार पर उनकी गतियां दी गई हैं तथा उनके वक्री और मार्गी होने के काल भी दिये गये हैं। इसके आधार पर थोड़ी सी गणना करने पर इन ग्रहों के वेध आधारित स्पष्ट किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए शुक्र के विषय में इस सिद्धान्त में यह बताया गया है कि-

"(१) अहर्गण में से १७४ घटाईये तथा ५८४ से भाग दीजिए, जो भागफल आयेगा, उतने शुक्र के उदय होंगे। इस अवधि में शुक्र का भोग ७°-५°-३०'-२०" होता है।

(२) कन्या में २६° जाने पर शुक्र पूर्व की ओर उदय होता है।

(३) ६०-६० दिन की तीन अवधियों शुक्र क्रमशः ७४°, ७३° और ७२° चलता है। ४० दिन में यह ३२° चलता है तथा १७ दिन में ५, १/४ अंश। इस प्रकार २३७ दिन में २५६ १/४ डिग्री चलता है।

(४) यहां से वक्री हो जाता है। अगले १५ दिन में २° इसके आगे ५ दिन में २° इसके बाद पश्चिम में अस्त हो जाता है तथा १० दिन बाद पूर्व में उदय होता है। अपनी वक्र गति के २० दिन में सूर्य ४° चलता है।

(५) इसके बाद मार्गी गति में विपरीत गति और दिनों के क्रम से शुक्र पश्चिम में अस्त हो जाता है। उसके बाद ६० दिन में २५° चलकर पश्चिम में उदय हो जाता है। इसका आशय यह है कि २३७+६०=३२७ दिन के चक्र में वह सूर्य के साथ संक्रमण करता है।"

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कितना विस्तारपूर्वक तथा सूक्ष्म वेध इस सिद्धान्त ने लिया है। यह इसलिये भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि वेबीलोनिया के ज्योतिर्विज्ञान को इस आधार पर सराहा जाता है कि उसमें शुक्र के कोष्ठक दिए गए हैं। किन्तु वासिष्ठ सिद्धान्त में तो इस प्रकार के वेध आधारित कोष्टक सभी ग्रहों के दिए हुए हैं जबकि वासिष्ठ सिद्धान्त वेबीलोनिया के ज्योतिर्गणित से अत्यन्त प्राचीन है।

३.३ रोमक सिद्धान्त

वराह मिहिर ने अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका' का प्रारंभ वस्तुतः रोमक सिद्धान्त से ही किया है जिसके सभी महत्वपूर्ण तत्त्व पहले अध्याय में ही हैं। पहले उन्होंने अहर्गण निकालने की प्रक्रिया बताई है तथा युगारंभ, चैत्र शुक्ला प्रतिपदा शक ४२७ सोमवार माना है। युग के महत्वपूर्ण तत्वों को उन्होंने आगे १४वीं और १६वीं आर्या में बताया है।

रोमक युगमर्केन्द्वोर्वर्षाण्याकाशपंचवसुपक्षाः।
खेन्द्रियदिशोऽधिमासा स्वरकृतविषयाष्टयः प्रलयाः।।[1]

'रोमक सिद्धान्त का सौर चान्द्र युग २८५० सौर वर्षों का होता है। इसमें १०५० अधिमास होते हैं और १६५४७ क्षय तिथियां होती हैं।'

जहां तक अन्य तत्वों का सवाल है, सौर वर्षों को १२ से गुणा करने पर सौर मास आ जाते हैं, उनमें अधिमास जोड़ने पर चान्द्र मास आ जाते हैं तथा इन चान्द्र मासों में ३० का गुणा करने पर तिथियां आ जाती हैं और इन तिथियों में से यदि आप क्षय तिथियां घटा देते हैं तो सावन दिन आ जाते हैं। इस प्रकार रोमक सिद्धान्त के सभी युगीन मान निम्नानुसार बनते हैं-

२८५० वर्ष के एक युग में-

१. सूर्य भगण २८५०

---

१. तत्रैव, (१.१५) पृ० १५.

२.	चन्द्र भगण	३८१००
३.	चन्द्रोच्च५४	३२२ २२८/३०३१
४.	राहु	१५३ २६८८६/१६३१११
५.	सौर मास	३४२००
६.	अधिमास	१०५०
७.	चान्द्र मास	३५२५०
८.	तिथियां	१०५७५००
६.	क्षय तिथियां	१६५४७
१०.	सावन दिन	१०४०६५३

इनमें से कुछ आंकड़े पञ्चसिद्धान्तिका के अध्याय ८ के लिये गये हैं, जिसमें रोमक सिद्धान्त के अनुसार सूर्यग्रहण का विवरण दिया गया है।

३.३.१ अहर्गण

अहर्गण की वही प्रक्रिया दी गई है जो सूर्य सिद्धान्त आदि में है। अधिमास और क्षय तिथियां इस सिद्धान्त के अनुसार ली गई हैं इस सिद्धान्त में गणना के सौकर्य के लिए कुछ छोटी संख्याऐं दी हुई हैं। संभवतः रोमक सिद्धान्त के आचार्य का यह मत प्रतीत होता है कि गणना के लिए जितनी छोटी संख्या हो उतना अच्छा। किन्तु इससे गणना की सूक्ष्मता चली जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमनें भाद्रपद कृष्ण अष्टमी शक ४२७ (अर्थात् २६/८/२००५) का अहर्गण निकाला, जो ५४७६६२ आता है। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार यही अहर्गण ५४८०२१ दिन आता है। इस प्रकार दोनों में २६ दिन का अन्तर इस १५०० वर्ष की अवधि में हो जाता है। इसका मुख्य कारण रोमक सिद्धान्त द्वारा स्वीकार किया हुआ गलत वर्षमान है। रोमक सिद्धान्त का वर्षमान ३६५ दिन १४ घटी ४८ पल है जबकि सूर्य सिद्धान्त आदि का वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल है। इससे यह तो स्पष्ट है कि रोमक सिद्धान्त का वर्षमान साम्पातिक है और यह तत्व संभवतः रोमक सिद्धान्त के आचार्य ने यूनानी परंपरा से लिया है। किन्तु भारतीय पद्धति में नक्षत्र वर्ष का प्रयोग करने पर ही शुद्ध सूर्य और चन्द्र स्पष्ट निकाले जा सकते हैं और इसलिये रोमक सिद्धान्त के अनुसार रोमक के अहर्गण के आधार पर वर्तमान में सूर्य या चन्द्र का कोई भी मध्यमान या स्पष्ट मान सही नहीं आता। इसी कारण से तिथि, नक्षत्र, योग, करण इत्यादि कुछ भी शुद्ध नहीं आता।

३.३.२ मध्यम एवं स्पष्ट सूर्य और चन्द्र

तथापि रोमक सिद्धान्त में मध्यम सूर्य और मध्यम चन्द्र की प्रक्रियाऐं दी गई हैं।

उदाहरण के लिए मध्यम सूर्य के लिए यह बताया गया है कि अहर्गण को १५० से गुणा करो, उसमें से ६५ घटाओ तथा उसमें ५४७८७ का भाग दो तो मध्यम सूर्य आयेगा। इसी प्रकार मध्यम चन्द्र के लिए यह वताया गया है कि अहर्गण में ३८१०० का गुणा करो, उसमें १६८४ घटाओ और १०४०६५३ से भाग दो तो मध्यम चन्द्र आयेगा। ये प्रक्रियाएँ उसी प्रकार की है जिस प्रकार सूर्य सिद्धान्त इत्यादि में हैं। किन्तु इनके आधार पर मध्यम चन्द्र या मध्यम सूर्य निकालने पर शुद्ध मान नहीं आता। उदाहरण के लिए भाद्रपद कृष्णा अष्टमी शक १६२७ का मध्यम सूर्य रोमक सिद्धान्त के अनुसार १२०°-४८'-२२" आता है जबकि सूर्य सिद्धान्त के अनुसार इस दिन का मध्यम सूर्य १३०°-२५'-३" आता हैं। इस प्रकार रोमक के अनुसार मध्यम चन्द्र ४७°-२२'४०" आता है तो सूर्य सिद्धान्त के अनुसार २८°-०'-४५" आता है। अतः स्पष्ट है कि रोमक सिद्धान्त द्वारा लाये गये चन्द्र और सूर्य के मध्यम मान वहुत अशुद्ध आते हैं।

इसी प्रकार स्पष्ट सूर्य और चन्द्रमा निकालने के लिए इस सिद्धान्त में मन्द केन्द्र की आधी-आधी राशियों के लिए मन्दफल दिए हुए हैं। ये मन्दफल आचार्य ने किसी कोष्टक से ग्रहण किए हैं। इनके अनुसार पहली तीन राशियों में ये ऋणात्मक होते हैं, दूसरी तीन राशियों में ये धनात्मक होते हैं, तीसरी तीन राशियों में ये पुनः धनात्मक होते हैं तथा चौथी तीन राशियों में फिर ऋणात्मक होते हैं। इनका क्रम भी अलग-अलग होता है। अर्थात् पहली तीन राशियों में सीधे गणना होती है, दूसरी तीन राशियों में विपरीत गणना होती है, तीसरी तीन राशियों में सीधी गणना होती है और चौथी तीन राशियों में फिर विपरीत गणना होती है। इस प्रकार मन्दफल लाने के लिए प्रत्यक्षतः मन्द परिधि का उपयोग इनमें दिखाई नहीं देता किन्तु आचार्य ने जो मन्दफल दिए हैं, उनका आधार कोई मन्द परिधि की कल्पना ही लगती है, या फिर सीधे ही किन्हीं कोष्ठकों से लिया गया है। इन मन्दफलों के आधार पर जो स्पष्ट सूर्य और चन्द्रमा आते हैं, वे भी अशुद्ध आते हैं। स्पष्ट है कि जब चन्द्र और सूर्य का स्पष्ट मान ही शुद्ध नहीं है तो तिथि, नक्षत्र आदि भी शुद्ध नहीं हो सकते।

इस सिद्धान्त में सूर्य और चन्द्र की दैनिक गतियां निकालने की पद्धति भी दी गई है। इसमें सूर्य की दैनिक मध्यम गति ५६'-८" तथा चन्द्रमा की दैनिंक मध्यम गति ७६०' मानी गई है तथा इसे स्पष्ट करने के लिए उन्हीं मन्दफलों का प्रयोग करने की बात कही गई है जो सूर्य के स्पष्टीकरण में प्रयोग में लाये जाते हैं।

३.३.३ रोमक सिद्धान्त कितना देशी कितना विदेशी?

यद्यपि हमारी परम्परा इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती है कि रोमक सिद्धान्त रोमक देश में ही बना और भगवान सूर्य को शाप के कारण यवन देश में जन्म

लेना पड़ा वहां इस सिद्धान्त का उपदेश किया। इस परम्परा से तथा सिद्धान्त के नाम से यह तो स्पष्ट है कि रोमक सिद्धान्त विदेशी मूल का है, किन्तु इसके आधार पर विद्वानों ने जो यह निष्कर्ष दिया कि भारतीय ज्योतिष पर यूनानी ज्योतिष का प्रभाव है, यह बात सही प्रतीत नहीं होती। सूर्य सिद्धान्त के प्रसिद्ध अनुवादक बर्जेस ने ग्रन्थ के अन्त में अपनी टिप्पणी में यह प्रश्न ठीक ही उठाया है कि यद्यपि कुछ विद्वान ये कहते आये हैं कि भारतीय ज्योतिष पर ग्रीक ज्योतिष का प्रभाव है, किन्तु यह कोई नहीं बताता कि यह प्रभाव क्या है? या कि किस सीमा तक कौन सा तत्व भारतीय ज्योतिष ने यूनान से लिया है? उनका मानना है कि किसी भी मामले में दोनों सिद्धान्तों के तत्व नहीं मिलते और जहां तक कुछ महत्वपूर्ण तत्वों का सवाल हे, उदाहरण के तौर पर अयन की वार्षिक गति या कि सूर्य और चन्द्रमा के विम्बों का माप या कि सूर्य का अधिकतम मन्दफल, इन सभी मामलों में यूनानियों की अपेक्षा हिन्दुओं के मान अधिक शुद्ध हैं।[1]

बर्जेस की इस टिप्पणी के प्रकाश में यदि हम दोनों देशों के कुछ सिद्धान्तों पर नजर डालें तो बात और स्पष्ट हो जायेगी-

१. ग्रहों के स्पष्टीकरण के लिए मन्द परिधि की प्रक्रिया भारत की एक विशेष पद्धति है किन्तु रोमक सिद्धान्त में वह नहीं है। लेकिन टॉलेमी के सिद्धान्त में वह है। टॉलेमी ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए और टॉलेमी का सिद्धान्त निश्चित रूप में रोमक सिद्धान्त के बाद का है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि यूनान ने भारत से मन्द परिधि का सिद्धान्त लिया क्योंकि टॉलेमी से पूर्व के हिप्पार्कस के पास यह सिद्धान्त नहीं था तथा रोमक में भी मन्द परिधि का सिद्धान्त नहीं है।

२. रोमक सिद्धान्त की अहर्गण पद्धति शुद्ध रूप से भारतीय है, इसमें अधिमास हैं, क्षय तिथियां हैं, चान्द्र मास हैं तथा सम्पूर्ण पद्धति ठीक वैसी ही है जैसी सूर्य सिद्धान्त आदि में है। अतः इस पद्धति के विदेशी होने का प्रश्न नहीं उठता।

३. रोमक ने ३०३१ दिन में चन्द्रमा के मन्द केन्द्र के ११० भगण होने के सिद्धान्त को वासिष्ठ सिद्धान्त से लिया है।

४. जिसे जूलियन केलेण्डर कहा जाता है, उसका वर्षमान ३६५.२५ दिन का होता है। यह वर्षमान भी वासिष्ठ सिद्धान्त से लिया गया है।

५. वर्षमान का सिद्धान्त रोमक का अपना है किन्तु इसके कारण गणित में अशुद्धियां ही हुई है। एक छोटी अवधि के लिए रोमक सिद्धान्त सही परिणाम दे सकता है पर किसी भी लम्बी अवधि के लिए उसके परिणाम सही नहीं आते। वर्षमान के अलावा सूर्य का परम मन्दफल तथा अयनांश भी रोमक सिद्धान्त के अशुद्ध हैं। ये अशुद्ध तत्व संभवतः उन्होंने अपनी परंपरा से लिए हैं। कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है

---

१. सूर्यसिद्धान्तः बर्जेस का अनुवाद, इन्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली, १६७७, पृ० ३६२.

कि रोमक सिद्धान्त के आचार्य ने अपनी देशज परंपरा में भारतीय सिद्धान्तों को मिलाकर एक ऐसा सिद्धान्त बनाया, जो छोटे काल के व्यावहारिक प्रयोजन के लिए ठीक था किन्तु उसके देशज तत्व अशुद्ध होने के कारण किसी भी लम्बी अवधि के लिए वह ठीक नहीं रहा। इसके संबंध में पौलिश सिद्धान्त के आचार्य ने ठीक ही लिखा है-

मार्गादपेतमेतत् काले लघुता न तावदतिदूरे।
सविषयभूताष्टरसैरब्दैः पश्यास्य विनिपातम्[1]**।।**

'यह रोमक सिद्धान्त थोड़े ही दिनों में अपने रास्ते से भटक गया, केवल ६८५५ वर्षों में इसका पतन तो देखो।'

३.३.४ रोमक सिद्धान्त के काल का अनुमान

रोमक सिद्धान्त के विषय में पुलिशाचार्य ने दो महत्वपूर्ण संकेत दिए हैं और उनसे इस सिद्धान्त के काल निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है। उनमें से एक श्लोक तो ऊपर उद्‌धृत किया गया है तथा दूसरा इस प्रकार है-

रोमकमहर्गणं पादमर्कमिन्दुं च गणयता ग्राह्या।
चैत्रस्य पौर्णमास्यां नवमी नक्षत्रमादित्यम्।।

'रोमक के अहर्गण को ग्रहण करते समय सूर्य और चन्द्र में एक पाद अर्थात् ९०° जोड़ देना चाहिये अन्यथा चैत्र मास की पूर्णमासी को चित्रा नक्षत्र के स्थान पर नवमीं का पुनर्वसु नक्षत्र आ जायेगा।'

इन दोनों कारिकाओं के विषय में सुधाकर द्विवेदी तथा थीबो ने लिखा है उससे स्पष्ट है कि वे इन दोनों का आशय नहीं समझ पाये। अपनी संस्कृत टीका में सुधाकर द्विवेदी ने रोमक सिद्धान्त की ६ आर्याओं के विषय में यह टिप्पणी दी है-

(३२-३७) इदानीमस्मिन्नध्याये विशेषमाह। तिथि नक्षत्रेत्यादि। अत्राशुद्‌ध्याधिक्यादानुपूर्व्या सर्वेषामाशयो न विदितो भवति।[2]

इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इन कारिकाओं का आशय उनको स्पष्ट नहीं है। यही बात थीबो ने भी लिखी है- "३२-३७ सिक्स स्टेंजाज ऑफ ओबस्क्योर इंपोर्ट। वी०आर० अनेविल टु एगलिसिट, फ्रोम द टेक्स्ट कोनेक्टेड मीनिंग।[3]

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका (सं० ६ में उद्‌धृत), पृ० ७१.
२. पञ्चसिद्धान्तिका (सं० ४० में उद्‌धृत), संस्कृत टीप, पृ० १६.
३. तत्रैव, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० २१.

किन्तु कुप्पन्न शास्त्री और के०वी० शर्मा ने जो संस्करण दिया है, उससे इनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है रोमक का वर्षमान साम्पातिक होने से अशुद्ध है और इसके कारण तिथि, नक्षत्र शुद्ध नहीं आ सकते। पुलिशाचार्य ने ६८५५ वर्ष में यह अशुद्धि ६ ३/४ नक्षत्र के बराबर बताई है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत है। पुनर्वसु से चित्रा के अंत तक ९०° का अन्तर होता है। अगर ९० में ६८५५ का भाग दें तो प्रतिवर्ष ४८'' की गति आती है। यह अयनांश गति के बराबर है और इसलिए यह स्पष्ट होता है कि रोमक सिद्धान्त के समय अयनांश ९०° था। इसलिये उसके अहर्गण में सूर्य और चन्द्रमा के लिए अगर ९०° जोड़कर गणना करेंगे तो चैत्र की पूर्णिमा को पुनर्वसु के स्थान पर चित्रा नक्षत्र ही आयेगा। दूसरा संकेत जो उन्होंने ६८५५ वर्ष का दिया है, उसके संवंध में यह विचार योग्य है कि ये ६८५५ वर्ष कबसे माने जायें। जिस प्रकार वर्तमान में कलियुगारंभ से अहर्गण निकालकर ग्रहों की गणना की जाती है तथा जिस प्रकार सूर्य सिद्धान्त में गत कृत युग के अंत में युगारंभ मानकर ग्रह गणना की बात की गई है, उसी प्रकार रोमक और पौलिश सिद्धान्त के समय गणना का आधार संभवतः वह वर्ष था जब चित्रा में सम्पात था। इसका संकेत कात्यायन शुल्बसूत्र की कर्काचार्य की व्याख्या में दिया गया है-

दक्षिणायने तु चित्रां यावदादित्य उपसर्जति।
उदगयने स्वातिमेति। विषुवतीये त्वहनि चित्रास्वात्योर्मध्य एवोदयः'[1]।

'दक्षिणायन में सूर्य चित्रा पर्यन्त गमन करता है, उत्तरायण में वह स्वाति में आ जाता है किन्तु विषुवतीय दिवस (अर्थात् वसंत सम्पात) को वह चित्रा व स्वाति के बीच में रहता है। यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक काल में उदगयन का अर्थ सूर्य के विषुवत् वृत्त से उत्तर में भ्रमण से था तथा दक्षिणायन का अर्थ विषुवत वृत्त से दक्षिण में भ्रमण से, और इसलिये सम्पात के दिन चित्रा में सूर्य के होने की बात कही गई है। मैंने इसकी गणना की है तथा यह काल ईसा पूर्व १२९०० आता है। इसमें से ६८५५ घटा दिए जायें तो ६०४५ ई० पू० रोमक/पौलिश सिद्धान्त का काल ठहरता है। अयनांश के मान से गणना करने पर यह काल ९०°/४६.०'' = ६११३ ई०पू० सिद्ध होता है। इस प्रकार रोमक सिद्धान्त का काल उसके आभ्यन्तर साक्ष्य से ६१०० ई०पू० के आसपास ठहरता है। इससे हम यह समझ सकते हैं कि रोमक सिद्धान्त ने सूर्य का मन्दोच्च ७५° क्यों लिया जबकि यदि वह ईस्वी सन् के आसपास रहा होता तो ७७° मन्दोच्च ग्रहण करता तथा यदि उसे यूनान का ही मान लेना होता तो ६५°-३०' लिया होता, जिसको की टॉलेमी ने ग्रहण किया। ७५° सूर्य का मन्दोच्च लेना सिद्धान्त के अत्यन्त प्राचीन होने का प्रमाण है।

---

१. कात्यायन शुल्वसूत्रः कर्काचार्य भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, पृ० १.

यद्यपि यह काल निर्धारण आधुनिक विद्वानों को अटपटा सा लग सकता है किन्तु इसके पीछे आभ्यन्तर गणितीय प्रमाण हैं। इससे पूर्व थीवो या शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इसके काल निर्धारण के संवंध में जो तर्क दिये है, वे सभी युक्ति शून्य हैं। थीवो ने जो इसका काल ४०० ई० के आसपास दिया है, उसके पीछे उन्होंने कोई तर्क नहीं दिया तथा हम यह भी जानते कि वासिष्ट और पौलिश सिद्धान्त के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंशों को थीवो नहीं समझ सका। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने भी युगीन धारा में बहते हुए हिप्पार्कस के आधार पर इसका काल लगभग १५० ई०पू० माना और इसका एकमात्र आधार यह माना कि हिप्पार्कस में वर्षमान रोमक के वर्षमान से मिलते है। किन्तु उन्होंने यह भी लिखा- 'सम्प्रति हिप्पार्कस का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है पर मान्य यूरोपियन ज्योतिषियों का कथन है कि उन्होंने केवल सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति लाने के लिए कोष्टक वनाए थे, ग्रह साधन के नहीं।'[1] इससे स्पष्ट है कि बिना किसी आधार के हिप्पार्कस से रोमक सिद्धान्त को जोड़ दिया गया है। जब उसका कोई ग्रन्थ ही नहीं मिलता तो तुलना के लिए कोई आधार ही शेष नहीं रहता तथा एकमात्र वर्षमान के मिल जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि रोमक सिद्धान्त पर हिप्पार्कस का प्रभाव है। यह भी तो हो सकता है कि हिप्पार्कस ने रोमक सिद्धान्त से अपना वर्षमान लिया हो।

३.४ पौलिश सिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका का तीसरा अध्याय, पांचवा, सातवां, छटा तथा अठारहवा पौलिश सिद्धान्त के लिए समर्पित है। आचार्य बराह मिहिर ने इस सिद्धान्त का अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। जहां तक युगमानों का सवाल है, पौलिश सिद्धान्त के युगमान उस तरह नहीं दिए गए हैं, जिस तरह रोमक या सौर सिद्धान्त के दिए गए हैं। किन्तु जिन आर्याओं में सूर्य एवं राहु की गति दी गई है, उसके आधार पर पौलिश सिद्धान्त का वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३० पल है तथा ४३२०००० के एक महायुग में १५७७९१६००० सावन दिन होते हैं। राहु के एक युग में भगण २३२२२७ से कुछ अधिक होते हैं।

अहर्गण निकालने की इसकी पद्धति रोमम सिद्धान्त जैसी है, किन्तु इसमें कुछ संशोधन किया गया है। चूंकि इसका वर्षमान शुद्ध है इसलिये इसके अहर्गण भी शुद्ध आते हैं। हमने २६ अगस्त २००५ का अहर्गण पौलिश सिद्धान्त के अनुसार निकाला तो वह ५४८०२१ आता है। यही अहर्गण सौर सिद्धान्त से भी आता है। अतः इसे शुद्ध माना जाना चाहिये, क्योंकि इसके आधार पर जो मध्यम और स्पष्ट सूर्य निकाले जाते हैं, वे सही आते हैं।

---

१. भारतीय ज्योतिष (ऊपर उद्धृत), पृ० २१९

३.४.१ मध्यम तथा स्पष्ट सूर्य

खार्कध्नेऽग्निहुताशनमपास्य रूपाग्निवसुहुताशकृतैः।
हूत्वा क्रमाद् दिनेशो मध्यः केन्द्रं सविंशांशम्[1] ।।

'अहर्गणों को १२० से गुणा करो, उसमें से ३३ घटाओ और ४३८३१ से भाग दो तो मध्यम सूर्य आ जाता है। इस मध्यम सूर्य में २०° जोड़ने पर सूर्य का मन्द केन्द्र आ जाता है।'

पौलिश सिद्धान्त की यह अपनी विशेषता है कि इसमें मन्द केन्द्र मध्यम सूर्य में २०° जोड़ने से ही आ जाता है। सामान्यतया मन्दोच्च में से मध्यम ग्रह घटाने से मन्द केन्द्र आता है।

हमारे उदाहरण में अहर्गण ५४८०२१ आया, इसमें १२० से गुणा करने पर तथा उसमें से ३३ घटाकर ४३८३१ से भाग देने पर मध्यम सूर्य निम्नानुसार आता है-

५४८०२१ x १२० = ६५७६२५२०-३३ = ६५७६२४८७ ÷ ४३८३१

= (१५००). ३४६७ = (१५००) १३१°-१८'-२५" ४ˢ-११°-१८'.२५"

चूंकि ४३८३१ दिन में सूर्य के १२० भगण होते हैं, इसी के आधार पर ४३८३१/१२० = ३६५.२५८३३ = ३६५ दिन १५ घड़ी ३० पल यह वर्षमान पौलिश सिद्धान्त के अनुसार हुआ।

३.४.२ स्पष्ट सूर्य

स्पष्ट सूर्य के लिये पौलिश सिद्धान्त में ६ राशियों के लिए मन्दफल दिए हैं, जो क्रमशः ११, ४८, ६६, ७०, ५४ तथा २६ हैं। अगली ६ राशियों के लिए ये मन्दफल १०, ४८, ७०, ७१, ५४, तथा २५ दिए गए हैं। पहली ६ राशियों के लिए ये ऋणात्मक हैं तथा अगली ६ राशियों के लिए ये धनात्मक हैं। इस प्रकार सूर्य के स्पष्टीकरण की प्रक्रिया पौलिश सिद्धान्त में अत्यन्त सरल है। अपने उदाहरण में हमने सूर्य का स्पष्ट किया तो यह ४s.६° .१३'.१८" आया। जबकि उसी दिन का लाहिरी की एफेमरीस के अनुसार स्पष्ट सूर्य ४s.६°.३३'.२३" हैं।

सूर्य की दैनिक गति के लिए इस सिद्धान्त में कोई सूत्र नहीं दिया हुआ है अपितु मेष से प्रारंभ कर प्रत्येक माह में सूर्य की गति कितनी होती है, यह दिया गया है। इसके अनुसार मेषादि मासों में ये गतियां क्रमशः ५८', ५७', ५७', ५७', ५८', ५६', ६१', ६१', ६१', ६१', ६०', तथा ५६' होती हैं।

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका (सं० ६ में उद्धृत), (१११.३) पृ० ४०.

३.४.३ मध्यम एवं स्पष्ट चन्द्र

चन्द्रमा के मध्यम मान और उसके स्पष्टीकरण के लिए इस सिद्धान्त में भी वासिष्ट सिद्धान्त की भांति घन, गति तथा पद का प्रयोग किया गया है जो कि चन्द्रमा की मन्दकेन्द्रीय गति पर आधारित हैं तथा इसकी प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। किन्तु इसका परिणाम शुद्ध आता है। (२६/८/२००५) जन्माष्टमी के लिए हमनें चन्द्रमा का स्पष्ट मान निकाला तो यह १s-०°-१३' आया तथा उसी दिन का लाहिरी की एफेमेरीज का चन्द्रमा का स्पष्ट मान १s-१°-२५'.५६' है। अतः इतने प्राचीन सिद्धान्त के सन्दर्भ में यह शुद्ध ही माना जायेगा।

स्पष्ट चन्द्र से नक्षत्र, तिथि और करण निकालने की प्रक्रियाऐं वे ही हैं, जो वर्तमान में प्रचलित हैं। एक नक्षत्र ८००' का होता है, अतः चन्द्रमा के भोग में ८०० का भाग देने पर नक्षत्र आता है। एक तिथि ७२०' की होती है, इसलिये चन्द्रमा और सूर्य के भोगों का जो अन्तर है, उसमें ७२० का भाग देने से तिथि आती है तथा आधी तिथि का एक करण होता है।

३.४.४ व्यतिपात एवं वैधृति योग

पौलिश सिद्धान्त का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व यह 'व्यतिपात' और 'वैधृति' है। इसके आधार पर इस सिद्धान्त के काल का भी संकेत मिलता है।

अर्केन्दुयोगचक्रे वैधृतमुक्तं दशर्क्ष-सहितेषु।
यदि चक्रं व्यतिपातो वेलामृग्यार्पितैर्भागैः[1]।।

अर्केन्दुयोगचक्रे वैधृतमुक्तम्। दशर्क्ष सहितेषु यदिचक्रं, व्यतिपातः। वेला अर्पितैः भागैः मृग्या इत्यस्य श्लोकस्यान्वयः।

अयमाशयः, अर्केन्दोः सूर्यचन्द्रमसोः योगस्य तयोर्भोगस्य योगस्य पूर्णचक्रतां द्वादशराशिमितत्वं सप्तविंशतिनक्षत्रतां वा प्राप्ते वैधृतंनाम योगम्। (परन्तु) यदि दशनक्षत्रसहितेषु दशनक्षत्रमितभोगं योजिते सति चक्रं षष्ट्युत्तरत्रिंशदंशात्मिकतां याति तदा व्यतिपातो भवति। तयो र्वेला-समयः अर्पितैः दत्तैः भागैरंशैर्मृग्या अन्वेषणीयाः। यदि तयोर्योगः निरयनगणनया सप्तदशनक्षत्रात्मको विद्यते, तस्मिन् अयनांशानां दशनक्षत्रमितभोगं योजिते सति यदि चक्रं पूर्णतामेति तदा वैधृतस्थाने व्यतिपातो भवति। पैतामहसिद्धान्तप्रसंगेऽपि अस्माभिर्दृष्टम् यत् तस्मिन् काले पंचनक्षत्रात्मक अयनांशकारणात् सप्तदशे नक्षत्रे व्यतिपात आसीत् 'अर्कध्ने व्यतिपाता द्युगणैः पंचाम्बरहुताशै रिति'। (अस्मद् व्याख्या)

'जब सूर्य और चन्द्रमा के भोगों का योग एक पूर्ण भगण के बराबर होता है तो उसे वैधृति योग कहते हैं। किन्तु यदि दस नक्षत्र मिलाने पर पूर्ण चक्र बनता है तो वह

१. तत्रैव, (३.२०) पृ. ५८.

व्यतिपात कहलाता है। उसके समय का निर्धारण उनके निरयण भोग में जितने अंश मिलाये जाते हैं, उसके आधार पर करना चाहिये।'

आशय यह हुआ कि यदि निरयन मान से सूर्य और चन्द्र के भोगों १७ नक्षत्र के वरावर हुआ और उसमें अयनांश के १० नक्षत्र मिलाकर भगण पूरा हुआ तो भी उसे वैधृति नहीं कह सकते, वह व्यतिपात ही कहलायेगा क्योंकि निरयन मान से वह पूर्ण भगण नहीं हैं। वैधृति योग तभी होता है जव दोनों के भोगों का योग निरयन मान से भी पूर्ण भगण के वरावर होता है। सिद्धान्त शिरोमणि में व्यतिपात और वैधृति की यह परिभाषा दी हुई है-सायनरविशशियोगो भार्धं (१८०°) चक्रं (३६०°) तदासन्नः (व्यतिपात-वैधृतिश्चेति शेषः)'[1]

जव सूर्य और चन्द्र के सायन भोगों का योग१८०° होता है तो वह व्यतिपात कहलाता है और ३६०° होता है तो वैधृति कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार पैतामह सिद्धान्त के समय अयनांश के १० नक्षत्र जोड़कर व्यतिपात आता था, जिसका आशय होता है कि उस समय अयनांश ५ नक्षत्र के वरावर था। पुलिशाचार्य कहते हैं कि जब सूर्य अश्लेषा के आधे पर दक्षिणायन की ओर प्रस्थित होते थे, तव यह स्थिति उचित थी किन्तु अव अर्थात् पौलिश सिद्धान्त के काल में अयन (अर्थात् सम्पात) पुनर्वसु नक्षत्र से है। इस समय सूर्य की परम क्रान्ति के समय सूर्य और चन्द्रमा के नक्षत्रों का भोग ९०° है। अतः यह विपरीतायनपात की स्थिति है। क्योंकि सूर्य और चन्द्र दोनों के भोगों का योग ९०+९० =१८०° ही होगा।

विपरीतायनपातो यदार्ककाष्ठां शशिरविक्षेपः।
भवति तदाव्यतिपातो दिनकृच्छशियोगचक्रार्द्धे[2]।।

यह विपरीतायनपात इसलिये कहलाता है कि दोनों के निरयन भोग में ९०° का आयनांश मिलाने पर उनका सायन भोग २७ नक्षत्र के बरावर हो जाता है। किन्तु चूंकि निरयन भोग १८०° ही होता है इसलिये वैधृति के स्थान पर व्यतिपात और व्यतिपात के स्थान पर वैधृति योग होता हैं।

३.४.५ इस सिद्धान्त के काल का अनुमान

इसी से तथा पूर्व में रोमक सिद्धान्त के अन्तर्गत उद्धृत आर्याओं से यह स्पष्ट है कि रोमक और पौलिश सिद्धान्त के समय अयनाश ९०° था तथा सम्पात पुनर्वसु के प्रारंभ

---

१. सिद्धान्तशिरोमणि : भास्कराचार्य : गणिताध्याय पाताधिकार, अध्याय ९.
२. पञ्चसिद्धान्तिका (सं. ६ में उद्धृत), (३.२२) पृष्ठ ६२.

में था। इस मान से इस सिद्धान्त की अवधारण का काल ६०४५ ई० पू० के आसपास आता है। पुलिशाचार्य ने अपने समय के द्विगुणित चरखण्ड २०, १६.५० और ६.७५ दिए हैं। वर्तमान द्विगुणित चरखण्ड १९.५, १५.५ और ६.५ हैं। पौलिश सिद्धान्त के समय सूर्य की परम क्रान्ति २४°-२१'.४१" थी, जो अब २३°-२६' है। इसके आधार पर यह काल ६२०० ई० पू० के आसपास आता है। अतः पौलिश सिद्धान्त का काल रोमक सिद्धान्त के कुछ पश्चात् ६००० ई० पू० के लगभग है। वासिष्ठ सिद्धान्त चूंकि उससे भी प्राचीन है, अतः उसका काल ६००० ई० पू० से भी काफी प्राचीन होना चाहिये।

३.४.६ देशान्तर

पौलिश सिद्धान्त में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें आचार्य ने उज्जैन तथा यवनपुर एवं उज्जैन तथा वाराणसी का नाड्यन्तर अर्थात् देशान्तर दिया है। इससे प्राचीन काल में इन नगरियों की स्थिति का पता चलता हैं।

यवनान्तरजा नाड्यः सप्तावन्त्यां त्रिभागसंयुक्ताः।
वाराणस्यां त्रिकृतिः साधनमन्यत्र वक्ष्यामि[1]।

'अवन्तिका से यवनपुर का नाड्यन्तर ७. १/३ नाड़ी है (कुछ विद्वान् त्रिभाग संयुक्ता का अर्थ ३/४ भी करते है) तथा वाराणसी और यवनपुर का नाड्यन्तर ६ घटी हैं।'

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इसे 'यवनाच्चरजानाड्यः' पढ़ा अतः वे इसका सही अर्थ नहीं कर पाये और चरखण्डों के गणित में खो गये।

१ घटी ६° की होती है। इसके मान से उज्जैन और यवनपुर का अंशात्मक अन्तर ४४° हुआ तथा यवनपुर और वाराणसी का अन्तर ५४° हुआ। ऑक्सफोर्ड एटलस के अनुसार कुसतुन्तनिया का देशान्तर २९° पूर्व है जबकि उज्जैन का देशान्तर ७५° ४३' पूर्व है। दोनों का अन्तर ४६° ४३' हुआ। जबकि उपर्युक्त आर्या में यह ४४° दिया हुआ है। अतः आज की स्थिति में भी यह अन्तर अत्यन्त सटीक है और कुसतुन्तुनिया की पहचान यवनपुर से की जा सकती है। त्रिभागसंयुक्ता का अर्थ ३/४ लेने पर यह अन्तर ४६° ३०' हो जायेगा जो कि एकदम ठीक बैठता है। इसी प्रकार वाराणसी का देशान्तर ८३° २९' है, इसमें से २९° घटाने पर ५४°२९' का अन्तर आता है। उपर्युक्त आर्या में भी ५४° ही दिया हुआ है, जो कि एकदम सही है। इससे स्पष्ट है कि उतने प्राचीन काल में भी विश्व के महत्वपूर्ण शहरों के नाड्यन्तर की एक तालिका इस पौलिश सिद्धान्त में थी। इस आधार पर प्राचीन शहर एलैक्जैण्ड्रिया की पहिचान भी यवनपुर से हाती है।

---

१. तत्रैव, पृष्ठ ५१. (पञ्चसिद्धान्तिका, ३-१३)

इसके अतिरिक्त पौलिश सिद्धान्त में चर निकालने की विधि, दिनमान निकालने की विधि, स्थानीय सूर्यस्त निकालने की विधि, देशान्तर गणना की विधि तथा सूर्य और चन्द्र के ग्रहण निकालने की विधि भी दी हुई है। वासिष्ठ सिद्धान्त की तरह पौलिश सिद्धान्त में भी शुक्र आदि ग्रहों के वेध के आधार पर उनकी गतियां दी हुई हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि पौलिश सिद्धान्त के काल तक ताराग्रहों का स्पष्टीकरण गणितीय सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता था अपितु वेध के आधार पर होता था।

३.५ सौर सिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका के ६, १०, १६, और १७, वें अध्यायों में आचार्य वराह मिहिर ने सौर सिद्धान्त के तत्वों की विस्तृत व्याख्या की है। अध्याय ६ में सौर सिद्धान्त के अनुसार सूर्यग्रहण के गणित का विवरण दिया है, अध्याय १० में चन्द्र ग्रहण का, अध्याय १६ में ग्रहों के मध्यम मान का तथा अध्याय १७ में ग्रहों के स्पष्ट मान का विवरण उन्होंने दिया है। आचार्य वराह मिहिर सौर सिद्धान्त को अत्यन्त परिपक्व सिद्धान्त मानते हैं तथा अन्य सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा इसे स्पष्टतर तथा शुद्धतर मानते हैं। अपनी पञ्चसिद्धान्तिका के प्रारंभ में इन सिद्धान्तों की पारस्परिक समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा हैं-

पौलिशतिथिः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ।। (पञ्चसिद्धान्तिका, १-४)

वस्तुतः भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष में सूर्य सिद्धान्त के बाद ही पूर्ण वैज्ञानिकता आई और यही कारण था कि सूर्य सिद्धान्त के बाद यद्यपि प्राचीन सिद्धान्तों के नाम वही रहे किन्तु उनके सभी तत्व सूर्य सिद्धान्त के तुल्य हो गये। परवर्ती आचार्यों ने भी अलग-अलग नाम से अपने ग्रन्थ बनाये लेकिन उनके मूल तत्व तथा गणित की प्रक्रियाऐं सूर्य सिद्धान्तसम्मत थीं या कि उनमें अपनी युगीन आवश्यकताओं के अनुसार तथा अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने कुछ संशोधन किया। वास्तविक प्राचीन सिद्धान्त पंचक तो वही है जो वराह मिहिर ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका में लिखा है। नया सिद्धान्त पंचक सूर्य सिद्धान्त का ही प्रतिरूप हैं।

सौर सिद्धान्त के आने पर भारतीय ज्योतिष में एक गुणात्मक परिवर्तन हुआ। जहाँ पहले वासिष्ठ, रोमक और पौलिश सिद्धान्तों में ग्रहों के स्पष्ट दीर्घकाल तक वेध लेने के पश्चात् निर्धारित किए जाते थे, वहीं अव ग्रहों के स्पष्ट पूरी तरह गणित की क्रिया पर आधृत हो गये और वेध का कार्य इन गणितीय परिणामों को शुद्ध करने के लिए किया गया। जहाँ वेध में और गणितीय परिणाम में कोई अन्तर होता था तो बीज शुद्धि के द्वारा उसका शोधन कर दिया जाता था। सौर सिद्धान्त में आकर पहली बार एक महायुग के

पूर्ण भगणों के आधार पर ज्योतिष की क्रियाऐं की जाने लगीं। इन भगणों को हमारे यहाँ आर्ष ज्ञान माना गया। ऐसा वह है भी क्योंकि कोई सामान्य मनुष्य चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो अपने छोटे से जीवन में केवल वेध द्वारा ग्रहों के महायुग के भगण नहीं निकाल सकता। इसके अतिरिक्त दृश्य ग्रहों के संदर्भ में तो एक बार यह बात मान भी ली जाये किन्तु जो अदृश्य गणितीय बिन्दु हैं जैसे मन्दोच्च और पात उनके भगण तो वेध द्वारा निकाले ही नहीं जा सकते। इसलिये वस्तुतः यह आर्ष ज्ञान ही है तथा इसी आर्ष ज्ञान के आधार पर समूचे विश्व में सिद्धान्त ज्योतिष का ज्ञान फैला।

३.५.१ सूर्य सिद्धान्त के एक महायुग (४३२०००० सौर वर्ष) के भगणादिमान इस प्रकार हैं–

१	नक्षत्र मण्डल का भ्रमण	१५८२२३७८००
२	सूर्य के भगण	४३२००००
३	सावन दिन	१५७७६१७८००
४	चन्द्र के भगण	५७७५३३३६
५	चन्द्रोच्च	४८८२१६
६	राहू के भगण	२३२२२६
७	मंगल के भगण	२२९६८२४
८	बुध (शीघ्र) के भगण	१७९३७०००
९	गुरु के भगण	३६४२२०
१०	शुक्र (शीघ्र) के भगण	७०२२३८८
११	शनि के भगण	१४६५६४
१२	सौर मास	५१८४००००
१३	अधिमास	१५९३३३६
१४	चान्द्रमास	५३४३३३३६
१५	तिथियां	१६०३००००८०
१६	क्षय तिथियां	२५०८२२८०
१७	वर्षमान	३६५-१५-३१-३०

मन्दोच्च और पातों के एक कल्प (४,३२०००००००० वर्ष) के भगण

अ-मन्दोच्च	भगण	एक भगण का समय (१ गति)
सूर्य	३८७	१,११,६२७६०.७ (५१६.८ वर्ष)

बुध	३६८	१,१७,३६१३०.४ (५४३.५ वर्ष)
शुक्र	५३५	८०,७४,७६६.४ (३७३.८ वर्ष)
मंगल	२०४	२,११,७६,४७०.६ (६८०.४ वर्ष)
गुरु	६००	४८००००० (२२२.२ वर्ष)
शनि	३६	११,०७,६६२३०.८ (५१२८.२ वर्ष)
व-पात		
बुध	४८८	८८,५२,४५६ (४०६.८ वर्ष)
शुक्र	६०३	४७,८४०५३.२ (२२१.५ वर्ष)
मंगल	२१४	२,०१,८६,६१५.६ (६३४.६ वर्ष)
गुरु	१७४	२,४८,२७५८६.२ (११४६.४ वर्ष)
शनि	६६२	६५,२५,६७८.२ (३०२.१ वर्ष)

३.५.२ अहर्गण तथा सूर्य-चन्द्र के मध्यम मान

सौर सिद्धान्त में भी अहर्गण की वही प्रक्रिया है, जो रोमक सिद्धान्त में बताई गई है। व्यतीत वर्षों को १२ से गुणा कर सौर मास बना लेते हैं तथा इसमें व्यतीत मासों को जोड़ देते हैं। आनुपातिक रूप से अधिमास निकालकर इन्हें सौर मासों में जोड़ देते हैं, जिससे चान्द्रमास आ जाते हैं। चान्द्रमासों में ३० का गुणा कर तिथियां आ जाती हैं तथा इसमें व्यतीत तिथियां जोड़ देते हैं। इन तिथियों में से क्षय तिथियां घटाने पर सावन दिन आ जाते हैं और यही अहर्गण है। भाद्रपद कृष्ण अष्टमी (२६/८/२००५) का हमनें इस आधार पर अहर्गण निकाला तो वह ५४८०२१ आता है, जैसा कि पौलिश सिद्धान्त में भी आया था।

एक महायुग में उक्तानुसार १५७७६१७८०० सावन दिन वताये गये हैं। उनके आधार पर अभीष्ट अहर्गण से मध्यम मान आनुपातिक रूप से सीधे ही निकाले जा सकते हैं किन्तु इसके स्थान पर आचार्य ने छोटी प्रक्रियाऐं दी हैं ताकि गणित करने में सुगमता हो। ये प्रक्रियाऐं उन्होंने सूर्य और चन्द्र के विषय में तो अध्याय ६ में दी हैं। शेष ग्रहों के विषय में अध्याय १६ में दी हैं। इस गणना के आधार पर (२६/८/२००५) का मध्यम सूर्य १३०°-२५'-३" आया तथा मध्यम चन्द्र २७°-५६'-१५" आया। चन्द्रमा का मन्दोच्च १२१°-५५'-२५" आया तथा मध्यम राहू ७s-२६°-६'-५७" आया।

३.५.३ स्पष्ट सूर्य-चन्द्र

सूर्य और चन्द्र के स्पष्टीकरण के लिये मन्दोच्च, मन्द केन्द्र तथा मन्द परिधि की प्रक्रिया अपनाई गई है। मध्यम ग्रह से ग्रह का मन्दोच्च घटाया जाता है जिससे मन्द केन्द्र

निकलता है। इस मन्द केन्द्र की ज्या निकालकर उसका अनुपात ग्रह की मन्द परिधि से किया जाता है। यह मन्द परिधि की ज्या होती है उसका जो चाप होता है वही मन्दफल होता है। यदि मन्द केन्द्र मेषादि ६ राशियों में रहता है तो इस मन्दफल को घटाते हैं तथा तुलादि ६ राशियों में रहता हैं तो जोड़ते हैं। उदाहरण-

मध्यम सूर्य	=	१३०°-२५'.३"
(-) सूर्य का मन्दोच्च	=	८०°-०-०
सूर्य का मन्द केन्द्र	=	५०°-२५'-३"
मन्द केन्द्र की ज्या	=	२६४६'
मन्द परिधि	=	१४°
मन्दफल की ज्या	=	(१४°/३६०) x २६४६'
इसका चाप	=	१०३' = १°-४३'

चूंकि मन्द केन्द्र ६ राशि से कम है इसलिये ये ऋणात्मक है।

अतः स्पष्ट सूर्य = (-) १°-४३'

स्पष्ट सूर्य = १२८°-४२' मन्दफल = १०३'

इसी प्रकार स्पष्ट चन्द्र भी निकाला जा सकता है। चन्द्रमा की मन्द परिधि आचार्य वराह मिहिर ने ३१° बताई है। सौर सिद्धान्त के ग्रह उज्जैन के लिये बनाये गये हैं। लंका और उज्जैन एक ही रेखांश पर होने से सौर सिद्धान्त या सूर्य सिद्धान्त की गणना का केन्द्र उज्जैन है। उज्जैन से अन्य स्थानों के ग्रह स्पष्ट निकालने के लिये प्रक्रिया दी हुई है जिसमें पृथ्वी की परिधि को ३२०० योजन माना गया है और एक नाड़ी को ५३. १/३ योजन माना गया है। तदनुसार किसी स्थान का जो भी नाड्यन्तर हो अगर वह पूर्व में हैं तो इस मान से घटा दिया जाता है और पश्चिम में है तो जोड़ दिया जाता है तो स्थानीय दोपहर और मध्य रात्रि निकाले जा सकते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की दैनिक गति की पद्धति भी सौर सिद्धान्त में दी गई है। सूर्य की मध्यम गति ५९'-८" मानी गई है और चन्द्रमा की मध्यम गति ७९०'-३४" मानी गई है तथा चन्द्रमा के मन्द केन्द्र की दैनिक गति ६'-४०" मानी गई है व स्पष्टीकरण की प्रक्रिया की तरह स्पष्ट गति भी निकाली गई हैं।

३.५.४ पंच ताराग्रहों के मध्यम मान तथा स्पष्टीकरण

सूर्य और चन्द्रमा के मध्यम मान उज्जैन दोपहर के निकाले गए हैं क्योंकि वे सूर्यग्रहण के संदर्भ में बताये गये हैं। उन्हें उज्जैन मध्य रात्रि का भी बनाया जा सकता है। वराह मिहिर ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका के अध्याय १६ व १७ में अन्य पंच ताराग्रहों अर्थात् मंगल, बुध, गुरु, शुक्र व शनि के मध्यम मान तथा उसकी स्फुटीकरण की प्रक्रिया

को दिया है। ये मध्यम मान उज्जैन मध्य रात्रि के हैं। यद्यपि युगीन भगणों के आधार पर अभीष्ट अहर्गण के अनुपात द्वारा ये मध्यम मान निकालकर तथा इसमें युगारंभ के क्षेपक जोड़कर ये मध्यम मान आज सीधे ही निकाले जा सकते हैं क्योंकि आजकल केलक्युलेटर जैसे यंत्रों की सुविधा है जिसमें लंबी राशि के गुणा-भाग करने में कोई कठिनाई नहीं होती हैं। किन्तु आचार्य ने उस समय की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए अपने इस करण ग्रन्थ के लिये सरल पद्धति का प्रयोग किया है और इसके लिये युगीन भगणों के स्थान पर छोटी अवधि के भगणों को लिया है। उदाहरण के लिये बृहस्पति के लिये उन्होंने लिखा है कि अहर्गण को १०० से गुणा करो तथा ४३३२३२ से भाग दो, इसी प्रकार मंगल के लिये अहर्गण को १ से गुणा करो और ६८७ से भाग दो, शनि के लिये १००० से गुणा करो और १०७६६०६६ से भाग दो। इन सब का आशय यह हुआ कि इन प्रक्रियाओं में १००, १००० या १ से गुणा करना वहुत आसान है और आचार्य सन्देश देना चाहते हैं कि बृहस्पति के १०० भगण ४३३२३२ दिन में पूरे होते हैं, मंगल का एक भगण ६८७ दिन में पूरा होता है तथा शनि के १००० भगण १०७६६०६६ दिनों में पूरे होते हैं। इससे गुणा-भाग में सरलता रहती है। इस प्रक्रिया में जो न्यूनाधिकता रहती है, उसकी पूर्ति वे प्रति भगण संशोधन के द्वारा करते हैं। इस प्रकार शुद्ध मध्यम मान आने पर उन्होंने प्रत्येक ग्रह का क्षेपक भी दिया है, जो मध्य ग्रह में जोड़ा जाता है तथा सबसे अन्त में उन्होंने अपने समय की वीज शुद्धि भी दी है जिससे गणितागत ग्रहों का आकाशीय स्थिति से मेल हो सके। आचार्य ने अपने युग की इन ग्रहों की क्षेप राशियां निम्नानुसार दी हैं-

गुरु	८°-६'-२०''
मंगल	२ˢ-१५°-३५'-०''
शनि	४ˢ-२°-२८'-४६''
वुध (शीघ्र)	४ˢ२८°-१७'-०''
शुक्र (शीघ्र)	८ˢ२७°-३०'-३६''

इसी प्रकार उन्होंने अपने समय की वीज शुद्धि भी निम्नानुसार दी है-

गुरु -	- १०'' प्रतिवर्ष तथा कुल १४००''
मंगल -	+ १७'' प्रतिवर्ष
शनि -	+ ७'/२'' प्रतिवर्ष
वुध (शीघ्र) -	+ १२०'' प्रतिवर्ष
शुक्र (शीघ्र) -	-४५'' प्रतिवर्ष

क्षेप्याः स्वरेन्दुविकलाः प्रतिवर्षं मध्यमक्षितिजे।
दश दश गुरोर्विशोध्याः शनैश्चरे सार्धसप्तयुताः।।
पञ्चाब्धयो विशोध्याः सितेबुधे खाश्विचन्द्रयुताः।
खखवेदेन्दुविकलिकाः शोध्याः स्युः सुरपूजितस्य मध्याः।।[1]

इन ग्रहों के स्फुटीकरण के लिये एक विस्तृत और लम्बी प्रक्रिया दी हुई है। यह आधुनिक सूर्य सिद्धान्त जैसी ही है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें आचार्य ने मन्दोच्च और मन्द परिधियों को स्थिर कर दिया है जिससे गणना सुगम हो गई है। शेष प्रक्रिया आधुनिक सूर्य सिद्धान्त जैसी ही है। स्पर्ष्टीकरण के प्रयोजन के लिये विभिन्न ग्रहों के मन्दोच्च तथा शीघ्र और मन्द परिधियों को इस तालिका में देखा जा सकता है-

स्फुटीकरण हेतु ग्रहों के आवश्यक तत्त्व

तत्त्व	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
शीघ्रोच्च	मध्यम सूर्य	स्वयं की गति	मध्यम सूर्य	स्वयं की गति	मध्यम सूर्य
मन्दोच्च	११०	२२०	१६०	८०	२४०
मन्द परिधि	७०	२८	३२	१४	६०
शीघ्र परिधि	२३४	१३२	७२	२६०	४०
मध्यम मान	स्वयं की गति	मध्यम सूर्य	स्वयं की गति	मध्यम सूर्य	स्वयं की गति

स्फुटीकरण की प्रक्रिया जटिल है किन्तु उसके द्वारा जो स्पष्ट ग्रह आता है वह आज की स्थिति में भी अत्यन्त सटीक बैठता है। इस प्रक्रिया में लगभग ४० गणितीय पदों का उपयोग होता है। किन्तु यह प्रक्रिया ज्योतिर्विज्ञान की आधारशिला है। इसके आधार पर किसी भी समय की ग्रह स्थिति निकाली जा सकती है और हमें किसी बाहरी अल्मनेक की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। हमने इसके आधार पर (२६ अगस्त २००५) जन्माष्टमी शक १६२७ का वृहस्पति का स्पष्ट मान निकाला, जो ५ˢ-२२°-५४'-३३" निकाला। लाहिरी की एफेमेरीज के अनुसार उस दिन का बृहस्पति का स्पष्ट मान ५ˢ-२३°-२८' है। अर्थात् केवल ३३'.३७" का अन्तर है। आधुनिक युग का बीज संशोधन देकर इसे शुद्ध किया जा सकता है। यह इस बात का प्रमाण है कि ईसा की पांचवी शदी में भी आचार्य ने भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष को कितने सूक्ष्म वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया था।

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका, १६/१०-११, तत्रैव, पृ० २६४.

सौर सिद्धान्त में ग्रहों के उदयास्त के समय तथा ग्रहों के शर लाने की प्रक्रिया भी दी हुई है, जो आधुनिक सूर्य सिद्धान्त से मिलती है। आधुनिक सूर्य सिद्धान्त में और वराह मिहिर के सौर सिद्धान्त में मुख्य अन्तर यह है कि वराह मिहिर ने ४३२०००० वर्ष के महायुग के स्थान पर १८०००० के एक छोटे युग को स्वीकार किया जो कि महायुग का १/२४ है। इसी मान से उन्होंने अधिकमास, क्षय तिथियों को भी कम किया। किन्तु सावन दिनों के एक महायुग की संख्या जो १५७७९१७८२८ है, उसको २४ से भाग देने पर पूर्ण संख्या नहीं आती थी। अतः आचार्य ने इसके स्थान पर महायुग के सावन दिनों की संख्या १५७७९१७८०० मानी। इसको २४ से भाग देने पर पूर्णांक संख्या ६५७४६५७५ आ जाती है। इसके अतिरिक्त ग्रहों के युगीन भगणों में जो अन्तर वराह मिहिर ने किया है, वह बीज संशोधन के स्वरूप का है। दोनों सिद्धान्तों के युगीन भगणों में अन्तर इस प्रकार है-

	सौर सिद्धान्त	सूर्य सिद्धान्त
बुध (शीघ्र)	१७९३७०००	१७९३७०६०
शुक्र (शीघ्र)	९०२२३८८	७०२२३७६
मंगल	२२९६८२४	२२९६८३२
गुरु	३६४२२०	३६४२२०
शनि	१४६५६४	१४६५६८

३.५.५ सौर सिद्धान्त के काल का अनुमान

यद्यपि आधुनिक विद्वानों ने वराह मिहिर के सौर सिद्धान्त को प्राचीन सौर सिद्धान्त तथा वर्तमान में उपलब्ध सूर्य सिद्धान्त को आधुनिक माना है, किन्तु जैसा की ऊपर व्याख्या की गई है वास्तव में ये दो भिन्न सिद्धान्त नहीं हैं अपितु एक ही सूर्य सिद्धान्त की दो स्थितियां हैं। मूल सूर्य सिद्धान्त को ही आचार्य ने एक रूप में स्वीकार किया है तथा जो उपलब्ध सूर्य सिद्धान्त है वो उसका अधिक विकसित रूप है। इसलिये प्रश्न यह है कि मूल सूर्य सिद्धान्त का काल क्या रहा होगा? बेन्ट्ले आदि अंग्रेजी विद्वानों ने इस आधार पर सूर्य सिद्धान्त के काल का अनुमान लगाया है कि उसमें जो ग्रह स्थितियां दी हैं, वे कब शुद्ध बैठती हैं। किन्तु यह पद्धति ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे आचार्य युगीन भगणों को पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर दिया करते थे तथा वर्तमान सूर्य सिद्धान्त ने अपने कोई क्षेपक नहीं दिए हैं। इसलिये इस सिद्धान्त में जो आभ्यन्तर तत्व हैं उसके आधार पर ही काल निर्धारण करना वैज्ञानिक और समीचीन होगा। इसके लिये कुछ महत्वपूर्ण बातें ध्यान देने योग्य हैं-

१. सौर सिद्धान्त तथा सूर्य सिद्धान्त दोनों में सूर्य की परम क्रान्ति २४° दी हुई है। पञ्चसिद्धान्तिका में तो स्पष्ट ही यह परम क्रान्ति २४° अंश लिखी है तथा वर्तमान

सूर्य सिद्धान्त में इस परम क्रान्ति की ज्या १३६७' वताई है। वर्तमान में सूर्य की परम क्रान्ति २३°-२६' है। हम जानते हैं कि यह परम क्रान्ति क्रान्तिवृत्त का झुकाव ही है, जिसमें गति है और यह गति १००० वर्ष में -७'-५६" है। इस मान से ३४'/७'-५६" × १००० = ४२८५ वर्ष इसको २४° से २३°-२६' आने में लगेंगे। इसका आशय यह हुआ कि लगभग २२८० वर्ष ई०पू० में सूर्य की परम क्रान्ति २४° थी। यह मान भी लें कि अनेक वर्षों तक इस परम क्रान्ति को गणना के प्रयोजन के लिये स्थिर माना जाता है तो भी १८०० ई०पू० से कम का समय इससे प्रमाणित नहीं होता।

२. भारतीय सिद्धान्त ग्रन्थों में सूर्य का परम मन्दफल १३०' दिया गया है जबकि आधुनिक यूरोपीय ग्रन्थों में यह ११५' माना गया है। सूर्य सिद्धान्त में सूर्य का परम मन्दफल १३३'-४२" है। लगभग २६०० ई०पू० सूर्य का परम मन्दफल १३०' था। इस सदी के प्रारंभ में यह लगभग १२१' था। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि इस सिद्धान्त का काल ई०पू० लगभग २००० होना चाहिये। हमारा परम मन्दफल यूनानियों के परम मन्दफल से अधिक शुद्ध है। इसलिये इसे प्राचीन आचार्यों का अशुद्ध वेध मानकर खारिज नहीं किया जा सकता। यह काल का वोधक है।

३. ई०पू० लगभग ५०० से लल्ल (६३८ ई०) तक भारतीय विद्वानों को अयन चलन का ज्ञान नहीं था क्योंकि उस समय अयनांश ० से ३° के बीच था। किन्तु सूर्य सिद्धान्त में न केवल इसका वर्णन है अपितु इसकी गति प्रतिवर्ष ५४" वताई गई है जो कि ग्रीक ज्योतिर्वैज्ञानिक टॉलेनी की गति ३६" से ज्यादा शुद्ध है। इससे भी इन सिद्धान्त की प्राचीनता सिद्ध होती है।

४. महाभारत में एक मय नाम का शिल्पकार हुआ है जिसने पाण्डवों के लिये महल का निर्माण किया था। यह संभव है कि जिस मय ने सूर्य से सूर्य सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया हो, वह यही मय हो। महाभारत का काल आधुनिक विद्वानों द्वारा २००० ई०पू० के आसपास स्थिर किया जाता है। यह भी इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करता है।

५. सूर्य सिद्धान्त में यह बात कही गई है कि २७° के अयन दोलन कर वापस लौटता है। परवर्ती आचार्यो ने अयन दोलन के सिद्धान्त को अस्वीकार किया है, जो आज के वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर भी टीक है। अयन का पूर्ण भ्रमण ही होता है, उसका दोलन नहीं होता। दोलन की जो बात सूर्य सिद्धान्त में कही गई है वह इसलिये प्रतीत होती है कि यह सिद्धान्त उस समय वना होगा जब अयनांश उनकी जातीय स्मृति में स्थित २७° से लौटकर २६° या २५° के आसपास रहा होगा। इस मान से भी सूर्य सिद्धान्त का काल १६वीं या १७वीं सदी ई०पू० ठहरता है। आशय

यह है कि यद्यपि मूल सूर्य सिद्धान्त जिसका उपयोग वराह मिहिर ने किया है, उपलब्ध नहीं है तथा वर्तमान सूर्य सिद्धान्त उसका अत्यन्त विकसित स्वरूप है, फिर भी इस सिद्धान्त में जो आभ्यन्तर तत्व निहित हैं, उसके आधार पर यह विश्वसनीय अनुमान लगाया जा सकता है कि इसकी अवधारणा ई०पू० लगभग २००० वर्ष में हुई होगी और यही महाभारत का वह काल है जबकि भारतीय कला और विज्ञान ने उन्नति की थी। यह सरस्वती सैन्धव सभ्यता के उत्कर्ष का काल भी है।

४. उपसंहार

आचार्य वराह मिहिर ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका लिखकर भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष की लुप्त होती परम्परा को पुनर्जीवित किया। यह लगभग वैसा ही कार्य है जैसा लुप्त होते हुए वेदों के उद्धार का। अगर पञ्चसिद्धान्तिका न होती तो न केवल भारत के प्राचीन सिद्धान्तों के विषय में विश्व को जानकारी प्राप्त न होती अपितु आज के वैश्विक संदर्भ में वैश्विक मनुष्य ने सबसे पहले इस विज्ञान की प्रतिष्ठा किस प्रकार की यह ज्ञान भी नहीं हो पाता जो कि विज्ञान के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

आचार्य वराह मिहिर भारतीय ज्योतिष के सचमुच देदीप्यमान सूर्य की तरह हैं जिन्होंने अपना प्रकाश भूतकाल और वर्तमान तथा अपने समय के समूचे भूमण्डल पर विस्तीर्ण किया।

●●●

दृग्गणित

डॉ. रविशङ्कर भार्गव

समस्त ज्योतिष शास्त्र, प्रत्यक्ष शास्त्र है, जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप आकाश में सूर्य एवं चन्द्रमा हैं। अतः आकाशीय ग्रहपिण्डों की यथार्थ स्थिति का ज्ञान जिस गणितीय विधा से होता है उसे 'खगोल शास्त्र' के रूप में जाना जाता है। खगोल में अनुमानादि प्रमाणों द्वारा सिद्धियाँ नहीं होतीं। खगोल में सभी प्रकार की गणनायें उनके वृत्तीय नियामक स्थानों के अनुसार ही होती हैं। गणना द्वारा ग्रहों का निश्चित मान वेध यंत्र पर यथावत दिख जाने के बाद ही वह वेध-सिद्ध ग्रह कहलाता है, यही दृग्पक्ष या दृग्गणित कहलाता है।

सभी सिद्धान्तग्रन्थों के अनुसार गणितागत ग्रह भूकेन्द्रीय होते हैं, इसे भूपृष्ठीय प्राप्त करने या लाने के लिये दृक्कर्म की आवश्यकता होती है, यही दृक्कर्म संस्कारयुक्त ग्रह ही दृक्पक्षीय ग्रह कहलाता है। दृक्कर्म क्या है? इसे समझने के लिये खगोलीय स्थिति का जानना आवश्यक होगा।

सर्वप्रथम शर का ज्ञान आवश्यक है। कोई भी ग्रह अपने कदम्बाभिमुख शर के कारण क्रान्तिवृत्त से उत्तर या दक्षिण उन्नत या नत रहता है, तथा ग्रह की क्रान्ति ध्रुव प्रोतवृत्त में नाड़ी वृत्त और क्रान्तिवृत्त का इष्ट स्थान में अन्तर रूप होती है; परन्तु ग्रह जब अपने शराग्र में है, उस समय यह अन्तर उसकी वास्तविक क्रान्ति नहीं होगी। इसलिये इस शर रूप अन्तर का उक्त दोनों वृत्तों के अन्तर रूप क्रान्ति में संस्कार करना आवश्यक हो जाता है, किन्तु शर कदम्बाभिमुख होता है, और क्रान्ति धुवाभिमुख। अतः दोनों में विजातीयता होने से उक्त कदम्बभिमुख शर को धन या ऋण नहीं किया जा सकता। इसलिये कदम्ब वृत्तगत शर का ध्रुवप्रोत वृत्त में परिणामित करते हैं। यही कारण है कि कदम्बवृत्तीय शर को मध्यम शर तथा ध्रुवप्रोत वृत्तीय शर को स्पष्ट शर की संज्ञा दी जाती है।

वस्तुतः क्रान्तिवृत्तीय ग्रहस्थान जिस समय क्षितिज में लगता है, उस समय वह ग्रह पिण्ड क्षितिज पर नहीं लगता, क्योंकि ग्रह अपने शर के कारण क्षितिज से कभी ऊपर तथा कभी नीचे रहता है। अतः वह ग्रह कितने समय बाद क्षितिज में आयेगा? इसके लिये ग्रह के उदय एवं अस्त में दृक्कर्म की आवश्यकता होती है। दृक्कर्म भी दो प्रकार का होता है, (१) आयन दृक्कर्म (२) आक्ष दृक्कर्म। (१) क्रान्ति वृत्त के झुकाव के कारण ग्रहस्थान और ग्रह जो अन्तर होता है उसका ज्ञान आक्ष दृक्कर्म से ज्ञात किया जाता है।

इनके, साधन के लिये वलन की आवश्यकता होती है। ये आयन और आक्ष-वलन क्षितिज में होते हैं। इनके कारण क्षितिज से ग्रह अपने शर से, सौम्यायन वलन में उत्तर

शर द्वारा उन्नमन तथा दक्षिण शर द्वारा नमन होता है। याम्यायनवलन में, इससे विपरीत अर्थात् उत्तर शर द्वारा नमन तथा दक्षिण शर द्वारा उन्नमन होता है। यह स्थिति पूर्वक्षितिज की है, इससे विपरीत स्थिति पश्चिम क्षितिज की होती है। अर्थात् सौम्यायन वलन में अपने उत्तर शर से ग्रह नामित और दक्षिण शर से उन्नमित होता है, इसी प्रकार याम्यायन वलन में उत्तर शर से उन्नमित और दक्षिण शर से नमित होता है। ग्रह की यह स्थिति निरक्ष देश में होती है, साक्ष देश में स्थिति निम्न प्रकार से होती है-

पूर्वक्षितिज में सौम्य आक्षवलन में उत्तर शर से ग्रह उन्नमित और दक्षिण शर से नमित होता है, तथा पश्चिम क्षितिज में, इससे भिन्न उत्तर शर से ग्रह नमित तथा दक्षिण शर से ग्रह उन्नमित होता है। इसी प्रकार याम्याक्षवलन में, पूर्वक्षितिज में ग्रह उत्तरशर से नमित तथा दक्षिण शर से उन्नमित होता है एवं पश्चिम क्षितिज में उत्तर शर से उन्नमित तथा दक्षिण शर से नमित होता है। इस प्रकार ग्रहों के उन्नमन तथा नमन के नियमों को समझना चाहिये।

यदि त्रिज्या में आयन वलन ज्या मिलती है, तो मध्यम शरज्या में क्या मिलेगा? इस त्रैराशिक से प्राप्त फल आयन कर्म ज्या मिलेगी। इसका चाप आयन दृक्कर्म होगा। इसी प्रकार यदि त्रिज्या में आक्ष वलन ज्या मिलती है तो स्पशर ज्या में क्या मिलेगा? फल आक्ष दृक्कर्म ज्या मिलेगी। इसका फल आक्ष दृक्कर्म प्राप्त होगा। यहाँ आवश्यक है कि इन त्रैराशिकों से जो फल प्राप्त होंगे उनको त्रिज्या से गुणा कर द्युज्या से भाग देने पर लब्ध चापांश सम्बंधी फलों के योग अथवा अन्तर से उत्पन्न अस्वात्मक काल में ग्रह क्षितिज से नत अथवा उन्नत होता है।

अस्तु इस खगोलीय विवेचन का सैद्धान्तिक दृष्टि से उपपादनात्मक विचार निम्न प्रकार से है-

स्पष्टार्थ क्षेत्र देखें
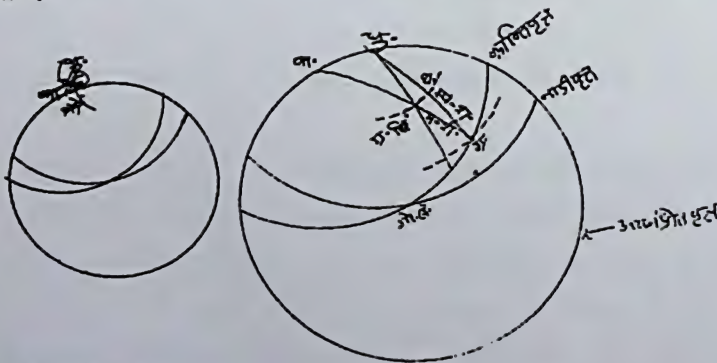
क० = कदम्ब

ध्रु० = ध्रुव

ग्र०वि० = ग्रहविम्ब।

ग्र० = क्रान्ति वृत्त में ग्रह स्थान।

गो०सं० = गोल सन्धि

विं०श०ग्र० Δ चापजात्य में

चापजात्यात्यल्पत्वात् सरल-जात्य-सदृशत्वात्

$\angle$ श विंग्र = ६०°- $\angle$ श ग्र विं

= (६०°-अयनवलन)

या

ज्या शविंग्र = ज्या (६०°-अव०)

= को ज्या अय०व०

= यष्टिः

अथवा यष्टि $\sqrt{\text{त्रि}^2\text{-ज्या}^2 \text{ अव.}}$

= (६०°-अव०)

= यष्टिः

$$\text{ज्या शग्र} = \frac{\text{ज्या. विंग} \times \text{ज्या} \angle \text{श विंग्र}}{\text{ज्या. विंशग्र}}$$

$$\text{अतः स्प.शद} = \frac{\text{मध्यमशर} \times \text{यष्टि}}{\text{त्रिज्या}}$$

$$\text{तथा ज्याविंश} = \frac{\text{ज्याविंग्र} \times \text{ज्या} \angle \text{विंग्रश}}{\text{ज्या विंशग्र}}$$

$$\text{अर्थात् - आयनदृक्क} = \frac{\text{ज्या मध्यम शर} \times \text{ज्या अयनवलन}}{\text{त्रिज्या}}$$

त्रिज्यावर्गादयनवलनज्या कृतिं प्रोह्यमूलं,
यष्टिर्यष्ट्या द्युचर विशिखस्ताडितस्त्रिज्ययाप्तः।
यद्वा राशित्रययुतखगद्युज्यकाघ्नस्त्रिमौर्व्या,
भक्तः स्पष्टो भवति नियतं क्रान्तिसंस्कारयोग्यः।।
(सि०शि०गो० ग्रहच्छा० श्लो० ३.)
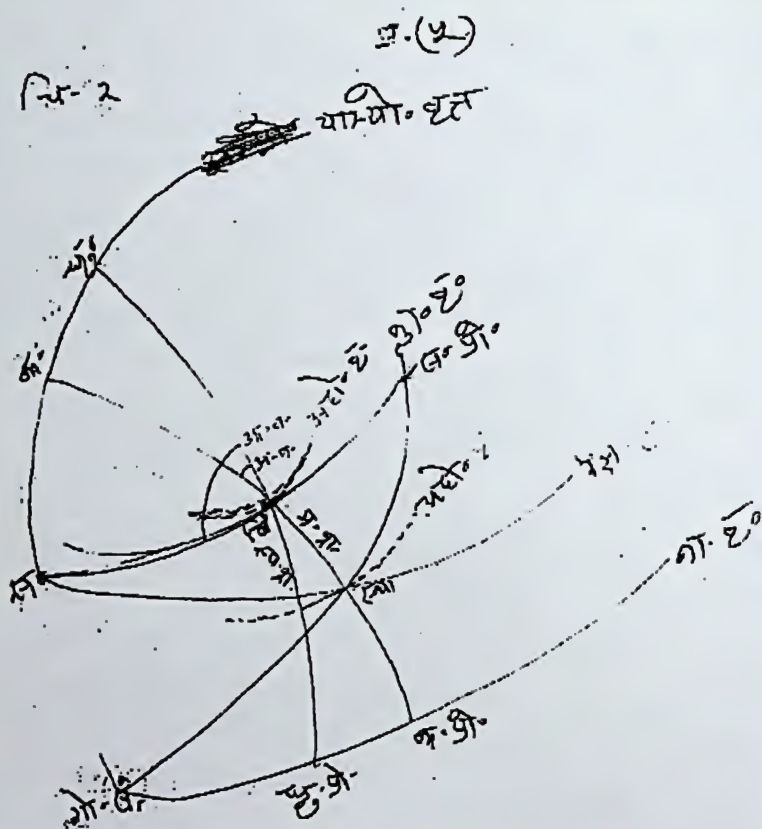
मध्यम शर : कदम्ब प्रोत वृत्त में ग्रह बिम्ब-ग्रह के मध्य में होता है।

स्पष्ट शर : ग्रह बिम्ब ग्रह स्थान अहोरात्रवृत्तीय चापांश के बीच ध्रुव प्रोतवृत्तीयान्तर होता है।

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{मध्य. शर} \times \text{अय. ज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{स्पष्ट शर।}$$

आयन वलनज्या: ग्रह क्षितिज में ध्रुवप्रोत कदम्ब प्रोत वृत्तों का अन्तर होता है।

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{कोज्या ग्र} \times \text{ज्याजिनांश}}{\text{द्युज्या}} = \text{आयन वलन ज्या।}$$

आक्ष वलन ज्या: गह क्षितिज पर ध्रुव प्रोत समप्रोत वृत्तों का अन्तर होता है।

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{ज्यानतांश} \times \text{अक्षज्या}}{\text{द्युज्या}} = \text{आक्ष वलन ज्या।}$$

अतः कदम्ब प्रोत तथा समप्रोत वृत्तों का अन्तर स्पष्ट वलन होता है।

आयन दृक्कर्म : ग्रह विम्ब गत क्रान्ति पर ध्रुव प्रोत-कदम्ब प्रोत वृत्तों का अन्तर है।

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{मध्यम शर} \times \text{आयनवलन}}{\text{त्रिज्या}} = \text{आयन दृक्कर्म}$$

आक्षदृक्कर्म : ग्रहविम्ब गत क्रान्ति वृत्त पर ध्रुवप्रोत समप्रोत वृत्तों का अन्तर है।

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{स्पष्ट शर} \times \text{आक्षवलन ज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{आक्षदृक्कर्म}$$

स्पष्ट दृक्कर्म : आयन दृक्कर्म तथा आक्षदृक्कर्म का अन्तर होता है।

अर्थात् कदम्वप्रोत समप्रोत वृत्तों के बीच क्रान्तिवृत्ति स्पष्ट दृक्कर्म होता है।[1]

सूर्य सिद्धान्त की गणनायें अपने काल में दृक्तुल्य थीं। भगवान भास्कर ने कहा है-

तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा दृक्तुल्यतां ग्रहाः।
प्रयान्ति तत् प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमादरात्।।
(सू०सि० स्पष्टा० १४)

अर्थात् अपनी-अपनी गति के अनुसार ग्रह जिस प्रकार दृक्तुल्य (वेध द्वारा दृश्य) होते हैं उसी विधि के अनुसार इनकी स्पष्टीकरण प्रक्रिया को कह रहा हूँ।

रंगनाथ ने अपनी टीका में "दृक्तुल्यताम्" - वेधित ग्रह-समतां गच्छन्ति" ऐसा अर्थ किया है।

वस्तुतः सभी सिद्धान्त ग्रंथों में ग्रहों के अलग-अलग भगण मानों को कहा गया है। किसी के भी भगणमान एक समान नहीं हैं। इसका मुख्य कारण है केन्द्र का विस्थापन। ध्रुव बिन्दु ही सभी ग्रहों के भगणादिमानों का नियामक होता है। यह बिन्दु स्थिर नहीं है, इसमें भी गति है, अतः ग्रंथकारों ने अपने अपने काल में केन्द्र की स्थिति को जान कर सभी ग्रहों के भगणों का मान निर्धारित किया है। यही कारण है कि भगणों में एकवाक्यता का अभाव है। यही कारण है कि सूर्य सिद्धान्त के मध्यमाधिकार में स्पष्ट रूप से कहा है-

"युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलम्"।।६।।

अर्थात् शास्त्र वही है किन्तु युग भेद से अर्थात् काल भेद से परिवर्तन (अन्तर) होना स्वाभाविक है। "जो लोग दृक्तुल्यता के अर्थ में यहाँ जिस गणना का वर्णन करते हैं उनके अनुसार अदृश्य दृष्टि से अपने स्पष्ट किये हुये स्थान पर दिखाई देना है, अन्यथा इस

---

१. सि०शि०गो० दृक्कर्म वासना.

गणना के अनुसार कभी भी दृश्यग्रह सिद्ध नहीं ही हो सकते थे क्योंकि जितने संस्कार दृश्यग्रहों के लिये आज निकाले गये हैं, ये ही होने चाहिये थे।"[1]

वस्तुतः इस विषय में यह भी विचार करना अनिवार्य होगा कि जिस प्रकार से काल के सापेक्ष्य ध्रुव विन्दु में विचलन जैसे-जैसे बढ़ा, कुछ अनिवार्य संस्कार प्रारंभ में शून्य के सामानान्तर रहे होंगे। किन्तु दीर्घकालावधि में विचलन बढ़ने से उनकी शून्यता काल में अन्तरित होने लगी। उससे पड़ने वाले प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होने लगे। उदाहरण के रूप में उदयान्तर संस्कार की प्रारंभ में (सूर्यसिद्धान्त काल में) कहीं भी चर्चा नहीं थी। इस संस्कार की सर्वप्रथम चर्चा श्रीपति ने ग्रंथ सिद्धान्त शेखर में की। यथा-

अन्त्यभ्रमेण गुणिता रविबाहुजीवा-
ऽभीष्टभ्रमेण विहता फलकार्मुकेण।
बाहोः कलासु रहितास्ववशेषकं ते,
यातासवौ युगयुजोः पदयोर्धनर्णम्।।
(सि०शे० ग्रहयुद्ध श्लो० १)

अर्थात् रविभुजज्या और मिथुनान्त द्युज्या के गुणन फल को इष्टद्युज्या से भाग देने से लव्धफल कला के चाप को रावि भुजज्या से रहित करने पर जो शेष हो उसे सम और विषम पदों में धन-ऋण करने से स्फुट रवि के गत असु होते हैं।

इस वास्तविकता को भास्कराचार्य ने सैद्धान्तिक रूप में परणित किया तथा उसका नाम उदयान्तर[2] दिया।

वर्तमान में दृक्प्रत्यय कारिता के लिये अन्य जिन संस्कारों की आवश्यकता पड़ी एवं वे सैद्धान्तिक रूप में ग्रहों में किये जाने लगे हैं, तो इनको यह मानकर कि ये सभी संस्कार हमारे आचार्यों ने नहीं किये इसलिये वैदेशिक होने से अग्राह्य हैं, यह भ्रम है। आगे आने वाले काल में और भी संस्कार विकसित हो सकते हैं, क्योंकि हमारा मूल बिन्दु ध्रुव चल है।

यही कारण था कि कमलाकर भट्ट ने अपने ग्रंथ सिद्धान्ततत्त्वविवेक में क्षयाधिमास विवेचन के समय आक्षेप किया। भास्कराचार्य के अनुसार क्षय मास कार्त्तिकादित्रय में ही हो सकते हैं, तथा जिस वर्ष क्षयमास होगा उस वर्ष दो अधिक मास होंगे। यथा-

क्षयः कार्त्तिकादित्रये नान्यतः स्यात्
तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयं च।।[3]

---

१. सू०सि० विज्ञान भाष्य टीका श्लो० १४ पृ० १०७.
२. सि०शि० गोलाध्याये मध्यमगति वासना-श्लो० १६.
३. सि०शि० मध्यमा० अधिमास निर्णय श्लो० ६।

इस विषय में यह विचारणीय है कि भाष्कराचार्य के समय में सूर्य का मन्दोच्च २ राशि १७° अंश था[1]। अतः छ राशि के अन्तराल पर (८.१६° पर) मन्दनीच था। उस समय भास्कराचार्य ने "क्षयः कार्त्तिकादित्रये नान्यन्तः स्यात्" ऐसा कहा। इस पर कमलाकर भट्ट ने आक्षेप किया कि सूर्य का मन्दोच्च चल है, तथा ग्रंथ किसी काल विशेष के लिये नहीं लिखा जाता। ग्रंथ की रचना सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक होती है, इस स्थिति में भास्कराचार्य का कार्तिकादित्रय में क्षय मास होता है यह उचित नहीं है।[2] वस्तुतः कमलाकर भट्ट का ऐसा कहना युक्ति संगत है। सूर्य का मन्दोच्च चल होने से कार्त्तिकादित्रय के अतिरिक्त अन्य मासों में भी क्षय मास हो सकता है। मन्दोच्च के चल होने में कारण ध्रुव विन्दु का विचलन होता है। वर्तमान में मन्दोच्च की स्थिति राशि २ अंश २०° के आसन्न है। यही कारण है कि केन्द्रच्युति होने से सभी ग्रहों के भगण पूर्तिकाल अव वे नहीं है जिनको कि हमारे आचार्य मानते चले आ रहे हैं। इन्हीं भगणादिकों में संस्कार कर मकरन्द कार ने अथवा ग्रहलाघव कार गणेश दैवज्ञ ने दृक्पक्षीय गणनायें की तथा अपने काल में शुद्ध एवं दृश्य गणना के पञ्चांगों को विस्तारित किया, इस परिप्रेक्ष में गणेश दैवज्ञ ने स्पष्ट रूप से अपने करण ग्रंथ ग्रहलाघव में स्पष्ट संकेत किया है कि-सूर्यसिद्धान्तानुसार साधित स्पष्टसूर्य और चन्द्रोच्च वेध द्वारा देखने से ठीक मिलते हैं। गुरु-मंगल तथा राहु आर्य सिद्धान्तानुसार मिलते हैं। बुध केन्द्र ब्रह्म सिद्धान्तानुसार मिलता है। ५° अंश सहित शनि आर्य सिद्धान्त में मिलता है। शुक्र केन्द्र ब्रह्म सिद्धान्त और आर्य सिद्धान्त के मध्य में (अर्थात् दोनों पक्ष से साधन कर दोनों पक्ष के योगार्ध में) मिलता है। इस प्रकार ये ग्रह दृक्तुल्य होते हैं। इस ग्रंथ (ग्रह लाघव) में उन्हीं पक्षों से साधित ग्रह हैं। अतः इस समय इन्हीं ग्रहों के द्वारा व्रत पर्व-धर्म नीति आदि सभी शुभ कार्य करना चाहिये।

इतना ही नहीं "गणेश दैवज्ञ" ने "वृहत्तिथिचिन्तामणि" नामक ग्रंथ लिखा है, उसमें स्पष्ट रूप से कहा है-

> **श्रीकेशवः स्फुटतरं कृतवान् हि सौरा-**
> **र्यासन्नमेतदपि षष्ठिमिते गतेऽब्दे।**
> **दृष्ट्वा श्लथं किमपि तत्तनयो गणेशः**
> **स्पष्टं यथा ह्यकृत दृग्गणितैक्यमत्र।।१।।**

---

१. सुधाकर द्विवेदी द्वारा सि०त०वि० की टीका-मध्यमाधिकार श्लो० ५३ टिप्पणी में।
२. सि०त० विवेक मध्यमाधिकार श्लो० ५३-५४।

कथमपि यदिदं चेत् भूरिकाले श्लथं स्या
न्मुहुरपि परिलक्ष्येन्दुग्रहाद्यृक्षयोगम्।
सदमलगुरुतुल्य-प्राप्तबुद्धिप्रकाशैः
कथितसदुपपत्त्या शुद्धिकेन्द्रेप्रचाल्ये[1]।।२।।

भावार्थ यह है कि केशव दैवज्ञ ने सूर्यसिद्धान्त ब्रह्मसिद्धान्त और आर्य सिद्धान्त इनकी गणना से मेल रखने वाला एक शुद्ध ग्रंथ बनाया। वह भी उनके पुत्र गणेश दैवज्ञ ने ६० वर्षों के बाद उनकी गणना में स्थूलता को देखकर स्वयं वेध करके दृग्गणितैक्य शुद्ध ग्रंथ का निर्माण किया। (१)

काल क्रम के अनुसार गणेश दैवज्ञ कृत इस ग्रंथ (ग्रहलाघव) में जब स्थूलता आ जावेगी तव वृहस्पति के समान निर्मल वुद्धि वाले सुवुद्ध विद्वान लोग चन्द्र ग्रहण सूर्यग्रहण ग्रह नक्षत्र एवं इनकी युति आदि को भली भांति बार-बार देखकर पूर्वोक्त सिद्धान्तों में परिष्कार कर चालन आदि द्वारा उन्हें शुद्ध करें। (२)

भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में स्पष्ट रूप से कहा है-

"यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।
स्यात्प्रोच्यते तेन नभश्चराणां स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्यकृद्या"
(सि०शि० स्पष्टा. श्लो० १)

वस्तुतः ग्रहों की गणना किसी भी सिद्धान्त अथवा विधि से की जाये उसमें दृग्गणितैक्यता का होना परमावश्यक है।

समस्त सिद्धान्तकारों एवं आचार्यों का यही मत रहा है। वशिष्ठ का वचन है।

यस्मिन्पक्षे यत्र काले येनदृग्गणितैक्यकम्।
दृश्यते तेन पक्षेण कुर्यात्तिथ्यादिनिर्णयम्।। (वशिष्ठ संहिता)

अर्थात् जिस किसी के मत में, जिस काल में जिस गणित से दृष्टि और गणित का ऐक्य देख पड़े उस मत से तिथि आदि का निर्णय करें। अर्थात् तिथ्यादि का भोग उसी गणना से निकालें।

ऐसा कोई भी ग्रंथ नहीं है, जिसकी गणना से आये हुये सभी ग्रह वेध सिद्ध हों। वार-बार ग्रहों का वेध करके उनमें और गणित में जो अन्तर देखने को मिलता है वही "बीज" कहलाता है। इसीलिये सौर भाष्य में ब्रह्म सिद्धान्त का बचन है-

---

१. सुधाकर द्विवेदी कृत गणक तरंगिणी-गणेश दैवज्ञ परिचय

संसाध्य स्पष्टतरं बीजं नलिकादियंत्रेभ्यः।
तत्संस्कृतग्रहेभ्यः कर्त्तव्यौ निर्णयादेशौ।।

अर्थात् ज्योतिषी को चाहिये कि वह नलिकादि यंत्रों के द्वारा ग्रहों का वेध करके उसमें और गणित में जो "वीज" अर्थात अन्तर हो उसको स्पष्ट सिद्ध करके उसका ग्रहों में संस्कार करे। उन संस्कृत ग्रहों से ही तिथि आदि शुभाशुभ का निर्णय करे।

ब्रह्मगुप्त ने अपने वाह्मस्फुट-सिद्धान्त के आदि में ही लिखा है-

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम्।
अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतेन ब्रह्मगुप्तेन।।
(ब्राह्म स्फु० सिद्धा० मध्य० श्लो० २)

अर्थात् साक्षात् ब्रह्माने जो ग्रहों का गणित कहा है कालक्रम से वह स्थूल हो गया है। इसलिये जिष्णुसुत ब्रह्मगुप्त उसी गणित को स्पष्ट अर्थात् जो अन्तर हो उसे दूर कर (उसे शुद्ध) कर प्रस्तुत कर रहे हैं।

नृसिंहदैवज्ञ जिनका समय शक संवत् १५०८ है (गणक तरङ्गिणी, सुधाकर द्विवेदी) ने जातक सारदीप नामक फलित ग्रंथ लिखा है। इनकी और भी अनेक रचनायें हैं। इस फलित ग्रंथ में दृक्पक्ष के विषय में अनेकों पक्ष प्रस्तुत किये हैं। इसमें एक अध्याय ही दृक्पक्ष से संवंधित है।

उपर्युक्त विचारों से यह निर्भ्रान्त स्पष्ट हो जाता है कि सूर्यसिद्धान्त, ग्रहलाघव, मकरन्द आदि ग्रंथों की दृश्य गणितीय प्रामाणिकता अपने-अपने काल विशेष में थी; किन्तु वर्तमान में उनकी प्रामाणिकता सैकड़ों वर्षों से उचित वीज संस्कार के अभाव में संदिग्ध हो गई। प्रत्येक सिद्धान्तकार ने गणनाओं में दृग्गणितैक्यता को ही स्वीकार किया है। वर्तमान में दृश्य एवं अदृश्य पक्षों के भेद से तिथ्यादिकों के मान में "सप्तवृद्धिदशक्षय" एवं "वाणवृद्धिरसक्षय" का अन्तर मात्र बौद्धिक विवाद है। हमारी सृष्टि की संरचना ही इस प्रकार है कि एक कालावधि में सभी स्थानों पर एक मान से सूर्योदय का होना असंभव है। अतः दिनमान की भिन्नता रहती ही है। कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहां अत्यधिक दिनमान होता है।

धर्म्मशास्त्रों का निर्माण उस काल में हुआ है, जिस समय सभी ऋषि कालातीत ज्ञान मुद्रा में निमग्न रहते थे। उन्हें समस्त काल में आने वाले भेद का ज्ञान था। अतः उनके निर्णय धर्म्मशास्त्रों में सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक हैं। उनके निर्णयों में "सप्तवृद्धिदशक्षय" एवं "वाणवृद्धिरसक्षय" की कहीं वाध्यता नहीं है। अतः धर्म्मशास्त्रीय निर्णयों में कालातिक्रम

के अनुसार आने वाले परिवर्तनों के अनुकूल सभी प्रकार के मार्ग निर्दिष्ट हैं। उन्होंने अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सभी प्रकार के परिवर्तनों को समझाया।

यह श्रुति सम्मत है कि तिथि के ठीक-ठीक ग्रहण करने से अनुष्ठानों का फल भी कल्याणकारी होता है। तिथि की शुद्धता के लिये चन्द्रोदय प्रत्यक्ष प्रमाण है। संकष्ट चतुर्थी या चतुर्थी के दिन चन्द्रोदय का ठीक-ठीक समय पर मिल जाना ही तिथि की शुद्धता होती है। क्योंकि तिथियों से अमृत श्राव का संबंध है। वेदों में कहा गया है कि सूर्य की एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। वह सुषुम्णा नाम की रश्मि है- यथा

अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रतिदीप्यते। (निरुक्त-२।२।२)
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः (शु०य०सं० १८/४०)
सुषुम्णः सुष्ठुमुखः अर्थात् अमृतस्वरूपं सुखम्।
(दुर्गाचार्यवृत्तिः निरुक्ते २।२।२)

इस प्रकार तिथि के ठीक ठीक गृहीत हो जाने से उनके द्वारा होने वाले अमृतश्राव के द्वारा इष्टफल की निश्चित सिद्धि होती है।

अतः यह निर्भ्रान्त सत्य है, कि दृक्प्रत्ययकारिता युक्त ग्रहों से ही ज्योतिष का वेदांगत्व सिद्ध होता है।

●●●

वेध एवं वेधशालाओं की परम्परा

डॉ. विनय कुमार पाण्डेय

ज्योतिष शास्त्र में वेध एवं वेधशालाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस कथन में भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ज्योतिष शास्त्र की आत्मा वेध एवं वेधशालाओं में ही निवास करती है, जिसकी उपेक्षा से इस शास्त्र की स्थिति अकिञ्चित्कर सी हो जाएगी। वेदाङ्गों में ज्योतिष का स्थान नेत्रत्वेन मूर्धा रूप में वर्णित है, जिसका कारण इसकी प्रत्यक्षता भी है। अन्य वेदाङ्ग शास्त्रों में प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण द्वारा समस्त तथ्यों का सम्पादन होता हैं, परन्तु यहाँ प्रत्यक्षता का सर्वोत्कर्ष है। इसलिये यहाँ गणितागत तथ्यों का भी प्रत्यक्षीकरण आवश्यक होता है। यद्यपि गणित शास्त्र स्वयं ही प्रमाणभूत हैं, तथापि ज्योतिष जगत में जव तक गणितागत तथ्यों का भी प्रत्यक्षीकरण नहीं होता तव तक उसकी प्रमाणिकता भी स्वीकार्य नहीं होती। अतएव ग्रन्थों में प्रति पद दृग्गणितैक्य का उद्घोष प्राप्त होता है।[1]

गणित द्वारा साधित ग्रहनक्षत्रादिकों की स्थिति का खगोल में प्रत्यक्ष अवलोकन ही दृग्गणितैक्य है। गोल स्थिति के अवलोकन मात्र से ही स्पष्ट ग्रह का वेध विनिगमकत्व सिद्ध होता है। यद्यपि ग्रह भगण एवं अहर्गण द्वारा मध्यम ग्रह साधन पूर्वक फल संस्कार से स्पष्ट ग्रह का साधन विहित हैं, परन्तु गणित सिद्ध ग्रह के सत्यासत्य ज्ञान में वेध को छोड़कर अन्य कोई सरणि नहीं हैं। स्पष्ट ग्रहों का साधन नलिकादि यन्त्रों द्वारा करना ही सर्वथा अनुकूल हैं, परन्तु प्रति पल वेध क्रिया की कठिनता के कारण प्राचीन आचार्यों ने आगमोक्त ग्रह भगण द्वारा ग्रहानयन का विधान बनाया हैं। लेकिन साथ ही समय-समय पर उनकी शुद्धि परीक्षण के लिए वेध का भी आदेश दिया है। गणितीय सिद्धान्तों के कालजन्य दोष से अतिक्रमित होने के कारण गणितागत ग्रह के दृक्सिद्ध न होने की स्थिति में सिद्धान्त एवं ग्रणित जन्य दोष निवारण के लिए वेध द्वारा ही बीजादि संस्कारों की व्यवस्था शास्त्रों में प्राप्त होती हैं।

ब्रह्माण्डस्थ ग्रहनक्षत्रादि पिण्डों के अवलोकन को वेध कहा जाता है। संस्कृत व्याकरण में वेध व्यध् धातु से निष्पन्न होता है। परिभाषा रूप में नग्ननेत्रया शलाका, यष्टि, नलिका, दूरदर्शक इत्यादि यन्त्रों के द्वारा आकाशीय पिण्ड़ों का निरीक्षण ही वेध है। नलिकादि यन्त्रों से ग्रहों के विद्ध होने के कारण ही इस क्रिया का नाम वेध विश्व विश्रुत हैं। दृष्टि एवं यन्त्र भेद से वेध दो प्रकार का होता हैं।

---

१. यात्रा विवाहोत्सवजातकादौ, खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्। स्यात् प्रोच्यते तेन नभश्चराणां, स्फुटक्रिया दृग्गणितैक्यकृद्या।। सि०शि०-स्व०, श्लोक०-१.

दृष्टि वेध भी अन्तर्दृष्टि वेध एवं बाहय दृष्टि वेध के भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ महार्षियों द्वारा यम-नियम-आसन-प्राणायामादि तपस्याओं से भक्ति ज्ञानजन्य नेत्र द्वारा ब्रह्माण्डस्थ पिण्डों के अवलोकन को अन्तर्दृष्टि वेध तथा स्व-स्व नग्न नेत्र द्वारा खस्थ पिण्डावलोकन को वाह्य दृष्टि वेध माना जाता है। जब हम चक्र, नलिका, शङ्कु, दूरदर्शक आदि वेध उपकरणों से सूर्यादि ज्योतिष पिण्डों को देखते है तो यन्त्र वेध होता है।

ब्रह्माण्ड की अनन्त रमणीय सत्ता तक मानव भले ही न पहुँच पाये परन्तु उसका नाचिकेत भाव ब्रह्माण्ड के ग्रह-नक्षत्रादि पिण्डों के बारे में जानने के लिए सदा ही उद्यत रहा है। सृष्ट्यारम्भ काल से ही गगनस्थ पिण्डों की गति स्थिति इत्यादि से चमत्कृत मनुष्यों ने सतत अन्वेक्षण पूर्वक वेध प्रक्रिया विकसित की ''प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'' सिद्धान्त के अनुसार न केवल आकाशीय चमत्कार अपितु काल ज्ञान की जिज्ञासा ने भी मानवों को आकाश के अन्वेक्षण के लिए वाध्य किया। प्राचीन काल में मनुष्य जंगलों में वास करता था रात्रि काल में वन के हिंसक पशुओं के भय से वृक्षों या गुफाओं में शरण लेकर सूर्योदय या चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करता था। इस आत्मरक्षा रूप सूर्योदय की प्रतीक्षा ने भी मानवों को गगनान्वेक्षण में प्रवृत्त किया। वस्तुतः ज्योतिष शास्त्र का उद्भव ही महर्षियों के आश्रमों तपोवनों में आकाश दर्शन परम्परा से ही हुआ होगा, इस कथन में भी मिथ्या प्रतीति नहीं होती। परन्तु यह भी सत्य है कि उस समय विकसित वेधोपकरणों एवं वेधशालाओं का अभाव था। परन्तु कुछ यन्त्र अवश्य ही रहे होंगे, जिनका वर्णन लिखित रुप में प्राप्त नहीं होता।

वैदिक काल से ही नक्षत्रों श्वान-नौका प्रजापति ब्रह्मादि तारापुंजों का सप्तर्षि मण्डल एवं नक्षत्रों की युति अन्तर आदि का वर्णन मिलता हैं, जिनका ज्ञान वेध के विना सम्भव नहीं था। वेदों में वर्णित आकाशीय घटनाओं का उल्लेख वेध सम्वन्धित कुछ साक्ष्य उपस्थापित करता हैं।

'अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहतिः''[1]

इस प्रसङ्ग में नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा की स्थिति सूचित हैं। ऋग्वेद संहिता के एक प्रसङ्ग में वृहस्पति का पुष्य नक्षत्र के साथ उदय निर्दिष्ट हैं-'बृहस्पतिः प्रथमन्जायमानो तिष्यं नक्षत्रमभिसम्वभूव' (४।५०।५) यजुर्वेद में नक्षत्र दर्शन का वर्णन भी प्राप्त होता हैं।[2] वाजसनेयी संहिता के 'प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम्' उक्ति से भी स्पष्टतया वेध परिलक्षित होता हैं। शतपथ ब्राह्मण के 'स एव शुक्रः यो हि चमत्कृतो सर्वाधिकः' (४.२.१) के अनुसार सबसे अधिक प्रकाशवान ग्रह शुक्र है। ऐतरेय ब्राह्मण (४०.५) के अनुसार अमावस्या में चन्द्रमा

---

१. ऋग्वेद-१०/८९/२.
२. यजुर्वेद-३०/१०.

सूर्य में प्रवेश करता है तथा सूर्य से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। इस मत के अनुसार 'दर्शः सूर्येन्दु सङ्गमः' का सिद्धान्त ध्वनित होता है जिसका ज्ञान वेध के विना असम्भव हैं। क्रम वद्ध रूप में आकाश दर्शन की परम्परा से 'न क्षरतीति नक्षत्रम्' गच्छतीति ग्रहः इत्यादि ग्रह नक्षत्रों की व्याकरण शास्त्रीय व्युत्पत्तियां सिद्ध हो पायी हैं। वेदों के समग्रावलोकन से प्राप्त ज्योतिषीय तथ्यों के अवगमन द्वारा सारांश रूप में कह सकते हैं कि वैदिक काल में भी वेध परम्परा अवाघ गति से प्रचलित थी, परन्तु किन स्थलो (वेधशालाओं) पर किस साधनों (यन्त्रों) द्वारा वेध सम्पादित होते थे इस विषय में दृढ़ता पूर्वक कुछ भी कहना वड़ा ही कठिन होगा।

वैदिक काल के अनन्तर लगध प्रणीत 'वेदाङ्ग ज्योतिषम्' नामक ग्रन्थ हैं। इस ग्रन्थ में भी स्पष्टतया कहीं भी वेध एवं वेधशालाओं का वर्णन प्राप्त नहीं है, परन्तु उत्तरायण सूर्य के दिन वृद्धि एवं दक्षिणायन के दिन ह्रास प्रसङ्ग में दिन मापक किसी पानीय यन्त्र का संकेत प्राप्त होता है।[1] शङ्कर बाल कृष्ण दीक्षित के अनुसार 'अथर्वज्योतिष' नामक ग्रन्थ में द्वादशाङ्गुल शङ्कु की छाया का वर्णन भी प्राप्त होता है। लेकिन वहाँ भी कालान्तर जन्य दोषों के निवारणार्थ किसी भी विधि का निर्देश नहीं है। शुल्वसूत्रों में यज्ञ सम्पादन के प्रसङ्ग में कुण्ड मण्डपादि साधन के लिए शङ्कु द्वारा दिग् साधन का उल्लेख प्राप्त होता है। कौषीतकी ब्राह्मण में सूर्योदय बिन्दु के चल होने का स्पष्ट वर्णन हैं। महाभारत काल में भी ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति का समुचित ज्ञान था। शल्य पर्व में शुक्र एवं मंगल के चन्द्रमा से युति का वर्णन प्राप्त होता है।[2] भीष्म पर्व में तो ग्रहों के युति-अन्तरादि विषयों के अनेक उदाहरण उपलब्ध है। भारतीय ज्योतिष नामक ग्रन्थ में गोरख प्रसाद ने स्वीकार किया है कि ग्रहगणित का सम्यक् ज्ञान अत्रि गोत्रीय लोगों के पास था।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल वेदाङ्ग काल एवं महाभारत काल में वेधोपयोगी यन्त्रों एवं वेधशालाओं का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता, तथापि तत्कालीन दैवज्ञगण किसी न किसी प्रकार से आकाशीय पिण्डों का निरीक्षण अवश्य ही करते थे जिसके परिणम आज के आधुनिक यन्त्रों द्वारा वेधित परिणामों के भी आसन्न दिखाई देते हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों का आक्षेप है कि वेध क्रिया से अपरिचित भारतीयों ने ग्रीक देशीय विद्वानों का अनुकरण कर वेध सम्वन्धि ज्ञान प्राप्त किया[4] परन्तु वेद वेदाङ्गादि ग्रन्थों में वर्णित ग्रहों के युति-अन्तरादि सम्वन्धि दृष्टान्त एवं अन्य खगोलीय सूक्ष्म तथ्य पाश्चात्यों के आक्षेप के समुचित उत्तर हैं। सम्भवतः प्राचीन काल में प्रायोगिक एवं व्यवहारिक ज्ञान के लेखन की परम्परा नहीं थी।

---

१. धर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ। दक्षिणे तौ विपर्यासः षड्मुहूर्त्ययनेन तु।।८।।

२. भृगुसूनु धरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ। महाभारत-शल्यपर्व ११/१८.

३. भारतीय ज्योतिष-गोरखप्रसाद, पृष्ट ३४.

४. भारतीय ज्योतिष-वा.कृ.दी., पृष्ट, १३६

सभी ज्योतिष ज्ञानार्थी गण गुरु आश्रम में वास करते हुए तत सम्बन्धि ज्ञानों का अभ्यास करते थे। अतएव प्राचीन भारतीय ज्योतिष के इतिहास में लिखित रूपेण तेधोपकरणों एवं वेधशालाओं का वर्णन प्राप्त नहीं होता।

'सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रि'............इत्यादि ज्योतिष शास्त्र प्रवर्तकों में सूर्य का वर्णन सर्व प्रथम उद्धृत है, अतः सूर्योक्त सूर्यसिद्धान्त ज्योतिष शास्त्र का प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ स्वीकृत है। सूर्य सिद्धान्तोक्त प्रमाण के अनुसार इस ग्रन्थ का अपौरुषेयत्व एवं कृतयुगान्त रचना काल सिद्ध होता है। इसके स्पष्टाधिकार में स्पष्ट वर्णन है कि जिस विधि से ग्रह दृष्टि में उपलब्ध होते हैं, उस क्रिया को कह रहा हूँ।[1] ग्रन्थ के अन्त में गोल, वीज, शङ्कु, कपाल एवं मयूर इत्यादि यन्त्रों का वर्णन मिलता हैं।[2]

परन्तु वहाँ भी यन्त्रों के निर्णाण एवं प्रयोग की विधि नहीं दी गयी है। फिर वेध विधि विकास पथ में अग्रसरित दिखाई देती है। पौरुषेय ज्योतिषशास्त्रीय सिद्धान्त ग्रन्थों में सर्व प्रथम 'आर्य भट्टीय' उपलब्ध हैं। इसकी रचना ३९८ शक में आर्यभट ने किया था। इस ग्रन्थ में कालमापक स्वयंवह यन्त्र की निर्माण एवं प्रयोग विधि निर्दिष्ट है तथा शङ्कु यन्त्र का भी वर्णन मिलता है। इसके वाद मध्ययुगीय परम्परा में वेध की दिशा में क्रमशः सार्थक प्रयास दिखाई देता है। वाराहमिहिर के पञ्चसिद्धान्त में वेध सम्पादन पूर्वक बीज संस्कार भी दिखाई देता है। वराहमिहिर के अनन्तर वेध परम्परा में ब्रह्मगुप्त का महत्वपूर्ण योगदान हैं। इनका जन्म ५२० शकाब्द में हुआ था। ब्रह्मगुप्त महान दैवज्ञ वेधकुशल एवं दृक्सिद्ध ग्रहों के पोषक थे। इन्होंने वेध द्वारा यह अनुभव किया कि प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा दृक् सिद्ध ग्रह प्राप्त नहीं होते। अतः ब्रह्मगुप्त ने स्फुट दृक्सिद्ध ग्रहों के आनयन के लिए 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' की रचना की। इस ग्रन्थ में स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है कि नलिकादि यन्त्रों द्वारा स्पष्टतर वीज का साधन कर उससे संस्कृत ग्रहों द्वारा ही निर्णय एवं आदेश करना चाहिए।[3] स्वयं भी इन्होंने अपने काल के प्रचलित सिद्धान्तों द्वारा साधित ग्रहों की दृक् सिद्धता के लिए वेध द्वारा बीज व्यवस्थित किया हैं। इनके द्वारा प्राप्त वेध परिणामों ने न केवल भारत अपितु अरबदेशों को भी प्रभावित किया। इनके काल की वेध परम्परा अपेक्षा कृत सुदृढ़ दिखाई देती है। इनके ग्रन्थ 'खण्डखाद्यकरण' में अनेक नूतन यन्त्रों का समावेश है। ब्रह्मगुप्त के वाद १४४२ शक काल तक वेध परम्परा वृद्धि पथ में दिखाई देती है। इस वीच मुञ्जाल, श्रीधराचार्य, श्रीपति, भास्कराचार्य, बल्लालसेन, केशवार्क, महेन्द्रसूरि, मकरन्द, केशव, ज्ञानराज इत्यादि वेध निपुण दैवज्ञों के प्रयास वेध की दिशा में अनन्यतम स्थान रखते हैं। दृक्सिद्ध ग्रह साधन एवं वेध परम्परा मेकेशवदैवज्ञ तथा

---

१. तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा दृकतुल्यतां ग्रहाः प्रयान्ति तत् प्रवक्ष्यामि स्फुटी करणमादरात्।।१४

२. शङ्कुयप्टिधनुश्चक्रैश्छाया यन्त्रैरनेकधा। गुरूपदेशात् विज्ञेयं कालज्ञानमतन्द्रितैःसू० सि० ज्यौ०, २०।

३. संसाध्य स्पप्टतरं वीजं नलिकादि यन्त्रेभ्यः। तत्संस्कृतग्रहेभ्यः कर्त्तव्यौ निर्णयादेशौ।।३।।

उनके पुत्र गणेश दैवज्ञ का भी महत्वपूर्ण स्थान है। केशव दैवज्ञ वेध क्रिया में अतीव दक्ष दिखाई देते है। १४१८ शक के लगभग इन्होंने ग्रह कौतुक नामक करण ग्रन्थ की रचना वेधसिद्ध ग्रहों के आधार पर की। ग्रहकौतुक के स्वकृत मिताक्षरा टीका में अपने द्वारा किए गये वेध का जैसा स्पष्ट वर्णन इन्होंने दिया है वैसा अन्यत्र ग्रन्थों में नहीं दिखाई पड़ता। कलान्तर से इनके ग्रन्थ को भी वेध द्वारा स्थूल देखकर इनके पुत्र गणेश दैवज्ञ ने, वेध द्वारा प्राप्त निष्कर्षों से 'ग्रहलाघव' नामक करण ग्रन्थ की रचना की। इसके ग्रह अपने काल में पूर्णतया दृष्ट थे। अपने समय के प्रचलित सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए इन्होंने स्पष्ट लिखा है किस मत के अनुसार कौन ग्रह कितना अन्तरित दिखाई देता है। आज भी घहलाग्रवीय गणित द्वारा अनेक पञ्चाङ्ग प्रकाशित होते हैं परन्तु कालान्तर जन्य प्रभाव से ग्रहलाघवीय ग्रह स्थूल हो चुके हैं। गणेश दैवज्ञ ने कालान्तर में होने वाली अशुद्धि की सम्भानाओं से सावधान करते हुये अपने ग्रन्थ में स्पष्ट आदेश किया है कि कालान्तर जन्य प्रभाव से यदि ग्रहलाधवीय सिद्धान्त भी स्थूल हो जाये तो दैवज्ञों को वेध द्वारा स्पष्ट स्थिति ज्ञान कर इसके सिद्धान्त में परिष्कार कर दृकूसिद्ध ग्रहों का साधन करण चाहिए[1]। इसके वाद लगभग दो शताब्दियों तक ज्योतिष एवं वेध परम्परा का प्रचार प्रसार सामान्य गति से चलता रहा। इसके बीच अनेक विद्धान् हुए जिनमें कमलाकर भट्ट एवं मुनीश्वर आदि प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों में भी वेध सम्वन्धि पूर्वागत परम्परा का ही परिपालन है।

इस तरह सूर्यसिद्धान्त या आर्यभट के काल से आरम्भ कर लगभग १५ वीं शताब्दी तक मुख्यतया शङ्कुयन्त्र, घटीयन्त्र, नलिका यन्त्र, यष्टियन्त्र, चापयन्त्र, तुरीययन्त्र, फलक यन्त्र, दिगंशयन्त्र, एवं स्वयंवह यन्त्र का ही प्रयोग दिखाई देता है। इस काल के कुछ स्वतन्त्र वेध ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें यन्त्रों के निर्माण एवं प्रयोग विधि का सुस्पष्ट समावेश है, कुछ गन्थों में तो वर्णित यन्त्रों द्वारा साधित गणितीय तथ्य भी निर्दिष्ट हैं। उनमें से कुछ प्रमुख वेध ग्रन्थों का परिचय निम्न प्रकार हैं-

यन्त्रराज-१२९२ शक में महेन्द्रसूरी द्वारा विरचित यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, इसमें यन्त्रराज नामक यन्त्र के निर्माण एवं प्रयोग विधि का उल्लेख हैं। ग्रन्थारम्भ में वर्णित उद्धरणों द्वारा प्रतीत होता है कि इनके समय में यवनों ने वेध के क्षेत्र में अच्छी उन्नत्ति प्राप्त कर ली थी।

यन्त्रशिरोमणि- १५३७ शालिवाहन शक में श्री विश्रामपण्डित द्वारा विरचित इस ग्रन्थ में यन्त्रों का वर्णन एवं क्रान्ति तथा द्युज्यापिण्डों के साधनार्थ सारणियां दी गई हैं। इनसे पूर्व के ग्रन्थों में पद्मनाभ विराचित नलिकायन्त्राध्याय एवं ध्रुवभ्रमयन्त्र, चक्रधर दैवज्ञ विरचित यन्त्रचिन्तामणि, ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ विरचित प्रतोदयन्त्र, पूर्णानन्दसरस्वती

---

१. केतकीग्रहगणितम्, पृष्ठ ८

रचित नलिकावन्ध, इत्यादि प्रमुख हैं। यद्यपि इस काल में वेध प्रक्रिया विकासित हो चुकी थी नये यन्त्रों का अविष्कार भी प्रचलन में था परन्तु स्थायी वेध शालाओं की चर्चा कहीं भी प्राप्त नहीं होती।

१५ वीं शताब्दी तक यूरोप एवं अरव देशों में वेध प्रक्रिया बहुत विकसित हो चुकी थी। हिपार्कस, टालमी इत्यादि विद्वान अपनी वेध क्षमता से अनेक नूतन तथ्य उपस्थापित कर लिये थे। १३६३ ई० १४३६ ईस्वी के मध्य तैमूरलंग के पौत्र उलूकवेग ने भी वेध के क्षेत्र में सराहनीय प्रयास किया था। उलूकवेग समरकन्द का वादशाह एवं खगोल विद्या का प्रेमी था। अतः इसने अपने राज्य में एक वेधशाला का निर्माण कर वेध द्वारा ग्रह नक्षत्रों की अनेक सारगियां निर्मित की थी।

१५ वीं शताब्दी के अनन्तर कालक्रम से वेध विषयक ज्ञान में वृद्धि हुई। पूर्व प्रचलित शङ्कु यष्टि नलिका इत्यादि यन्त्रों के स्थान पर धातु निर्मित लघु यन्त्रों का प्रयोग होने लगा। कालान्तर में लघु यन्त्रों के परिणाम की स्थूलता देखकर ईंट पत्थर एवं चूर्ण इत्यादि से वड़े आकार के यन्त्रों एवं विस्तृत वेधशालाओं का निर्माण एवं प्रयोग होने लगा। सम्प्रति दूरदर्शक आदि अत्याधुनिक वेध यन्त्र आविष्कृत हो चुके हैं, एवं आज-कल प्रायः इन्हीं आधुनिक यन्त्रों की सहायता से वेध कार्य सम्पादित होते हैं।

भारतीय वेध परम्परा का स्वर्ण काल महाराज सवाई जय सिंह के काल से प्रारम्भ होता है। यद्यपि जय सिंह के पूर्ववर्ती वेध कुशल दैवज्ञों ने वेधशालाओं का निर्माण कर वेध कार्य सम्पादित किया था, तथापि वेधशालाओं की परम्परा में सवाई जयसिंह की तरह सुव्यवस्थित एवं व्यापक कार्य भारतीय ज्योतिष शास्त्र के इतिहास में नहीं दिखाई देता। इनका जन्म ३ नवम्वर १६८८ ई० को कछवाहा वंशीय आम्वेर नरेश महाराज विशन सिंह तथा महारानी राज कुवँर के घर हुआ था।[१] जय सिंह बाल्यावस्था से कुशाग्रवुद्धि एवं प्रतिभा सम्पन्न थे। आठ वर्ष की अवस्था में ही जयसिंह की वाक्पटुता से प्रसन्न होकर औरंगजेव ने इन्हें 'सवाई' की उपाधि प्रदान की थी। १२ वर्ष की अवस्था में ही सवाई जयसिंह को युद्धकला एवं राज्य प्रवन्धन के साथ ही डिंगल संस्कृत फारसी, अरवी, तुरुष्की आदि भाषाओं का सम्यक् ज्ञान हो गया था। यद्यपि जय सिंह नें वेद वेदाङ्गादि अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया परन्तु बाल्यकाल से ही स्वाभाविक रूप में खगोल एवं ज्योतिः शास्त्र में उनकी विशेष अभिरुचि थी। कालान्तर में इन्होंने निज गुरु जगन्नाथ सम्राट द्वारा ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन एवं अभ्यास कर दक्षता प्राप्त की। अध्ययन एवं अभ्यास के क्रम में जय सिंह ने अनुभव किया कि प्रचलित संस्कृत एवं अरबी भाषाओं के पंचाङ्गों में ग्रह-नक्षत्रों की जो स्थितियां अङ्कित की जाती है उनका वेध द्वारा आकाश में

---

१. सवाईजयसिंह, वी० भटनागर, पृष्ट ६.

प्रत्यक्षीकरण नहीं होता अर्थात् वेधसिद्ध एवं गणित सिद्ध ग्रहों में अन्तर आता है। अतः इसके निवारण हेतु जयसिंह वेध विधि द्वारा सूक्ष्माति सूक्ष्म नूतन पंचाङ्ग सारणी निर्माण हेतु उद्यत हुए। इस क्रम में सर्व प्रथम इन्होंने पीतलधातु से निर्मित लघु यन्त्रों का निर्माण किया, परन्तु शीघ्र ही अनुभव हुआ कि धातुनिर्मित लघु यन्त्रों से प्राप्त वेध परिणाम त्रुटिपूर्ण हैं। क्यों कि आकार में छोटें होने के कारण उन यन्त्रों में अंकों के सूक्ष्म विभाजन की समस्या, तलपरिवर्तन तथा अनेक बार प्रयोग से यन्त्रों के परस्पर घिस जाने के कारण यन्त्रों द्वारा दीर्घकाल तक सही परिणाम नहीं प्राप्त किए जा सकते। अतः इन समस्याओं के निवारण एवं सूक्ष्म परिणाम प्राप्ति के लिए अरब तथा यूरोप देशीय ज्योतिषियों को आमन्त्रित कर भारतीय दैवज्ञों के समन्वय से भारत में पाँच प्रमुख नगरों दिल्ली, वाराणसी, उज्जैन मथुरा एवं जयपुर में १७२४ ईस्वी से १७३८ ईस्वी के मध्य स्निग्ध श्वेत एवं रक्तवर्णीय पाषाण खण्ड़ों से अनेक वेधशालाओं का निर्माण कर ज्योतिष क्षेत्र को उपकृत किया।

दिल्ली वेधशाला-

१. मिश्रयन्त्र, (यह यन्त्र दक्षिणोत्तरभित्ति, सम्राट, अग्रार्क राशिवलय एवं नियतचक्र यन्त्रों का सम्मिलित रूप हैं)

२. सम्राट् यन्त्र। ३. धूप घटिकायन्त्र। ४. षष्ठांश यन्त्र। ५. जयप्रकाश यन्त्र। ६. राम यन्त्र।

जयपुर वेधशाला-

१. लघुसम्राट् यन्त्र। २. सम्राट् यन्त्र। ३. सम्राट् यन्त्र का छत्र। ४. ध्रुवदर्शक यन्त्र। ५. नाड़ीवलय यन्त्र। ६. क्षितिजीय धूपघटिका। ७. क्रान्तिवृत्त यन्त्र। ८. यन्त्र राज। ९. उन्नतांश यन्त्र। १०. दक्षिणोत्तर भित्रि यन्त्र। ११. जयप्रकाश यन्त्र १२. षष्ठांश यन्त्र। १३. राशिवलय यन्त्र। १४. कपाल यन्त्र। १५. चक्र यन्त्र। १६. रामयन्त्र। १७. दिगंश यन्त्र। १८. यन्त्रराज।

उज्जैन वेधशाला-

१. सम्राट् यन्त्र २. दक्षिणोत्तरभित्ति यन्त्र। ३. नाडीवलय यन्त्र। ४. दिगंश यन्त्र। ५. शंकु यन्त्र। ६. दिक्साधक यन्त्र। ७. धूप घटिका यन्त्र।

वाराणसी वेधशाला-

१. सम्राट् यन्त्र। २. लघु सम्राट् यन्त्र। ३. दक्षिणोत्तरभित्ति यन्त्र। ४. नाड़ीवलय यन्त्र। ५. दिगंश यन्त्र। ६. चक्र यन्त्र।

सम्प्रति मथुरा वेधशला का अस्तित्व समाप्त हो चुका हैं, परन्तु लिखित प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यहाँ विषुववृत्तीय यन्त्र, छादिसमस्थानक यन्त्र, षष्ठांश यन्त्र एवं क्षितिजवृत्त यन्त्रों का निर्माण हुआ था। इन वेधशालाओं में अनवरत वेध सम्पादन पूर्वक जयसिंह ने ग्रह-नक्षत्रों की अनेक सारणियों का निर्माण कराया जिसके द्वारा सधित ग्रह दृक्तुल्य होते थे। सवाई जय सिंह की इच्छा से इनके गुरु जगन्नाथ सम्राट् ने दिल्ली-जयपुर आदि वेधशालाओं में वेध सम्पादित कर प्राप्त परिणामों की समीक्षा पूर्वक अरवी भाषा में 'जिजमुहम्मदशाही'' तथा संस्कृत भाषा में 'सिद्धान्त सम्राट् नामक ग्रन्थों की रचना की। इस ग्रन्थ में उलूगवेग आदि प्राचीन वेध कर्ताओं के सिद्धान्तों से तुलना कर ग्रह-ग्रहगति इत्यादि का आनयन किया गया हैं। इन्होंने जयसिंह द्वारा स्थापित वेधशालाओं में अनेक बार वेधकर ग्रहर्क्षों की गति स्थिति आदि का निर्धारण किया था। इनके द्वारा किये गये वेधों से प्राप्त परिणामों का उल्लेख 'सिद्धान्त सम्राट्' ग्रन्थ में दिखाई देता हैं।

वेध एवं वेध शालाओं की परम्परा के सन्दर्भ में गणपतिदेव शास्त्री ने 'दृक्सिद्धपञ्चाङ्ग निर्माण पद्धति' की भूमिका में लिखा हैं कि दृग्गाणितैक्य सम्पादन की परम्परा ग्रहलाघवकार गणेश देवज्ञ के काल तक अनवच्छिन्न रूप में दिखाई देती हैं, परन्तु तदनन्तर इस परम्परा में सवाई जयसिंह का ही योगदान प्रशंसनीय हैं। जयसिंह के अनन्तर आधुनिक वेध कर्ताओं में सर्व प्रथम वेंकटेशवापूशास्त्री केतकर महोदय का नाम स्मरणीय है। इन्होंने प्राच्य पाश्चात्य ग्रहगणित के समन्वय से १८१८ शक में सूक्ष्म सिद्धान्त मण्डित 'केतकी ग्रह गणित' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसी क्रम में १८३५ ई० के उड़ीसा प्रान्त के सामन्त चन्द्र शेखर का भी वेध के क्षेत्र में योगदान स्मरणीय हैं। इन्होंने दृग्गणितैवय सम्पादन के लिए प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत यन्त्र वर्णन के अनुसार कुछ यन्त्रों का निर्माण कर वेध द्वारा सिद्धान्त दर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की। ज्योतिष शास्त्र के आधुनिक वेध परम्परा में डॉ० मेघनाद साहा, प्रो० एस० चन्द्रशेखर, डॉ० चन्द्रिका प्रसाद, डॉ० हरिकेशव सेन, डॉ० रामसिंह कुशवाहा, श्री गोरख प्रसाद, महामहोपाध्याय डॉ० सुधाकर द्विवेदी, डॉ० सम्पूर्णानन्द, पं० कल्याण दत्त शर्मा इत्यादि दैवज्ञ अभिनन्दनीय तथा स्मरणीय हैं। इन लोगों ने वेध के क्षेत्र में विदेशों में भी ख्याति आर्जित की हैं।

१३ वीं शताब्दी में 'पोप ग्रिगरी' द्वारा रचित 'वांशिगटन' वेधशाला पाश्चात्य देशीय वेध शालाओं में उपलब्ध सवसे प्रचीनतम वेधशाला हैं। उसमें आज भी वेध कार्य सुचारु रूप से होते हैं।[1] 'ज्योतिर्विनोद' नामक ग्रन्थ के अनुसार सम्प्रति अमेरिका जैसी विशालतम वेधशालायें अन्य किसी राष्ट्र में नहीं हैं। इनमें तीन वेधशालायें प्रमुख हैं- १. लिंक वेधशाला २. प्रो० लावेल की वेधशाला, ३. हार्वर्ड विश्व विद्यालयस्थ वेधशाला। रामनाथ सहाय के

१. अर्वाचीनं ज्योतिर्विज्ञानम्, पृ० २००।

अनुसार अमेरिका के कैलीफोर्निया प्रान्त में 'फ्लोमर' पर्वत पर स्थित वेधशाला आधुनिक वेधशालाओं में अग्रणी हैं। आधुनिक भारतीय वेधशालाओं में मद्रास वेधशाला-'ईस्ट इंडिया' कंपनी द्वारा निर्मित है। इसका निर्माण जलपोतों के आवागमन हेतु ग्रह क्षत्रों की सहायता से काल एवं दिशा ज्ञान के लिए किया गया था।

कोडाईकनाल वेधशाला- तमिलनाडु प्रदेश के कोडाईकनाल नामक स्थान पर लगभग ८००० फुट की ऊचाई पर स्थित यह वेधशाला सौर वेधशाला के रूप में विश्रुत हैं, क्यों कि यहाँ सौर अनुसन्धान की विशेष व्यवस्था हैं।

उटकमण्ड-वेधशाला-नीलगिरि पर्वत पर 'टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान' के द्वारा स्थापित वेधशाला अद्वितीय है। इसमें एक विशाल रेड़ियों दूरदर्शक यन्त्र स्थापित हैं।

उस्मानिया वेधशाला-उस्मानिया विश्वविद्यालय के खम्मल विज्ञान विभाग द्वारा हैदराबाद में स्थापित यह वेधशाला अत्यन्त सुव्यवस्थित हैं। यहाँ अनेक दूरदर्शक यन्त्र हैं।

उदयपुर वेधशाला-राजस्थान प्रान्त के उदयपुर नगर में फतेहसागर जलाशय के निकट १९७५ ई० में स्थापित यह वेधशाला उत्तम हैं।

नैनीताल वेधशाला- उत्तरांचल प्रदेश के नैनीताल शहर में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा १९५५ ई० में स्थापित यह वेधशाला उत्कृष्ट रूप में खगोल विषय अनुसन्धान में सतत प्रयत्नशील हैं।

इन आधुनिक वेधशालाओं के अतिरिक्त राष्ट्र के अनेक भागों में कृत्रिम तारामण्डल भी स्थापित हैं।

●●●

अरबी एवं भारतीय ज्योतिष

डॉ. गिरिजाशंकर शास्त्री

कहा जाता है कि 'अलीइब्नजियाद अलतमीमी' नामक अरबी ग्रन्थकार ने 'जीजल शहरयार' नामक पुस्तक का फारसी से अनुवाद किया था। पुस्तक के नाम से स्पष्ट होता है कि यह ज्योतिष शास्त्र की पुस्तक थी। जिस समय अलेबरुनी ने अपना ग्रन्थ 'काल गणना' लिखी, उस समय यह ग्रन्थ विद्यमान था।[१] इसी ग्रन्थ से प्रसिद्ध ज्योतिक्षी अलख्वारिज्मी ने फारसी ज्योतिष संबंधी जानकारी प्राप्त की थी जिसका परिचय उसने खलीफा मामू की आज्ञानुसार बनाए हुए अपने ग्रन्थ के सार में दिया है। अलख्वारिज्मी का पूरा नाम अबू अब्दुल्ला मुहम्मद इब्न-मूसा-अलख्वारिज्मी था। इसका जन्म ख्वारेज्म प्रदेश के खीवा नगर वर्तमान उजबेकिस्तान में ७८३ ई० में हुआ था। इसके करीब दो सौ साल बाद अलबेरुनी (९७३-१०४८ ई०) भी ख्वारेज्म में ही पैदा हुआ था।

अलख्वारिज्मी ने भारत में खोजी गयी शून्य-सहित दस अंकों पर आधारित स्थानमान अंक-पद्धति का परिचय देने के लिए अरबी में एक पुस्तक लिखी थी। बारहवीं ईसवी में इस पुस्तक का लैटिन में अनुवाद हुआ था।[२] लैटिन में इसका नाम है-लिबेर अलगोरिज्मी दे न्यूमेरो इन्दोरम अर्थात् हिन्द के अंकों के बारे में अलख्वारिज्मी की पुस्तक। यूरोप में यह पुस्तक इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि भारतीय अंक-पद्धति से की जाने वाली गणनाओं के अर्थ में वहाँ 'अलगोरिज्म' शब्द ही रूढ़ हो गया। भारतीय अंकों पर आधारित अंकगतिण के अर्थ में इस शब्द के विभिन्न रूप यूरोपीय भाषाओं में सदियों तक प्रचलित रहे। संगणकों के लिए गतिण के सूत्रों को दिए जाने वाले विशिष्ट रूप के अर्थों में आज भी 'अलबोरिथम' शब्द का खूब प्रयोग होता है।

अलख्वारिज्मी ने अंकगणित के विषय में जो ग्रन्थ लिखा, उसका अरबी नाम था- 'हिसाब अल्-हिन्द' या 'किताब अल्-जाम व तफरीक बि हिसाब 'अल्-हिन्द' अर्थात्, हिन्द के हिसाब में जोड़ और घटाने की पुस्तक। इस पुस्तक में शून्य पर आधारित नयी दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति में अंकगणित को समझाया गया है। इस अंक-पद्धति का आविष्कार भारत में हुआ था, इसलिए अल्-ख्वारिज्मी तथा अनेक अरबी गणितज्ञों ने इसे 'हिन्द का हिसाब' कहा है। अल्-ख्वारिज्मी की इस पुस्तक से पहले इस्लामी देशों को और बाद में यूरोप को व्यापक जानकारी मिली। अल्-ख्वारिज्मी की यह पुस्तक मूल अरबी में आज उपलब्ध नहीं है, पर इसका लैटिन अनुवाद प्राप्य है। इंग्लैण्ड में बाथ स्थान के निवासी

---

१. "क्रोनोलोजी आफ एन्शियन्ट नेशन्स"-एडवर्ड सी० साचाऊ, लन्दन।

२. डर्क जे० स्त्रुइक, ए कन्साइज हिस्ट्री आफ मैथेमेटिक्स, लन्दन १९५९।

'एदेलार्द' ने ११२६ ई० के आस-पास स्पेन के एक अरबी विद्या केन्द्र में इस पुस्तक का अनुवाद किया था। इस पुस्तक ने यूरोप के गणितज्ञों को इतना अधिक प्रभावित किया कि वहाँ नयी भारतीय अंक-पद्धति से की जाने वाली गणनाओं के लिए अल्-ख्वारिज्मी का ही नाम (अलगोरिज्म) प्रचलित हो गया।

अल्-ख्वारिज्मी ने अपनी पुस्तक में जिन भारतीय अंकों का प्रयोग किया है, उन अंकों को 'गुबार अंक' (हरूफ अल्-गुवार) कहा है। ये अंक भारतीय है, जो ब्राह्मी अंकों से विकसित हुए है। अरबों के साथ यही अंक स्पेन में पहुँचे और बाद में यूरोप में फैले। स्पेन में लिखी गई ९७६ ई० की एक हस्तलिपि में पहली वार भारतीय मूल के ये अंक देखने को मिलते है। दसवीं सदी के एक यूरोपीय विद्वान् 'झेरवार' ने भारतीय अंकों के प्रचार का बड़ा काम किया। स्पेन के यहूदी विद्वान् 'रब्वी वेन एजरा' (१०९५-११६७ ई०) ने भारतीय अंक तथा अंक गणित की जानकारी देने के लिए एक पुस्तक लिखी थी। इतालवी गणितज्ञ 'लियोनार्दो' 'फिबोनकी' (लगभग ११७०-१२४५ ई०) ने भारतीय अंकों के प्रचार में बड़ा योगदान दिया, परन्तु यूरोप के गणितज्ञों पर सबसे अधिक प्रभाव अल्-ख्वारिज्मी की 'हिसाब अल्-हिन्द' पुस्तक का ही पड़ा है।

अल्-ख्वारिज्मी की बीजगणित से संबंधित पुस्तक है: 'किताव अल्-जब्र' व 'अल्-मुकाबिलह'। यहां 'जब्र' का अर्थ है 'पुनःस्थापना' और 'मुकाबिलह' का अर्थ है 'समान करना'। ये समीकरणों की रचना से संबंधित है। इस पुस्तक में अल्-ख्वारिज्मी ने भारतीय बीजगणित की नयी विधियों को अपनाया है। अल्-ख्वारिज्मी के लिए ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) का बीजगणित अरबी अनुवाद में पहले से उपलब्ध था। अल्-ख्वारिज्मी ने बीजगणित का अपना यह ग्रन्थ बगदाद में ८२५ ई० के आस-पास रचा और इसे उसने अपने आश्रयदाता खलीफा अल्-मामू को समर्पित किया। अल्-ख्वारिज्मी की बीजगणित की इस पुस्तक का इंग्लैण्ड के चेस्टर निवासी 'राबर्ट' ने ११४५ ई० के आस-पास स्पेन के एक अरबी विद्याकेन्द्र में बैठकर लैटिन में अनुवाद किया। लैटिन में बीजगणित पर यह पहली पुस्तक थी, इसलिए इसके अरबी नाम का 'अल-जब्र' शब्द 'अलजब्रा' वनकर यूरोप की भाषाओं में बीजगणित के अर्थ में रूढ़ हो गया।

अरबी वैज्ञानिक ज्योतिष के अध्ययन और इसमें त्रिकोणमिति के उपयोग को वड़ा महत्व देते थे। अल्-ख्वारिज्मी ने ज्योतिष-सारणियों और ज्या (साइन) तथा स्पर्शज्या (टैंजेट) सारणियों पर भी अरबी में एक पुस्तक लिखी थी, जिसका वाद में लैटिन में अनुवाद हुआ था। अल्-ख्वारिज्मी का ज्योतिष-विवेचन भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थों पर आधारित था। आर्यभट (४९९ ई०) के ग्रन्थ में त्रिकोणमिति का विवेचन है और ज्या-सारणी भी दी गई है। अरबी में त्रिकोणमिति भारतीय पद्धति की है, टालमी की त्रिकोणमिति पर आधारित नहीं। इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज त्रिकोणमिति में

प्रचलित यूरोप का 'साइन' शब्द संस्कृत के 'जीवा' शब्द से बना है। अरबी अनुवादकों ने संस्कृत के जीवा शब्द को ज्यों-का-त्यों अपनाकर इसे अरबी अक्षरों में 'ज-ब' के रूप में लिखा था। लैटिन अनुवादकों ने इसे 'जेब' (कुरते में छाती के ऊपर लगाने वाला पाकिट) समझकर इसका अनुवाद 'सिनुस्' (छाती) किया। सिनुस् से ही 'साइन' शब्द बना है।

अल्-ख्वारिजमी ने बगदाद की वेधशाला में वेधकार्य तो किया ही, साथ-साथ ज्योतिष-यंत्रों और सूर्य-घड़ी पर भी एक पुस्तक लिखी। इसने 'भूगोल' पर भी एक पुस्तक लिखी थी- 'किताब सूरत अल्-अर्ज' (धरती का विवण)। इसमें ३८ मानचित्र थे, जिनमें से केवल चार बचे हैं। इन मानचित्रों में दो हजार से भी अधिक अरबी में यह पहली कृति थी।[1]

अल्-ख्वारिज्मी ने इतिहास के विषय में भी एक पुस्तक लिखी थी- 'किताब अल्-तारीख'। आज यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है, पर मध्ययुग के अरबी ग्रन्थों में इसका अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। ८५० ई० के आस-पास अल्-ख्वारिज्मी का देहान्त हुआ।

ब्रस्मगुप्त ६२० ई० में जब अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना कर रहे थे, तब मुहम्मद पैगम्बर जीवित थे। मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी खलीफाओं का इस्लामी शासन पूर्व में सिन्ध प्रान्त से लेकर पश्चिम में स्पेन तक फैल गया। अब्बासी खलीफा अल मंसूर (७५४-७७५ ई०) ने दजला नदी के पश्चिमी तट पर ७६२ ई० में राजधानी बगदाद की स्थापना की। बगदाद का वैभव तेजी से बढ़ता गया। अल मंसूर के शासनकाल में ही पहली बार संस्कृत के गणित-ज्योतिष के ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद शुरू हुआ। इस संबंध में पता चलता है कि सिन्ध से एक दूत मण्डली अल-मंसूर के दरबार में पहुँची थी। अल्-मंसूर के आदेश से उन ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया। यह ७७२-७३ ई० की घटना है।

अरबी में सिन्द हिन्द और अल-अरकंद नामक ग्रन्थों की बड़ी ख्याति रही है, हालाँकि ये ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। ये ग्रन्थ ब्रह्मगुप्त के ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त (सिन्द हिन्द) और खण्ड-खाद्यक के (अल्-अरकंद) अरबी अनुवाद थे। पता चलता है कि भारतीय पण्डितों के सहयोग से फारस के विद्वान् याकूब इब्न तारिक और अरब के इब्राहिम अल्-फजारी के बेटे मुहम्मद ने ब्रह्मगुप्त के इन ग्रन्थों का पहली बार अरबी में अनुवाद किया था। बाद में इन ग्रन्थों के अरबी में कई अनुवाद हुए।

इस प्रकार पहली बार ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों से ही अरबी पण्डितों को भारतीय गणित तथा ज्योतिष सिद्धान्तों की जानकारी मिली थी। अरबी में टालमी और यूक्लिड के यूनानी

---

१. गुणाकर मुले-संसार के महान गणितज्ञ।

ग्रन्थों का अनुवाद कुछ बाद में हुआ। अलबेरुनी के भारत के अनुवादक एडवर्ड साचाऊ ने भी लिखा है- "पूर्व के देशों में ज्ञान-विज्ञान के इतिहास में ब्रह्मगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। अरबवासियों को टालमी के ग्रन्थ का पता लगने से पहले उन्हें ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिषशास्त्र सिखाया।"

भारतीय अंकों की जानकारी अरबों को शायद पहले ही मिल गयी थी। पर ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों के साथ उन्होंने भारतीय अंक-पद्धति तथा-संकेतों को पूरी तरह अपना लिया। बाद में महान् इस्लामी गणितज्ञ अल-ख्वारिज्मी (जन्म ७८३ ई०) ने एक पुस्तक भारतीय अंक पद्धति पर और एक पुस्तक बीजगणित पर लिखी, जिसमें भारतीय बीजगणित की कई विधियों का समावेश किया। बाद में अल-ख्वारिज्मी के इन दोनों ग्रन्थों का लैटिन में अनुवाद हुआ। यूरोप की भाषाओं में प्रचलित 'अलगोरिथ्म' शब्द अल-ख्वारिज्मी से और 'अलजब्रा' शब्द उनके बीजगणित की पुस्तक के नाम पर अस्तित्व में आया है। यूरोप के बौद्धिक नवजागरण में अरबी ज्ञान-विज्ञान ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।[1]

भारतीय इतिहासकारों के अनुसार भारत की पुस्तकें और विचार दो भिन्न-भिन्न मार्गों से बगदाद में पहुँचे। कुछ तो संस्कृत से अरबी में अनुवाद द्वारा सीधे गये और कुछ ईरान से होकर अर्थात् पहले इनका संस्कृत (पाली, प्राकृत) से फारसी में भाषान्तर हुआ और फिर वहाँ से अरबी में। इस रीति से कलीला और दिमना की कहानियां और चिकित्सा शास्त्र पर एक पुस्तक सम्भवतः प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता अरबियों को प्राप्त हुई थीं। भारत और बगदाद में यह व्यवहार न केवल दो मार्गों से हुआ है बल्कि साथ ही दो भिन्न-भिन्न कालों में भी हुआ है।[2]

७४३-७७४ ई० तक सिन्ध देश पर खलीफा मन्सूर का शासन था। इस समय सिन्ध से बगदाद में दूत आते-जाते रहते थे। इनमें प्रायः अनेक विद्वान् भी रहा करते थे, किसी समय एक भारतीय विद्वान् जिसका नाम संभवतः कङ्क या काङ्कायन था, जो अपने साथ ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मसिद्धान्त (सिन्द-हिन्द अथवा सिन्धिक) और खण्डखाद्य (अल्-अरकन्द) लाया था। इसी की सहायता से अलफजारी ने और सम्भवतः याकूब इब्न तारिक ने भी उसका भाषान्तर किया था। अलफजारी और याकूब इब्न-तारिक का नाम प्रायः अरबी ज्योतिष के ग्रन्थों में एक साथ ही आता है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि इन दो लेखकों के मध्य अवश्य ही कोई निकट का सम्बन्ध था। सम्भव है ये दोनों इन्हीं काङ्कायन के शिष्य रहे होंगे। अलबेरुनी ने अपने ग्रन्थ में दोनों का प्रायः साथ-साथ उल्लेख किया है। तथापि वह अलफजारी से अधिक याकूब इब्न-तारिक का उद्धरण देता है। अरबी ज्योतिष में (सिन्द-हिन्द अथवा सिन्धिक) और खण्डखाद्य (अल्-अरकन्द) इन दोनों पुस्तकों का

---

१. गुणाकर मुले, संसार के महान् गणितज्ञ।
२. अरबी साहित्य की उत्पत्ति, पृ० ४२।

बहुत उपयोग हुआ है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर पहली बार अरबियों को ज्योतिष की वैज्ञानिक विधि का ज्ञान हुआ था। अरबी ज्योतिषियों ने टालमी की अपेक्षा पहले भारतीय आचार्य ब्रह्मगुप्त से शिक्षा प्राप्त की थी। भले ही ब्रह्मगुप्त अरब न जा सकें हों, किन्तु उनके ग्रन्थ ने अरब पहुँचकर वहाँ के लोगों को भारतीय ज्योतिष का परिचय कराया। भारतीय विद्या का दूसरा प्रभाव ७८६-८०८ ई० के मध्य हारु के शासन-काल में आया। पुरोहितों का बर्मक नामक एक कुल शासकों के साथ बल्ख से बगदाद में आया था। कहते हैं बर्मक शब्द भारतीय भाषा से निकला है और इसका अर्थ परमक (बिहार का उच्च पदाधिकारी) है। इसमें सन्देह नहीं कि बर्मक-वंश मुसलमान हो गया था, पर इसके सहयोगी इसे कभी सच्चा मुसलमान नहीं समझते थे। अपनी कुछ मर्यादा के अनुसार ये बर्मक-वंशीय लोग चिकित्सा के अध्ययनार्थ विद्वानों को भारत में भेजा करते थे। इसके अतिरिक्त ये कई भारतीय विद्वानों को सहयोगी बनाकर बगदाद में लाये थे और उन्हें अपने चिकित्सालयों का मुख्य चिकित्सक नियुक्त किया था। ये विद्वान् उनकी आज्ञानुसार चिकित्सा, भैषज्ञ संस्कार, विष विद्या, दर्शन शास्त्र, नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) और अन्य विषयों की संस्कृत पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किये थे। १८वीं शताब्दी तक मुसलमान विद्वान् बर्मक वंश के वार्ताहर (अर्थात् संदेशवाहक) बन कर कई बार यात्रा करते रहे हैं। अलमुआफक, जो अलबेरुनी के कुछ ही समय पहले हुआ है, इसी प्रकार का वार्ताहर था।

गणित, फलित ज्योतिष (विशेषतया जातक) औषध और और भैषज्य संस्कार विद्या की पुस्तकों के अतिरिक्त अरबियों ने सर्प विद्या, विष विद्या, शकुन परीक्षा, कवच, पशु चिकित्सा, तत्वज्ञान, तर्क विद्या, आचार शास्त्र, राजनीति और युद्ध विद्या पर भारतीय ग्रन्थों, अनेक कथाओं और बुद्ध की एक जीवनी का भी अरबी में भाषान्तर किया था। अरबियों का मनभाता विषय भारतीय गणित था। अर्कन्दी और अन्य पुस्तकों के प्रकाशन से इस विषय का ज्ञान अरब देश में अधिक फैला। ७७१ ई० में एक भारतीय यात्री बगदाद गया था। वह अपने साथ एक भारतीय ज्योतिष का ग्रन्थ ले गया था। उसी का अनुवाद मुहम्मद-इब्न-इब्राहिम अल फजारि ने मन्सूर की आज्ञानुसार अरबी में किया। यह अरबी भाषा में प्रथम ज्योतिष का ग्रन्थ था।

सिद्धान्त ज्योतिष

अरब ज्योतिष का आधार भारतीय ग्रन्थ ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और खण्डखाद्य थे। इनका अनुवाद दो विभिन्न व्यक्तियों ने किया। नवीं शताब्दी में पहली बार ज्योतिष का अध्ययन करने के लिए ठीक प्रकार के यंत्र बनाये गये। अल-मामू के काल में एक ज्योतिषभवन का निर्माण किया गया जिसमें ज्योतिष के बड़े-बड़े विद्वान् अध्ययन किया करते थे। ज्योतिष के यंत्रों पर पहली पुस्तक अलि-इब्न-ईस-अल-अस्तुरलाबि ने लिखी

थी। इस काल में पृथ्वी की परिधि और व्यास को नापा गया। पृथ्वी की परिधि के सिद्धान्त को सर्व-प्रथम मूसा इब्न-शकादिर के पुत्रों ने कार्यरूप में परिणत किया। उस काल का खगोल-विद्या का सबसे बड़ा ज्ञाता अबु-मुदखिल-इल-लम-हयात-अल-अलफाक था। मामून की ज्योषिभवन के अतिरिक्त उस समय तीन और ज्योतिषशालायें थीं।[1]

उस काल में खगोल विद्या का सबसे धुरन्धर विद्वान् अब-अबदुल्लाह-मुहम्मद-इब्न-जाबिर-अल-बत्तानि था। इसका काल ८७७-६१८ ई० के बीच में माना जाता है। यह साबियन था और हरीन का रहने वाला था। अल-रक्काह में इसने अपनी ज्योतिषशाला बनाई थी। अल-बत्तानि ने सूर्य ग्रहण के विषय में अपना मूल सिद्धान्त प्रतिपादित किया। गणित ज्योतिष के क्षेत्र में इस समय सबसे बड़ा विद्वान् अबु-मशार था। इसके चार ग्रन्थों का लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ। इसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि मनुष्य के जीवन में ग्रहों का बहुत बड़ा स्थान है।

प्रसिद्ध अरबी लेख अलबेरुनी

अलबेरुनी का जन्म ६७३ ई० में हुआ तथा मृत्यु १०४८ ई० में हुई। यह महमूद गजनवी के समय भारत आया। मूलतः यह साहित्यिक एवं ज्योतिष विषयक अभिरुचि वाला था। इसने भारतीयों और विदेशियों के बीच विद्या विषयक सेतु का काम किया तथा अरबों और ईरानियों को भारतीयों की विद्याओं का ज्ञान कराया और भारतीयों को अरबों तथा ईरानियों के नए-नए अन्वेषणों से परिचित कराया। इसी ने अरबी जानने वालों के लिए संस्कृत से और संस्कृत जानने वालों के लिए अरबी से पुस्तकों का अनुवाद किया, और इस प्रकार इसने वह ऋण चुकाया जो भारत का बहुत दिनों से अरबी भाषा की विद्याओं और विज्ञानों पर चला आ रहा था। इसने भारत के संबंध में तीन प्रकार की पुस्तकें लिखी। एक अरबी से संस्कृत में, दूसरी संस्कृत से अरबी और तीसरी भारतीय विद्याओं और सिद्धान्तों की खोज।[2]

अलबेरुनी द्वारा लिखित सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। यदि ये आज उपलब्ध होते, तो ज्योतिष को एक नवीन दिशा अवश्य मिलती। तथापि 'अलबेरुनी का भारत' नामक जो ग्रन्थ आज उपलब्ध है, उससे भारतीय एवं अरबी ज्योतिष के विषय में बहुत कुछ ज्ञान होता है।

अलबेरुनी कहता है कि भारतीयों में नक्षत्र विद्याा बहुत प्रसिद्ध है। क्योंकि उनके धार्मिक कार्यों का इसके साथ कई प्रकार से संबंध है। यदि मनुष्य ज्योतिषी बनना चाहता है तो उसे न केवल गणित ज्योतिष को अपितु फलित ज्योतिष को भी जानना चाहिए। वह

---

१. अरब की सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ. १०७।

२. अलबेरुनी का भारत, पृ० १२-१३।

कहता है कि मुसलमानों में जो पुस्तक सिधिन्द नाम से प्रसिद्ध है, उसे भारतीय सिद्धान्त कहते हैं। उसके अनुसार सिद्धान्त का अर्थ सीधा अर्थात् जो टेढ़ा या बदलने वाला न हो। अलेवेरुनी ने अपने समय में भारतवर्ष के जिस सिद्धान्त ज्योतिष के ग्रन्थों को देखा एवं पढ़ा था उनके नामों का उल्लेख करता हुआ वह कहता है कि भारतवर्ष में पाँच सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं-

१. सूर्य सिद्धान्त- उसकी मान्यता के अनुसार यह लाट द्वारा रचित है।
२. वशिष्ठ सिद्धान्त- उसकी मान्यता के अनुसार यह विष्णु चन्द्र द्वारा लिखा गया है।
३. पुलिस सिद्धान्त- उसकी मान्यता के अनुसार यह पौलिस नामक यूनानी ज्योतिषी के द्वारा लिखा गया है।
४. रोमक सिद्धान्त- उसकी मान्यता के अनुसार यह रोमन राज्य के प्रजाओं के नाम से कहा गया है। इसका लेखक श्रीषेण है।
५. ब्रह्मसिद्धान्त-अलवेरुनी पैतामह सिद्धान्त को ब्रह्मसिद्धान्त कहता है। उसकी मान्यता के अनुसार ब्रह्मसिद्धान्त जिष्णु के पुत्र ब्रह्मगुप्त की रचना है। वह लिखता है कि इन पुस्तकों के सभी लेखको ने एक ही स्रोत अर्थात् पितामह सिद्धान्त से ज्ञान प्राप्त करके पुस्तक बनायी है। पितामह ब्रह्मा के नाम पर है। उसके अनुसार वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका नामक एक ज्योतिष का गुटका बनाया है। अलवेरुनी भानुयश द्वारा रचित रसायन तन्त्र, आर्यभटीय तथा बलभद्र के दो तन्त्रों का उल्लेख करता है। करणों के विषय में ब्रह्मगुप्त कृत खण्ड खाद्य तथा सुग्रीव नामक एक बौद्ध के कारण ग्रन्थ दधिसागर का भी उल्लेख करता है। इसके अलावा काशी निवासी विजयनन्दिन् नामक टीकाकार द्वारा रचित एक ग्रन्थ 'करणतिलक' का तथा नागपुर के भदत्त के पुत्र वित्तेश्वर द्वारा रचित करणसार एवं भानुयशस के करण ग्रन्थों का भी वह उल्लेख करता है।

संहिता ज्योतिष

संहिता ज्योतिष के विषय में अलबेरुनी कहता है कि भारतवर्ष में सात संहिताएँ भिन्न-भिन्न आचार्यों की देखने को उसे मिली है जो क्रम से इस प्रकार हैं। १. माण्डव्य संहिता २. पराशर संहिता ३. गर्ग संहिता ४. ब्रह्म संहिता ५. बलभद्र संहिता ६. दिव्य-तत्त्व संहिता ७. बृहत्संहिता। वह कहता है कि संहिता का अर्थ है इकट्ठा किया हुआ, अर्थात् ऐसी पुस्तकें जिनमें प्रत्येक के विषय पर थोड़ा वहुत लिखा गया है, जैसे यात्रा के विषय में, उल्का शास्त्र संवंधी घटनाओं से निकाली हुई चेतावनियाँ, लक्षण के अनुसार भाग्य जानना, हाथ की रेखाओं को देखकर भविष्य कहना, शुभाशुभ चीजों का ज्ञान, स्वप्नों के अर्थ निकालना, पक्षियों के उड़ने या बोलने से शकुन लेना इत्यादि। भारतीय ज्योतिष की परम्परा में वराहमिहिर ने संहिता ज्योतिष का अर्थ करते हुए लिखा है कि-

ज्योतिःशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितं
तत्कात्स्न्योपनयस्य नाम मुनिभिः संकीर्त्यते संहिता।

-अर्थात् गणित, फलित के साथ ज्योतिष के अन्य विधाओं से सम्वन्धित समस्त विषय एक साथ जिस ग्रन्थ में वर्णित हों, मुनियों ने उसी को संहिता ज्योतिष का नाम दिया है।

फलित ज्योतिष (जातक)

अलबेरुनी के अनुसार उसके समय में भारत वर्ष में जन्म पत्रिका का निर्माण एवं फल जानने के लिए जो ग्रन्थ उपलव्ध थे उसमें उपर्युक्त संहिताज्योतिषकार सात आचार्यों के अतिरिक्त सत्याचार्य, मणित्थ, यवनाचार्य तथा जीवशर्मा की फलित पर पुस्तकें थी तथा वराहमिहिर के दो जातक ग्रन्थ वृहज्जातक तथा लघुजातक विद्यमान थे, जिसका अनुवाद अरवी भाषा में अलबेरुनी ने किया था। कल्याणवर्मा की सारावली जो फलित की अच्छी पुस्तक है उसका प्रचार अलबेरुनी के समय में अधिक था।

अंक लिखने की पद्धति

अलबेरुनी के अनुसार विश्व की सभी जातियाँ इस विषय में एक मत हैं कि गणित में संख्याओं के सभी अनुक्रमों का दस के साथ एक विशेष संबंध होता है और प्रत्येक अनुक्रम अपने से पिछले का दसवां भाग और अपने से पहले से दस गुना होता है। अलबेरुनी लिखता है कि मैं विभिन्न देशों के संख्याओं को जानता हूँ। वे भारतीयों से बहुत पीछे हैं। अरवी लोग भी सहस्र पर जाकर रुक जाते हैं, किन्तु भारतीय ही ऐसे है जिनकी गिनती का क्रम परार्ध तक जाता है। भारतीय लोग गणित में संख्या वाचक चिह्नों का प्रयोग अरवी के समान ही करते हैं। किन्तु कोई अपनी संख्याओं को शव्दों के द्वारा भी प्रकट कर देते है। जैसे शून्य के लिए आकाश, एक के लिए चन्द्रमा, २ के लिए आँख, ३ के लिए गुण, ४ के लिए वेद, ५ के लिए वाण या इन्द्रिय, ६ के लिए रस या ऋतु, ७ के लिए पर्वत या मुनि, ८ के लिए वसु, ६ के लिए नन्द तथा १० के लिए दिशा का प्रयोग करते हैं। अलबेरुनी कहता है कि भारतीयों की भाषा में मौलिक और व्युत्पन्न दोनों प्रकार के शव्दों का वहुत बड़ा भण्डार है। भारतीय एक ही शव्द के भिन्न-भिन्न अर्थ कर देते हैं। एक सूर्य के लिए ही उनके यहाँ एक हजार नाम है। हो सकता है प्रत्येक ग्रह के लिए उनके यहाँ एक-एक हजार नाम हों। भारतीयों का इससे कम में काम ही नहीं चल पाता। वह लिखता है कि जिस प्रकार फारसी में शम्बिह शव्द सप्ताह दिवस की संख्या के पश्चात् आता है, उसी प्रकार सप्ताह के दिनों के नाम ग्रहों के परम प्रसिद्ध नामों के वाद वार शव्द जोड़कर बनाए गये हैं। जो इस प्रकार हैं-

संस्कृत		अरबी
रविवार	=	यकशम्बिह
सोमवार	=	दूशम्बिह
मंगलवार	=	सिंहशम्बिह
बुधवार	=	चहारशम्बिह
बृहस्पतिवार	=	पञ्चशम्बिह
शुक्रवार	=	जुमा
शनिवार	=	शम्बिह

पृथ्वी के चार भाग

अलबेरुनी के अनुसार भारतीय ज्योतिषी वास-योग्य जगत् की द्राघिमा (देशान्तर) का निश्चय लंका से करते हैं जो कि इसके मध्य में विषुव रेखा पर स्थित है, और यमकोटि इसके पूर्व में, रोमक इसके पश्चिम में, और सिद्धपुर विषुव रेखा के उस भाग पर स्थित है जो लंका के अत्यन्त पृष्ठभाग में है। तारों के चढ़ने और छिपने के विषय में भारतीयों के मन्तव्यों से प्रकट होता है कि यमकोटि और रोमक का एक दूसरे से आधे चक्र का अन्तर है। याकूब और अलफजारी के अनुसार, यमकोटि वह देश है जहाँ समुद्र में तारनगर हैं। (अलबेरुनी) ने भारतीय साहित्य में इस नाम का कुछ भी पता नहीं पाया। वह कहता है कि हिन्दुओं ने सिद्धपुर के अस्तित्व की कल्पना कैसे कर ली यह मैं नहीं जानता, क्योंकि हमारी तरफ (अरब) विश्वास है कि बसे हुए आधे चक्र के पीछे ऐसे समुद्रों के सिवा और कुछ नहीं है, जो कि जहाजों के चलने के लिए अयोग्य है। हिन्दू लोग किसी स्थान का अक्ष (अक्षांश) किस प्रकार मालूम करते हैं इसका हमें पता नहीं लगा। वास-योग्य जगत् की द्राघिमा (देशान्तर) आध चक्र है यह सिद्धान्त उनके ज्योतिषियों में बहुत फैला हुआ है। उनका (पाश्चात्य ज्योतिषियों से) केवल उस बात पर भेद है जो कि इसका आरम्भ है। हिन्दुओं के रेखांश का आरम्भ उज्जैन है, जिसको वे (वास-योगय जगत् के) एक चर्तुथांश की पूर्वी सीमा समझते हैं, और दूसरे चतुर्थाश की पश्चिमी सीमा, यह सभ्य संसार के अन्त से कुछ दूरी पर पश्चिम में है। इस विषय पर पश्चिमी ज्योतिषियों का सिद्धान्त दुविधा में है। कई तो रेखांश का आरम्भ (अटलाण्टिक) सागर के तट को मानते और पहले चर्तुथांश का विस्तार वहां से बल्ख के समीप तक करते हैं। कई और लोग सुर्खियों के द्वीपों को रेखांश का आरम्भ मानते हैं, और वास-योग्य जगत् के चतुर्थांश का विस्तार वहां से जुर्जान और निशापुर के पड़ोस तक करते हैं।

अक्षांश एवं देशान्तर की गणना

भारतीय देशान्तर की गणना पद्धति से अलग अरव ज्योतिष में देशान्तर की गणना का उल्लेख प्राप्त होता हैं। अरबी ज्योतिषी अलफजारी ने ज्योतिष के अपने ग्रन्थ में देशान्तर गणना का उल्लेख इस प्रकार किया है। उसके अनुसार दो स्थानों के अक्षों (अक्षांशों) की त्रिज्याओं के वर्गों को जोड़ना पुनः जोड़ का वर्गमूल लेना। यह मूल विभाग है, फिर इन दो त्रिज्याओं के भेद को वर्ग करें और इसमें विभाग को मिलाएँ। समाहार को ८ से गुणा और गुणनफल को ३७७ पर भाग देने पर जो भाग-फल होगा वह स्थूल गणना के अनुसार, दो स्थानों के बीच का अन्तर है। फिर दो अक्षों के बीच के भेद को पृथ्वी की परिधि के योजनों से गुणा करें, और गुणनफल को पुनः २६० से विभक्त करने पर देशान्तर ज्ञात होता है।

काल-मान

मान और प्रमान का अर्थ माप है। याकूब इब्न तारिक ने अपनी पुस्तक ''गगनमण्डल की रचना' में चार प्रकार के मानों का उल्लेख किया है, परन्तु वह उनको पूरे तौर से नहीं जानता था, और इसके अतिरिक्त यदि टीका करने वाले का दोष नहीं है, तो नामों का वर्णविन्यास भी अशुद्ध है।

सौर-मान- अर्थात् सूर्य सम्वन्धी माप।

सावन-मान- अर्थात् वह माप जो चढ़ने पर आश्रित है (नागरिक माप)।

(भारतीय गणना के अनुसार एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के बीच के समय को एक सावन दिन कहते हैं। इसे पृथ्वी का भी दिन कहा जाता है। इन ३० सावन दिनों का एक सावन मास कहा जाता है। यही बारह मास होने पर सावन वर्ष हो जाता है और सावन मान कहा जाता है।)

चान्द्र-मान- अर्थात् चाँद संबंधी माप।

नाक्षत्र-मान- अर्थात् नक्षत्र संबंधी माप।

ये चारों प्रकार के मान के दिन हैं अर्थात् अलग अलग प्रकार के दिन हैं, जिनका जब दूसरे दिनों के साथ तुलना की जाय तो मान का एक विशेष प्रभेद दिखायी देता है। परन्तु ३६० की संख्या उन सबमें सामान्य है। प्रत्येक श्रेणी के ३६० दिनों का उसी श्रेणी का एक वर्ष होता है। दूसरे दिनों का निश्चय करने के लिए नागरिक दिनों (सावन दिनों) का परिमाण के तौर पर उपयोग किया जाता है।

अलबेरुनी के अनुसार हिन्दू लोग चान्द्र स्थानों का ठीक राशि चक्र की राशियों के सदृश ही उपयोग करते हैं। जिस प्रकार क्रांति मण्डल, राशियों द्वारा, १२ बराबर भागों

में विभक्त है, उसी प्रकार यह, नक्षत्रों (चान्द्र स्थानों) द्वारा, सत्ताइस बराबर भागों में विभक्त है। प्रत्येक नक्षत्र क्रांति मण्डल की १३.२० अंश या ८०० कला घेरता है। ग्रह उनमें प्रवेश करते हैं और फिर उनको छोड़कर निकल आते हैं, और अपने उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों में से आगे और पीछे घूमते हैं। फलित ज्योतिषी लोग प्रत्येक नक्षत्र के साथ एक विशेष प्रकृति, घटनाओं को पहले से बता देने के गुण और अन्य विशिष्ट मुख्य लक्षणों का उसी प्रकार आरोपण करते हैं जैसे कि वे राशियों के साथ करते हैं। संख्या २७ का आधार यह है कि चन्द्रमा सारे क्रांति मण्डल में से २७.२० दिन में लाँघ जाता है। इसी प्रकार अरब लोग, चन्द्रमा के पश्चिम में पहले पहल दिखाई देने से आरम्भ करके पूर्व में उसके दिखाई देने से बन्द हो जाने तक नक्षत्रों का निश्चय करते हैं।

फलित ज्योतिष

अलबेरुनी कहता है कि उसके समय तक मुस्लिम देशों में फलित ज्योतिष का प्रचार नहीं था, वे लोग भारतीयों के फलित ज्योतिष से तब तक परिचित नहीं हो सके थे और न ही किसी भारतीय पुस्तक के अध्ययन का कभी अवसर मिला था। अतः वे हिन्दुओं के मुहूर्त ज्योतिष को अपने ज्योतिष जैसा समझते थे। अलबेरुनी कहता है कि भारतीयों के फलित ज्योतिष का सर्वांगीण वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका कथन है कि ग्रहों की संख्या सात के विषय में अरवी और भारतीयों के बीच कोई भेद नहीं है, अरबी लोग इन्हें शुभ मानते हैं। भारतीय कहते है कि बृहस्पति, शुक्र, चन्द्रमा और बुध शुभ है, शनि, मंगल और सूर्य क्रूर है। क्रूर ग्रहों में वे राहु को भी गिन लेते है, जबकि राहु कोई तारा नहीं है, गह की उच्चता या ऊचाई भारतीय भाषा में उच्चस्थ और इसका विशेष अंश परमोच्चस्थ कहलाता है ग्रह की गहराई या नीच स्थान नीचस्थ और इसका विशेष अंश परमनीचस्थ कहलाता है। मूल त्रिकोण एक प्रवल भाव है जो किसी ग्रह के साथ आरोपित किया जाता हैं।

खगोल

स्पेन देश वर्तमान में यूरोप का हिस्सा है। यह अरब एवं यूरोप के सीमाप्रान्त में स्थित है। दसवीं सदी के आस-पास अरबी लोग स्पेन आदि क्षेत्रों में फैलकर अपनी संस्कृति का प्रचार करने लगे थे। उन दिनों कोरडोवा के शासकों ने ज्योतिष विषय के विद्वानों को बहुत अधिक सम्मान प्रदान किया था। कोरडोवा के उपरान्त सिविलि और टोलिडो के राज्यों में अनेक गणित और ज्योतिष के विद्वानों को प्रश्रय मिलता था।

अब-मशर के अनुसार मनुष्यों के जीवन और मरण में तारो का प्रभाव पड़ता है। अब-मशर की मृत्यु के पश्चात् उसके इस सिद्धान्त को अन्दलुशिया के ज्योतिषियों ने अपनाया। स्पेन से ही ज्योतिष और गणित पश्चिम में फैला। उन दिनों ज्योतिष के अनेक

अरवी फारसी ग्रन्थों का लैटिन में अनुवाद किया गया। ज्योतिष की तालिकाओं को एगिस से 'अलफिनसान टेवल्स' के नाम १३ वीं शताब्दी में क्रमवद्ध किया। यह अरव ज्योतिष का ही विकसित रूप था। स्पेन के अरव खगोल वेत्ताओं ने इस देश के लिए पूर्व के ज्योतिष के आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। स्पेन का इस क्षेत्र में पहला वैज्ञानिक अवु-अल-कासिम मसलमह अल मजरीति था, जिसने अल्-ख्वारिज्मी की ग्रहों की तालिका का परिवर्द्धन और संशोधन किया। उसने इन तालिकाओं के आधारसिद्धान्त को वदल दिया। ११२६ ई० में ख्वारिज्मी की ग्रह तालिका का एर्डीलार्ड ने लैटिन में अनुवाद किया। टोलिडन तालिकाये पर्यवेक्षण और अध्ययन पर आधारित थीं। इनमें स्पेनिश मुस्लिम और यहूदी लोग थे जिनमें अल-जरकालि, अवुइशाक इब्राहीम और इब्न पहया का नाम विख्यात है। इनकी तालिकाओं से भौगोलिक ज्ञान प्राप्त होता है। इन समस्त ग्रन्थों की आधार शिला टालमी और ख्वारिज्मी के ग्रन्थ थे। रेमण्ड ने अपने खगोल के ग्रन्थों का आधार जरकालि के ग्रन्थों को वनाया। जरकालि उस युग का वहुत प्रसिद्ध खगोलशास्त्री था। उसने खगोल के अध्ययन हेतु एक यन्त्र का अविष्कार किया, जिसका नाम सफीहह था। कोपरनिकस ने अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया है। स्पेन के अन्तिम खगोलशास्त्रियों में नूर-उल-दी अबु-इशाक अल-बित्रूजि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि विश्व सभ्यता में ज्योतिष के क्षेत्र में अरवों की वहुत बड़ी देन है। वहुत से यूरोपियन भाषाओं में ग्रहों और तारों के नाम अरव नामों से ग्रहण किये गये हैं।

अरव के शासक फातिमिद खिलाफत खलीफाओं में अलहाकिम जिसका समय ६६६ ई० से १०२१ ई. शासन काल था खगोल ज्योतिष का अधिक विकास हुआ। हाकिम स्वयं ज्योतिष का वहुत बड़ा प्रेमी था। उसने अल मुकत्तम में एक वेधशाला की स्थापना भी की थी। अल हाकिम ही एक ऐसा खलीफा था जो विद्या और कला का वहुत प्रेमी था। उसके दरवार में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् रहा करते थे। उसके दरवार में ज्योतिष का महान विद्वान अलि-इब्न-युनूस, अलि-अल-हसन और अनेक विषयों के विद्वान् दरवार की शोभा वढ़ाया करते थे। युनूस ने खगोल की प्रचलित तालिकाओं के अनेक दोषों को दूर किया। उसने अपने मौलिक अनुसन्धान के द्वारा इसका क्षेत्र विस्तृत किया। इस काल का दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् इब्न-अल-हेथम था। कहा जाता है कि इसने गणित, खगोल, दर्शन और चिकित्सा विज्ञान पर सौ ग्रन्थों की रचना की थी।

भूगोल

भूगोल में भी अरब वासियों की विशेष रुचि थी। अरवों के धर्म में तीर्थ यात्रा का विधान है। प्रार्थना के समय काबा की ओर देखना जरुरी था इसलिए दिशा ज्ञान भी आवश्यक था। अरव व्यापारी रूस, चीन, फारस, भारत और अफ्रीका से व्यापार किया

करते थें। इसके फलस्वरुप अरबवासियों को इन देशों में दिलचस्पी होने लगी। रूस देश की यात्रा का सबसे पहला वर्णन अहमद इब्न फदलान इब्न अहम्मान ने किया था। इसमें टालमी के भूगोल ग्रन्थ का भी अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। अल ख्वारिज्मी ने इसी के आधार पर 'सूरत-अल-अर्ध' (पुथ्वी की मूर्ति) नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

इस पुस्तक में पृथ्वी का एक नक्शा भी था। अरबों ने भारत से यह ज्ञान प्राप्त किया कि पृथ्वी का एक केन्द्र बिन्दु होता हैं। उन्होंने दुनिया का केन्द्र बिन्दु अरीन या उज्जैन को माना। उज्जैन भारत का ज्योतिष विज्ञान के क्षेत्र में सबसे बड़ा नगर था। अरबों की पहली मूल भूगोल की पुस्तक को हम मार्ग प्रदर्शक पुस्तक ही कह सकते हैं।

गणित

अरब वाले स्पष्ट रूप से कहते है कि उन्होंने भारतवासियों से १ से ९ तक के अंक का ढंग सीखा, और इसीलिए अरब वाले अंको से 'हिन्दसा' और इस प्रणाली को 'हिसाब हिन्दी' या 'हिन्दी हिसाब' कहते है। यह प्रणाली अरबों से यूरोप की जातियों ने सीखी थी, इसीलिये उनकी भाषाओं में इसका नाम अरेबिक अंक हैं। उस काल का ठीक पता तो नहीं चलता जिस समय अरबों ने यह सीखा था, पर समझा यही जाता है कि सन् १५६ हि० में सिन्ध से जो पण्डित सिद्धान्त को लेकर मन्सूर के दरबार में बगदाद गया था, उसी ने अरबों को यह अंक-पद्धति सिखलायी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस भारतीय सिद्धान्त का अरबी में अनुवाद हुआ था, उसी के "तेइसहवें और चौबीसहवें प्रकरण में गणित और अंको का उल्लेख है और उसी के द्वारा यह ढंग अरबों में चला था। अरबी में पहले अक्षरों में संख्याए लिखते थे। फिर यहूदियों और यूनानियों की तरह अबजद के ढंग से (जिसमें अ से १, ब से २, ज से ३, आदि का बोध होता है) संख्या लिखने लगे थे। आज भी अरबी ज्योतिष में संक्षेप और शुद्ध लिखने की यही रीति चलती है और इसी ढंग से अरबी फारसी आदि में तिथि और सन् संवत् आदि लिखने की प्रथा हैं। संभवतः, सर्वप्रथम मुहम्मद बिन मूसा ख्वारिज्मी ने इस भारतीय हिसाब को अरबी सांचे में ढाला। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के ग्याहरवें संस्करण में अंको पर जो निबन्ध हैं, उसमें पुराने लेखों और हस्तलिखित पुस्तकों सें लेकर पूर्वी अरबी, पश्चिमी अरबी और यूरोप के अंको के रूप लेकर दिए गए हैं। उसे एक ही बार देखने से पता लग सकता है कि हिसाब रखने का यह ढंग भारत से चलकर अरब के उसे रास्ते किस प्रकार आगे बढ़ा। अरबी में मामूँ रशीद के दरबारी ज्योतिषी ख्वारिज्मी (सन् ७८०-८४० ई०) ने इन अंको के स्वरुप को ठीक किया, और वही रूप अन्दलुस के मार्ग से यूरोप पहुँचा। यूरोप में गणित की एक विशेष शाखा को एलगोरिथ्म, एलगोरिटेम और एलगोरिज्म कहते हैं। ये सब इसी अलख्वारिज्मी के बिगड़े हुए रूप हैं। अन्दलुस वाले इन्हीं भारतीय अंकों को हिसाबुल गुबार (संस्कृत में धूलि-कर्म्म) कहते हैं। यूरोप के अंक इन्ही 'गुबारी' अंकों से निकले हैं।

ये अंक अरव के नहीं, वल्कि भारत के हैं। इसका प्रमाण यह भी है कि अरवी लिपि लिखने क़े ढंग के विल्कुल विपरीत ये वांए से दाहिने लिखे जाते है, लेकिन अरववाले इन्हें लिखते समय दाहिने से वाएं पढ़ते हैं। इब्न नदीम ने इन्हें भारतीय अंक (सिन्धी अंक) कहकर उद्धृत किया है और एक हजार तक लिखने का ढंग वतलाया है। इससे यह भी पता चलता है कि अरवी में यह भारतीय पण्डितों के द्वारा चलाया गया था। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने ज्योतिर्विनोद नामक ग्रन्थ के 'दिग्विजेता' नामक अध्याय में लिखा है कि अरव वासियों ने हिन्दुओं सें संख्याओं के लिखने की युक्ति सीख ली थी। हमारे यहाँ (भारतवर्ष) स्थान भेद से अंक का मान वढ़ जाता है। जैसे १११ ले, इसमें तीनों स्थानों पर '१' ही हैं, लेकिन प्रथम में एक के वरावर हैं। द्वितीय में १० के एवं तृतीय में १०० के वराबर है। इस युक्ति से गुणा एवं भाग करने में वड़ा सुभीता होता है। अरव वालों ने इसे यूरोप में फैलाया। इसीलिए इन्हें हिन्दू नोटेशन कहते हैं। यूरोप की प्राचीन प्रथा वड़ी भद्दी थी। उनके अनुसार प्रत्येक संख्या के लिए अलग-अलग अंक लिखने पड़ते थे। १११ लिखना हो तो CXI लिखना पड़ता हैं। इससे लम्वे प्रश्नों में वड़ी कठिनाई पड़ती थी। अरव वालों में इर्वजूनिस, अवुल-वफा ओर समरकन्द का वादशाह उलुग वेग प्रद्धि ज्योतिषी हो गये। अलख्वारिज्मी के वाद, भारतीय गणित का प्रचार करने वाला दूसरा व्यक्ति विन अहमद नसवी ने अलमुकन्नअ फ़िल् हिसाविल हिन्दी पुस्तक लिखी।

गणित और फलित ज्योतिष

अलवेरुनी कहता है कि भारतीय ज्योतिष शास्त्र में काल का जो विभाग है, उसके सवसे वड़े भाग को 'कल्प' कहते हैं। दूसरी पुरानी जातियों की तरह भारतीयों का भी यही विश्वास है कि चन्द्र, सूर्य, शनि, वृहस्पति आदि सातों सितारे जिनकों अरव लोग 'सवह (सात) सैयारा' कहते है, सव के सब एक समय में गोलसन्धि में (जहाँ नाड़ी वृत्त, क्रान्ति वृत्त, पूर्वापरवृत्त और क्षितिजवृत्त इन चारों का सम्पात होता हैं) एक साथ उत्पन्न हुए और एक साथ उनकी गति आरम्भ हुई। अव यह अपनी अपनी चाल चल रहें हैं। करोड़ों वरसों के वाद यह सातों उसी गोलसन्धि नामक विन्दु पर एकत्र हो जायेगें, तव प्रलय होकर संसार का नाश हो जायेगा। वह फिर से वनेगा और फिर उसमें गति का आरम्भ होगा। उन सव की संख्या का नाम 'कल्प' है। व्रह्मगुप्त के हिसाव से एक कल्प में ४ अरव, ३२ करोड़ वर्ष होते है, और फिर इन्हीं से दिनों का हिसाव लगाया जा सकता है। अरवों ने इसी कल्प का नाम 'सनी उस्सिंद हिन्द' सिद्धान्त के वर्ष और दिनों का नाम 'अय्यामुस्सिंद हिन्द' रखा।

अरवों में करोड़ों वरसों का हिसाव लगाना वहुत कठिन होता था, इसलिये पाँचवी शताव्दी ईस्वी के अन्त में आर्यभट ने जो सरलतापूर्वक विचार के लिए कल्प के कई हजार

भाग करके उसी के अनुसार गणना स्थापित की। इन्हीं भागों का नाम युग और महायुग है। इस सिद्धान्त का आर्यभट का जो ग्रन्थ हैं, उसको अरब लोग 'अरजबहर' या 'अरजबहज' और युग को 'सनी अरजबहज' अर्थात् आर्यभट के वर्ष कहने लगे। अरबों ने अस् हिन्द और अरजबहर के संस्कृत अर्थ समझने में यह भूल की। उन्होंने भूल से अलसिंद हिन्द का अर्थ "अद्दहरुद्दाहर" अर्थात अनन्त काल और अरजबहज का अर्थ हजारवां भाग मान लिया। इस अन्तिम पुस्तक का अबुलहसन अहवाजी ने अरबी अनुवाद किया था।

याकूब बिन तारिका ने सन् १६१ हि० में किसी पण्डित से जो अरकन्द अर्थात् गुणनखण्ड की पद्धति सीखी थी, वह भी ब्रह्मगुप्त की ही रचना पर आधारित थी, पर इसकी कुछ बातें सिद्धान्त से अलग भी थी। आरम्भ में अरब ज्योतिषियों में सिद्धान्त का अधिक प्रचार हुआ। यद्यपि इसके कुछ ही दिनों बाद यूनानी बतलीमूस की "मजिस्ती" नामक पुस्तक का अरबी में अनुवाद हो गया और मामू रशीद के समय रसदखाना या वेधशाला भी बन गई और बहुत सी नई बातों का भी पता लग गया तथापि बहुत दिनों तक अरब ज्योतिषी बगदाद से लेकर स्पेन तक इसी भारतीय सिद्धान्त के पीछे लगे रहे। उन्होंने इसके संक्षिप्त संस्करण बनाए, इस पर टीकाएँ लिखी, इसकी भूलें सुधारी, इसमें नयी बातें बढ़ायी गयी। हिजरी पाँचवी शताब्दी अर्थात् ग्यारहवी शताब्दी ईस्वी पर्यन्त (अलबेरुनी के समय तक) यह क्रम चलता रहा।

अरबों ने भारतीय ज्योतिषशास्त्र के जो सिद्धान्त अपने यहाँ लिए हैं, उनमें से दो बाते ऐसी है जो वर्तमान परीक्षण से भी सत्य है। ब्रह्मगुप्त ने वर्ष के ३६५ दिन, ६ घण्टे, १२ मिनट और ६ सेकेण्ड निश्चित किए है, और आजकल जाँच से ३६५ दिन ६ घण्टे ९ मिनट ९ सेंकेण्ड है। इसी प्रकार पृथ्वी की गति का पक्ष है। आर्यभट और उसके पक्ष के लोग यह मानते थे कि पृथ्वी घूमती है। और इस सम्बन्ध में आर्यभट पर जो आपत्तियाँ की जाती है, ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि वे आपत्तियाँ ठीक नहीं हैं। और यही सिद्धान्त आजकल भी ज्यों का त्यों लोगों में माना जाता है।[1]

ज्योतिष और रमल

ऐसी मान्यता है कि रमल विद्या अरब से भारत में आयी है। अरबी में रमल विशेषज्ञों को रम्माल कहा जाता है। अब्बासी वंश के दूसरे खलीफा मन्सूर के ही समय से, जो १४७ हिजरी सन् में सिहांसन पर बैठा था, अरब में इन विद्याओं का प्रचार हुआ था। इस प्रकार की बातों में मन्सूर को बहुत अनुराग था। जब उसने बगदाद नगर बनवाया था, तब उसकी

---

१. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ ११८-११९।

हर एक चीज कुण्डली खीच खींचकर वनायी गयी थी। पहले दरवार में ईरानी ज्योतिषियों की प्रधानता थी, फिर हिन्दू ज्योतिषियों ने वहाँ अपना अधिकार जमाया। जान पड़ता हे कि मन्सूर के ही समय में इस विद्या की भारतीय पुस्तकों का अरवी में अनुवाद हुआ था। इन ज्योतिषी पण्डितों में से अरवी में सवसे प्रसिद्ध नाम कनका पण्डित का है। इब्न अवी उसैबा ने लिखा है कि यह एक प्रसिद्ध चिकित्सक और वैद्य था। उखाऊ के अनुसार इस नाम का भारतीय रूप कंकनाय या कनकराय (कनकनाम) होंगा, क्योंकि इस नाम का एक प्रसिद्ध वैद्य भारत में पहले हो चुका है, जिसका मत भारतीय औषधों के सम्वन्ध में प्रामाणिक माना जाता है। इब्न नदीम ने अरवी में इस पण्डित की चार पुस्तकों का उल्लेख किया हैः-

१. किताबुन नमूदार फिल् अअमार-आयुष्य के वर्णन की पुस्तक।
२. किताव असरारुल मयालीद- उत्पत्तियों या जन्मों के भेद या जातक।
३. किताबुल किरानातुल् करीव- वड़े क्रिरान (वड़े लग्न) के वर्णन की पुस्तक।
४. किताबुल किरानातुल् सगीर- छोटे लग्न के वर्णन की पुस्तक।

रमल शास्त्र में जो सोलह घरों की खण्ड संख्या के नाम है, उसे अरवी तथा फारसी में आतसी, खाखी, आवी तथा वादी कहा गया है। नाम के जो क्रम दिये गये है, उसमें अरवी, फारसी एवं उर्दू के शव्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। प्रस्तार को जाइचा कहा गया हैं। सोलह शकलों के नाम इस प्रकार हैं- लाह्यान शकल, कब्जुलदाखिल, कब्जुल खारिज, जमात, फरहा, उल्का, अंकीश, हुम्रा, वयाज, नुस्नुत् खारिज, नुस्त्रुदाखिल, अतवे खारिज, नकी, अतवेदाखिल, इज्जतमा, और तारीख।

रमल शास्त्र में अलग-अलग प्रश्नों के देखने के लिए ग्यारह प्रकार के क्रम प्रयुक्त होते हैं। जो इस प्रकार है- शकुनक्रम, विजदहक्रम, अव्जदहक्रम, मिजाजक्रम, हर्फा क्रम, असहक्रम, हुम्रा क्रम, अर्जक्रम, माआद क्रम और मुसल्लस क्रम। उपर्युक्त सोलह शकलों को चार संकेतों में जिन समस्त शकलों का निर्माण हुआ था। उनके नाम उर्दू एवं अरवी ही है। यथा-१. खारिज, २. दाखिल, ३.सावित, ४. मुत्कलीव।

रमल शास्त्र पर भारतीय ज्योतिष में अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। जिसमें कुछ लुप्तप्राय हो गये तथा जो शेष मिलते है, उनके नाम इस प्रकार है-

रमल, रमलआशसंग्रह, रमलग्रन्थ, रमलचक्रम्, रमल चिन्तामणि, रमल ज्योतिषम् रमल नवरत्नम्, रमल प्रश्नचिन्तामणि, रमल प्रश्नविचार, रमल प्रश्नसंग्रह, रमल रहस्यम्, रमल शास्त्रम्, रमल संग्रह, रमल सार, रमल सिन्धु, रमलामृतम्, रामलेन्दु प्रकाश, रमल ज्ञानम्, रमल नवरोज, रमल प्रकाश, रमल प्रश्न, रमल चिह्नानि, रमल रत्न तथा रमल वैचित्र्य।

ये समस्त ग्रन्थ भारतीय ज्योतिषियों द्वारा ही लिखे गये हैं। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रमल शास्त्र की उत्पत्ति चाहे जहाँ भी हुई हो, किन्तु इसका

विकास अरवी ज्योतिष में ही हुआ है। इसमें ग्रह, नक्षत्र तथा राशि आदि के बिना ही भूत-भविष्य एवं वर्तमान का ज्ञान हो जाता हैं।

ताजिक शास्त्र

रमल शास्त्र की भाँति ताजिक ज्योतिष फलित ज्योतिष का एक अंग हैं। फलित ज्योतिष के अन्तर्गत एक वर्ष के वर्षफल में ग्रहों, नक्षत्रों और राशियों के अनुसार शुभाशुभ का फलादेश किया जाता है। ताजिक में वार्षिक, मासिक और दैनिक रूप में राशियों के अनुरूप शुभाशुभ का विचार होता है। इसे ज्योतिष का एक अंग माना गया है। ताजिक अरवी भाषा का शब्द है। इसमें मनुष्य के प्रत्येक वर्ष का शरीर, धन, भाई-वहन, माता-पिता, सन्तान, बुद्धि, विद्या, रोग, शत्रु स्त्री, धर्म, लाभ और व्यय आदि १२ प्रभेदों द्वारा शुभाशुभ का विचार किया जाता है। अरवी ज्योतिषियों के द्वारा ही भारतीय ज्योतिष शास्त्र को यह विद्या मिली होगी। इसके इक्कवाल, इन्दुवार आदि सोलह योग कहे गये हैं।

प्रागिक्कवालो पर इन्दुवारस्तथेत्थशालोऽपर ईसराफः।
नक्तं ततः स्याद्यमयामणाऊ कंबूलतों गैरिकम्बूलमुक्तम्।।

खल्लासरो रद्दमथो दुफालीकुत्थञ्च दुत्थोत्थदिवीरनामा।
तंम्बीरकुत्थौ दुरफश्च योगाः स्युः षोडशैषां कथयामि लक्ष्म।।[1]

१. इक्कवाल २. इन्दुवार ३. इत्थशाल ४. ईसराफ ५. नक्त ६. यमया ७. मणऊ ८. कंवूल ६. गैरिकंवूल १०. खल्लासर ११. रद्द १२. दुफालिकुत्थ १३. दुत्थोत्थदिवीर १४. तंवीर १५. कुत्थ १६. दुरफ।

इन सोलह योगों के अतिरिक्त ताजिक शास्त्र में एक दशवां ग्रह है। जिसे मुन्था कहा गया हैं। अरबी ज्योतिषियों का कथन है यह सभी ग्रहों का माता-पिता है। इसके अतिरिक्त ताजिक शास्त्र में मुद्‌दा दशा, चौवन (५४) विद्या पुण्य आदि सहम, पंचवर्गीय वल में हद्‌दा, त्रिराशिपति, पंचाधिकारी ग्रहों का दीप्तांश तथा हर्ष बल आदि का विचार किया जाता है। शंकर वाल कृष्ण दीक्षित का ताजिक के विषय में कथन है कि जिस समय मनुष्य के जन्मकालीन सूर्य तुल्य सूर्य होता है अर्थात् जव उसकी आयु किसी भी सौरवर्ष में समाप्त होकर दूसरा सौरवर्ष लगता है, उस समय के लग्न ग्रह स्थिति द्वारा मनुष्य को उस वर्ष में होने वाले सुख-दुःख का निर्णय जिस पद्धति द्वारा किया जाता है उसे ताजिक कहते है। 'दामोदरसुत वलभद्रकृत हायनरत्न' नामक एक ताजिक ग्रन्थ है। जिसमें लिखा हैं-

---

१. ताजिक नीलकण्ठी, २.१५-१६।

'यवनाचार्येण पारसीकभाषया प्रणीतं ज्योतिषशास्त्रैकदेशरूपं वार्षिकादिनाना-विध-फलादेशफलकशास्त्रं ताजिकशब्दवाच्यं तदनन्तरभूतैः समरसिंहादिभिः ब्राह्मणैस्तदेव शास्त्रं संस्कृतशब्दोपनिबद्धं ताजिकशब्दवाच्यम्। अतएव तैस्ता एव इक्कबालादयो यावन्यः संज्ञा उपनिबद्धाः।।"

इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि ताजिक शाखा अरबियों से ली गयी है। पार्थपुरस्थ ढुण्ढिराजात्मज गणेश का लगभग शक १४८० का 'ताजिकभूषणपद्धति' नामक एक दूसरा ग्रन्थ हैं।

गर्गाद्यैर्यवनैश्च रोमकमुखैः सत्यादिभिः कीर्तितम्
शास्त्रं ताजिकसंज्ञकं निरवधिं तद् वारिधिं दुस्तरम्।
एतत्ताजिकभूषणं नवतरातत्तुं समर्था तरि-
र्व्यक्तार्थं विमलोक्तिवाक्यविलसत्कर्णानुकीर्णा भृशम्।। (ताजिक भूषण, ३)

इससे भी ज्ञात होता है कि ताजिक अरबियों से लिया गया हैं। ताजिक के और भी अनेक ग्रन्थ हैं पूर्व में जिस सिंहल नामक भारतीय यवनाचार्य की चर्चा आयी है, उनके द्वारा एक अन्य सोलह योगों वाला ताजिक शास्त्र लिखा गया है। जो 'सिंहलताजिकोक्ताः षोडशयोगाः' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सोलह योग इस प्रकार हैं-

गुलाला गुलाली खुसाला खुसाली फलासा फलूसी वदारा वदारी।
तमाला तमाली तगी तेग तेगा नमीसाव संजीर संजीव योगाः।।

इन सोलह योगों का कथन संस्कृत में ही किया गया है किन्तु भाषा अरवी, फारसी या हिन्दी की किसी विशेष स्थान की बोली है कहना कठिन हैं।

लाल किताब

अरवी ज्योतिष की एक और देन है लाल किताव। यह लाल किताव ज्योतिष शास्त्र की प्राचीन परम्परा से भिन्न ग्रह शान्ति का उपाय वताने वाला अद्‌भुत ग्रन्थ है। इसकी भाषा उर्दू एवं अरबी है। इस ग्रन्थ में भी ज्योतिष शास्त्र की भाँति भावों और ग्रहों को भविष्य कथन का आधार वनाया गया है किन्तु पद्धति भिन्न है। लाल किताव का महत्व इसलिये भी अधिक है कि इसमें फल कथन पद्धति तथा अनिष्टनिवारण उपाय अत्यन्त सरल एवं उपयोगी है। यदि समान्य जड़ी बूटी से किसी रोग की पीड़ा मिटती है तो वह प्रशंसनीय है तथा वहुमूल्य औषधि से पूर्णरूपेण रोग का शमन न हो रहा हो तो वह व्यर्थ हैं। प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों के सिद्धान्त दुरूह एवं जटिल है जवकि लाल किताव सरल उपायों वाली हैं। इस ग्रन्थ में प्राचीन ज्योतिष की भांति नौ ग्रहों को ही जन्म कुण्डली में स्थान

दिया गया हैं। ग्रहों के नाम भी परम्परानुसार है, किन्तु लाल किताव में ग्रहों के अनेक नये रूपों की कल्पना यथा ग्रह फल का ग्रह, भाव फल का ग्रह, बराबर ग्रह, पाप एवं पापी ग्रह, नकली ग्रह, कायम ग्रह, धर्मी ग्रह, मुकाबले का ग्रह, साथी ग्रह, अन्धा ग्रह, सुप्त ग्रह, जाग्रत ग्रह, तथा अकेला ग्रह।

लाल किताव में भी राहु केतु छाया ग्रह हैं। ग्रहों का लिंग, उच्च-नीच भी भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों के प्रमाणानुसार हैं। पक्के घर के ग्रह अथवा ग्रहों का पक्का घर भी होता है। जैसे सूर्य का मेष पक्का घर है, चन्द्रमा का कर्क, मंगल का मिथुन एवं वृश्चिक, बुध का तुला, गुरु का वृष, सिंह तथा धनु, शुक्र का तुला, शनि का मकर, राहु का मीन तथा केतु का कन्या पक्का घर हैं।

फल देने में जव ग्रह किसी दूसरे ग्रह के समान होता है, तब उसे बराबर का ग्रह कहते हैं। दशम भाव में स्थित ग्रह यदि नीच राशि, दृष्ट, पाप या पापी हों एक दूसरे के नैसर्गिक शत्रु हों, तो वे अन्धे ग्रह कहे गये है। दो ग्रहों की शक्ति मिलकर किसी तीसरे ग्रह की शक्ति के बराबर हो तो तीसरा ग्रह अकेला ही उन दो ग्रहों का स्थान ले लेता है इसीलिए उसे नकली ग्रह कहा जाता है। राहु केतु को ग्रह अकेला ही उन दो ग्रहों का स्थान ले लेता है इसीलिए उसे नकली ग्रह कहा जाता है। राहु केतु को पाप ग्रह की संज्ञा दी गयी है। राहु केतु एवं शनि सामूहिक रूप में पापी ग्रह कहे गये हैं। किसी भी वाधा के विना जो ग्रह अपना फल देता है उसे कायम ग्रह कहा जाता है। राहु केतु एवं शनि पापी ग्रह हैं किन्तु विशेष स्थिति में ये धर्मी ग्रह बन जाते हैं। राहु या केतु चतुर्थ भाव में धर्मी वन जाते है। चन्द्रमा के साथ यदि राहु या केतु किसी भी भाव में हो तो धर्मी ग्रह हो जाते हैं। शनि लाभ स्थान में धर्मी बन जाता हैं। शनि गुरु के साथ स्थित होने पर किसी भाव में धर्मी ग्रह वन जाता है। धर्मी ग्रह सदैव शुभ फल देता हैं। लाल किताव में उच्च स्वग्रही तथा मित्रादि ग्रहों के स्थान पर मुकावले के ग्रह, साथी ग्रह, अन्धा ग्रह तथा सुप्त ग्रह की संज्ञा दी गयी हैं।

खेट कौतुकम्

भारतवर्ष में मुगलों के शासन काल में भी फलितज्ञ ज्योतिषियों का सम्मान होता रहा हैं। इसी मध्य अब्दुर्रहीम खानखानाँ ने खेटकौतुक्रम् नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना अरवी, फारसी एवं उर्दू भाषा में की। अब्दुर्रहीम खानखानाँ के पिता का नाम बैरंमखाँ था। इनकी माता मेवाती राजपूत घराने की लड़की थी। अतः अब्दुर्रहीम खानखानाँ के ऊपर भारतीय संस्कृति का विशेष प्रभाव था। पिता की मृत्यु के पश्चात् ये अकवर के कृपा पात्र बने और अपनी योग्यता के कारण मिर्जाखान की उपधि प्राप्त की। गुजरात के युद्ध की सफलता पर इन्हें खानखानाँ की उपाधि मिली थी। ये अरवी, फारसी, संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के उच्च

कोटि के विद्वान् थे। भारतीय परम्पराओं से प्रभावित होकर उन्होंने 'खेटकोतुकम्' नामक जातक फलित ग्रन्थ की रचना की। इसका फलादेश भारतीय ग्रन्थों के अनुसार ही है, किन्तु कहीं-कहीं इसका अपना स्वतन्त्र मत भी हैं। खेटकौतुकम् ग्रन्थ में राजयोग के विषय में वर्णित एक प्रसिद्ध श्लोक है जो उसके स्वतन्त्र मत की पुष्टि करता है। यथा-

यदा मुश्तरी कर्कटे वा कमाने, यदा चश्मखोरा जमी वासमाने।
तदा ज्योतिषी क्या लिखेगा, पढ़ेगा, हुआ बालका बादशाही करेगा।।
(खेटकौतुकम्, श्लोक ११३)

खानखानाँ ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखते है कि पूर्वाचार्यो ने फारसी शब्द मिश्रित संस्कृत पद्यों में अन्यान्य रचनायें की हैं। उन्हीं पूर्वाचार्यों के चरण-पथ का अनुसरण करता हुआ मैं (खानखाना नव्बाव) फारसी शब्द-मिश्रित संस्कृत पद्यों में 'खेटकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

फारसीयपदमिश्रता ग्रन्थाः खलु पण्डितैः कृताः पूर्वैः।
सम्प्राप्य तत्पदपथं करवाणि खेटकौतुकं पद्यैः।।
(खेटकौतुकम्, श्लोक २)

उकरा

सावजूसयूसकृत 'उकरा' नामक एक अरबी ग्रन्थ का सम्पादन पण्डित विभूतिभूषण भट्टाचार्य ने किया है, जो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से १९७८ ई० में प्रकाशित हुआ हैं। इस ग्रन्थ में अरबी ज्योतिषी सावजूसयूस के द्वारा गणित (खगोल) ज्योतिष का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में कुल तीन अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में कुछ क्षेत्रों की चर्चा की गयी हैं। प्रथम अध्याय में कुल २२ क्षेत्र, दूसरे अध्याय में २३ क्षेत्र तथा तीसरे में १४ क्षेत्र वर्णित हैं। कुल ५९ क्षेत्रों का वर्णन हैं, किन्तु किसी-किसी ग्रन्थ में ५८ क्षेत्रों का ही वर्णन आता है। यह गन्थ सावजूसयूस ने अवूल अव्वरस अहमद नामक शासक की आज्ञा से बनाया था। इसमें प्राचीन भारतीय एवं अरबी ज्योतिषियों के मतों का संकलन मात्र हैं, तथापि अरवी ज्योतिष में लिखे जाने के कारण इसका महत्व अधिक हैं।

राशियों का नाम करण

भारतीयों की भाँति अरवी लोग भी वारह राशियाँ मानते हैं, तथा भारतीय ज्योतिषियों के सदृश राशियों को अनेक भागों में विभक्त करते हैं। होरा को अरबी लोग नीमवहर कहते हैं तथा द्रेष्काण को द्रैजानात कहतें है। नवांश को फारसी भाषा में नुहवहरात कहा गया हैं। इसी प्रकार अन्य वर्गो का भी विभाग मिलता हैं।

विभिन्न देशों के अनुसार राशियों का नामकरण

क्रम	भारतीय	यूनानी	अंग्रेजी	फारसी	अरवी
१.	मेष	क्रिय	एरीस	बरे	हमल
२.	वृष	तावुर	टॉरस	गूत्व	सौर
३.	मिथुन	जितुम	जेमिनि	दोपकर	बोवझ (जोजा)
४.	कर्क	कुलीर	कॉनसर	खरंचग	सरतान
५.	सिंह	लेय	लीओ	शीर	अशद
६.	कन्या	पाथोन	वर्गो	खुशे	सोमवेल
७.	तुला	जूक	लाइब्रा	त्राजु	मीजान
८.	वृश्चिक	कौर्प्य	स्काफर्पिओ	कक्षदुम	अकरव
६.	धनु	तौक्षिक	सॉजिटेरिअस	कमान	कौश
१०.	मकर	आकोकेर	कॉप्रिकॉर्न	गोझ	जघ्य
११.	कुम्भ	हृद्रोग	ओक्वेरिअस	दुल	दलव
१२.	मीन	अत्यभ	पिसीज्	माही	हुत

इस प्रकार जहाँ अरबवासियों ने भारतवर्ष की वैदिक सभ्यता से ज्योतिष के क्षेत्र में अनेक तथ्यों को जाना, वहीं भारतवर्ष ने भी यथायोग्य आंशिक ही सही ताजिक, रमल एवं लाल किताव आदि का ज्ञान अरवों से लिया। दोनों ने अपनी-अपनी परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार एक दूसरे के सिद्धान्तों को ग्रहण कर उसमें यथा अवसर संशोधन परिवर्धन करके ग्रहण किया। अल्-ख्वारिज्मी, अलवेरुनी, अलगजाली, अल्मन्सूर आदि ने भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन एवं अनुवाद करके अरवी साहित्य को ज्योतिष की दृष्टि से समृद्ध बनाया। उसके पश्चात् यूरोप ही नहीं अपितु समस्त विश्व ने उन ग्रन्थों से लाभ उठाते हुए अपनी भाषाओं में अनुवाद किया। वस्तुतः ये ज्ञान-विज्ञान सतत गतिमान होकर परस्पर एक-दूसरे के पास पहुँचते रहते है। सत्य तो एक ही है, किन्तु विद्वज्जन इसे अनेक रूपों में वर्णन करते रहते है। यही स्थिति भारतीय एवं अरवी ज्योतिष में भी देखी जा सकती है। यही कारण था कि आचार्य वराहमिहिर जैसे मनीषी को भी कहना पड़ा कि-

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्-द्विजाः।।

●●●

आचार्य नीलकण्ठ तथा ज्ञानराज

डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी

आचार्य नीलकण्ड का नाम ताजिकशास्त्र के इतिहास में अतिमहत्वपूर्ण माना जाता है। इनके बहुविश्रुत प्रतिभा का आदर समस्त ज्योतिषवेत्ता पद-पद पर करते रहे हैं। ताजिक शास्त्र का "नीलकण्ठी" नामक ग्रन्थ प्राचीन भारतीय ज्योतिष की उदात्त भावना को प्रदर्शित करता है।

आचार्य नीलकण्ठ ने अपने ग्रन्थ "ताजिक नीलकण्ठी में न केवल अपना अपितु अपने पितामहादि का भी परिचय दिया है। आचार्य नीलकण्ठ ने उपसंहाराध्याय में अपना कुल परिचय देते हुये लिखा है[1] - "गर्ग गोत्र में उत्पन्न अनेक गुणों से सुशोभित तथा महाभाष्य के व्याख्याकार त्रिस्कन्ध ज्योतिष शास्त्रज्ञ श्रीमान् चिन्तामणि नामक विद्वान हुए। उनके सुपुत्र अनन्त गुणों से युक्त अनन्त दैवज्ञ हुए। ज्योतिर्वेत्ता आचार्य नीलकण्ठ के पिता अनन्त दैवज्ञ तथा माता पद्मा थे।

भारतीय ज्योतिष इतिहास के प्रामाणिक इतिहासकार श्री शंकर वालकृष्ण दीक्षित ने मराठी भाषा में अनन्त के परिचय प्रसंग में नीलकण्ठ का परिचय दिया है। उन्होंने लिखा है कि आचार्य नीलकण्ठ ने अपना ग्रन्थ शक १५०९ में वनाया। इनका मूल निवास स्थान गोदा नदी के किनारे विदर्भ देश में धर्मपुरी नामक गांव में था। अनन्त वहाँ से अध्ययन के लिए काशी आये और बाद में इनके वंशज काशी में ही निवास करने लगे। आचार्य ने जिस समय नीलकण्ठी ग्रन्थ का निर्माण किया, उस समय इनके पिता अनन्त दैवज्ञ जीवित थे। ऐसा नीलकण्ठ के 'अस्ति' पद से ज्ञात होता है।

श्री शंकर वालकृष्ण दीक्षित ने लिखा है कि अनन्त के दो पुत्र नीलकण्ठ और रामदैवज्ञ थे। रामदैवज्ञ ने मुहूर्तचिन्तामणि में अपने वंशवृत्त का वर्णन किया है। गोविन्द दैवज्ञ ने पीयूषधारा टीका में अपने पिता का नाम नीलकण्ठ निरूपित किया है।[2]

श्री शंकर वालकृष्ण दीक्षित, म०म० पं० सुधाकर द्विवेदी तथा आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री आचार्य नीलकण्ठ के जन्म संवत् के वारे में सामान्यतः कुछ मतभेद व्यक्त करते हैं, परन्तु उनका काल अकवर के शासन काल से कई अंशों में समानान्तर वैठता है। 'नीलकण्ठी' के हिन्दी टीकाकार श्री केदारदत्त जोशी भी आचार्य नीलकण्ठ को अकवर वादशाह के सभा में पण्डित होना स्वीकार करते हैं।

---

१. श्री गर्गान्वयभूषणं गणितविच्चिन्तामणिस्तत्सुतो- नन्तोऽनन्तमतिर्व्यधात्खलमतध्वस्त्यै जनुःपद्धतिम्। (-ताजिक नीलकण्ठी)

२. सम्भूतः खलु नीलकण्ठविदुषो गोविन्दनामा सुतः। -पीयूषधारा टीका, उपसंहाराध्याय।

इस प्रकार के विभिन्न मीमांसा के आधार पर हम देखते हैं, कि आचार्य नीलकण्ठ का जीवन वैदुष्यपूर्ण एवं सम्माननीय था। महान् विद्वान् कुल में उत्पन्न होने का लाभ भी नीलकण्ठ ने उठाया, और यावनी भाषा होने के कारण भी ज्ञान को पवित्र मानते हुए, ताजिक शास्त्र में अमूल्य ग्रन्थ की रचना की। आचार्य ने वर्षतन्त्र पर अति महत्त्वपूर्ण कार्य करके समाज को वार्षिक फलादेश ज्ञान को सरल बनाया। इन्होंने अरबी एवं फारसी ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर 'ताजिक नीलकण्ठी' नामक गन्थ की रचना की।

इनके ग्रन्थ को देखने पर यह पता चलता है, कि इन्होंने गणित शास्त्र के साथ ही फलित शास्त्र में भी प्रवीणता ग्रहण की। आज ताजिक नीलकण्ठी इतना सम्पूर्ण ग्रन्थ ताजिक शास्त्र के इतिहास में दूसरा नहीं हैं। गोविन्द दैवज्ञ के कथनानुसार आचार्य नीलकण्ठ मीमांसा एवं सांख्य शास्त्र के भी विद्वान थे और अकबर के राजसभा में पण्डितेन्द्र भी थे।

नीलकण्ठ का कृतित्व

१-''ताजिक नीलकण्ठी''-फलित ज्योतिष शास्त्र में ताजिक नीलकण्ठी का प्रमुख स्थान है। आचार्य नीलकण्ठ ने ''न पठेत् यावनीं भाषां न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'' के उद्घोष करने वाले कट्टर पन्थियों को दृढ़ता से उपेक्षा एवं चुनौती देते हुए, ताजिक शास्त्र के विकास के लिए ताजिक नीलकण्ठी नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ फारसी एवं अरबी भाषा रूपी शरीर से निर्मित है, परन्तु इस ग्रन्थ में आत्मा भारतीय ज्योतिष की ही दिखाई देती है। इस ग्रन्थ के माध्यम से वर्ष पर्यन्त शुभाशुभ भविष्य फल बताया जा सकता है। इसके प्रधान तीन तन्त्र (खण्ड) संज्ञा-वर्ष एवं प्रश्न नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें वर्षतन्त्र का सर्वाधिक महत्त्व है। वर्षफल सम्बन्धी गणित में पिण्ड रहित किन्तु मतिशील ग्रह की तरह मुथहा नामक एक ग्रह की कल्पना स्वतन्त्र रूप में की गई है। यद्यपि भारतीय होराशास्त्र में वृहस्पति ग्रह के सदृश इसकी गत्यादि पाई जाती हैं। इतना ही नहीं मुंथहा के स्थनानुसार शुभाशुभ फल का विवेचन भी किया गया हैं। मुथहा की समानता लग्नेश के समकथा मानी गई हैं। इसी लिए वर्षेश निर्णय में भी इसका विचार होता हैं। पं० केदारदत्त जोशी जी ने लिखा है कि जातक ग्रन्थों में वृहज्जातकम् मुहूर्त ग्रन्थों में मुहूर्तचिन्तामणि एवं ताजिक शास्त्रों में नीलकण्ठी-इन तीन ग्रन्थों के सम्यग् अध्ययन से किसी भी दैवज्ञ को सरलता से फलित ज्योतिष का ज्ञान हो जाता हैं। ये तीनों ग्रन्थ सभी दैवज्ञों को कण्ठस्थ होते थे।

ताजिक नीलकण्ठी के ऊपर शक १५४४ में ''शिशुबोधिनी-समाविवेकविवृत्ति'' नाम की टीका में गणितीय खण्डों के उदाहरण भी दिये गये हैं। नीलकण्ठी ग्रन्थ पर ही आचार्य विश्वनाथ ने शक १५५१ में सोदाहरण टीका लिखी, जिसका प्रचार आज भी देखा जाता हैं।[1]

---

१. चन्द्रबाणशरचन्द्र सम्मिते हायने नयति शलिवाहने। मार्गशीर्षसित पञ्चमीतिथौ विश्वनाथ-विदुषा समर्पितम्।। -नीलकण्ठी टीका।

यद्यपि आचार्य विश्वनाथ ने नीलकण्ठी के दो ही तन्त्रों पर टीकाएं की पर वर्तमान में ताजिक नीलकण्ठी की वहुत सारी हिन्दी एवं संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं।

अन्य ग्रन्थ

पं० सुधाकर द्विवेदी ने गणकतरंगिणी में लिखा हैं कि, आचार्य नीलकण्ठ ने एक जातकपद्धति की रचना की है, जो मिथिला प्रदेश में प्रसिद्ध हैं और उसमें ६० श्लोक हैं। परन्तु यह वर्तमान में अनुपलब्ध है। आचार्य शंकर वालकृष्ण दीक्षित जी ने भी एक जातक पद्धति की चर्चा की है परन्तु उन्होंने ग्रन्थकार का नाम अनन्त दैवज्ञ वताया है। आचार्य लोकमणि दाहाल ने 'भारतीयज्योतिषशास्त्रस्येतिहासः' नामक ग्रन्थ में लिखा हैं कि आचार्य नीलकण्ठ के दो ग्रन्थ हैं, एक का नाम ताजिक नीलकण्ठी और दूसरा ग्रन्थ 'टोडरानन्द' हैं।[1] इस वात की पुष्टि दीक्षितजी ने भी की है। जैसा कि अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि टोडरानन्द में गणित, मुहूर्त और होरा तीनों स्कन्धों की चर्चा हैं। इतिहास के साक्ष्यानुसार ऐसा लगता है कि अकबर के प्राधानामात्य टोडरमल के नाम पर निर्मित इस ग्रन्थ का निर्माण आचार्य नीलकण्ठ ने यशोगाथा रूप में किया होगा। श्री शंकर वालकृष्ण दीक्षित ने लिखा है कि, आफ्रेच सूची के अनुसार नीलकण्ठ ने तिथिरत्नामाला, प्रश्नकौमुदी नामक प्रश्नग्रन्थ तथा दैवज्ञवल्लभा नामक ज्योतिष ग्रन्थों की भी रचना की तथा जैमिनिसूत्र की सुबोधिनी टीका भी की हैं। उसी सूची के अनुसार ज्ञात होता है कि उन्होंने ग्रह कौतुक, ग्रह लाघव, मकरन्द और एक मुहूर्तग्रन्थ की टीकाएँ भी की हैं। आचार्य नीलकण्ठ के चार ग्रन्थ संग्रह में उपलब्ध हैं जिनमें केवल एक ही ग्रन्थ प्रकाशित हैं।[2]

१. ताजिक नीकण्ठी, (प्रकाशित)
२. प्रश्न कौमुदी-लिपिकाल १८५४ क्र०सं०-३४४०२ (अपूर्ण)
३. जैमिनिसूत्र सटीक-क्र०सं०-३४३७६ (अपूर्ण)
४. ग्रहलाघव सारिणी-क्र०सं० ३४३६२ (अपूर्ण)

आचार्य "ज्ञानराज"

आचार्य ज्ञानराज का जन्म एक ऐसे विद्वत्कुल में हुआ था, जिनकी विद्वतपरम्परा १६ वीं शती तक विद्यमान रहीं। ज्ञानराज के ग्रन्थ सिद्धान्तसुन्दर की पुष्पिका के अनुसार इनके पिता का नाम नागनाथ था। ज्ञानराज के विषय में विशेष जानकारी हमें इनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वंशालियों से मिलती हैं। ज्ञानराज के पुत्र सूर्य ने भास्करीय लीलावती की टीका में अपने पिता एवं पितामह का वर्णन किया हैं। इस वर्णन के अनुसार गोदावरी के उत्तर तट

---

१. आचार्य लोकमणि दाहाल, ज्योतिषशास्त्रस्येतिहासः-पृष्ट १६६।
२. सरस्वती भवन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की "संस्कृत मेन्यूस्क्रिप्टस्" वोल्यूम, ६।

पर पार्थपुर नामक गाँव में विद्वानों में अग्रणी श्री नागनाथ नामक दैवज्ञ भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए। इसी प्रकार का द्वितीय वर्णन भास्करीय बीजगणित की सूर्यकृत टीका में भी किया गया है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी ने भी अपने भारतीय ज्योतिष में इसका उल्लेख किया हैं। उन्होंने एक वंशावली लिखी है, जिसमें ज्ञानराज के ही वंशजों के साथ काशीनाथ शास्त्री के साक्षात्कार का भी उल्लेख किया गया है। जो इस प्रकार हैं-

विज्ञानेश्वर, १५७५
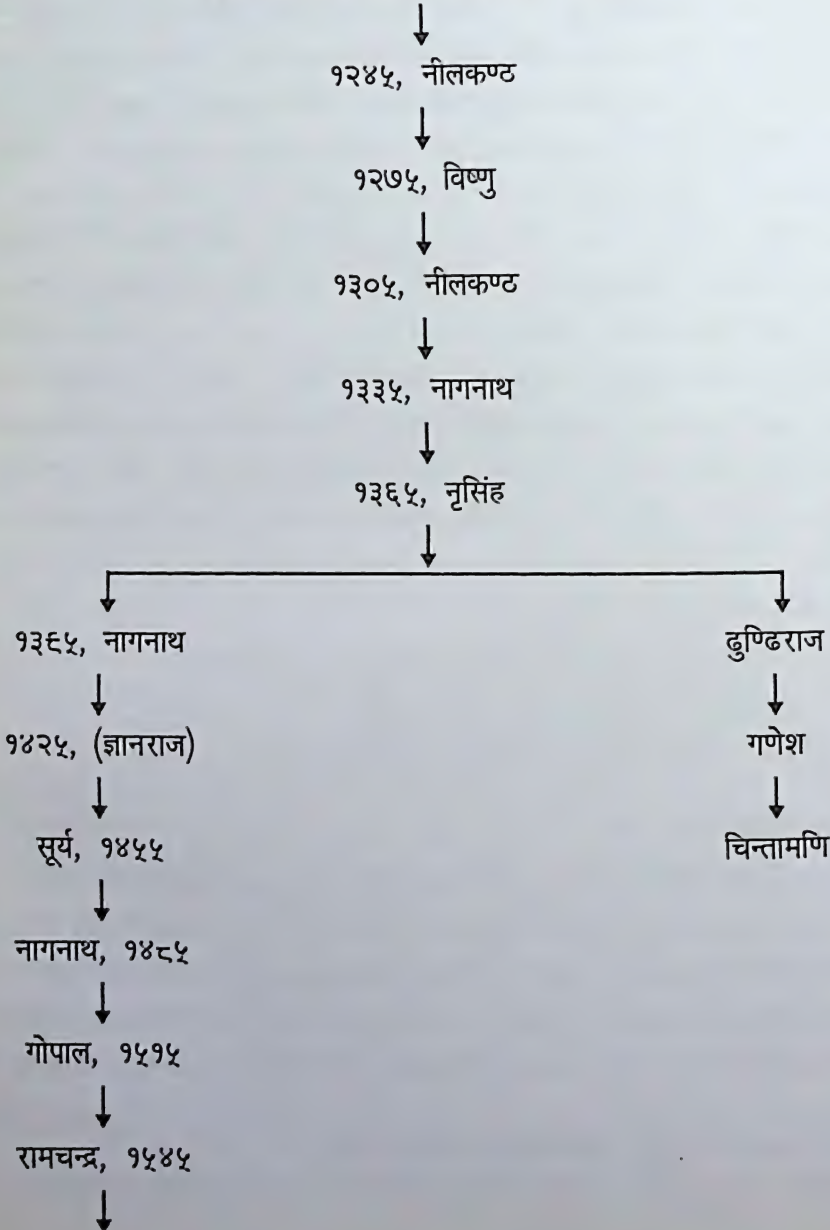
↓

पुरुषोत्तम, १६०५

↓

काशीनाथ, १६३५

इस प्रकार दीक्षित जी ने लिखा है कि सम्प्रति पैठण नामक स्थान से लगभग ६० मील पूर्व गोदावरी नदी के उत्तरतट के पास ही पाथरी नामक गाँव हैं। यह देवगिरि (दौलतावाद) से लगभग ८५ मील आग्नेय में स्थित है। जो संभव है प्राच्य काल का पार्थपुर हो। कमलाकर दैवज्ञ ने वताया है कि यह पार्थपुर विदर्भ में ही है। कुछ अन्य आचार्यो ने भी विदर्भ में ही पार्थपुर का उल्लेख किया हैं।

यदि हम आचार्य ज्ञानराज के जन्म काल का अन्वेषण करते हैं तो पाते हैं कि ज्ञानराज ने शक १४२५ में सिद्धान्तसुन्दर नामक ग्रन्थ की रचना की, जैसा कि सिद्धान्तसुन्दर ग्रन्थ के लघुअहर्गण प्रसंग में अंकित हैं। यदि हम इन पूर्वोक्त वंशावली में ३० वर्ष का अन्तराल स्वीकार करते हैं तो पाते हैं कि राम का काल १२१५ शक संभव है। इस प्रकार अन्य लोगों का भी आसन्न मान निश्चित किया जा सकता हैं।

इस प्रकार ही हम यदि ज्ञानराज के ग्रन्थ रचना के समय आयु ३० वर्ष मानते हैं तो इनका जन्म शक १३८५ के आसन्न आता हे। यद्यपि भारतीय ज्योतिष के किसी भी इतिहासकार ने इनके जन्म काल का प्रामाणिक निर्णय नहीं उपस्थित किया है, तथापि ग्रन्थकारों की वंशावली एवं टीका आदि साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है। श्री दीक्षित जी ने आचार्य काशीनाथ शास्त्री के पत्रों के अनुसार उल्लेख किया है कि ज्ञानराज का जन्म शक् १५८५ है, जो कि युक्ति से वहिर्भूत दिखता है। क्यों कि ग्रन्थकार ने स्वयं अपने ग्रन्थ का काल १४२५ वताया है। अतएव १३८५ के आसन्न ही हम इनका जन्म काल स्वीकार करते हैं, जिससे वाद के वंशजों का निर्धारण संभव हो जाता हैं। ज्ञानराज ने सूर्यसिद्धान्त में वीजसंस्कार करके तत्कालीन समाज को अपने विद्वत्ता का परिचय दिया था तथा वहुत सारे गणीतीय पक्षों का मण्डन एवं खण्डन के द्वारा सौर पक्ष को स्थापित किया हैं। इस प्रकार ज्ञानराज का कुल विभिन्न शास्त्रों में निपुण तथा ज्योतिष शास्त्र में प्रवीण देखा जाता हैं। सिद्धान्तसुन्दर ग्रन्थ के गोलाध्याय के अध्ययन से यह सिद्ध होता हैं कि यह ग्रन्थ ज्ञानराज द्वारा निर्मित है। सिद्धान्तसुन्दर ग्रन्थ की प्रति सरस्वती भवन, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आज भी सुरक्षित हैं। इसमें इसका लिपिकाल १५८६ वर्णित हैं।

इस ग्रन्थ में दो अध्याय हैं। प्रथम गोलाध्याय है एवं दूसरा गणिताध्याय है। गोलाध्याय के अन्तर्गत सृष्टिक्रम आदि अनेक अध्याय हैं जिनमें यन्त्रमाला नामक अध्याय

है, जिसके अन्तर्गत बहुत सारे यन्त्रों की कल्पना स्वयं ज्ञानराज ने की है और उसका व्यवहार भी बताया है। ग्रन्थावलोकन से यह प्राप्त होता है कि इन्होंने बहुत स्थलों पर पुराण के मतों का मण्डन करते हुए सौरपक्ष के विरुद्ध पक्षों का खण्डन भी किया है। इसमें भास्कर के मत शामिल हैं। उन्होंने सूर्यसिद्धान्त में बीजसंस्कार करके उसको सामयिक बना दिया। आचार्य लोकमणि दाहाल ने लिखा है कि सिद्धान्तसुन्दर नामक ग्रन्थ की कोई प्रधान विशेषता नहीं दिखाई देती केवल बीजाधान ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ में करण ग्रन्थ की तरह क्षेपक और वर्ष गतियाँ पढ़ी गई हैं। अयनांश का उल्लेख कहीं भी ग्रन्थ में ज्ञानराज ने नहीं किया हैं परन्तु अयनांश के बारे में लिखा है कि, मध्याह्नछाया द्वारा लाया गया रवि और करणागत स्पष्ट रवि का अन्तर ही अयनांश है। चन्द्रकला के क्षय वृद्धि प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि वेदों में सूर्य किरणों को ही देवता कहते हैं जो शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष में कलायें देती रहती है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि आचार्य ज्ञानराज ने कहीं-कहीं उचित कल्पना की है, परन्तु कहीं-कहीं युक्तिशून्य भी लगता है जो, गोलज्ञान से वहिर्भूत दिखता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सिद्धान्तसुन्दर ग्रन्थ अपने नाम जैसा ही सुन्दर ग्रन्थ है जिसके सुन्दर पद्य एवं शैली तथा छन्द पाठकों को प्रभावित करते रहते हैं'।

सिद्धान्तसुन्दर ग्रन्थ के ऊपर ज्ञानराज के वंशज चिन्तामणि ने टीका की है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

पं० सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि ज्ञानराज द्वारा रचित बीजगणित भी है जो, भास्करीय बीज की छायानुरूप हैं। जहाँ भास्करीय "सरूपके वर्णकृती तु यत्रेति" सूत्र का खण्डन किया गया हैं। ११ सूर्य ने भास्करीय बीजभाष्य में लिखा है कि ज्ञानराज ने सिद्धान्तसुन्दर के अतिरिक्त जातक, साहित्य और सङ्गीत विषयक ग्रन्थ भी बनाये हैं सरस्वती भवन के पाण्डुलिपि संग्रह में निम्न ग्रन्थ पूर्णापूर्ण रूप में पाये जाते हैं।

१. सिद्धान्तसुन्दर क्र०सं० ३४६७०।
२. सिद्धान्तसुन्दरीय बीजम्-क्र०सं० ३५६२६ (अपूर्ण) लिपिकाल-१६७२।
३. सुन्दर सिद्धान्त, क्र०सं० ३६६०६ अपूर्ण।

●●●

महामहोपाध्याय बापूदेवशास्त्रीः

डॉ. विनोद राव पाठक

काशी नगरी के धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक महत्व उसका विद्या की उपासना स्थली होना हैं। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार उपनिषत् काल से ही ज्ञान पिपासु-मनीषी काशी आकर अपनी ज्ञानतृषा शान्त करते हैं। यह परम्परा आज भी अविच्छिन हैं। इसी परम्परा के अभिन्न अङ्ग एक ऐसे महामनीपी, जिन्होंने महाराष्ट्र प्रदेश की कोङ्कणभूमि से काशी आकर अपने ज्ञान को इतना परिमार्जित एवं समृद्ध किया कि उन्हें काशी के विद्वत् समुदाय में मूर्धन्य पद प्राप्त हुआ तथा उनके वैदुष्य की प्रभा सम्पूर्ण भूमण्डल पर उद्भासित हुयी। ये महामनीषी थे महामहोपाध्याय पं० बापूदेव शास्त्री सी० आई० ई०।

(क) पूर्वज तथा जन्मस्थान

उपलब्ध इतिहास के आधार पर ज्ञात होता है कि पं० बापूदेव शास्त्री के पूर्वज महाराष्ट्र के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित वेलवणेश्वर नामक ग्राम के निवासी थे। वेलणेश्वर महादेव से अधिष्ठित इस प्रख्यात ग्राम में वेद-पाठ-परायण परांजये उपाधि से विख्यात चित्तपावन ब्रह्मण निवास करते थे। महादेव के सेवक होने के कारण इन्हें "देव परांजये" अभिधान भी प्राप्त था। इसी ग्राम में श्री चिन्तामणि परांजये नामक वेद विद्यानिष्णात विद्वान हुये। पं० चिन्तामणि जी कालान्तर में अहमदनगर मण्डल के "काम गाँव टोका" नामक ग्राम में आकर बस गये। इनके पुत्र पं० सदाशिव तथा उनके पुत्र पं० सीताराम पराँजपे हुये। पं० सीताराम जी की पत्नी का नाम सत्यभामा था। ये दोनों परमधार्मिक दम्पती ही पं० बापूदेव शास्त्री के माता-पिता थे।

पं० बापूदेव शास्त्री का जन्म कार्तिक शुक्ल षष्ठी, रविवार संवत् १८७६ तदनुसार २४ अक्टूबर सन् १८१६ को हुआ था। इनके पिता ने शास्त्रीय विधि के अनुसार इनका नाम "नृसिंह परांजपें" रखा था, किन्तु परिवार के अत्यन्त प्रिय होने के कारण सभी लोग इन्हें बापू कह कर बुलाते थे। यह नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि जीवन में ये इस नाम से ही विख्यात हुए।

बापू शैशवावस्था में अत्यन्त कृशकाय थे तथा प्रायः रुग्ण ही रहते थे। बालक की रुग्णता के कारण माता सत्यभामा हमेशा चिन्तित एवं उदास रहती थीं, क्योंकि उनकी पूर्वकी अनेक सन्तानें कालकवलित हो चुकीं थीं। फलतः माता अपने शिशु के दीर्घायुष्यके लिये निरन्तर कुलदेवता भगवान् नृसिंह की आराधना में निमग्न रहतीं थीं। संवत् १६७८ में बापू के जन्मदिन कार्तिक शुक्ल षष्ठी को ही भगवान् नृसिंह ने स्वप्न में आकर माता से कहा-"चिन्ता मता करो, तुम्हारा पुत्र चिरंजीवी तथा भाग्यशाली होगा। ये कुल की प्रतिष्टा

को दिग्दिगन्त तक विश्रुत करेगा।" भगवान् की इस प्रसादमयी वाणी से माता चिन्ता विमुक्त हो गयीं, वे उस दिन को बालक का पुनर्जन्म दिवस माननें लगीं। उस दिन के बाद बालक निरन्तर स्वस्थ होनें लगा।

(ख) प्रारम्भिक शिक्षा

बालक बापूदेव बाल्यावस्था से ही विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न थे। उन्होंने तत्कालीन दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार अक्षरज्ञान के बाद अष्टाध्यायी, रूपावली, अमरकोश, शिक्षा, पिंगलसूत्र तथा आयुर्वेदीय ग्रन्थ माधवनिदान आदि अक्षरशः कण्ठस्थ कर लिये। उपनयन संस्कार के अनन्तर अपनी शाखानुसार वेद तथा वेदङ्गों का अभ्यास भी अल्पसमय में ही कर लिया, किन्तु पुनः किसी दारुण रोग से पीड़ित हो गये। गहन उपचार के बाद स्वस्थ तो हो गये किन्तु उनके द्वारा अर्जित किया गया समस्त ज्ञान स्मृति से विलुप्त हो गया। पिता सीताराम जी नागपुर में कार्यरत थे, वे पुत्र को अपने साथ नागपुर ले आये। यहाँ उन्होंने पुनः बालक को लघुकौमुदी, रघुवंश आदि पढ़ाना आरम्भ किया। बापू की धारणा क्षमता को शनैः-शनैः जागृत देखकर वे आशान्वित हो गये। महाराष्ट्र की बौद्धिक राजधानी पूना आकर उन्होंने बापू को पण्डित पाण्डुरंग तात्या दिवेकर की पाठशाला में गणित शास्त्र का अध्ययन करने के लिये प्रविष्ट करा दिया। गणित पढ़ने से बापू की बुद्धि का विकास और शीघ्रता से होने लगा। कुछ दिन बाद वे पिता के साथ पनुः नागपुर आ गये। यहाँ उन्होंने पं० ढुण्डिराज मिश्र से लीलावती तथा बीजगणित आदि ज्योतिष ग्रन्थों का आद्योपान्त गहन अध्ययन किया।

(ग) गणितशास्त्र का प्रौढ़-पाण्डित्य

बापू देव शास्त्री द्वारा गणित शास्त्र के प्रौढ़ पाण्डित्य अर्जन करने का उपक्रम एक घटना के साथ आरम्भ हुआ। उस समय मध्य प्रदेश के सीहोर नगर में ब्रिटिस सैनिक छावनी थी जहाँ एक उच्चाधिकार प्राप्त प्रशासक नियुक्त रहता था। मिस्टर लान्सलाट विल्किन्सन १८३० से १८४० ई० तक यहाँ के प्रशासक थे तथा बापू जी के पिता के मित्र थे। उन्होंने पिता जी से बापू की गणितविद्या में प्रगति सुनकर उन्हें बुलवाया तथा बीजगणित सम्बन्धित कुछ कठिन प्रश्न पूँछे। बापू के सटीक उत्तरों को सुनकर गुणग्राही विल्किन्सन् वड़े प्रसन्न हुए किन्तु सिद्धान्त गणित में बापू को कुछ कमजोर जान कर वे उन्हें अपने साथ सीहोर लेते आये। सीहोर की संस्कृत पाठशाला में गणित अध्यापन के लिये विल्किन्सन सा० ने काशी के प्रकाण्ड गणितज्ञ पं० सेवाराम जी को बड़े आग्रह से बुला कर नियुक्त किया था। बापू देव ने इन्हीं पं० सेवाराम जी के चारणों में बैठ कर "सिद्धान्तशिरोमणि" आदि गणित के प्रौढ़-ग्रन्थों का अक्षरशः अध्ययन किया। विल्किन्सन ने स्वयं इन्हें बीजगणित तथा रेखागणित की उच्च्व शिक्षा दी। बापूदेव शीघ्र ही गणित की तीनों विधाओं में पूर्णपाण्डित्य प्राप्त कर ख्याति प्राप्त करने लगे।

(घ) अध्यापन-कार्य तथा ग्रन्थ रचना

सन् १८४० में कलकत्ता स्थित फोर्ट विलियम कालेज के सेक्रेटरी कैप्टन जे०अी० मार्शल तथा प्रख्यात विद्वान् जयनारायण तर्कपञ्चानन ने काशी के गवर्नमेन्ट सं० कालेज का निरीक्षण कर संस्तुति की कि यहाँ उच्चस्तर की गणित पढ़ाने के लिये एक विद्वान की तत्काल आवश्यकता है। उस समय तक विल्किन्सन दिवंगत हो चुके थे तथा बापू देव की सिफारिश करने वाला कोई उच्चाधिकारी नहीं था। सौभाग्य से यल० विल्किन्सन के भाई टी० विल्किन्सन नागपुर में रेजिडेन्ट थे। वे बापूदेव की विद्वत्ता से परिचित थे, अतः उन्होंने बापूदेव को काशी में नियुक्त कराने की सिफारिश कलकत्ता भेज दी। सिफारिस मान ली गयी और पं० बापूदेव शास्त्री को १५ फरवरी १८४२ को काशी के गवर्नमेन्ट सं० कालेज में गणिताध्यापक पद पर नियुक्त कर लिया गया।

काशी में विपुल जिज्ञासु छात्र-सम्पदा प्राप्त कर विद्याव्यसनी बापूदेव शास्त्री अत्यन्त हर्षित हुये। उनका कक्ष दिन भर छात्रों से भरा रहता था। उस समय क्रमवद्ध गणित की पाठ्यपुस्तकों के अभाव को दूर करने के लिये शास्त्री जी ने सिद्धान्त तथा गणित की समुचित पाठ्यपुस्तकों का निर्माण तथा सम्पादन कर एक क्रान्तिकारी सृजन का सूत्रपात किया। इसी समय शास्त्री जी ने अंग्रेजी भाषा भी सीख ली। शास्त्री जी की विद्वत्ता, सरलस्वभाव, तथा ग्रन्थलेखन से कालेज के विद्वानों के साथ प्रिंसपल वैलेण्टाइन अत्यधिक प्रभावित थे। उस समय जो भी यूरोपीय विद्वान् काशी आते थे, वे शास्त्री जी से मिलने को लालायित रहते थे क्योंकि शास्त्री जी उनके प्रश्नों का उत्तर अंग्रेजी भाषा में देने में पूर्णतः समर्थ थे। इस प्रकार वहुमुखी प्रतिभा के धनी बापूदेव शास्त्री का नाम काशी और भारतवर्ष के साथ विदेशों में भी विख्यात हो गया।

तत्कालीन जिलाधीश मेकलोड ने सन् १८५० में शास्त्री जी से गणित के प्रौढ़ ग्रन्थों के निर्माण का आग्रह किया। आग्रह को स्वीकार करते हुए उन्होंने वीजगणित नाकम ग्रन्थ लिख कर बुम्बई से प्रकाशित कराया। 'इंग्लिश जर्नल ऑफ एजुकेशन' नामक शोधप्रत्रिका में निकले सिद्धान्त ज्योतिष विषयक एक लेख में बापूदेव शास्त्री ने अनेक दोष निकाल कर उसके लेखक को स्वीकार कराये। १८६१ ई० में मिलट विल्किन्सन द्वारा किये गये सूर्यसिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवाद को अपनी उपपत्तियों तथा टिप्पणियों से विभूषित कर ''एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल'' से प्रकाशित कराया। इसी ग्रन्थ के ''गोलाध्याय'' का अंग्रेजी अनुवाद भी शास्त्री जी ने १८६१ में प्रकाशित कराया। शास्त्री जी द्वारा लिखित ''सरल त्रिकोणमिति'' पाश्चात्य गणित के सिद्धान्तों को संस्कृत में व्यक्त करने वाला एक महनीय ग्रन्थ है। इसकी महत्ता आज भी उतनी ही प्रतिष्ठित है। शास्त्री जी के निर्देशन में तत्कालीन गणित के प्रवर पाण्डित श्री नीलाम्बर झा ने 'गोलप्रकाश' 'चापीय त्रिकोणमिति' नामक ग्रन्थ लिखे। इन्हें शास्त्री जी ने ही प्रकाशित कराया। ये ग्रन्थ इतने महत्वपूर्ण हैं कि आज भी विभिन्न विश्वविद्यालयों में विशिष्ट पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित हैं।

पं० बापूदेव शास्त्री द्वारा न केवल संस्कृत में अपि तु हिन्दी भाषा में भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। उसके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची निम्नाङ्कित हैं-

(क) संस्कृत के ग्रन्थ-

१. सूर्यसिद्धान्तः-सोपपत्तिकः।
२. फलितविचारः।
३. सायनवादः।
४. मानमन्दिरवर्णनम्।
५. प्राचीनज्योतिषाचार्यवर्णनम्।
६. तत्वविवेक-समीक्षा।
७. विचित्रप्रश्नसंग्रहः (सोत्तरः)।
८. अतुलयन्त्रम्।
९. पञ्चक्रोशीयात्रानिर्णयः।
१०. नूतनपञ्चाङ्गनिर्माणम्।
११. पञ्चाङ्गोपपादनम्।
१२. सिद्धान्तशिरोमणि-ग्रन्थे चलगणितम्।

(ख) हिन्दी के ग्रन्थ

१३. बीज गणित, १४. व्यक्तगणित, १५. भूगोलवर्णन, तथा १६. खगोलसार।

उक्त ग्रन्थों की सूची देखकर शास्त्री जी की विद्वत्ता का आकलन किया जा सकता हैं। ये ही संस्कृत के प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने हिन्दी में ज्योतिष के ग्रन्थों का प्रणयन आरम्भ किया। परवर्ती आचार्यों ने इन्ही का अनुसरण करके अन्य ग्रन्थों को हिन्दी में अनूदित किया था। बापूदेव शास्त्री ने अंकगणित तथा बीजगणित को अंग्रेजी भाषा में भी निबन्धित किया था। इन ग्रन्थों के नाम थे क्रमशः 'एलिमेन्ट्स ऑफ अर्थमेटिक' (दो भागों में) तथा 'एलिमेन्ट्स ऑफ अलज्रेब्रा' (एक भाग)।

शास्त्रीजी के ग्रन्थ प्रणयन को देख कर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि-पं० बापूदेव शास्त्री गणित की अभिवृद्धि के लिये सर्वतोभावेन समर्पित विद्वान् थे। वे प्रथम संस्कृत के विद्वान् थे जिन्होंने गणित शास्त्र के प्रचार-प्रसार के लिये हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषाओं को सहर्ष स्वीकार किया।

(ङ) नवीन पञ्चाङ्ग-एक क्रान्तिकारी पदन्यास-

पं० बापूदेव शास्त्री के भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों गणितों का समन्वय करके पञ्चाङ्ग निर्माण के एक नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। इस पञ्चाङ्ग का नाम है

"दृक्सिद्ध पञ्चाङ्ग" इस सर्वथा नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन भारत वर्ष में एक महान् क्रान्तिकारी पदन्यास था, क्यों कि यह आधुनिक यन्त्रों द्वारा निर्मित ग्रहवेधों पर आधारित था। इसमें लन्दन की "ग्रीनविच वेधशाला" तथा "भारतीय नाटिकल अलमनक" को आधार मान कर ग्रहवेध स्वीकार किये गये थे।

यद्यपि शास्त्री जी ने यह दृक्सिद्ध पञ्चाङ्ग काशी नरेश श्री ईश्वरी प्रसाद नारायण के आदेश से निर्मित किया था, किन्तु उस समय काशी के विद्वानों के समर्थन के विना कोई सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता था। अतः शास्त्री जी ने पण्डितों का अनुमोदन प्राप्त करने के लिये तथा इस पञ्चाङ्ग की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये एक पण्डित सभा बुलायी। सभा में पण्डितों ने शास्त्री जी से अपने पञ्चाङ्ग की शुद्धता तथा प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये उपपत्ति पूर्वक प्रमाण प्रस्तुत करने का निर्देश दिया। शास्त्रीजी ने पहले से ही तैयार किये गये, वासिष्ठ तथा वह्मसिद्धान्त के वचनों से समर्थित विस्तृत प्रमाण प्रस्तुत किये। नीलाम्वर ओझा नामक प्रसिद्ध मैथिल ज्योतिषी ने बड़े आडम्वर के साथ शास्त्री जी के पञ्चाङ्ग सिद्धान्त को अमान्य सिद्ध करने का प्रयास किया तथा सूर्यसिद्धान्त के पक्ष को ही मान्य ठहराया, किन्तु शास्त्री जी के प्रवल तर्कों के सामने उनकी एक न चली। वे सभा से उठ कर चले गये। अन्य कोई काशी का ज्योतिर्विद परम्परावादी पक्ष में नहीं आया। सभी ने सर्वसम्मति से पञ्चाङ्ग का समर्थन कर दिया। उस सभा में काशी के सभी मूर्धन्य विद्वान् उपस्थित थे।

पं० वापूदेव शास्त्री द्वारा प्रवर्तित यह 'दृक्सिद्ध पञ्चाङ्ग' भारतीय ज्योतिष के इतिहास में सर्वथा नवीन अध्याय है। इसने पाश्चात्य जगत् में भारतीय ज्योतिष को प्रतिष्ठा प्रदान करायी। सन् १८७६ से प्रवर्तित यह पञ्चाङ्ग निरन्तर प्रकाशित होता आ रहा हैं। शास्त्री जी के वाद इसका प्रकाशन उनके शिष्यों द्वारा होता रहा। आज भी सं० सं० वि० वि० से इसका प्रकाशन होता हैं। बल्लभाचार्य के पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय में तिथि उत्सवादि का निर्णय इसी पञ्चाङ्ग के आधार पर होता है।

(च) सम्मान-उपाधियाँ-एवं अवसान

पं० वापूदेव शास्त्री ने अपने जीवन काल में अनेक सम्मान आस्पद तथा उपाधियाँ प्राप्त की थीं। इनको काशी भेजने वाले टी० विल्किन्सन ने इनके द्वारा की गयी एक शिलालेख की शुद्ध तथा सुन्दर नकल से प्रभावित हो कर इन्हें दो सौ रुपये के पुरस्कार से सम्मानित किया था। यह सम्मान शास्त्री जी को कर्मनिष्ठ वनाने का एक महान् प्रेरणा स्त्रोत था। सन् १८५० में शास्त्री जी द्वारा लिखित 'दिन्दी वीजगणित' की उपयोगिता से प्रभावित होकर तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रान्त के गवर्नर ने इन्हें दो हजार रुपये के पुरस्कार से सम्मानित किया था।

सन् १८६४ में शास्त्री जी के अलौकिक पाण्डित्य से प्रभावित होकर अंग्रेज विद्वानों ने इन्हें रायल एशियाटिक सोसायटी का मानित सदस्य बना कर सम्मानित किया। सूर्यसिद्धान्त पर इनके विद्वत्तापूर्ण कार्य से अवगत होकर तत्कानीन पंजाब के गवर्नर मेकलोड ने इनकी भूरि-भूरि प्रसंशा की थी। अनेक परिष्कारों के साथ बीजगणित की द्वितीयावृत्ति प्रकाशित होने पर इन्हें उ०प्र० के गवर्नर द्वारा प्रयाग में रेशमी वस्त्र तथा एक हजार मुद्राओं से पुनः सम्मानित किया गया।

सन् १८७० में भारत के वायसराय ने शास्त्री जी को कलकत्ता वि०वि०का फेलो (मानित सदस्य) नियुक्त कर सभाजित किया। सन् १८७३ में सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण के एक क्षणात्मक त्रुटि से भी रहित समय बताने पर काश्मीर नरेश ने शास्त्री जी को एक सहस्त्र मुद्रा सहित बहुमूल्य पशमीने का शाल भेंट कर सम्मानित किया। दृक्सिद्ध-पञ्चाङ्ग के निर्माण के लिये काशी नरेश इन्हें दो सौ रुपये प्रतिवर्ष पेंसन देते थे।

शास्त्री जी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर भारत के वायसराय ने इन्हें अनेक उपाधियों से विभूषित किया था। महारानी विक्टोरिया के राजराजेश्वरी पदवी ग्रहण करते समय १८७७ में जिन पचास भारतीय विद्वानों को सम्मानित किया गया था उनमें बापूदेव शास्त्री अन्यतम थे। अगले वर्ष १८७८ में इनकों उसी उपलक्ष्य में सी० आई० ई० की महनीय उपाधि से विभूषित किया गया था। ज्ञातव्य है कि शास्त्री जी सी० आई० ई० उपाधि पाने वाले प्रथम संस्कृत विद्वान थे। १८८७ में महारानी विक्टोरिया की स्वर्णजयन्ती के उपलक्ष्य में संस्कृत विद्वानों के लिये सर्वप्रथम "महामहोपाध्याय" पदवी का सृजन किया गया। इस पदवी को प्राप्त करने वाले भी सर्वप्रथम संस्कृतज्ञ पं० बापूदेव शास्त्री ही थे। इस प्रकार शास्त्री जी ने उस काल में संस्कृतज्ञों को प्राप्त होने वाले प्रायः सभी सम्मानों तथा उपाधियों को प्राप्त कर जो गौरवमयी कीर्ति अर्जित की थी उनके अनन्तर वैसी कीर्ति अर्जित करने वाले विद्वान् विरले ही हुये हैं। ४७ वर्षो के सुदीर्घ काल तक काशी के राजकीय कालेज में अध्यापन करने के बाद शास्त्री जी ने ७० वर्ष की अवस्था में सन् १८८९ में अवकाश ग्रहण किया। इसके एक वर्ष बाद २७ जून १८९० को काशी में शरीर त्याग कर शिव सायुज्य प्राप्त किया।

(छ) सन्तति तथा शिष्यमण्डली

शास्त्री जी के दो पुत्रों में पं० गणपति देव शास्त्री ज्येष्ठ थे। ये पिता के समान ही सुयोग्य गणितज्ञ थे। इन्होंने सं० विश्वविद्यालय में ज्योतिष विभाग में अध्यापन करते हुये पिता द्वारा प्रवर्तित 'दृक्सिद्धपचाङ्ग' का अनेक वर्षो तक सम्पादन किया। इनका देहावसान सन् १९७३ में ८६ वर्ष की अवस्था में काशी में हुआ।

शास्त्री जी प्रभूतशिष्यधन से समृद्ध थे। उस काल में शास्त्री जी से गणित अध्ययन किये बिना गणितज्ञ कहलाना सम्भव नहीं था, अतः काशी के अतिरिक्त अन्यप्रान्तों के जिज्ञासु भी शास्त्री जी को निरन्तर घेरे रहते थे। उनके अगणित शिष्यों में पं० विनायक शास्त्री अग्रगण्य थे। ये गणित तथा फलित दोनों विधाओं के व्युत्पन्न पण्डित थे। इन्हें उदयपुर नरेश ने अपने यहाँ बुलाकर प्रधानाध्ययापक पद पर नियुक्त किया था।

(ज) वैदुष्य चरित्र एवं उपलब्धियाँ

पं० बापूदेव शास्त्री का वैदुष्य अप्रतिम था। वे वेद वेदाङ्ग पुराण तथा धर्मशास्त्र के भी सुयोग मनीषी थे। आजीवन विद्याध्यवसाय में ही उनका समय व्यतीत हुआ था। गणित के जटिल प्रश्नों का समाधान करते-करते जब उनका मस्तिष्क क्लान्त हो जाता था तब वे पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय चर्चाओं द्वारा मनोरञ्जन करते थे। वे बड़े गुणग्राही थे। "बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्" यह उक्ति उन पर पूर्णरूप से चरितार्थ थी। एक बार उनके विभागीय छात्र पं० सुधाकर द्विवेदी ने शास्त्री जी के बीजगणित में कुछ अशुद्धियों का निर्देश किया। शास्त्री जी ने पुनरालोडन कर पाया कि अशुद्धियाँ सत्य हैं। वे न तो विचलित हुये न ही क्रुद्ध, प्रत्युत सुधाकर जी की पीठ ठोक उनकी प्रतिभा की प्रशंसा की तथा प्रिन्सिपल ग्रिफिथ साहब से संस्तुति कर उन्हें विशिष्ट छात्रवृत्ति दिलवा दी। उनकी गुणग्राहिता सर्वत्र विख्यात थी। हमेशा विद्वानों के सम्मान और सहयोग को तत्पर रहते थे। न्यायशास्त्र के प्रख्यात विद्वान पं० कैलासचन्द्र शिरोमणि अपने आरम्भिक दिनों में बंगाल से काशी आकर अपनी निजी पाठशाला में न्याय पढ़ाते थे। उनकी विद्वत्ता तथा अध्ययन कौशल जब शास्त्री जी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने तत्काल अपने निजी प्रभाव से प्रिन्सिपल तथा अन्य अधिकारियों को अनुकूल कर शिरोमणि जी को गवर्नमेन्ट कालेज में न्यायाध्यापक पद पर नियुक्त करा दिया। शास्त्री जी ने ऐसे ही अनेक विद्वानों को सम्मान दिलवा कर अपनी विद्वत्प्रियता प्रख्यापित की थी।

हिन्दी एवं संस्कृत में गणित की पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, दृक्सिद्ध-पंचांग का निर्माण एवं आधुनिक पाश्चात्य गणित का प्राच्य भारतीय गणित के साथ समन्वय के बल पर पाश्चात्य गणित की महत्ता का आकलन कर उन्होंने भारतीय ज्योतिष के साथ उसका ऐसा समन्वय किया कि मिश्रण का विवेक करना असम्भव हो गया। इस प्रणाली का परिष्कार एवं परिवर्धन उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी किया किन्तु इस प्रणाली के प्रथम उद्भावक शास्त्री जी ही थे।

●●●

महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी

डॉ. विनोदराव पाठक

पं० सुधाकर द्विवेदी का जन्म सन् १८६० में काशी के निकट स्थित खजुरी नामक ग्राम में हुआ था। इनके पूर्वज मूलतः गोरखपुर के निवासी थे। प्रपितामह दत्तकपुत्र के रूप में अपने धनसम्पन्न मातामह (नाना) के घर रहने लगे थे सुधाकर जी के जन्म के समय इनके परिवार में पितामह की छत्रछाया में चार पितृव्य तथा अनेक भाई बन्धु संयुक्त रुप से रहते थे। फलतः जन-धन एवं ज्ञान से सम्पन्न परिवार में सुधाकर का लालन-पालन बड़े स्नेह से होने लगा। दुर्भाग्य से नौ मास की अवस्था में ही मातृवियोग के कारण सुधाकर जी ने दादा-दादी के संरक्षण में बाल्यावस्था व्यतीत की। समृद्ध परिवार के लालित पुत्र होने के कारण सात वर्ष की अवस्था तक इनका अक्षरारम्भ नहीं हो सका। आठवें वर्ष घर पर ही अक्षरज्ञान कराकर पिता ने ज्योतिष पढ़ने के लिए गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज में इन्हें प्रविष्ट करा दिया। पिता यजमानी वृत्ति करते थे। उनका उद्देश्य केवल यही था कि पुत्र सामान्य ज्योतिष तथा कर्मकाण्ड में निपुण हो जाय।

कालेज में सुधाकर जी ने पं० दुर्गादत्त शास्त्री से व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया। पिताजी ने उन्हें ज्योतिष पढ़ने का निर्देश दिया तथा स्वयं कालेज ले जाकर ज्योतिष कक्ष में जाकर पढ़ने का संकेत किया। ज्योतिष कक्ष में पं० बापूदेव शास्त्री तथा पं० देव कृष्ण मिश्र आमने-सामने बैठ कर पढ़ाते थे। सुधाकर देवकृष्ण जी के पास जाकर पढ़ने लगे। दो-तीन दिन बाद चर्चावश पिता को ज्ञात हुआ कि बालक बापूदेव शास्त्री से न पढ़कर देवकृष्ण जी से पढ़ता है तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुये और उसे वापू देव जी से पढ़ने का निर्देश दिया। किन्तु किशोर सुधाकर ने बड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया-"गुरु मान कर जिसके समक्ष पोथी खोली है उसके प्रति अश्रद्धा व्यक्त करना शास्त्र विरुद्ध होगा। मैं ने जिन्हें गुरु मान लिया है उन से ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा। अतः मैं उन्ही से पढूँगा।" इसके बाद सुधाकर जी ने सम्पूर्ण ज्योतिष का अध्ययन पं० देवकृष्ण जी से ही किया जब कि बापूदेव शास्त्री उस समय के सबसे श्रेष्ठ गणितज्ञ थे।

कुछ दिन बाद एक अविस्मरणीय तथा रोचक घटना हुयी जो सुधाकर जी की गणितीय ऋतम्भरा प्रतिभा को व्यक्त करती है। म०म० बापूदेव शास्त्री ने स्वरचित पुस्तक बीजगणित प्रथम भाग की एक प्रति अपने सहायक श्रीदेवकृष्ण जी को भेंट की। उस पुस्तक को सुधाकर जी पढ़ने के लिये माँग कर घर ले गये। उन्होंने रात्रि में बड़े मनोयोग से उसका अध्ययन कर अनेक गणित सम्बन्धी अशुद्धियाँ निकालीं तथा उनका संशोधन भी लाल स्याही से पुस्तक पर ही कर दिया। दूसरे दिन जब उन्होंने वे अशुद्धियाँ तथा संशोधन गुरुजी को दिखाये तो देवकृष्ण जी अपने शिष्य की इस "छोटे मुँह बड़ी बात" को जान कर हतप्रभ तथा भयभीत हो गये।

बापूदेव शास्त्री तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ माने जाते थे, उनकी पुस्तक में अशुद्धि निकालना एक बहुत बड़ी धृष्टता थी। देवकृष्ण जी ने सुधाकर को चुप रहने का संकेत कर चर्चा बदलनी चाही किन्तु उसी कक्ष में दूसरी और बैठे बापूदेव जी गुरु शिष्य की फुसफुसाहट सुन रहे थे। उन्होंने जिज्ञासा की तो देवकृष्ण जी कुछ छिपा न सके, अपने शिष्य की इस 'प्रातिभ-उद्दण्डता' को गुरु जी को बता दिया। विशालहृदय गुणैकपक्षपाती पं० बापूदेव जी उस संशोधन को देखकर बड़े प्रसन्न हुये। उन्होंने प्रिन्सिपल को सुधाकर के विषय में एक प्रशंसा पत्र लिखा-"अयं सुधाकर शर्मा गणिते बृहस्पतिसमः" तथा उन्हें पारितोषिक देने की संस्तुति भी की। फलतः सुधाकर जी को अनेक पारितोषिक प्राप्य हुये, उनकी ख्याति भी चारों ओर हो गयी। सुधाकर जी इस घटना को अपने जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना मानते थे। उनके अनुसार इस घटना के बाद उत्पन्न हुये आत्मविश्वास ने ही उन्हें गणित के गम्भीर अध्ययन के लिए प्रेरित किया था।

सुधाकर जी छात्रावस्था से ही अध्ययन के साथ अध्यापन के लिये भी उत्सुक रहा करते थे। अध्ययन समाप्त होते ही उनके कुछ मैथिल छात्रों के कहने पर मिथिला नरेश ने उन्हें काशीस्थ 'दरभंगा सं० पाठशाला' में प्रधानाध्यापक बना दिया। कुछ दिन बाद डॉ० ग्रिफिथ के अवकाश लेने के बाद डॉ० थीबो गवर्नमेन्ट कालेज में प्रिन्सिपल नियुक्त हुये। ये गणित के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने सुधाकर जी की विद्वता से प्रभावित होकर उन्हें 'सरस्वती भवन पुस्तकालय' का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। सुधाकर जी ने इस पद पर रहते हुये वहाँ संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। छह वर्ष बाद पं० बापूदेव शास्त्री के अवकाश ग्रहण करने पर रिक्त हुये ज्योतिष विभागाध्यक्ष पद पर सुधाकर जी को प्रतिष्ठित कर दिया गया। केवल २८ वर्ष की अवस्था में उक्त महनीय पद को प्राप्त करने वाले सुधाकर जी ने उस पद को इक्कीस वर्षों तक सुशोभित किया। इस कालमें द्विवेदी ने अनेक शिष्यों को गणितशास्त्र में पारंगत बनाने के साथ अनेक मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन तथा दुरूह प्राच्य ज्योतिष ग्रन्थों का सम्पादन कर प्रभूत यश अर्जित किया। २८ नवम्बर १६१० ई० को केवल ५० वर्ष की आयु में ही पं० सुधाकर द्विवेदी अपने पीछे भरा-पूरा परिवार छोड़कर गोलोकवासी हो गये।

पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा प्रणीत एवं सम्पादित ग्रन्थ

मौलिक ग्रन्थ

(१) दीर्घवृत्तलक्षणम्- पाश्चात्य गणित शास्त्र की अत्यन्त दुरूह गुत्थियों को सुलझाने वाले इस महनीय एवं नवीन विद्या के ग्रन्थ की रचना द्विवेदी जी ने केवल २१ वर्ष की अवस्था में की थी। दीर्घवृत्त सम्बन्धी गणित की संस्कृत में यह सर्व प्रथम रचना है। इससे उनकी अलौकिक प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है।

(२) वास्तवचन्द्र-शृंगोन्नतिसाधनम्-इस ग्रन्थ में अनेक आचर्यों के मतों का उल्लेख करते हुये चन्द्रमा के वास्तविक शुक्ल वृत्त एवं दृश्य वृत्त का अध्ययन किया गया है।

(३) भाभ्रमरेखानिरूपणम्- इस लघुकाय ग्रन्थ में छया भ्रमण के मार्गों के ज्ञान हेतु परवलय एवं अतिपरवलय का निरूपण किया गया है।

(४) ग्रहणे छादकनिर्णयः।

(५) यन्त्रराजः।

(६) प्रतिभावोधकः- नूतन पाश्चात्य गणितानुसर प्रतिछाया द्वारा बनने वले क्षेत्रों के गणित का संक्षिप्त प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है।

(७) धराभ्रमे प्राचीननवीनयोर्विचारः-पृथ्वी के चलाचलत्व का निरूपण इस ग्रन्थ में रोचक ढंग से किया है।

(८) पिण्डप्रभाकरः।

(९) गणकतरंगिणी- यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कालक्रमानुसार ज्योतिषशास्त्र के इतिहास को प्रमाणिक रूप से प्रथमवार प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ द्विवेदी जी की गवेषणा प्रवृत्ति तथा अनुशीनल गाम्भीर्य का द्योतक है। इसमें सन् ५०० से १८०० तक हुये ज्योतिषियों का जीवनचरित, उनके ग्रन्थ एवं सिद्धान्तों का प्रामाणिक प्रतिपादन है।

(१०) द्युचरचारः (११) समीकरणमीमांसा तथा (१२) दिङ्मीमांसा।

सम्पादित ग्रन्थ

द्विवेदी द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में भी कुछ अप्रतिम विशेषतायें हैं। सर्वप्रथम तो उन्होंने उपलब्ध समस्त पाण्डुलिपियों को एकत्र कर समुचित पाठ निर्णय किया है तथा उन पर अपनी टीका, व्याख्या या उपपत्ति लिखकर उन्हें सरल-बोधगम्य बनाया है। इनका विवरण हैं-(१) पञ्चसिद्धान्तिका, (२) सिद्धान्ततत्वविवेक (३) शिष्यधीवृद्धितन्त्रम् (४) करणकुतूहलवासना (५) लीलावती (६) बृहत्संहिता (७) ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त (८) ग्रहलाघव (९) त्रिंशिका (१०) सिद्धान्तशिरोमणि (११) करणप्रकाश (१२) बीजगणितम् (१३) सूर्यसिद्धान्त (१४) चनलकलन तथा (१५) चलराशिकलन (१६) अंकगणित का इतिहास- इस ग्रन्थ में पाश्चात्य तथा पौरस्त्य अंकगणित से सम्बन्धित अंक, लिपि, दशमलव, गुणा, भाग, वर्गमूल तथा घनमूल आदि प्रक्रियाओं की उत्पत्ति तथा विकास का इतिहास सप्रमाण प्रस्तुत किया गया हैं। (१७) वेदांग ज्योतिष भाष्य-वेदांगज्योतिष दो रूपों में उपलब्ध होता हैं-यजुर्वेदीय तथा ऋग्वेदीय। सुधाकर जी ने यजुर्वेदीय ज्योतिष पर भाष्य लिखकर इसकी अनेक विसगतियों को दूर किया हैं।

द्विवेदी जी द्वारा प्रणीत हिन्दी ग्रन्थ

पं० सुधाकर द्विवेदी हिन्दी साहित्य के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने न केवल प्राचीन

हिन्दी ग्रन्थों का उद्धार किया अपि तु स्वयं भी अनेक हिन्दी काव्यों का प्रणयन किया। जायसीकृत 'पद्मावत' महाकाव्य का अनेक प्रतियों के आधार पर अपनी टीका के साथ प्रामाणिक सम्पादन कर द्विवेदी जी ने इसका उद्धार किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने तुलसी सतसई के आधार पर तुलसीसुधाकर, रामचरितमानस के बालकाण्ड का संस्कृतानुवाद तथा विनयपत्रिका का संस्कृतानुवाद भी किया था।

द्विवेदी जी गणितज्ञ होने के साथ एक सरस साहित्यकार भी थे। हिन्दी साहित्य के प्रति उनका बड़ा अनुराग था। चलते-चलते स्फुट दोहे रचना एवं मित्रमण्डली को सुनाना उनका दैनिक कृत्य था। गणित के वे प्रख्यात विद्वान् थे किन्तु फलित पर उनकी आस्था नहीं थीं। केवल फलित जानकर ज्योतिषी कहलाने वालों पर किया गया उनका कटाक्ष दर्शनीय है-

छाया है कराल कलिकाल जगती पै आज।
तीसी के जौ भाव सारे ज्योतिषी विकायेंगे।।

द्विवेदी जी के तीन पुत्र थे। तीनों ही "प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्" की उक्ति को चरितार्थ करते हुये पिता के समान ही उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हुये थे। कनिष्ठ पुत्र पद्माकर द्विवेदी ने गवर्नमेन्ट' सं० कालेज में ही अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में ज्योतिष विभागाध्यक्ष का पद अलंकृत किया। द्विवेदी जी के असंख्य शिष्य थे।

म० म० पं० मुरलीधर झा

मुरलीधर झा ने ज्योतिषशास्त्र का सामन्य ज्ञान मिथिला के प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० विद्याधर झा से प्राप्त किया। तदनन्तर काशी आकर पं० सुधाकर द्विवेदी के अन्तेवासी बने। ज्योतिषाचार्य परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १९०६ में राजकीय संस्कृत कालेज में ज्योतिषाध्यापक नियुक्त हुये। सन् १९२२ में ब्रिटिश सरकार द्वारा महामहोपाध्याय की पदवी दी गयी। ज्योतिषशास्त्र के अनेक प्रौढ़ ग्रन्थों का टीका टिप्पणी के साथ सम्पादन कर उन्हें सुगम बनाया। अपने गुरु के समान ही बहुमुखी प्रतिभा के धनी पं० मुरलीधर झा का देहावसान सन् १९२९ में हुआ।

पं० बलदेव मिश्र

पं० बलदेव मिश्र सहरसा जिले के प्रसिद्ध वन गाँव से सन् १९१० में काशी आये। यहाँ पं० सुधाकर द्विवेदी से सम्पूर्ण ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया। ज्योतिषाचार्य करने के बाद सन् १९२२ से १९३० तक काशी विद्यापीठ में गणिताध्यापक रहे। १९४० से १९५५ तक सरस्वती भवन पुस्तकालय में हस्तलिखिति पुस्तकों के कैटलागर के रूप में महत्वपूर्ण कार्य किया। पं० सुधाकर द्विवेदी लिखित अनेक ग्रन्थों की टीकायें लिखी। आर्यभटीयम् ग्रन्थ की संस्कृत हिन्दी टीका इनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।

पं० रामयत्न ओझा

मूलरूप से बिहार के निवासी पं० रामयत्न ओझा पं० सुधाकर द्विवेदी के योग्यतम शिष्य थे, पं० मदन मोहन मालवीय ने इन्हें अपने विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संस्कृत महाविद्यालय में ज्योतिषविभागाध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित किया मालवीय जी की सम्मति से इन्होंने एक विशिष्ट पंचांग का निर्माण किया। इसमें सभी पर्वो से सम्बन्धित धर्मशास्त्रीय तथा पौराणिक आख्यान यथास्थान दिये गये। यह पंचांग 'विश्व पंचांग' नाम से आज भी प्रकाशित हो रहा है। ओझा जी द्वारा विरचित दो प्रधान ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं- (१) जैमिनी सूत्र की टीका तथा (२) फलित विकास।

पं० बलदेव दत्त पाठक

पं० बलदेव दत्त पाठक द्विवेदी जी के प्रिय शिष्य थे। इनका जन्म उ०प्र० के गोरखपुर जनपद में हुआ था। पिता काशी में ही रहते थे। अतः इनका शिक्षारम्भ काशी में हुआ। ज्योतिषशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन कर पाठक जी ने ज्योतिषाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। खगोलविद्या में इनकी विशेष अभिरुचि थी। इन्होंने 'नाड़ीवलय यन्त्र' का निर्माण किया जिसका उपयोग का०हि०वि०वि० में होता था। इन्होंने काशी तथा अन्य स्थानों पर अनेक 'धूप घड़ियाँ' स्थापित करायीं। पाठक जी द्वारा विरचित एकमात्र ग्रन्थ ''कुण्डमण्डपसिद्धि'' प्रकाशित है। इन्होंने काशी के प्रसिद्ध गोयनका संस्कृत महाविद्यालय के ज्योतिष विभागाध्यक्ष पद पर रहते हुए अनेक योग्य शिष्य तैयार किये।

वैदुष्य, व्यक्तित्व एवं संस्मरण

पं० सुधाकर द्विवेदी बहुमुखी प्रतिमा सम्पन्न प्रखर व्यक्तित्व वाले मनीषी थे। गणित जैसे नीरस शास्त्र के वेत्ता होते हुये भी वे परम रसिक तथा विनोदी स्वभाव के थे। साथ ही सनातनधर्म तथा हिन्दी भाषा के परम समर्थक भी थे। गणितशास्त्र में उनका वैदुष्य अपार था। उस समय के विश्वविख्यात गणितज्ञ डॉ० गणेश प्रसाद जी भी द्विवेदी जी को अपने से बड़ा गणितज्ञ मानते थे।

पं० सुधाकर जी जितने बड़े गणितज्ञ थे उतने ही बड़े व्यवहार पटु एवं विनोदी भी थे। एक बार वे रेलयात्रा कर रहे थे। उनके बगल में एक सज्जन बैठे थे, पुँछने पर पता चला कि वे अच्छे गणितज्ञ है। किन्तु तीन गणित के जटिल प्रश्नों का, समाधान सुधाकर जी से पूँछने काशी जा रहे हैं। सुधाकर जी ने अपना परिचय दिये बिना ही उनसे प्रश्न पूँछे। सज्जन ने कहा आप जान कर क्या करेंगे, प्रश्न जटिल हैं, सुधाकर जी भी शायद ही समाधन कर सकें। विशेष आग्रह करने पर उन्हेंने प्रश्न सुधाकर जी को बता दिये। द्विवेदी जी ने दो प्रश्नों का समाधान तो तत्काल कर दिया तीसरे के लिये सुधाकर जी से

मिलने को कहा। दूसरे दिन वही सज्जन जब द्विवेदी जी के घर पहुँचे और उन्हें देखा तो द्विवेदी जी ने सान्त्वना देकर तीसरे प्रश्न का समाधान वता दिया। सज्जन ने पूँछा-आप इस प्रश्न का समाधान कल ही कर सकते थे फिर क्यों नहीं किया ? द्विवेदी जी वोले यदि मैं तीनों प्रश्नों का समाधान कर देता और स्वयं को सुधाकर द्विवेदी बताता तो शायद आप को विश्वास न होता और आप की सुधाकर द्विवेदी से मिलने की अभिलाषा भी पूर्ण नहीं हो पाती।

द्विवेदी जी भारतीय गणित के साथ पाश्चात्य गणित के भी उद्‌भट विद्वान् थे। उस समय एक ही कालेज में संस्कृत तथा अंग्रेजी की कक्षायें चलतीं थीं। यदा कदा वे बी०एससी० के छात्रों को गणित पढ़ाने जाया करते थे। उनका अंग्रेजी उच्चारण निपट संस्कृत था छात्रों ने उनकी स्पष्ट स्वर-व्यञ्जनों वाली अंग्रेजी सुनकर खिल्ली उड़ानी चाही किन्तु जब नियमों की व्याख्या करते हुए द्विवेदी जी ने गणितधारा प्रवाहित की तो छात्र स्तब्ध रह गये। पीरियड समाप्त होते ही सभी छात्र इन धोती-टीका वाले पण्डित के चरणों पर झुक कर क्षमा याचना करने लगे।

संस्कृतज्ञ होने के साथ द्विवेदी जी परम सामाजिक तथा राष्ट्र भक्त थे। सन् १६०३ में वायसराय लार्ड कर्जन वाराणसी आने वाला था। जिले के अधिकारियों को हिन्दू तथा मुस्लमान एक-एक ऐसा प्रतिनिधि चुनना था जो वायसराय से मिलकर अपने-अपने समाज की समस्याओं को उससे कह सके। हिन्दुओं का प्रतिनिधि चुनना कठिन था। अनेक अंग्रेजी दाँ वकील, राजनेता तथा काशी के रईस उपलब्ध थे, किन्तु अन्त में म०म० सुधाकर द्विवेदी पर सर्वसम्मति बनी। दोनों सज्जन बारी-बारी से वायसराय से मिले, अपनी-अपनी समस्यायें रखीं। कर्जन ने उ०प्र० के लेफ्टिमेन्ट गवर्नर से जो प्रतिक्रिया की उसका खुलासा वाद में हो गया। कर्जन के शब्दों में हिन्दू प्रतिनिधि बड़ा ही प्रगल्भ था। उसने अपनी समस्यायें बड़े प्रभावी तथा निर्भीक शब्दों में रखीं, परन्तु मुसलमान तो केवल टटोलता ही रह गया। उसी दौरान लार्ड कर्जन ने द्विवेदी जी से उनकी महत्वाकांक्षा पूँछी। द्विवेदी जी ने कहा-"महाशय में ग्रीन विच जाना चाहता हूँ तथा वहाँ होने वाली गणित की अशुद्धियों का परिष्कार कर उन्हें दूर करना चाहता हूँ।" कर्जन ने तत्काल प्रसन्नता पूर्वक सरकारी खर्च पर उन्हें जाने की अनुमति दे दी। किन्तु द्विवेदी जी ने समुद्र लङ्घन का साहस नहीं किया।

द्विवेदी जी का हिन्दी प्रेम तथा कवित्व

बहुमुखी प्रतिभा के धनी पं० द्विवेदी जी ने राष्ट्र भाषा हिन्दी के संरक्षण तथा संवर्धन में अपूर्व योगदान किया था। जायसी, तुलसीदास तथा अन्य भक्तिकालीन कवियों के ग्रन्थों के उद्धार में द्विवेदी जी ने बड़े मनोयोग से कार्य किया। वे स्वयं भी हिन्दी में दोहा,

सवैया तथा कवित्त लिखते थे। उनको सामान्य हिन्दी ही मान्य थी, संस्कृत निष्ठ तथा ऊर्दू मिश्रित हिन्दी के वे विरोधी थे। उनके हिन्दी-प्रेम की एक घटना विख्यात हैं।

सन् १८६८-६६ में न्यायालयों में नागरी लिपि को मान्यता दिलाने के लिये मालवीय जी के नेतृत्व में जनान्दोलन चल रहा था। ऊर्दूवालों का यह दावा था कि न्यायालयीय विषयवस्तु जितनी स्पष्ट और शीघ्रता से ऊर्दू में लिखी जा सकती है उतनी हिन्दी में नहीं। इस चुनौती को हिन्दी समर्थकों को ओर से पं० द्विवेदी ने स्वीकार किया। जिलाधिकारी ने निश्चित किया कि दोनों लिपियों के एक-एक लेखक मेरे द्वारा दिये गये वक्तव्य को लिखेंगे, जिसका लेखन हर तरह से शुद्ध होगा वह विजयी माना जायेगा।

नागरी में लिखने के लिये पं० द्विवेदी जी उपस्थित हुये। जिलाधिकारी समुचितगति से बोलने लगे तथा दोनों लेखक लिखने लगे। लेखन समाप्त होते ही द्विवेदी जी ने यथावत् पढ़कर सुना दिया। उसमें एक भी वर्तनी या वाक्यात्मक अशुद्धि नहीं थी। ऊर्दू वाले अटक-अटक कर पढ़ने लगे। उनके लेख में अनेक अशुद्धियाँ तथा छूटें थी। जनकोलाहल के बीच द्विवेदी जी विजयी हुये। अधिकारियों का सन्देह निवृत्त हो गया। उ०प्र० के शासक सर एण्टनी मैकडोनल के समय में अदालती काम-काजों में नागरी लिपि को मान्यता दे दी गयी। नागरी की इस विजय का श्रेय शीघ्र, स्वच्छ तथा शुद्ध लेखन के महारथी पं० सुधाकर द्विवेदी को जाता हैं।

आधुनिक ज्योतिष शास्त्र के इतिहास में म०म०पं० सुधाकर द्विवेदी का नाम सिद्धान्त ज्योतिष के उन्नायक के रूप में सदा अमर रहेगा। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र के लुप्तप्राय प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाश में लाकर तथा अपनी व्याख्या, भाष्य एवं उपपत्तियों से सुवोध बनाकर, अपनी ऋतंभरा प्रतिभा का जो चमत्कार दिखलाया है वह अभूतपूर्व तथा विद्वानों को आश्चर्य में डाल देने वाला है। साथ ही हिन्दी भाषा तथा साहित्य के संरक्षण तथा उन्नयन के लिये उनके द्वारा जो कार्य किये गये हैं वे भी अत्यन्त उपादेय तथा आदरणीय हैं। उनके विषय में महान् ज्योतिर्विद् पद्मभूषण पं० सूर्यनारायण व्यास की निम्नांकित उक्ति अक्षरशः सत्य हैं-"ज्योतिविद्या के सम्वर्धन में पं० सुधाकर जी ने जो कार्य किया हैं वह असाधारण हैं। गणेश दैवज्ञ के वाद ३०० वर्षों में सुधाकर जी को छोड़कर कोई ऐसा कृती-शूर-मनीषी नहीं हुआ जिसने इस शास्त्र की इतनी सेवा की हो। सुधाकर जी ने ज्योतिषविद्या को सप्राण और समृद्ध बनाया। यद्यपि म०म० बापूदेव शास्त्री ने इस दृष्टि कोण का प्रवर्तन किया था किन्तु इसे पल्लवित, प्रथित और सुरक्षित सुधाकर जी ने ही किया। सुधाकर जी इस देश की विद्वद्विभूति थे। बहुमुखी प्रतिभा तथा पाण्डित्य के धनी थे। उन्होंने भारतीय ज्योतिषशास्त्र की गरिमा से विश्व को परिचित कराया।"

विज्ञानवीथीपथिकैरुपास्यः सिद्धान्तसिंहासनसार्वभौमः।
प्राचीप्रतीचीगणितज्ञवन्द्यः सुधाकरोऽयं महनीयकीर्तिः।

●●●

संहितास्कन्ध

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र

१. काल विधायक प्रत्यक्ष विद्या

ज्योतिष से कालचक्र समस्त दृश्यादृश्य विश्व, खगोलीय ज्योतिषपिण्ड, पिण्डाण्डीय संस्थान, मान, संचार, संरचना आदि तथ्य जुड़े हैं। काल एवं पिण्डाण्डों का सापेक्षिक प्रभाव, मानव तथा विश्व एवं समस्त विश्वाभिप्रायिक त्रिगोलीय प्रभाव निरूपक यह शास्त्र त्रिस्कन्धात्मक ज्यौतिष है। वेद एवं वैदिक दर्शन अनादि अनन्त सीमाहीन अव्यक्त-महाकाल एवं सीमाहीन महाकाश में सृष्टिचक्र को पर्ययात्मक मानता है। यह चक्र भी अनवरत संरचरणशील तथा परिवर्तनशील है। कालान्तर एवं क्षेत्रान्तर जन्य निष्पत्ति व्यक्त सापेक्षिक काल तथा ग्रहर्क्ष पिण्डों के आधार पर व्यक्त होते हैं। अन्यथा पिण्डहीन महाकाश में महाकाल भी तदन्तर्भुक्त होता है। विभिन्न पिण्डाण्डीय सापेक्षता से उत्पन्न व्यक्त काल भूत, वर्त्तमान एवं भविष्य का विभाग प्रस्तुत करता है। काल को सभी का पाचक, सृष्टि स्थिति एवं संहार का मूल माना जाता हैं।

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव सहात्मना।
अन्ते स पक्वस्तेनैव सहाव्यक्ते लयं व्रजेत्।।

अर्थात् काल समस्त भूतों का पाचक है। परम अव्यक्त से हीं समस्त व्यक्त उत्पन्न होते हैं। ब्राह्मदिनादि में सृष्टि तथा दिनान्त में लय का सिद्धान्त यहां प्रतिपादित है। अव्यक्त से क्रमानुरोध से एक कालावच्छेदेन समस्त सृष्टि निःसरित होती है तथा एक साथ लय को प्राप्त होती है। उत्पत्ति से परम विकास तथा ह्रासानुरोध से विनाश तक व्यक्त विश्व व्यष्टि एवं समष्टि दोनों भेदों को दर्शाता हैं।

संहिता स्कन्ध-दिव्य, नाभस तथा भौम प्रभावों का सर्वविश्वाभिप्रयिक निरूपक विधान संहिता स्कन्ध अनेक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण ज्यौतिषाङ्ग है। इस के अनेक विद्याविभाग आज भी उपलब्ध हैं। दिव्य, नाभस तथा भौम ये तीन मुख्य प्रभाव भेद दर्शक हैं।

ज्यौतिष शास्त्र में संहिता स्कन्ध का उद्‌भव विकास एवं स्थिति-संहिता स्कन्ध का मूल ऋग्वेद में ही विद्यमान है। ऋग्वेद से नवीनतम विकास तक की यात्रा काफी लम्बी है। इस मध्य विकास तथा हास के अनेक दौर गुजर गये। वैदिक सभ्यता के साथ अन्य सभ्यताओं में भी ज्यौतिष संहिता स्कन्ध का प्रयोग होता था।

वैदिकज्यौतिष तथा मध्यकालीन सिद्धान्तों का अनुशीलन कर भारतीय ज्यौतिष मराठी में श्री बालकृष्ण दीक्षित की अद्वितीय कृति है। इसमें वैदिक, वेबीलोन, ग्रीक तथा

चीन आदि की सभ्यताओं में ज्योतिष के अस्तित्व एवं स्वरूप पर श्री दीक्षित का अन्वेषण एवं संकलन स्तुत्य प्रयास रहा है। वैदिक ज्योतिष इस विद्या के पूर्वसामयिक परम विकास को दर्शाता है। वैदिक ज्यौतिष से वेदाङ्ग ज्योतिष तक का प्रवर्तन तथा प्रायोगिक-विकास लगध आर्यभट वराह आदि आचार्यो के माध्यम से हुआ है। संहिता की दृष्टि से बृहत्संहिता वैदिक मूलसंहिताओं, ब्राह्मणों अरण्यकों पुराणों में भी अनेक संहिता स्कन्धीय सिद्धान्त मिलते हैं। श्री दीक्षित का अन्वेषण वेदाङ्ग ज्यौतिष से जयसिंह तक की यथार्थ समीक्षा है। भारत की तरह अन्य देशों में भी ज्यौतिष शास्त्रीय अन्वेषण इस विद्या के सार्वदेशिक रूप को व्यक्त करता है। वैदिक संहिता तथा ब्राह्मण ज्यौतिष शास्त्रीय मूल ग्रन्थ न होने पर भी प्रसंगानुरोध से मन्त्रात्मक शैली में उच्चतम ज्यौतिष शास्त्रीय सिद्धान्तों का वर्णन प्रस्तुत किये हैं। यजुर्वेदीय प्रमाण ''प्रज्ञानाय नक्षत्र दर्शनम्। यादसे गणकम्'' से ज्योतिर्विद् का स्वतन्त्र महत्व प्रकट होता हैं।

सूत्रकाल तथा वेदाङ्काल में स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयन की प्रक्रिया तथा संहितोक्त मन्त्रों का ब्राह्मणों में प्रयोगात्मक रूप मिलते है। ज्यौतिषशास्त्रीय समस्त मूल तथ्य वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध हैं। अष्टादश ज्यौतिष शास्त्र प्रवर्त्तकों (ब्राह्मादिक सूर्यादि) के मूल ग्रन्थ आज नहीं मिलते, फलतः क्रमिक विकास की समीक्षा यथार्थ रूप में करना संभव नहीं हैं। वेदाङ्गकाल से आज तक का विकास क्रम स्पष्ट है। ऋषि मुनियों सिद्ध योगियों के बाद सिद्ध तान्त्रिकों के कालखण्ड एवं तत्पश्चात् पौरुष ग्रन्थकारों के कालखण्डों की अनेक कड़ियों को जोड़ने हेतु व्यापक अन्वेषण के महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

आदिकालीन सिद्धान्त मध्यकालीन सिद्धान्त तथा संहिता प्रयोगात्मक हैं। परन्तु वैदिक ज्यौतिष के उत्कर्ष के आख्यानात्मक रूप को देखने पर पता चलता है, कि सिद्धान्तकालीन ज्यौतिष तथ्य काफी पीछे हैं। महाभारत से वेदाङ्गकाल तक का क्रम स्पष्ट नहीं। क्योंकि वैदिक ज्यौतिष सिद्धान्त कैसे व्यवहार बाह्य हुये तथा अष्टादश ज्यौतिष शास्त्र प्रवर्त्तकों के ग्रन्थ कैसे लुप्त हुए ये सब अन्वेषण योग्य तथ्य हैं।

वेदाङ्काल में पूर्ववर्त्ती त्रिस्कन्धात्मक सिद्धान्तों को संग्रहीत कर पूर्व ऋषि के नाम पर स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य बनें। महाभारतादि ऐतिहासिक महाकाव्यों में भी त्रिस्कन्धात्मक ज्यौतिषसिद्धान्त बिखरे पड़े हैं। तैत्तरीय संहिता, तैत्तरीय ब्राह्मण तथा अर्थर्ववेदीय नक्षत्रकल्प त्रिस्कन्धात्मक ज्यौतिष के महत्व एवं दिव्य विस्तार को प्रकट करते हैं। वैदिक संहिता तथा ब्राह्मणकाल में ज्यौतिष विज्ञान कितना विकसित था, इसका निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है, क्योंकि अनेक उच्चतम अन्वेषण-गम्य तथ्य जो आख्यानात्मक रूप में वैदिक संहितादि में मिलते हैं, वहाँ तक पहुँचने में अभी हमें कितने शताब्दी तक संघीय अन्वेषण पूर्ण करने होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। पौरुषग्रन्थ क्रम वेदाङ्गकाल से प्रारम्भ हुआ। इसका विवरण बृहत्संहिता में मिलता है। उससे पूर्व ऋषियों एवं मुनियों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ

प्रचलित थे। बृहत् संहिता में पूर्व संहिताकारों के नाम स्पष्टतः वर्णित हैं, जिनके मूल संहिता ग्रन्थ अव नहीं मिलते।

योगयात्रा-संहिता स्कन्धान्तर्गत मुहूर्त्त विषयक रचना है। बृहज्जातक में प्राचीन जातककारों के नाम मिलते हैं। वराह के समय वेध परम्परा एवं शास्त्रीय संगठन की प्रक्रिया नये सिरे से प्रारम्भ होने के कारण अच्छी थी, इसमें सन्देह नहीं। आर्यभट्ट, वराह, लल्ल, ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, भोजराज, भास्कर तथा बल्लालसेन तक भारतीय ज्यौतिष का क्रमिक विकासक्रम स्पष्ट है। तत्पश्चात् गणेश के क्रम से मुनीश्वर कमलाकर, जयसिंह तक विभिन्नवाधा के मध्य में भी विकास क्रम चलता रहा। फिर अंग्रेजी कालखण्ड में भी नीलाम्वर, कृष्णदत्त, वापूदेव, लोकमान्य तिलक, सुधाकर केतकर, चुलैट, एन०सी० लाहरी, मेघनाथशाहा दीक्षित, गोरखप्रसाद, सोमयाजी आदि का अन्वेषण हमें प्राप्त होता है। गणेश से बापूदेव तक ज्यौतिष सिद्धान्त में पञ्चाङ्ग तक भारतीय अन्वेषणधारा सीमित रही। नवीन वैज्ञानिक विकास के साथ भारतीय ज्यौतिष संहितास्कन्ध के पाञ्चभौतिक सापेक्षिक विद्याओं का उद्घाटन फिर से संभव हो रहा हैं।

बल्लालसेन के पश्चात् अवरुद्ध संहितोक्त अन्वेषणक्रम में कुछ अधिक नहीं हो सका। ज्योतिर्निबन्ध, दैवज्ञ कामधेनु तथा बृहद्दैवज्ञरञ्जन, मयूरचित्रक, प्रभृति रचित ग्रन्थ भी वल्लालसेन से आगे नहीं जा सके। क्रमिक अन्वेषणाभाव में समयबद्ध प्रगति रुक जाने से अनेक प्राचीन अन्वेषण प्रयोग-वाह्य होते गये। म०म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा पुनर्जागरणकाल में बृहत्संहिता का भट्टोत्पलीटीका सहित प्रकाशित कराने के बाद फिर से संहितोक्त गौरव का अहसास हम कर रहे हैं।

अद्भुतसागर का प्रकाशन पं० श्री मुरलीधर झा के अन्वेषण से १६०५ ई० में सम्भव हो सका। अन्वेषणावरोध से अनेक सिद्धान्तों की उत्पत्ति तथा मूल समझना कठिन हो गया है 'लेकिन प्राचीन ऋषियों के विद्याओं को नवीन अन्वेषण पद्धति से तथा आध्यात्मिक पद्धति से जोड़ दिया जाए तो व्यवहार-बाह्यों को फिर से व्यवहार-गम्य वनाया जा सकेगा।

भारतीय त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिष गणित, गोल पञ्चमहाभूत, एवं त्रिगुणात्मक विभाग, गोलीययन्त्र तथा गोलीय वेध से सम्बद्ध है। इसकी हर शाखा पूर्ण वैज्ञानिक है। नवीन वैज्ञानिक विकास का मूल भी त्रिस्कन्ध ज्यौतिष है। इसके अनेक प्रवल प्राचीन तथा नवीन प्रमाण प्राप्त हैं। परन्तु संहितोक्त कुछ विद्याएँ दिव्य होने से आज भी अन्वेषणान्तर्गत नहीं किये जा सके। भारतीय वैदिक वाङ्मय योगनिष्ठ मन्त्र, तन्त्र एवं यन्त्राश्रित विज्ञानों का समन्वित रूप होने पर भी उपेक्षित होता गया।

(१) **मन्त्रात्मक विज्ञान**- वैदिक संहिता तथा तन्त्रागम ध्वनिविज्ञान एवं ज्योतिर्विद्या का परमोत्कर्ष रूप अपरिवर्त्तनीय माना गया है।

(२) **अमन्त्रात्मक विद्या-** इसमें अर्थ भाव तथा पाञ्चभौतिक प्रयोगात्मक विधान आते हैं। इसमें शब्द प्रधान नहीं है। एक अर्थ तथा भाव को अनेक शाब्दिक माध्यमों से व्यक्त किये जा सकते हैं।

बृहत्संहिता में जिन-जिन संहिताकारों के विवरण मिलते हैं, उनके मूल ग्रन्थ आज नहीं मिलते। वराह से बल्लाल सेन तक जिन संहितोक्त विद्याओं के समावेश है, उनमें परवर्त्ती काल में मुहूर्त्त को छोड़कर अन्य शाखाएँ गौण तथा संघसाध्य विद्या शाखाएँ प्रयोग बाह्य होती गयीं। सूक्ष्म निरयण तथा सायण पद्धति के समन्वय पर आधारित द्विविध गणनाश्रित सूक्ष्मनिरयण पञ्चाङ्ग भी अन्वेषणाभाव में उत्तरोत्तर स्थूल होते गये।

जहाँ गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त तथा दूरदर्शक के आविष्कार के पश्चात् उत्तरोत्तर विकास रूप नवीन खगोलशास्त्र भू-भौतिकी खगोलभौतिकी ज्यौतिष की सीमा में प्रविष्ट है, वहाँ स्वतन्त्रता के बाद भी नवीन खगोल शास्त्रीय सम्बद्धता से जोड़कर संहितोक्त विद्याओं के विकासार्थ संघीय प्रयत्न न के बराबर हुए।

त्रिस्कन्ध ज्यौतिष की सीमा को हम वेदाङ्गकाल से ग्रहण वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं, जब कि वैदिक ज्यौतिष मूल से सम्बद्ध होने पर भी वेदाङ्ग ज्यौतिष काफी पीछे है। त्रिस्कन्ध ज्यौतिष सम्बद्ध अनेक शाखाएँ नवीन विकास के अन्तर्गत पूर्ण वैज्ञानिक पद्धतियां बन गयी तथा बन रही हैं। वैदिकवाङ्मय से प्रारम्भ कर इस यान्त्रिक युग तक में प्रवेश का इतिहास अनेकों उत्थान तथा पतन के बाद फिर से उत्थान का संकेत देता है। सभी देश तथा काल में ज्योतिर्विद्या का अस्तित्व इसके सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक विशिष्ट स्वरूप को दर्शाता है। त्रिस्कन्ध ज्यौतिष का विस्तार एवं संहितोक्त विज्ञानवाद भारतीय ज्यौतिष के वैशिष्ट्य को आज भी सिद्ध करता है। प्राचीन ऋषियों के सिद्धनिष्कर्ष आज भी काफी महत्वपूर्ण हैं।

संहिता स्कन्ध-आज संहिता स्कन्ध की अनेक शाखाएँ पाश्चात्य भारतीय अन्वेषण से विज्ञान का रूप धारण कर चुकी हैं परन्तु दुर्भाग्य से भारत में समन्वयात्मक पद्धति उत्तरोत्तर उपेक्षित होती गयी। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मण की परम्परा अन्तिम वैदिक वैज्ञानिक परम्परा थी। वराह के वर्णनानुसार सृष्ट्यारम्भ कालिक कश्यप से प्रारम्भ कर समास संहिता तक की चर्चा विशिष्ट विस्तृत परम्परा का संकेत देता है। वराह से बल्लाल सेन तक ७०० वर्षों का अन्तर है। ११००+७०० = १८०० शकाब्द के बाद भारतीय मूल ज्ञान पाश्चात्य माध्यम से फिर प्रकट हो रहा है, वहाँ संहितोक्त प्रयोग धाराएँ क्षीण होते-होते आख्यानों तथा ग्रन्थों तक संकुचित हो गयी हैं।

संहिता स्कन्ध का विस्तार-१. दिव्यभाग, २. नाभसभाग, ३. भौमभाग एवं त्रिगोलीय विश्वव्यापी ४. योगज प्रभाव ५. शुभशकुन-कालप्रभावावगमक सर्वविधपार्थिव लक्षणशास्त्र। (यह भी मूल रुप से संहिता का भाग हैं।) इसमें काल, वातावरण, पशुपक्षी आदि के चेष्टा के आधार पर विभिन्न शुभाशुभ प्रभाव निर्धारित किये जाते हैं।

६. **केरली तन्त्र**-द्वादश मात्रायुक्त कवर्गादि, पञ्चभूत स्वरसंचार, अङ्गो का वैशिष्टय, चेष्टा कालखण्ड, प्रश्नभेद, पात्र की स्थिति आदि के आधार पर शुभ शकुनादि युक्त यह प्रश्न तन्त्र हैं। जीव, वनस्पति आदि का सम्यक् प्रकृति एवं लक्षण ज्ञान इसका पूरक विषय है। यह भाग भी संहिता का अंग हैं। बृहत्संहिता में शुभशकुन तथा अन्यत्र केरलीतन्त्र का वर्णन इन दोनों को संहिता का भाग सिद्ध करता हैं। इन दोनों विद्याओं पर केरलप्रश्नरत्न, केरलप्रश्नसंग्रह प्रभृति केरली विद्या तथा शकुन वसन्तराज प्रभृति शकुन ग्रन्थ हैं।

संहिता-यह स्कन्ध मेदिनीय ज्यौतिषसंज्ञक एवं अत्यधिक विस्तृत हैं। समहितं करोतीति......संहिता ज्यौतिप त्रिगोलीय विश्वप्रभाव को दर्शाता है। दिग्देशकाल एवं क्षेत्रांश द्वारा समष्ट्याभिप्रायिक विश्वप्रभाव निरूपक स्कन्ध संहिता स्कन्ध है। नक्षत्र, ग्रह तथा केतु प्रभाव, भौमप्रभाव तथा नाभस प्रभाव इसके मुख्य प्रतिपाद्य हैं। संहितास्कन्ध पर उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थों में प्रथम भद्रबाहुसंहिता एवं बृहत्संहिता अद्भुत वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं। वराह के समय तक (शक० ४२७) उपलब्ध संहिताकारों के नाम बृहत्संहिता में आ गये हैं। काश्यप, नारद, अत्रि, मनु, गर्ग, पराशर, व्यास देवल प्रभृति ऋषियों के प्रमाणों को बृहत्संहिता में संक्षिप्त रूप में संघटित करने का व्यापक प्रयत्न हुआ।

वराही संहिता में नक्षत्र, ग्रह, केतु दिव्य प्रभाव से गन्धर्व नगर परिवेष, उल्का पातादि नाभस तथा भूकम्प ज्वालामुखी, भूगर्भीय एवं पृष्ठीय प्रभाव तथा प्रभावावगमक सिद्धान्त मौलिक रूप में विद्यमान हैं। वराहकाल में संहितोक्त अधिकांश विद्याएँ प्रयोगान्तर्गत थीं। केतुचार में पराशर गर्ग देवल अथर्वण आदि के मतानुरोध से २७ चर्मक्षु दृश्य केतु तथा १००० केतु दृश्य चक्रान्तर्गत यन्त्र दृश्य माने गये। बल्लाल सेन का अद्भुत सागर संहिता स्कन्ध का समतुल्य अद्भुत ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें १०८ केतुओं को नंगी आँखों से दृश्य होना माना हैं।

वराह के समय से ही मुहूर्त्त ग्रन्थ ने स्वतन्त्र शाखा का रूप ग्रहण कर लिया। बल्लाल सेन के पश्चात् संहिता स्कन्ध में मुहूर्त्त ज्यौतिष का प्राधान्य रहा। इसमें एक अहोरात्र को मानक मानकर शुभाशुभ, नक्षत्र, संस्कार, गोचर, विवाह, यात्रा, वास्तु-कूप, तड़ाग, गृहनिर्माण, देवालयारम्भ, प्रभृति विषय मुख्य रूप से कहे गये हैं। बृहत्संहिता में निरूपित विभिन्न वैज्ञानिक शाखाओं पर अन्वेषण क्रम क्षीण होता गया जो बल्लालसेन के बाद व्यवहार बाह्य होता गया। यद्यपि बृहत्संहिता को मूल मानकर बाद में अनेक संहिता ग्रन्थ रचे गये परन्तु अन्वेषणक्रम क्षीण रहा। त्रिगोलीय विश्वप्रभाव का भूगोलाभिप्रायिक स्वरूप दर्शक संहिता अनेक प्रयोगात्मक विद्या प्रभेदों के रूप में मूल रूप में वराह के समय व्यवहारान्तर्गत था।

संहिता स्कन्ध के मुख्य विषय विभाग

प्रभाव की दृष्टि से संहिता के मुख्य तीन भाग हैं-

१. **दिव्य प्रभाव**-सूर्य, द्वादशादित्य, एकादशरुद्र, अष्टवसु दो अश्विनी तथा, नक्षत्रमण्डलीय दिव्य प्रभाव तथा दिव्य केतु मण्डलीय प्रभाव। द्युलोक अर्थात् नक्षत्र मण्डल, सौर क्रान्तिक्षेत्रीय नक्षत्रपुञ्जों का साक्षात् प्रभाव। ग्रह, नक्षत्र तथा केतु ये दिव्य प्रभावोत्पादक हैं।

२. **नाभस प्रभाव**-अन्तरिक्ष जन्य प्रभाव इसके अनेक प्रभेद बनते हैं।

३. **भौम प्रभाव**-पृथ्वी का प्रभाव-गर्भीय प्रभाव तथा पृष्ठीय प्रभाव।

ये तीन मुख्य प्रभेद हैं। पञ्चमहाभूत, ग्रहर्क्षसंरचना संचरण, उदयास्त, युति, भेद, लोप, ग्रहण आदि प्रभावोत्पादक है। पञ्चमहाभूत समस्त प्रभावों का आश्रय भूत है। भूतत्व के आश्रय से भौमप्रभाव व्यक्त होते हैं।

दिव्य प्रभाव

१. नक्षत्रपुञ्ज २. ग्रह ३. उपग्रह ४. केतु। ये चार दिव्यप्रभावोत्पादक हैं।

केतु-नाक्षत्रकेतु, ग्रहकेतु तथा भौम केतु ये तीन भेद इसके बनते हैं। केतुओं के अनन्त विस्तार में २७ तथा १०८ चर्मचक्षु दृश्य केतु साक्षात् भूपृष्ठ को प्रभावित करते हैं। उदय, अस्त, स्पर्श, धूमन, घात, द्वारा प्राकृतिक संरचना तथा वर्ण द्वारा विभिन्न केन्द्रिक केतु शुभाशुभ प्रभावोत्पादक हैं।

भौमप्रभाव एवं योगज प्रभाव-

वास्तुविद्या-गृहारम्भ विधि, वास्तुभूमिपरीक्षण, वास्तुस्थापत्य-वास्तुशिल्प त्रिगोलीय प्रभाव प्रभृति-इस विद्या के अन्तर्गत आते हैं। यह भूपृष्ठीय भेद में गणित है। इस विद्या पर अनेक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं।

भूगर्भविद्या-भूकम्प, ज्वालामुखी, भुम्यन्तर्वर्ती जलस्तर तथा जलीय स्रोत, धातु, रत्न, शक्ति के विभिन्न स्त्रोत, तथा भूपृष्ठीयस्तर विभाग आदि विद्याएँ इसके अन्तर्गत आते हैं। दकार्गल विद्या के रूप में बृहत्संहिता में भूम्यन्तर्जलीय स्त्रोत विद्या दकार्गल के रूप में प्राप्त होती है।

नाभसप्रभाव एवं योगज प्रभाव-

वृष्टिविद्या-वर्षा, वातावरण,, मौसम, जलवायु, भूपृष्ठीय कटिबन्ध भेद तथा त्रिगोलीय ग्रहसंचारोत्पन्न वृष्टियोग आदि इसके अन्तर्गत हैं। भूगोलीय कटिबन्ध विभाग, वातचक्र शीतोष्ण मात्रा तथा त्रिगोलीय ग्रहर्क्ष संचार से वृष्टि शस्य वनस्पति सुभिक्ष तथा दुर्भिक्ष आदि का सम्यक् ज्ञान होता हैं।

भौमप्रभाव एवं योगज प्रभाव-

शुभशकुन-जीवों एवं वनस्पतियों के तथा अन्य प्राकृतिक लक्षण तथा विकृति के द्वारा शुभाशुभ घटनाचक्र विधायक प्रत्यक्ष विधान शकुन शास्त्र हैं। इसमें भूपृष्टस्थ जैव विश्व वनस्पत्यादि तथा प्राकृतिक चक्रों का यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है। चेष्टा, शब्द, वर्ण, गति, क्रान्ति आदि के माध्यम से परीक्षणार्थ दशविध शकुन आदि को विश्लेषित करना अपेक्षित होता हैं।

सामुद्रिक-प्रकृति, आकृति, लक्षण, चेष्टा, गति, वर्ण, स्वर, मानसिक चेतना, अंग लक्षण, हस्तरेखा तथा ग्रहर्क्षप्रभाव दर्शक लक्षणों एवं चिन्हों के निर्धारण के द्वारा मानवीय शुभाशुभ प्रदर्शक सामुद्रिक विद्या है। इसका सम्वन्ध संहिता तथा होरा दोनों से है। यह सर्वाधिक प्रचलित भाग है।

स्वरविद्या-ज्यौतिष तन्त्र तथा योग पर आधारित यह सर्वाधिक चमत्कारी दिव्य विद्या होने पर भी ह्रासोन्मुख है। हंसस्वर संचार, वर्णस्वर, पञ्चमहाभूत तथा त्रिगोलीय संस्थान एवं संचार गत सम्वद्धता पर आधारित हैं। इस विद्या के अनेक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं। इसके प्रथम प्रवर्त्तक भगवान शिव माने जाते हैं। संहिता तथा होरा दोनों से इसका सम सम्वन्ध है। ब्रह्माण्ड तथा सौर विश्व का पिण्डीय संचरण दर्शानेवाली प्रत्यक्षाश्रित यह सार्वकालिक विद्या है। शरीरस्थ ब्रह्माण्ड को व्यक्त करने का प्रत्यक्ष विधान प्रस्तुत करनेवाली, शान्ति से युद्ध तक में प्रयोज्य है। ज्यौतिष योग एवं तन्त्र के समन्वय से त्रिकाल ज्ञान तथा मानवीय सवाङ्गीण विकास का असीमत्व स्वर शास्त्र के आख्यानों से प्रत्यक्ष हैं।

अर्घविद्या-पदार्थ एवं सस्य आदि की वृद्धि, ह्रास, विनाश, एवं तेजी-मन्दी आदि का निर्धारण इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। त्रिगोलीय सम्वन्ध से पदार्थादि को जोड़कर मूल्य निर्धारक यह विद्या इस आर्थिक युग में भी ब्रह्माण्ड सम्वद्धता के ज्ञान से सर्वोपकारक है। इसके विना अर्थविद्या पूर्ण नहीं मानी जा सकती।

धातुविज्ञान-खनिजविद्या- भू उत्खनन से प्राप्त खनिज, धातुरत्न, धातुशोधन प्रभृति इसके विषय हैं। समुद्र गर्भ से प्राप्त रत्नादि भी इसके अन्तर्गत आते हैं। इस क्षेत्र में भारतीय मूल भले आज सुप्तप्राय है, लेकिन समग्र परवर्ती विकास इससे जुड़ा हैं।

सुभिक्ष-दुर्भिक्षविद्या-पृथ्वी पर होने वाले सुभिक्ष तथा दुर्भिक्ष का अध्ययन इसका मुख्य प्रतिपाद्य हैं। ग्रहर्क्षसंचार तथा भूगोलीय पदार्थ सम्वन्ध से दिव्यनाभस एवं भौम प्रभाव का वर्षाभिप्रायिक शुभाशुभ प्रभाव निरूपण इसके अन्तर्गत होता है।

प्रतिमाविद्या-मूर्त्तिनिर्माण, मूर्त्तिभेद, मुर्त्तिलक्षण, प्रकृतिविकार, देवप्रतिमादि विधान आदि इसके मुख्य प्रतिपाद्य हैं।

दिव्य एवं नाभसप्रभाव

रश्मिविद्या-प्रकाश, प्रकाशपुञ्ज, प्रकाशवर्ण, प्रकाशतरंग आदि इनके शुभाशुभ प्रभाव विधायक हैं। विकिरण आदि इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। विभिन्न गोलीय रश्मिपुञ्जों का

अपवर्त्तन परावर्त्तन ग्रहगोलीय गुरुत्वाकर्षणानुरोध से सघन एवं विरल माध्यमों में संचरण, वर्णभेद प्रभृति इसके अन्तर्गत आते हैं। ग्रहर्क्षप्रभाव निर्धारण में ग्रहर्क्षरश्मि का अध्ययन वैदिककाल में भी होता था। संचरण माध्यम के गुरुत्वाकर्षणभेद से, वर्णभेद, तथा प्राकृतिक लक्षण भेद से शुभाशुभ फल निर्धारण में इसका स्वतन्त्र महत्त्व था, तथा हैं।

जीवविद्या-मानव, पशु, पक्षी, कीट, सरिसृप, पतंग प्रभृति के आकृति, प्रकृति, चेष्टा, गुण, दोष, वर्ण, गति प्रभृति का १८ प्रकार से अध्ययन इसका मुख्य प्रतिपाद्य हैं। यह संहिता तथा आयुर्विज्ञान का अंग था।

वनस्पति विद्या-इसके अन्तर्गत वनस्पतियां, औषधिवर्ग वनस्पति चिकित्सा, ग्रहों तथा नक्षत्रों से सम्बद्ध वनस्पतियां तथा वनस्पतियों का त्रिगोलीय सम्बन्ध प्रभृति आते हैं। आज यह विद्या स्वतन्त्र है, परन्तु ग्रहर्क्षादि से सम्बद्धता के आधार पर अन्वेषण नहीं हो रहा। वास्तुविद्याओं में भी इसका प्रयोग होता है। यह काष्टशिल्प का भी आधार है।

कूर्मविद्या-कूर्मपृष्ठ विचार- इसके अन्तर्गत पृथ्वी के विभिन्न स्थान तथा देश वर्गीकृत हैं। किस ग्रह तथा नक्षत्र से कौन सा भाग सम्बद्ध है, इत्यादि के प्रतिपादन मिलते हैं। ग्रहों तथा नक्षत्रों का स्थानाधिपत्य, देशाधिपत्य; प्रभावक्षेत्र तथा प्रभाव मात्रा भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

नक्षत्रव्यूह विद्या-इसमें नक्षत्रों तथा ग्रहों का चराचर जीव तथा पदार्थगत सम्बन्ध पदार्थाधिपत्य; जैवाधिपत्य; तथा विभिन्नरूपक प्रभाव परिगणित हैं।

दिग्गज विद्या-गुरुत्वाकर्षण प्रभाव का भूगोलाभिप्रायिक रूप इसका विषय है। आकर्षण एवं विकर्षण के अनुरोध से त्रिगोलीयाकर्षण का भूगोलीय रूप निर्धारण इसका मुख्य प्रतिपाद्य होने पर भी आज केवल संकेत मात्र अवशिष्ट है। नवीन गुरुत्वाकर्षणशास्त्र की सहायता से पूर्व निष्कर्षों को व्यवहार गम्य किया जा सकता हैं।

नाग तथा शेष विद्या-गुरुत्वाकषर्ण की अन्तिम सीमा शेष है, जिसे पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों से जोड़ा गया है। इसे भी आकर्षण शास्त्र के भेद के रूप में प्रयोग किया जाता था। भूमि के गर्भ में ठोस तथा द्रव्य के मध्य तरलनागाकृति पट्टियों के संकेत भी मिलते हैं।

ग्रहर्क्षगोचर-खगोलीय पिण्डों के संचार से जो तात्कालिक गोलीय सम्बन्ध बनते हैं, उन्हें व्यक्त करने तथा शुभाशुभ जानने का विधान ग्रहर्क्षगोचर है। इसके दो भेद हैं-
१ दिग्देश कालाभिप्रायिक त्रिगोलीय संचार शुभाशुभत्व प्रभाव से उत्पन्न विश्वाभिप्रायिक।
२. त्रिगोलीय गोचरीय प्रभाव से व्यक्तिगत दिग्देशकालाभिप्रायिक शुभाशुभ निर्धारण।

ग्रहर्क्षफल परिपाक-विभिन्न नैसर्गिक प्राकृतिक घटना चक्रों तथा त्रिगोलीय संचार से उत्पन्न शुभाशुभ फल परिपाक से प्राप्त शुभाशुभ फल का प्राप्ति समय का ज्ञान इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। किसका प्रभावकाल क्या है? का निर्धारण आज अन्वेषणीय है। प्राचीनों ने जिस

प्रकार निर्धारण किया, उसे पुनः व्यवहार गम्य बनाना असंभव नहीं पर संघीयान्वेषण गम्य है। इसका सम्बन्ध संहिता तथा होरा दोनों से हैं।

मूहूर्त्तविद्या-एक अहोरात्र में निर्दिष्ट लघुकालखण्ड का कार्य, कर्त्ता एवं काल का दिग्देशकाल भेदानुरोध से शुभाशुभत्व का निर्धारण मुहूर्त्त विद्या का मुख्य प्रतिपाद्य है। "किस कार्य को किस काल में कैसा व्यक्ति किस विधि से करे तो शुभ तथा किस तरह अशुभ होगा" का निर्धारण मुहूर्त्त हैं। ४८ मिनट का काल खण्ड १ मुहूर्त्त माना जाता हैं।

शान्तिकल्प-इसके दो मुख्य भेद हैं। संहिता सम्बद्ध शान्ति कल्प तथा होरा सम्बन्ध शान्ति कल्प। संहितोक्त शान्तिकल्प प्रायः व्यवहार बाह्य है। अशुभ उत्पातों की शान्ति तथा अभिषेक इसके मुख्य प्रतिपाद्य हैं। शान्तिकल्पद्रुम इसका प्रमाणिक ग्रन्थ हैं। ज्यौतिष, योग आयुर्वेद' कर्मकाण्ड तथा तन्त्रागम का समवेत रूप शान्तिकल्प हैं। मानव सम्बद्ध प्रत्येक उत्पात तथा अभीष्ट योगों का शमन इस विद्याका मुख्य लक्ष्य हैं। मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, औषधि, अभिषेक, यज्ञ, अनुष्ठान, दान ये निदानात्मक प्रभाग हैं। इसका बहु आयामी विस्तार उत्तरोत्तर क्षीणता की ओर अग्रसर है।

भौमप्रभाव-पृथ्वी पर घटने वाली घटना न तो अकारण है न तो आकस्मिक। लेकिन कहाँ दिव्य प्रभाव हेतु है, कहाँ नाभस तथा कहाँ भौम, इन्हें अलग २ कर समझना आज भी कठिन है। क्योंकि भूगर्भीय तथा भूपृष्ठीय परिवर्तन त्रिगोलीय सापेक्षता पर आधारित हैं। द्युलोकीय दिव्य प्रभाव (नाभस प्रभाव) भौम प्रभाव गत निष्पत्ति बृहत्संहिता तथा आधुनिक अन्वेषण से सिद्ध हैं, परन्तु भूपृष्ठस्थ भौमप्रभाव की तीव्रता को मानव विभिन्न रूपों में सर्वाधिक अनुभव करता हैं।

भौम प्रभाव निर्धारण में भूगर्भ के साथ भूपृष्ठीय वातावरणादि का स्वतन्त्र महत्व है। भूपृष्ठ पर अवस्थित पर्वत मालाएँ, नदियाँ, सागर, हिमाच्छादित प्रदेश, पर्वत, समुद्री धाराएँ, वनप्रदेश, मरुप्रदेश, पठार, निम्न आर्द्रभूमि, भूगोलीय सौरक्रान्ति क्षेत्र, चुम्बकीय क्षेत्र, वातदाव, विभिन्न स्थानीय वातावरणान्तर, ताप, शीत, के साथ भूगर्भीय संरचना एवं प्रभाव आकलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। भूगर्भीय संरचना गैस, द्रव्य तथा पदार्थ रुप, ज्वालामुखी (अग्निपर्वत) भूकम्प, भूस्तर, भूगर्भीयस्तरगत जलीय स्त्रोत, खनिजों के ठोस, द्रव्य तथा गैस रूप में स्वतन्त्र महत्व रखने पर भी भौम प्रभाव के अन्तर्गत आते हैं। १. भूगर्भीय संरचना तथा प्रभाव-ज्वालामुखी तथा भूकम्पादि २. भूपृष्ठीय संरचना तथा प्रभाव-कटिबन्धादि भौम प्रभाव में आधार पर पृथ्वी होती है, त्रिगोलीय परिवर्तन कारण तथा घटना विशेष कार्य रूप। आश्रय पाञ्चभौतिक होता हैं।

●●●

सामुद्रिक शास्त्र
स्वरूप परम्परा एवं इतिहास
प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र

यह विद्या कितनी पुरानी है, इसका ठीक-ठीक अनुमान वर्त्तमान संसाधनों से कठिनतम हैं। वेद से प्रारम्भ कर इतिहास पुराण, रामायण, महाभारत तथा वेदांगभूत ज्योतिषशास्त्र में तथा आज भी इसकी परम्परा गतिशील है। विभिन्न कालिक सामुद्रिकज्ञों के स्तर में भेद भी समीक्षकों से छिपा नहीं है। अंगविद्या के अनेक भेदों में सामुद्रिक महत्वपूर्ण है।

वृहत्पाराशर, बृहज्जातक, बृहत्संहिता आदि के क्रम से हस्तसंजीवन, स्कन्धशरीरिकम्, हस्तपरीक्षा, आदि अनेक मूर्धन्य ग्रन्थ, भारतीय मूल के विस्तारक है। पाश्चात्यधारा के योग से भारत एवं यूरोप आदि में हिन्दी, तथा अंग्रेजी में प्रकाशित अनेक नवीन ग्रन्थ इस विद्या के सार्वजनिनता के वर्तमान साक्ष्य हैं। इस विद्या में अनेक समर्थ विद्वान् लेखकों ने अपने-अपने समय में इसे प्रमाणिक सिद्ध किया है। पराशर से वराह तक तथा वराह से हस्तसंजीवन तक एवं हस्तपरीक्षा तक वर्तमान आचार्यों एवं लेखकों तक का कालक्रम, इसकी दिव्यता के संकेत प्रदान करते हैं।

दशवीं शताब्दी तक भारत में भी सामुद्रिक, के साथ-साथ हस्तसामुद्रिक, सामुद्रिकजातक तथा जातकसामुद्रिक का प्रचलन था। इसके प्रमाण तथा संकेत पूर्वापर ग्रन्थक्रम से स्पष्ट हो जाता है। जैन एवं बौद्ध परम्परा में भी इस विद्या की प्रमाणिकता को स्वीकारा है। हाथ देखकर जन्मकुण्डली बनाना हस्तसामुद्रिकजातक कहलाता था। हाथ के साथ स्वीकारा है। हाथ देखकर जन्मकुण्डली बनाना हस्तसामुद्रिकजातक कहलाता था। हाथ के साथ सर्वांगशरीर लक्षण द्वारा सही जन्मकुण्डली का निर्धारण सामुद्रिकजातक कहलाता था। हाथ देखकर जन्मपत्र बनाना, तथा इससे ही वर्षपत्र, मासपत्र, तिथिपत्र तथा दिन दशा तक का निर्धारण, हाथ एवं अंग स्पर्श से विभिन्न मूक प्रश्नों का सटीक उत्तर देने का क्रम हस्तसंजीवन तक में प्राप्त होता है। इस क्षेत्र में वर्तमान लेखकों ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है, उनमें हस्तपरीक्षाकार श्रीनिवास महादेव जी का जातक में जातकतत्व, तथा हस्तविद्या में हस्तपरीक्षा अद्वितीय कार्य हैं। अतः समुद्रऋषि से आज तक यह परम्परा न्यूनाधिक रूप से गतिशील है।

१. **हस्तसामुद्रिक**-हस्तविद्या की प्रमुखता, हस्तपरीक्षा के प्रकार, हाथ देखकर प्रभाव निर्धारण की रीति, हाथ में सभी देवताओं के स्थान, पञ्चांगुली साधना से दिव्यता की प्राप्ति, एवं विद्या तथा साधना के योग से अचूक फलादेश तथा हाथ का

व्यवहारिक महत्व, आदि हाथ देखने का विधान **प्रथमतः** द्रष्टव्य है। **द्वितीयतः** पुण्यसाधन, हाथ में विभिन्न तीर्थों के विन्यास, आदि भी इसे देखने की विधि, के अन्तर्गत आता है। **यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे** के विपरीत **यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डेऽपि** के अनुसार हमारा शरीर भी एक **लघुब्रह्माण्ड** है। हाथ कर्मशक्ति का द्योतक है तथा दिव्य संवंध का भी। कुमारपाल के समय नृसिंहात्मज श्रीदुर्लभराज ने इस शास्त्र को संगठित करने की चेष्टा की। स्त्री पुरुष लक्षण से युक्त सामुद्रिक समुद्रऋषि द्वारा सर्वप्रथम प्रकट हुआ था। समुद्र से नारवादि क्रम से ऋषि परम्परा से सम्पूर्ण भूमण्डल में फैला। द्वापरान्त में गर्ग पाराशर तथा कलियुग में अनवमदर्शी वराह आदि के द्वारा यह शास्त्र गतिशील रहा।

२. **शास्त्र की परम्परा**-यद्यपि **इसकी** परम्परा अतिप्राचीन है। नारद, लक्षक, षण्मुख, माण्डव्य, पराशर वराह, आदि के क्रम से यह शास्त्र सामुद्रिकलक्षण के रूप में अग्रिम-अग्रिम कालखण्ड में गतिशील होता रहा। महाराजा भोज के समय भी अतिगहन सामुद्रिकशास्त्र उपलब्ध था। राजाओं ने पादतल से सिर के केश तक क्रम से शरीर के अंग एवं उपांग के लक्षण निर्धारित किये।

सामुद्रिक-प्रकृति, आकृति, लक्षण, चेष्टा, गति, वर्ण, स्वर, मानसिक चेतना, अंग लक्षण, हस्तरेखा तथा ग्रहर्क्षप्रभाव दर्शक लक्षणों एवं चिह्नों के निर्धारण के द्वारा मानवीय शुभाशुभ प्रदर्शक सामुद्रिक विद्या है। इसका संबंध संहिता तथा होरा दोनों से है। यह सर्वाधिक प्रचलित भाग है। त्रिकालज्ञानार्थ परीक्षण के १८ भेद इसके मूल हैं। आधुनिक काल में कालिकाप्रसाद मिश्र का सामुद्रिक रहस्य इस शास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है।

मराठी में ताम्बे लिखित ग्रन्थ के तीन अध्याय हैं। पूर्वाध, उत्तरार्ध तथा प्रत्याक्षिक खण्डों में क्रम से लक्ष्य एवं ग्रह प्रभाव, रेखा विचार एवं परीक्षण दृष्टांत वर्णित हैं।

स्कन्द शारीरकम्-ग्रन्थकार-अज्ञात।

सरस्वती भवन पुस्कालय सम्पूर्णनन्द सं० विश्वविद्यालय वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थ। प्रधान सम्पादक श्री बलदेवोपाध्याय। सम्पादक-गणेशधर पाठक। प्रकाशनवर्ष १८६५ शकाब्द। मुद्रक-विद्याविलास प्रेस चौखम्बा वाराणसी। विषय सामुद्रिक लक्षण-सर्वांग शरीर लक्षण। अध्याय संख्या-८। विषय निवेष-१. संज्ञाध्याय २. संकीर्ण रेखा लक्षण ३. स्थान, रेखा, वर्ण, लक्षण एवं फल तथा निम्नोन्नत भाग का लक्षण, कण्ठादि के लक्षण एवं फल, ४. नियत रेखा लक्षण, ५. मुखगत रेखा लक्षण एवं फल, ६. कण्ठादि के लक्षण एवं फल, ७. विप्रकीर्ण रेखा लक्षण, तथा ८, तटस्थ रेखा लक्षण। इस ग्रन्थ में सामुद्रिक के सभी विषय आ गये हैं। इस पर श्री गणेशधर पाठक की संस्कृत व्याख्या भी प्रकाशित है।

श्री सामुद्रिक शास्त्र

प्राचीन ग्रन्थ। पं० श्रीकान्त हीरालाल हंसराज जामनगर सं० १९६४ में श्री जैन भास्करोदय प्रिंटिंग प्रेस जामनगर से मूल मात्र सम्पादन कर प्रकाशित किये-गुरु चरित्र विजय मुनि। यह जैन सम्प्रदाय के ज्योतिर्विद् का सामुद्रिक विषयक संकलन है।

सामुद्रिकशास्त्र

समुद्र ऋषि प्रोक्त दुर्लभराज रचित। टीकाकार- अर्गलपुर निवासी श्री राधाकृष्ण मिश्र प्रकाशन वर्ष सं० १९९२ श० १८५७ १९३५ ई० कल्याण वम्बई। यह ग्रन्थ समुद्र ऋषि प्रोक्त सामुद्रिक शास्त्र का उपलब्ध मूल ग्रन्थ है। सामुद्रिक शास्त्र होरा तथा संहिता दोनों से सम्वद्ध होने पर पर अपना स्वतन्त्र महत्व रखता है। सामुद्रिक शास्त्र का प्रवर्तन समुद्र ऋषि से माना गया। किसी के मत में भगवान विष्णु समुद्र ऋषि के रूप में अवतरित होकर इसका प्रवर्तन किये। अन्य मत शिवपार्वती संवाद रूप विस्तृत सामुद्रिक शास्त्र का समुद्र ऋषि के माध्यम से प्रवर्तन हुआ। समुद्र ऋषि से प्रवर्तित होने से सामुद्रिक नाम पड़ना साभिप्राय है। इसका समावेश विभिन्न संहिताओं में होने से इसे संहिता का भाग माना जाता है। एक अन्य लघु ग्रन्थ भी श्री समुद्र प्रोक्त मिलता है। इस शाखा की प्राचीनता वैदिक साहित्य से भी सिद्ध है। महाराजाधिराज श्री राजपाल जगद्देव महाराज ने अनेक प्राचीन नवीन ग्रन्थों की सहायता से इसे संशोधित कर संग्रहित किया। श्री नृसिंहात्मज दुर्लभराज विरचित सामुद्रिक तिलक नाम से यह ग्रन्थ प्रख्यात है। इस ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार वंशवृक्ष मिलता है। दुर्लभ राज द्वारा इसे काव्यात्मक रूप प्रदान किया गया। श्री भीमदेव-श्रीराजपाल-श्रीनृसिंह-श्री दुर्लभ सिंह यह लेखक का वंशक्रम है। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में वर्गीकृत है। श्री समुद्र नारद, माण्डव्य, तक्षक, वराह, षण्मुक्ष, भोजराज सुमन्द आदि के मत को देखकर ऐतिहासिक विकास कड़ी को दर्शाता है।

इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय-

१. शारीराधिकार प्रथम-पुरुष सर्वांगशरीरलक्षण श्लो० १ से १३५ तक, रेखादि विचार श्लो० १३६ से २०४ तक, ऊर्ध्वांगरेखा, लक्षण एवं फल श्लो० २०५ से २९८ तक पठित है।

२. शरीराधिकार द्वितीय में- १. संहति २. सार ३. अनूप ४. स्नेह ५. उन्माद ६. प्रमाण ७. मान ८. क्षेत्र ९. प्रकृति १०. मिश्रफल लक्षण ११. पुरुष वर्ग आते हैं।

३. आर्वर्त्ताधिकार तृतीय में-१२. शीर्षादिलक्षण एवं फल १३. गति १४. छाया १५. स्वर १६. गन्ध १७. वर्ण १८. सत्व आदि का विस्तृत वर्णन है। ये १८ लक्षण पुरुषों के सर्वांगशरीर लक्षण एवं फल के अन्तर्गत किये गये। ये विभाग बृहत्संहिता में भी मिलते हैं। ये लक्षण वर्गीकृत ढंग से स्त्रियों के ऊपर भी लागू होते हैं।

४. संस्थानाधिकार चतुर्थ में-स्त्री के पांव के शिर तक का सर्वांग शरीर लक्षण एवं फल वर्णित हैं।

५. पञ्चमाधिकार में-व्यञ्जन, मसा, तिल, प्रकृति मिश्रक प्रभृति लक्षण तथा फल कहे गये हैं।

६. षष्ठाधिकार में-गन्ध, आवर्त्त, सत्व, स्वर, गति, छाया प्रभृति स्त्री लक्षण एवं फल वर्णित हैं।

हस्तसंजीवन-

म०म० श्रीमेघ विजय गणिकृत। श्री विजय प्रभु नामक जैन मुनि के शिष्य की यह रचना ५२५ श्लोकों में हैं। इस ग्रन्थ का काल निर्धारण कठिन है, परन्तु ऐतिहासिक समीक्षा से गम्य है। हिन्दी अनुवादक डॉ० सुरेश चन्द्र मिश्र के कथन से इस ग्रन्थ पर उपलब्ध भाष्य में कुछ उदाहरण विक्रम संवत् १७३७ का होने से मूल लेखक का काल निःसन्देह इससे वहुत पूर्व का है। इसकी पद्धति पूर्ण भारतीय है। हाथ देखकर जन्मपत्र निर्माण, वर्षकुण्डली, मासकुण्डली, तिथिकुण्डली, दिनदशा, आदि विषयों की जानकारी, हाथ स्पर्श कर तथा देखकर मूकप्रश्नों के निर्णय इसकी विशेषता है। इस ग्रन्थ में चार अधिकार हैं-

१. दर्शनाधिकार में- १. हस्तविद्या की प्रमुखता एवं साधना २. पुण्य साधन न्यास विधि तथा देखने की रीति ३. मूकप्रश्न तथा नष्टकुण्डलीविचार ४. चक्रों से प्रत्येक स्थान तथा शरीरांग का फल जानना।

२. स्पर्शनाधिकार- १. हाथ स्पर्श से फल ज्ञान २. हाथ स्पर्श से विविध प्रश्नफल ३. सांसारिक फल ज्ञान।

३. रेखाविमर्शनाधिकार- १. रेखाविमर्शार्थ विशेष तथ्य २. रेखाविचार-

४. विशेषाधिकार-स्त्री तथा बालक का हस्त परीक्षण- इसमें ग्रन्थकार का आत्म कथन तथा परिशिष्ट है। जैन ज्योतिर्विदों के योगदान सामुद्रिक के क्षेत्र में कितना विशिष्ट रहा है, यह प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शाता है।

हस्तपरीक्षा

श्रीनिवास महादेव पाठक-ग्रन्थकार। प्रकाशनवर्ष १९४७ ई० सं० २००४ श्री भुवनेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस रतलाम मध्य भारत। तृतीय संस्करण पं० श्री कान्तचन्द्र पाठक द्वारा सम्पादित। मूल संस्कृतोद्धारण हिन्दी समीक्षा के साथ पाश्चात्य अन्वेषण का समन्वय इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। ग्रन्थकार की अन्य महत्वपूर्ण कृति जातकतत्व होरा शास्त्र पर शोध पूर्ण विस्तृत ग्रन्थ हैं। इस हस्त परीक्षा ग्रन्थ के प्रारम्भ में भारतीय तथा पाश्चात्य हस्त रेखा के इतिहास पर प्रकाश डाला गया हैं। इसमें १५ प्रकरण हैं।

१. सामुद्रिक का इतिहास एवं परीक्षण विधान।
२. हाथ के सभी अङ्गों का परीक्षण एवं फल। (भारतीय एवं पाश्चात्य रीति से)
३. अंगुलियों के शुभाशुभ, छाप लेने की रीति।
४. रेखा विचार।
५. मस्तक रेख, जन्ममासादि निर्णय।
६. अन्तः करण एवं आयु रेखा।
७. भाग रेखा।
८. सूर्यरेखा।
९. स्वास्थ्य रेखा।
१०. क्षुद्र रेखायें-पत्नी आदि का विचार तथा विभिन्न योग।
११. वर्ष, मास, दिन आदि का शुभाशुभ।
१२. ग्रहपर्वत एवं चिन्ह।
१३. व्यवसाय निर्धारण एवं वृत्तियोग।
१४. रोग एवं कष्ट।
१५. सर्वाङ्शरीरलक्षण।

यह ग्रन्थ भारतीय तथा पाश्चात्य सर्वाङ्ग शरीर लक्षण शास्त्र के अनुशीलन पर आधारित है। प्रयुक्त ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार-

१. बृहत्संहिता २. समुद्र प्रोक्त सामुद्रिक शास्त्र ३. रामायण ४. श्रीसूर्य ५. महाभारत ६. पराशर ७. व्यास ८. सामुद्रिकतिलक ९. सामुद्रिकचिन्तामणि-(सम्प्रति अनुपलब्ध ग्रन्थ) १०. कात्यायन ११. छागलेय १२. हस्तसंजीवनी १३. गर्ग १४. विवेकविलास-(सामुद्रिक ग्रन्थ) १९. शैव सामुद्रिक २०. भोजसामुद्रिक-ये प्राचीन ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार इस ग्रन्थ में आये हैं।

सामुद्रक के मुख्य अंगविभाग

सामुद्रिकशास्त्र सर्वाङ्ग शरीर लक्षण को व्यक्त करता है। मनुष्य के शरीर में आठ मुख्य अंग तथा शेष उपाङ् होते हैं। मस्तक आदि ऊरु, जठर, उरस्थल, दोनों हाथ, दोनों पैर, तथा पीठ, ये आठ मुख्य अंग हैं। अन्य अंग छोटे होनें से उपाङ्ग होते हैं। पूर्वजन्म के प्रभाव से इस जन्म में स्वभावतः मानव शरीर में शुभ तथा अशुभ लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतः सर्वाङ्ग शरीर लक्षणों को परीक्षित कर शुभाशुभ प्रभाव निर्धारित करना चाहिए। शरीरस्थ विभिन्न लक्षणों के परीक्षण दो प्रकार से करते हैं।

बाहरी लक्षण-शरीर की बाहरी बनाबट एवं लक्षणों की परीक्षा की जाती हैं। वर्ण, स्वर, शरीर की बनाबट, संरचना, आकृति, उन्मानादि बाह्य लक्षण हैं।

आन्तरिक लक्षण-प्रकृति सत्व एवं बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप एवं संरचना तथा गुणवत्ता आन्तरिक विभाग हैं। मन भी आन्तरिक तथा वाह्य भेद से दो खण्डों में विभाजित होने पर भी मानवीय प्रभाग हैं।

मनोविज्ञान तथा सामुद्रिक- सामुद्रिकशास्त्र में मनोविज्ञान मुख्य घटक है, जो इससे सम्वद्ध हैं। सामुद्रिकशास्त्र में वाह्यशरीर हीं मुख्य है। शरीराश्रय से हीं अन्य अवयव तथा तत्व भी सम्वद्ध हैं। समस्त लक्षण शरीर के हीं होते हैं। मन सभी इन्द्रियों का नियन्त्रक होनें से मुख्य है। इन्द्रियों से मन तथा मन से इन्द्रियां प्रभावित होती हैं। अतः शरीर तथा मन दोनों की जानकारी एक दूसरे के पूरक हैं।

सामुद्रिक के परीक्षण विधान- वराह के मत से सामुद्रिक के अन्तर्गत १४ प्रकार से परीक्षण कर विभिन्न शुभाशुभ निर्धारण करनें के संकेत मिलते है। दुर्लभराज प्रणीत सामुद्रक तिलक में भी आठ प्रकार से परीक्षण करनें के संकेत हैं। विभिन्न संकेतों एवं उनके प्रदत्त सूत्रों से सामान्य लोग सही-सही आकलन तव तक नहीं कर सकते जब तक इसके हर आयाम के परीक्षण निष्कर्ष सूची वद्ध कर प्रयोग नहीं कर लेते।

शरीरावर्त्तगतिच्छाया स्वरवर्णगन्धसत्वानि।
इत्यष्टविधं हयवत् पुरुषस्त्रीलक्षणं भवति।

१. शरीर, २. आवर्त्त, ३. गति, ४. छाया-क्रान्ति एवं दीप्ति, ५. स्वर-वाणी, अक्षर एवं व्यञ्जनादि वर्ण ६. वर्ण-रंग रूप एवं गुणवतता, ७. गन्ध-शरीर का गन्ध, ८. सत्व अन्तः सत्व, दृढता, एवं शरीरस्थशक्ति एवं पराक्रम की दिशा। ये मानवीय पुंस्त्री भेदों के परीक्षण के प्रकार भेद हैं।

नखशिखवर्णन- काव्य हो या सामुद्रिक देव लक्षण शिख नख विचारित होते हैं, वहीं मानवीय पुरुष तथा स्त्री लक्षण नख से शिखा तक विचार कर मानवीय क्षमता, उसकी विकास की दिशा, उसके जीवन में घटनें वाली शुभ या अशुभ घटनाएँ शरीरस्थ विभिन्न लक्षणों के आधार पर निर्धारित करनें की अद्वितीय विद्या का नाम सामुद्रिकशास्त्र है। सिर मूल है, तो पाद शाखा। गीतोक्त ऊर्ध्वमूलमधः शाखा के अनुरूप मानव शरीर भी विश्वबृक्ष या कल्पबृक्ष की तरह ऊर्ध्वमूल तथा अधःशाखा वाला हैं। अतः शाखा से मूल की ओर बोधविधान की दृष्टि से पहले नख शिख वर्णन पुंस्त्री भेद से करते हैं।

परीक्षणक्रम- पहले पैर के सभी खण्डों का परीक्षण करना चहिए। जैसे-पादतल, पादतलस्थ रेखाएँ, अँगुष्ठ, अँगुलियाँ, अँगुलियों के नखों की संरचना, पैर का पृष्ठ अर्थात् उपरीभाग, टखना, एवं एड़ी, पिंड़ली जाँघ, तथा रोम कूप। इनके परीक्षण शरीरिक क्षमता निर्धारण एवं गति परीक्षण के लिए प्रथमतः करना चाहिये।

ऊरु-दोनों जाँघे, कमर की गोलाई एवं आयतन, दोनों कुक्षियाँ, पायु, गुदा, अण्डकोश, शिश्न, शिश्नमणि, धातु एवं वीर्य, मूत्र, रक्त, बस्ति-पेडू, आदि आरोग्य तथा प्रजनन क्षमता के साथ मानवीय कामशक्ति, तथा कार्यक्षमता के बोध में उपयोगी हैं। द्वितीयक्रम में नाभि-टूंड़ी, कुक्षि-कोख, पेट का आकार प्रकार एवं सलवट, हृदय, उर-कलेजा, कुच आदि परीक्षित किये जाते हैं।

पुरुषलक्षण-अंगोपाङ्ग लक्षण

१. पादतल- पसीना रहित, मांसयुक्त, गरम, चिकना, लालवर्ण, कमल के उदर के समान क्रान्ति पुष्ट, एक बराबर, पैर का तलबा हो, तो राजा या उसके जैसा सामर्थ्यशाली होता हैं जो पाँव से अधिक चले, उसका पाद तल यदि सुकोमल हो, तथा उसमें यदि ऊर्ध्वरेखा हो तो, सम्पूर्ण पृथ्वी का अधिपति या सम्प्रभुता सम्पन्न, ख्यात व्यक्ति होता है। यदि पाद तल कटा फटा, गंदा कठोर एवं रुक्ष हो तो कुल नाशक, पकी हुई मिट्टी जैसा रंग हो तो द्विजहत्या करनें बाला होता है। यदि पीतवर्ण के हों तो अगम्या गमनकर्त्ता होता है। यदि काले हों तो मदीरापीनें में अपनी आयु को समाप्त करता है। यदि पाण्डुवर्ण हो तो अभक्ष्य पदार्थ को खानें वाला, छोटा तथा हल्का पैर हो तो दरिद्री, रेखाहीन, कठिन, रुक्ष, कटा, खुरदरा, तथा फटे पाद तल से व्यक्ति दुखी होता है। जिस पुरुष का पादतल बीच में खाली हो, वह स्त्री के कारण मृत्यु को प्राप्त होता है। यदि पादतल में मांस नहीं हो तो मांसरहित, सूखा तथा पतले पादतल से रोगी, यदि खुरदरा हो तो चलनें में दूत के रूप में समय वीतता हैं।

२. पादतल तथा हाथ की हथेली के चिन्ह-इनमें सुन्दररेखाओं के साथ-साथ शंख, छत्र, अंकुश, चन्द्रमा, ध्वज, आदि शुभचिन्ह हों तथा रेखाएँ गहरी पतली तथा सुन्दर हों वह पूर्ण भाग्यशाली होता है। जिसके हाथ एवं पैर के तल में शंखादि चिन्ह तथा रेखाएँ मध्यभेद सहित परिपूर्ण हों, वैसे पुरुष प्रारम्भ से सुखभोक्ता होते हैं। गोधा, भैंस, गीदड़, चूहा, कौआ, कंकपक्षी, के चिन्ह हों तो वे दारिद्र्य से ग्रस्त होते हैं।

३. (१) अंगुष्ठ तथा अंगुलियाँ- जिसके अँगुष्ठ वृत्ताकार, चिकना, सर्प के फण के आकार का, ऊँचा, मांसयुक्त, एवं शुभ चिन्हों से युक्त हो तो शुभप्रद होता है। जिसके अंगुष्ठ में शिराएँ दीखें, छोटा एवं पतला, ह्रस्व अंगुष्ठ, चिपटा, चक्र से रहित, एवं चौड़ा हो तो अशुभ प्रदान करता हैं।

(२) अंगुलियाँ- यदि चिकनी, गोल, कोमल, घनी, कमल के आकार की, एवं सीधी तथा सरल हों तथा खुरदरी एवं सूखी न हों तो, वह धनाढ़य तथा सुखी होता है। ऐसे हाथ की अंगुलियों से युक्त के घर में हाथी आदि की बहुलता होती थी। आजके समय में गाड़ी एवं वाहनों की बहुलता कहें।

ञ (३) पैर की अंगुलियाँ के अशुभ भेद- यदि अंगुलियाँ चिपटी, सुखी, छौटी, टेढ़ी, हल्की, नसों से युक्त, हो तो दास बनकर उसे जीना पड़ता है। जिसके पैर की अंगुलियों में अंगुष्ठ के पास की अंगुली तर्जनी अंगूठे से बड़े हो, वह बुद्धिमान तथा व्यभिचारी होता हैं। यदि तर्जनी अंगुष्ट से छोटी हो तो पहले अशुभ, फिर पत्नी की मृत्यु या कलह से कष्ट पाता है। यदि पैर की मध्यमा अंगुली बड़ी तथा लम्बी हो, तथा आयताकार भी हो तो, कार्यनाशक तथा छोटा होनें पर दुख देता है। यदि मध यमा तर्जनी या अनामिका से सटी हो, तथा तर्जनी या अनामिका के वरावर हो तो पुत्रों की संख्या कम एवं जो पुत्र होते हैं, उनकी भी अल्प आयु होती है। यदि अनामिका मध्यमा से बड़ी हो तो बुद्धिमान तथा छोटी हो तो अल्पवुद्धि तथा वहुतछोटी हो तो, स्त्री वियोगी होता हैं। जिस पुरुष की कनिष्टा अंगुली बड़ी हो वह धनाढ्य तथा सुवर्ण से युक्त होता है। यदि वहुत छोटी हो तो परदार रत होता हैं। जिसकी तर्जनी से कनिष्ठा अंगुली मोटी हो, उसकी माता वाल्यकाल में हीं मृत्यु को प्राप्त होती हैं।

४. नखविचार- निर्मल मूँगे के रंग के चिकनें, कछुआ के पीठ के समान ऊँचे चमकदार, दर्पणाकार, पतले, नख सुखप्रद होते हैं। पैर एवं हाथ के नखों की संरचना से ये प्रभाव सम्बद्ध हैं। मोटे फटे हुए, सूप के आकार के लम्बे, काले, श्रेत, दीप्ति तथा कान्ति रहित नखवाले दरिद्र होते हैं।

५. गुल्फ-टखनें- मांस में दबे हुए, कमल की कली के समान हो शिथिल, गुलगुले हो तो नित्य अर्थागम, और सुअर के रोम जैसे रोम से युक्त तथा खरदरे हो तो, कारागार और प्रशासनिक दण्ड के भागी होते हैं। मार खाना इनकी फितरत में होती है। यदि टखनें भैंस के आकार की, चिपटे, हों तो दुख प्राप्त होता है। यदि टखनें रोम रहित हो तो सन्तान हीन बनाता है। पैर के टखनें कन्द के तुल्य नरम तथा गोलाकार हो, वह धन, स्त्री एवं पुत्र सुख से युक्त तथा ऐश्वर्यशाली होता हैं।

६. पार्ष्णि-एड़ीयाँ- एड़ी यदि बराबर हो तो सुखी, बड़ी हो तो दीर्घायु, छोटी हो तो अल्पायु, ऊँची हो तो सदा विजयी होता है। विपरीत से विपरीत फल जानें।

७. जाँघ-दोनों जाँघे- यदि पिंड़ली की नली मांस में घुसी हो और हिरण के जंघे के समान हो तो पुरुष धनवान् होता है। जिसकी पिंड़ली में दूर-दूर पर नरम रोम हो, तथा क्रम से वर्त्तुल हो तव भी पुरुष धनवान् होता है। सिंह, मछली तथा व्याघ्र के समान जंघे से युक्त (पिंड़ली) हो तो मनुष्य धनवान होता है। भालू के समान जंघे तथा पिंड़ली होनें से वध, बन्धन, मरण, और दारिद्र्य आदि को प्राप्त होता है। मोटी, लम्बी, बंधी हुयी पिंड़ली वाले यात्री होते है। कुत्ता, गीदड़, ऊँट, गधा, कौवा, आदि की तरह यदि पिड़ली हो तो अशुभ एवं कष्टप्रद होता हैं।

८. रोम एवं रोमगुच्छ-रोम युक्त पुरुष भाग्यवान् होता है। बहुत रोम युक्त पुरुष पण्डित होता हैं गुच्छाकार रोम बाले पुरुष धनी होते हैं। एक रोम कूप बाले राजा या उसके जैसे होते हैं। दो रोमबाले रोमकूप से मानव वेदपाठी, धार्मिक, धनवान, तथा विद्वान् होते हैं। एक रोम कूप में तीन रोम हों तो श्रमिक तथा अधिक रोम से महादरिद्र होता है। रोम रहित पुरुष सन्यासी तथा वैरांगी होता हैं। मोटे, रूखे, खरदरे रोमवाले नीच होते हैं। भूरे रोम से पापी तथा धूर्त्त होते हैं। रोम के अग्रभाग फूटे तथा फटे हों तो दरिद्र होते हैं। देशभेद से रोम के स्वरूप में भेद तथा पृथ्वी के दोनों गोलार्ध में अतिशीत प्रदेश में शरीर प्रायः रोम रहित होते हैं। प्रभाव की दृष्टि से रोमहीन मानव या तो सर्व त्यागी होता है, या महापापी। वंशभेद से उष्णप्रदेश में भी रोम रहित लोग देखे जाते हैं।

६. जानु-हाथी के समान जानु बाले भोगी, मोटी जानु से राजा या उसके जैसा, गूढ़, अदृष्ट जानुसन्धि बाले शतायु होते हैं। गहरे एवं नीचे जानु से स्त्री के वश में रहनें बाला, गोल तथा मोटे जानु से राजा एवं प्रशासक, लम्वे तथा बड़ी जानु से दीर्घायु तथा छोटीजानु से सुन्दर रूपवान् तथा मध्यायु होता है। मांस रहित जानु, सुखी तथा पतली होनें पर परदेश में निधन, घट के समान जानु से दारिद्र, ताल फल के समान जानु से मानव दुःखी होता है। बलहीन जानु से वध एवं बन्धन का भागी होता है। विषमजानु (छोटी-बड़ी ऊँची-नीची) से धन एवं कर्मठता से हीन होता हैं।

१०. ऊरु-जंघा-जिसकी जाँघे मांसल, केले के समान चिकनें, नरम, तथा छोटे-छोटे नरमबालों से युक्त पुरुष राजा या उसके समान होते हैं। चिकने नरम, क्रम से मोटे, जाँघ बाले धनाढय होते हैं। यदि जाँघें चौड़ी हो तो स्त्री को प्रिय, रानें यदि मिली हुई हो तो गुणी, यदि जाँघे आगे से मोटी तथा बीच में झूकी हो तो चरदूत के रूप में मार्ग का अतिक्रमण करनें बाला, कड़ी, चिपटी, चौड़ी, मांस रहित जाँघें होनें पर कुरूप, एवं स्त्रियों को अप्रिय, तथा व्यसनी एवं कुरूप होता हैं।

हथेली में मत्स्यचिह्न एवं अन्य रेखाएँ-हथेली के भीतर बीच में दो पूर्ण मत्स्य (एक के मुख में दूसरे का पुच्छ, द्वितीय के मुख में प्रथम का पुच्छ) हो तो पूर्णधन योग होने पर भी दाता नहीं होता। हथेली के नीचले भाग में खुले मत्स्य हों तो धनी के साथ दाता भी होता है। पूर्णरेखा, खण्डित नहीं हो गम्भीर भी हो तथा, लाल कमल के पत्ते के समान कोमल भी हो, तथा भीतर से गोल तथा चिकनी भी हो, तो इस प्रकार की हथेली श्रेष्ट लोगों की होती हैं। मधु के समान वर्ण की रेखा यदि पूर्ण तथा अखण्डित हो तो तो आजीवन सुखी बनाता है। लाल रंग की गम्भीर रेखा से दानी, पतली सूक्ष्मरेखाओं से बुद्धिमान्, पुरी लम्वी, अखण्डित, चिकनी रेखा से (जो मूल से अन्त तक हो), मानव सौभाग्यशाली सुन्दर तथा रूप रूपवान होता है। फैली, टूटी, ऊँची, नीची, रुक्ष, खुरदरी, फटी हुई, रूखी तथा

विखरी हुई छिछली, वीभत्स, बुरे रंग की, हरी, नीली, श्याम तथा काली रेखाएँ अशुभ प्रभाव दिखाती है। पत्ते युक्त, शाखा के समान फैली रेखाएँ दुख एवं कष्ट देती हैं। फटी रेखा से जीवन नाश का खतरा बढ़ जाता है। यदि आयु, जीवन, एवं मातृ-रेखा फटी हो तब तो निःसन्देह जीवन नाश का खतरा बढ़ जाता है। ऊँची नीची रेखा से धन का नाश, रुक्ष रेखा से कुत्सित भोजन करने वाला होता है। हथेली के मूलभाग से निकल कर अंगुष्ठ तथा तर्जनी के मध्य में समाप्त होने वाली रेखा को जीवन, पितृ, गोत्र तथा द्रव्य रेखा कहते हैं। यदि यह रेखा खण्डित छिछली एवं विवर्ण हो तो क्रम से अल्पसन्तान, अल्पजीवन, तथा अल्पधन होता है। यदि यह रेखा लम्बी चिकनी, गहरी, फटी, टूटी, एवं रुक्ष नहीं हो तो ये तीनों पूर्ण होते हैं। आयु, मातृ तथा पितृ रेखा में काला विन्दु यदि दो हाथ में हो तो उस आयु में असाध्य रोग से मरण होना निश्चित जानें। कमलपुष्प का चिह्न सौभाग्यप्रद होता है।

मणिबन्ध के उपर-से तर्जनी मूल तक जानें वाली रेखा यदि अखण्डित, चिकनी तथा सुन्दर हो तो मानव का बन्धु-वान्धव एवं भाईयों की संख्या पर्याप्त होती है। यदि प्रदर्शिनी मूल से तदनुरोध से वंशादि का क्षय भी जानना चाहिये। यदि कनिष्ठा मूल से निकली रेखा अर्थात् मध्यमा अंगुली को पार कर जाए तो मानव शतायु होता है। यह रेखा प्रायः कनिष्ठा अंगुली के मूल से निकल कर मध्यमा मूल को लांघ जाए वा तर्जनी मूल तक पहुँच जाए तब भी इससे आयु निर्धारण सुगमता के किया जाता है। आयुरेखा जितने स्थानों पर खण्डित तथा क्षीण हो मानव उतनी अपमृत्यु का कष्ट भोगता है। कनिष्ठा से तर्जनी तक एक अंगुली से २५ वर्ष आयु का प्रमाण इस युग में होता है। जो रेखा पहुँचा से अंगुष्ट तथा तर्जनी के बीच में जाए, तो मानव बुद्धिमान्, धनधान्य से युक्त, तथा चतुर एवं व्यवहारिक होता है।

जीवनरेखा-जीवन या पितृरेखा-तर्जनी तथा अंगुष्ट के मध्य से निकलकर अंगुष्ठमूल तक जाए, तो मानव राजा या उसके बराबर सामर्थ्यशाली होता है। यदि यही रेखा तर्जनी तक भी जाए तो, राजाओं के राजा अथवा महामन्त्री होता है।

भाग्यरेखा-मणिबन्ध से निकल कर तर्जनी तक, या मध्यमा तक जानें वाली रेखा को भाग्यरेखा या पुण्यरेखा कहते हैं। यदि यही भाग्यरेखा मणिबन्ध से मध्यमा तक जाए तो, राजा अथवा मन्त्री, अथवा सेनापति होता है। इसे ऊर्ध्वरेखा भी कहते हैं। इस रेखा के अविच्छिन्न होनें से मानव आचार्य तथा परम सौभाग्यशाली होता है। यही ऊर्ध्व रेखा यदि टूटी फूटी न हो, तथा लम्बी, चौड़ी, बड़ी, हो लेकिन शाखायुक्त न हो, तो मानव सहस्त्र लोगों का पालन कर्त्ता बनता हैं।

ऊर्ध्वरेखा या भाग्य रेखा-यदि यह अविछिन्न हो तो ब्राह्मण के लिए वेदज्ञता, क्षत्रिय के लिए साम्राज्य, वैश्य के लिए ऐश्वर्य, तथा शूद्रवर्ण के लिए सुखप्रदायक होता है। यहाँ

वर्ण प्रतीक है। यदि भाग्यरेखा मणिवन्ध से निकलकर अनामिका अंगुली तक जाए अथवा भाग्यरेखा से अतिरिक्त अन्य रेखा जिसे धन रेखा भी कहते हैं, यदि वह अनामिका मूल तक जाए तो मानव ऊच्चस्तरीय व्यापारी तथा राजमान्य होता है। यदि यही ऊर्ध्वरेखा कनिष्टा तक जाए तो धनधान्य सुवर्ण एवं यश से युक्त सर्व प्रिय तथा राजमान्य होता है। यदि धनरेखा पर काकपद जैसा कोई चिन्ह हो तो अर्जित धन का शीघ्र व्यय होजाता है।

मणिबन्ध की तीनों रेखाएँ- यदि मणिवन्ध में तीन यवमाला हो तथा अखण्डित एवं स्निग्ध हो तो राजा या तत् सदृश अद्वितीय धनाधिपति हो। यदि दोहरी सुन्दर यवमाला हो तब भी राजपुरुष, मन्त्री तथा अद्वितीय बुद्धिमान तथा चतुर बनाता है। एक यवमाला यदि सुन्दर तथा अखण्डित हो तब भी सेठ तथा धन से पूजित होता है। अर्थात् मणिबन्ध परिवेष्टित हो, तब भी उपर्युक्त प्रभाव जानें। हाथ के रिष्ट को आवेष्टित करती है। यह योग पूर्वोक्त योग से उत्तम तथा प्रभावशाली होता है। यदि जौमाला पूर्ण हो तो पुरी सम्पदा मिलती हैं। यदि आधी हो तो तो मध्यमसम्पत्ति तथा यदि छोटी हो तो अल्प सम्पदा मिलती हैं।

भाग्यादि रेखायें-यदि ऊर्ध्वरेखा तथा तर्जनी आदि के मूल-जड़ तक जाए तो मानव धार्मिक तथा धर्म से धनी बनता है। यदि रेखा प्रशाखा युक्त होकर सभी अंगुलियों के मूल तक जाए तथा यव चिन्ह से युक्त हो तो सम्राट वा सर्वपूज्य ज्ञानी होता हैं।

ललना रेखाएँ-कनिष्ठा मूल तथा आयुरेखा के मध्य-जितनी रेखाएँ हों उतनी पत्नियाँ होती हैं। स्त्री के हाथ में इसी प्रकार की रेखाएँ होनें पर जितनी रेखाएँ हो उतने पुरुष की संख्या जानें। यदि ये रेखाएँ विषम हों अर्थात् कहीं मोटी कहीं पतली हो तो विषम स्त्री तथा बड़ी बराबर रेखा से अच्छी स्त्री मिलती है। यदि पतली, छोटी तथा फटी रेखा हो तो कुचालनी स्त्री मिलती हैं।

पुत्र तथा पुत्रियों की रेखाएँ-अंगुष्ठ के मूल में जितनी मोटी तथा एकमुखी रेखाएँ हों उतने पुत्र तथा पतली द्विमुखी रेखाओं से पुत्री की संख्या जानें। खण्डित से मृतवत्सा या नुकसान कहना चाहिये। इसी प्रकार कनिष्ठा मूल में खड़ी रेखाओं से भी पुत्र तथा पुत्री का ज्ञान होता हैं।

भाई एवं बहन की रेखाएँ-आयुरेखा तथा मणिवन्धमूल के ऊपर पार्श्व में जितनी एकमुखी रेखाएँ होती है, वे मोटी रेखाएँ भाई की तथा पतली द्विमुखी रेखाएँ बहन की संख्या बताती हैं। अखण्डित मोटीरेखा भाई की पतली द्विमुखी रेखा वहन की परिचायिका होती हैं।

आयुरेखा-या हृदयरेखा-आयुरेखा जितनें स्थान पर टूटी फूटी तथा खण्डित हो उतनी बार अपमृत्यु तथा अखण्डित पूर्ण तथा स्निग्ध हो तो पूर्ण आयु अन्यत्र तारतम्य से निर्धारण करना चाहिये। तर्जनी मूल तक १०० मध्यमा तक ७५ अनामिका के अन्त तक ५० वर्ष प्रमाण से जीवन जानना चाहिये। सात्विक में १०० को १२० तथा कुसंयमी एवं

व्यसनी के लिए १०० की जगह ७५ जानें। भारत में अखण्ड़योग से समाधिस्थ होकर निर्धारित आयुभोग को परिवर्तित करने की विद्या हाल-हाल तक प्रचलित थी। ज्योतिष में १२० वर्षों से २४० तक तथा अनेक युगायु एवं अमितायु के भी प्रमाण मिलते हैं। अतःतारतम्य से विभिन्न अरिष्ट एवं मारकादि बोधक चिन्हों का विमर्श कर सभी निर्धारण कर्त्तव्य है।

हस्ततल में अवस्थित विभिन्न चिन्ह-हाथ में किसी भी रेखा पर यव उत्तम फलद, मत्स्य शंख, कमलपुष्प, आदि अगर भीतर मुख किये हों तो सदा शुभ फलद, यदि बाहर मुख किये हों तो उत्तरार्ध में फलप्रद होता हैं। मत्स्य चिन्ह से कोटी पति, कमल से अर्बुदपति जानें। कमल आदि के प्रमाण एवं निर्दुष्टता के तारतम्य से निर्धारण करें। यदि ये चिन्ह टूटे तथा खण्डित हों तो फल का अभाव कहना चाहिये। इस प्रकार के चिन्ह सभी महापुरुष, राजा महाराजा के हाथ में भी नहीं होते तो सामान्य जन की गणना क्या ? रथ, पालकी, हाथी, घोड़े, बैल आदि की रेखाओं से भी उत्तमफल तथा राजयोग बनते हैं।

१. **ग्रहपर्वत एवं विभिन्न चिन्ह**-यदि सभी ग्रहपर्वत ऊँचें हो तो उत्तमोत्तम, कुछ ऊँचें हों तो उत्तम, यदि ग्रहपर्वत मध्यम हो तो मध्यम, तथा यदि दबे हों तो न्यूनफल जानें। सारे ग्रहपर्वत ऊँचे हो सम्राट या महाज्ञानी, व ३ से अधिक ग्रहपर्वत ऊँचें हो, तब राजा या राजपुरुष होता है। यदि करतल में चन्द्रमा, नाव, भेड़ा, वा कोई पूर्णपात्र हो तो मन्त्री, बड़ा व्यापारी, तथा जलयान के प्रयोग से अकूत धन कमानें वाला होता है। रत्न से इस प्रकार के व्यक्ति का घर भरा रहता है। श्रीवत्स चिन्ह से सुखी, एक या १० चक्र से राजा, तथा ऐश्वर्यशाली, वज्ररेखा से सर्वोत्तम ऐश्वर्य, तथा मत्स्यपुच्छ रेखा से परम बुद्धिमान होता है। त्रिकोण जिस किसी भी रेखा पर हो वह उसके उत्तमप्रभाव को बढ़ाता हैं। हाथ में त्रिकोणरेखा से कूप तलाब, बावड़ी आदि बनानें वाला तथा धार्मिक होता हैं। हल की रेखा से कृषक, ओखल के चिन्ह से यज्ञकर्त्ता एवं धनवान् होता हैं। तलवान, अंकुश एवं धनुषबाण से दिग्विजयी राजा या सेनापति होता है। यह मुख्यरूप से विजय योग हैं। मन्दिर रेखा तथा माला रेखा से धनवान् कमण्डल, कलश तथा ध्वजा रेखा से नवनिधि का नायक होता है। दण्ड, छत्र, दो चामर, हो तो राजा या तत् तुल्य होता है। यज्ञस्तम्भ रेखा हो तो विश्वपति या अग्निहोत्री होता है। यदि ब्राह्मण के हाथ में इस प्रकार की रेखा हो तो तब वह यज्ञपति होता हैं। ब्रह्मतीर्थ के आकार की रेखा हो तब भी विश्वपति या यज्ञपति होता हैं।

२. **अंगुष्ठ के चिन्ह**-अंगुष्ठ के मूल के पोर में जौ का चिन्ह हो तो शास्त्रज्ञ तथा पुत्रवान् होता हैं। यदि अंगुष्ठ के मूल में यवचिन्ह हो तो अतिसौभाग्यवान् एवं पालक बनाता है। यदि यही चिन्ह मध्यपोर में हो तो धनाढ्य तथा भोगी बनाता है। यदि

सदण्ड छत्र हो तथा दो चामर विद्यमान हों तो आसमुद्र पृथ्वी का भोक्ता बनता है। अंगुष्ठ के मूल में यवमाला हो तौ महामन्त्री तथा राजपूज्य होता है। यदि जौमाला द्विगुणित हो तो राजपूज्य होता है। एक जौमाला से धनाढय होता है। अंगुष्ठ के नीचे काक के समान आकृति हो तो उत्तर अवस्था में शूल से मृत्यु होती है। अंगुष्ठमूल में नेत्राकृति से भविष्यद्रष्टा होता हैं।

३. **समस्त रेखाओं के शुभाशुभ लक्षण**-यदि रेखा स्वच्छ नहीं हो, खण्डित तथा पतली हो तो दरिद्रयोग एवं असौभाग्य बढ़ाता है। शुभरेखा से शुभ तथा अशुभरेखा से अशुभफल होता है। अशुभचिन्ह से अशुभ तथा शुभचिन्ह से शुभप्रभाव जानना चाहिये।

४. **अंगुष्ठ आदि के प्रभाव**-सीधा सुन्दर एवं दृढ अंगुष्ठ, ऊँचा गोल एवं दाहिनी ओर झुके धनवानों के होते हैं। इसका कठिन दृढ तथा पर्वों का बराबर होना भी जरूरी होता है। हाथ की सभी अंगुलियाँ यदि सटी (मिली) हों तो व्यक्ति बुद्धिमान होता हैं। यदि लम्बी हो तो दीर्घायु बड़े पोर से भाग्यवान्, विरल, टेढ़ी तथा सुखी अंगुलियों से धनहीन होता है। मोटी अंगुली से धनहीन, बाहर झुकी अंगुलियो से शस्त्रजीवी, तथा छोटी, पतली, एवं चिपटी अंगुली बाले दास होते हैं। जिसकी अंगुष्ठ या अन्य अंगुलियों में संख्या बढ़ती घटती रहे तो छः संख्यक अंगुलियों से मानव धनहीन, तथा आयु से भी हीन होता है, अर्थात् पूर्ण आयु का भोग नहीं कर पाता। यदि कनिष्ठा में छिद्र हो तो बुढ़ापा सुखमय, अनामिका में छिद्र हो तो युवावस्था मध्यमा तथा प्रदेशिनी (तर्जनी) में छिद्र हो तो बाल्यकाल में जीवन सुखमय होता हैं। अर्थात् अंगुलियों को परस्पर सटानें पर यदि दो-दो अंगुलियों के बीच में स्वाभाविक छिद्र हो, तभी उपर्युक्त फल कहना चाहिये। कुछ अन्यग्रन्थों में इसके विपरीत विधान भी मिलते हैं। अर्थात् यदि दो-दो अंगुलियों को सटानें पर छिद्र नहीं हो तभी कनिष्ठा अनामिका से बुढापा, अनामिका मध्यमा से जवानी, तथा मध्यमा एवं तर्जनी के सटाने पर छिद्र नहीं रहनें पर बाल्यकाल सुखमय होना कहना चाहिये।

५. **नखों के शुभाशुभ लक्षण**-यदि नख मूंगे के रंग के चिकने कछुए के पीठ के समान चारों ओर से ढ़ाल युक्त चमकदार तथा प्रथमपर्व के आधेभाग में फैला हो तो, मानव या तत् सदृश होता हैं। बहुत लम्बे, टेढ़े, रूखे, सफेद धब्बे से युक्त, शिखा विहीन, चमक से रहित, स्वच्छता से हीन हो तो दरिद्र तथा रोगी होता है। छोटे पुष्पयुत नख से दुःशील, अर्थात् कुटिल, सफेद से भिखारी, तुष (भूसा) के समान होनें पर नपुंसक, विवर्ण से कुतर्की, चिपटे टूटे फूटे नख से धनहीन तथा रोगी होते हैं। दाहिनें या बाम हस्त तथा पैर के नखों में सफेद बिन्दु सुन्दरभविष्य के संकेत करने वाले होते हैं।

शरीर के अन्य प्रमुख लक्षण

१. **संहति-अंग संधि**-अंगों की जोड़- मांस, स्नायु, अस्थि, आदि के सन्धिबन्ध को संहति कहते हैं। सप्तधातुओं की संधि भी संहति हैं। अंग प्रत्यंग के जोड़ को भी संहति कहते हैं। यदि ये जोड़ सुन्दर तथा सुदृढ हो तो उत्तम तथा ढीले अंग संधि से न्यूनफल होता है। यदि मांस तथा अस्थि का सन्धिबन्ध दृढ हो तो दीर्घायु ढीले होनें पर मध्यायु तथा वहुत ढीले होनें पर अल्पायु होता है। दृढ़ संहति नहीं हो, तथा रुक्ष, क्रान्ति विहीन, मांसरहित, वड़ी नसों से युक्त शरीर, ढीला अँगबन्ध तथा मोटी-मोटी हड्डी हो तो पुरुष दुःखभागी होता हैं।

२. **सार-सप्तसार चर्मादि**-मानव शरीर में सात सार होते हैं। १. चर्म, २. रक्त, ३. मांस, ४. चर्बी, ५. मज्जा, ६. अस्थि, तथा ७. वीर्य,। ये सात सार हैं। भोजन से रसादि वीर्यान्त सप्तसार शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजर कर बनते हैं। आयुर्विज्ञान में इनकें विधिवत् वर्णन हैं। ज्योतिष में भी ग्रहाधिपत्य के आधार पर सूर्य से अस्थि तथा शुक्र से वीर्य का सम्बन्ध जोड़ा गया है। इस विषय की अधिक समीक्षा उन विषयों के आधार पर करनी चाहिये।

ञ (१) **त्वचा-चमड़ा**- चिकनी खालबाले बुद्धिमान्, पतली खालवाले खोटीबुद्धि के नरमखालबाले सुन्दर मृदुत्वचा बाले सौभाग्यशाली, मोटी त्वचाबाले मोटी बुद्धि के तथा रुक्ष त्वचा बाले दुःखी होते हैं। पतली, चिकनी क्रान्ति युक्त त्वचा से व्यक्ति धनवान् तथा बुद्धिमान होता है। इसके आधार पर त्वचा की दीप्ति तथा कोमलता से आयु का भी ज्ञान होता हैं।

(२) **रक्तसार-रक्तप्रधान सत्व**- जीव, होठ, मसूढ़े, हाथ, पांव, गुदा, तालु, तथा नेत्रों के अन्तभाग यदि लाल वर्ण के हों तो मानव रक्तसार होते हैं। रक्तसार धन, सन्तान, स्त्री आदि से सुखी तथा देखनें में सुन्दर होते हैं।

(३) **मांससार-मांसप्रधान सत्व**-सघन मांस तथा जब चाहें मांस का वह खण्ड दृढ हो जाये, उसे मांससार कहते हैं। मांस सार सभी प्रकार से विद्या धन रूप तथा सभी प्रकार के भोगों को पाता है। मांस प्रधान शरीर को मांस सार कहते हैं।

(४) **मेदसार**-नख, दांत, तथा दृष्टि यदि चिकनी हो तो मेद सार मानव सुखी तथा पुत्रवान् होता है। शरीर की चिकनाहट से इसकी पहचान होती है।

(५) **अस्थिसार**-हड्डी प्रधान सत्व-मोटे एवं दृढ़ हड्डी का व्यक्ति अस्थिसार होता है। इस तरह का व्यक्ति बलवान् तथा विद्वान् होता है। विद्या एवं वीरता के संगम को **अस्थिसार कहते हैं**। अस्थिसार ओजप्रधान एवं पराक्रमी मानव अस्थिसार हैं।

(६) **मज्जासार-कठिन शुक्र** समूह से युक्त, बहुत वीर्यवान् चिकनी मज्जा एवं वहुत **बलवान् पुरुष मज्जा** सार होता है। यह धनपुत्र से संयुक्त तथा स्त्रीभोग में निपुण **एवं परमसंतुष्ट होता है।**

(७) **शुक्रसार**-वीर्यप्रधानसत्व-बहुत सुन्दर, वीर्यप्रधान, ओजयुक्त विद्या, सन्तान एवं सौभाग्य युक्त मानव होता हैं।

स्नेह-(शरीर की चिकनाहट)-शरीर की चिकनाहट स्नेह (तैलांश) के कारण होता है। यह सौन्दर्य का आधार है। सुख एवं सौभाग्य के निर्धारण में इस की महती भूमिका है। जीभ, दाँत, त्वचा, नेत्र, नख, और केश की चिकनाहट से स्नेह सार पुरुष होता है। चिकनी जिह्वा से सुन्दरभोजी तथा मधुरभाषी, चिकनें दांत से सुभोजी, चिकनी त्वचा से सुन्दरभोजी रमणशील तथा अतिसुखी, चिकने नेत्र से सर्वप्रिय विशेषतः स्त्रियों को प्यारा, तथा धनी, नखों की चिकनाहट से धनाढय, केश की चिकनाई से सर्वप्रिय तथा भोक्ता होता है। स्नेह सार व्यक्ति को उसकी चिकनाहट एवं चमक से पहचानना चाहिये। शरीर में तैलांश की अधिक मात्रा से इसकी पहचान होती है।

उन्मान-लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई तथा वजन- देशभेद, से कालभेद से तथा वंशभेद से ये चारों प्रमाण अलग-अलग होते हैं। युग भेद से भी ये तत्व परिवर्तित होते है। ढ़ाईभार का नरपति, १ भार का कोटिपति, तथा सपाद एकभार का मानव सभी प्रकार से सुखी होता हैं। चतुर्थाश भारयुक्त दुःखी तथा दरिद्र होता है। काष्ठ, मणि, वज्र, खनिजपदार्थ, तथा अन्य पदार्थ में जिस तरह चिकनाहट, रुक्षता एवं वजन एवं कठोरता होती है वैसे हीं मानव में भी चिकनाहट तथा वजन प्रमाण से उसके शुभ तथा अशुभ का निर्धारण करना चाहिये। एकभार का अर्थ आजकल ४० से ५० किलो तक समझना चाहिये। एक व्यक्ति की भारवाहक क्षमता पहले अधिक थी अतः युगभेद से भारवहन प्रमाण भी बदलता जाता है। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, एवं शरीर का सघनत्व भी युगभेद से बदलता हैं।

मान-प्रमाण-पाँव से लेकर शिर के बाल तक के मापप्रमाण को मान या प्रमाण कहते हैं। पुरुष भेद से १०८ अंगुल उत्तम, ९६ अंगुल मध्यम, तथा ८४ अंगुल की लम्बाई अधम है। अंग भेद से टकने की लम्बाई ४ अंगुल, पिंड़ली की २४ अंगुल, जानु की ४ अंगुल, उरु और जंघे की लम्बाई बराबर होती है। बस्ति की लम्बाई १२ अंगुल, नाभी सहित उदर की लम्बाई बस्ति का आधा, हृदयप्रदेश १२ अंगुल, गर्दन ४ अंगुल, मुखमण्डल ठोढ़ी से केश सहित १२ अंगुल की होती है। अंगुलियों के प्रमाण अपनी अंगुलियों के अनुसार जानना चाहिये। नाभी शरीर के मध्य में होता है। आजकल इंच तथा फीट से लम्बाई मापते हैं। एक अंगुल का २४ वाँ भाग व्यंगुल, २४ अंगुल का १ हाथ या १८ इंच प्रमाण से तुलना कर आज के हिसाब से इस प्रक्रिया को समझ सकते हैं। किसी किसी के मत में उत्तमपुरुष १०८ अंगुल, मध्यम १०० अंगुल, तथा अधम ९६ अंगुल प्रमाण का होना स्वीकारा है। उत्तम, मध्यम, तथा अधमभेद से १०८, ८०, तथा ६० वर्ष आयुप्रमाण मध्यम मान से समझना चाहिये। ६० वर्ष से कम अधम आयु प्रमाण है। लम्बाई के साथ अंगसन्धि दृढता तथा चिकनाहट आदि के अनुसार ही उत्तम, मध्यम तथा अधमभेद करना

चाहिये। समय तथा क्षेत्र के अनुमान से वंश तथा वातावरण के भेद से युग भेद से उत्तम भेद मध्यम, तथा अधमभेद मनुष्य के शुभाशुभ शरीरसर्वांग लक्षण तथा अंगुलियों के पोर के आधार पर निश्चय किया जाता हैं।

मान-वजन-जल से भरे कटाह में बैठने पर कटाह के चारो तरफ बाहर की ओर ३२ सेर प्रमाण से पानी निकलने को मान कहते हैं। मान युक्त शरीर से मानव दीर्घायु, तथा ऐश्वर्य युक्त होते हैं। इससे कम प्रमाण या अधिक प्रमाण में पानी निकले तो मानव कष्ट पाता है, शारीरिक क्षमता भी न्यूनाधिक होती है। कमलासन में बैटे पुरुष की जानु सहित समस्त माप को उस मान का परिणाह क्षेत्रांश) कहते हैं। अर्थात् बैठनें पर जितना आयतन घेरे वह मान परिणाह है। आसन से ललाट तक ऊर्ध्वमान को उच्छ्रय कहते हैं। यदि परिणाह तथा उच्छ्रय बराबर हो तो उत्तमपुरुष तथा न्यूनाधिक से न्यूनाधिक जाने। अंग उपांग के विस्तार आयाम, तथा परिधि भेद से विभिन्न रूपक शुभ तथा अशुभ प्रभाव निर्धारित करना चाहिये। मानवीय क्षमता निर्धारण में यह परमउपयोगी होता है। युग भेद से क्षमता भेद अलग अलग होते हैं अतः इस युग में फिर से इस विषय का प्रत्येक अंगभेद से मध्यक्रमसे निर्धारण अपेक्षित है। आज के परम तथा परमाल्प सर्वमानाभिप्राय से बोध के बिना मानव की लम्बाई तथा चौड़ाई आदि के भेद से अंगुली की चौड़ाई में भी अन्तर होना निश्रित है। अत; पूर्व कालखण्ड के मापतौल इस कालखण्ड में पुनः परीक्षित कर ही उपयोग में लाया जासकता हैं।

क्षेत्रकथन-१०० वर्ष तक मध्यप्रमाण से मानव जीता है। एक भाग में १० वर्ष होता हैं। अतः पाद तल से सिर के केश तक १० भाग करने पर एक भाग केलिए १० वर्ष प्रमाण आता हैं। टखने सहित पांव प्रथम, जानु तथा जंघा द्वितीय ऊरु,गुह्य, तथा मुष्क तृतीय, कटि तथा नाभि चतुर्थ, उदर पञ्चम, सकुर्च छाती षष्ठ, हंसली सहित कन्धे सप्तमक्षेत्र, हैं। गर्दन तथा ओठ आठवाँ क्षेत्र भौंह तथा नेत्र नवम ललाट तथा सिर दशम क्षेत्र है। मनुष्यों के भी क्षेत्रभेद से १० प्रकार के दशा भेद क्षेत्र के शुभ अशुभ भेद के अनुसार हीं तय किया गया जो आधान से जन्म काल तक निर्मित मूल प्रकृति भेद से शुभ तथा अशुभ प्राकृतिक चक्र से प्रभावित होते हैं। जन्म से निधनान्त अवस्था भेद से यथा १.....बाल्यावस्था २. बृद्धि (विकास की गति) ३. बल ४. बुद्धि, ५. त्वचा, ६. वीर्य, ७. पराक्रम, ८. चित्त, ६. कर्म. १०. इन्द्रिय, ये दशभेद हैं। अतः मानव शरीर के दश क्षेत्र अपने शुभत्व तथा अशुभत्व के अनुसार दश प्रकार के दशा क्रम से दश अवस्था भेद से गुजरते हुए निर्याण को प्राप्त करता हैं। ये सभी बृद्धि तथा ह्रास जन्य पाञ्चभौतिक परिणाम को भी दर्शाते हैं। शरीरस्थ क्षेत्र कई अर्थो में अति महत्वपूर्ण हैं। शरीर की भौतिक क्षमता का परिज्ञान शरीर से हीं किया जाना प्राचीन प्रमाण से भी सिद्ध हैं।

प्रकृति-पञ्चभूतात्मक प्रकृति-वा **त्रिगुणात्मक प्रकृति**-प्रकृति से पाञ्चभौतिक प्रकृति के साथ-साथ मानव, देवता राक्षस, प्रेत, चतुष्पद पशु, आदि के स्वभाव, स्वभाव जन्य प्रकृति के अन्तर्गत लिए जाते हैं।

(१) **पृथिवी**-सुगन्धित चन्दन या पुष्प के गन्ध से युक्त मुखमण्डल होने से पृथ्वी प्रकृति, का मानव भोगी प्रियवक्ता, बहुत जल पीने बाला रस प्रिय तथा सौम्य होता हैं।

(२) **अग्निप्रकृति**-इस प्रकृति के लोग अग्नि के समान ही दीप्त होते हैं। तेज तथा क्रोध इनकी पहचान है। चंचल, मीठा, तेज, तथा बहुत खानें बाला, अग्नि के समान तेज, तथा क्रोधी, अग्नि प्रकृति के पुरुष होते हैं। ये अधिक दीप्त होते हैं।

(३) **वातप्रकृति**-वातप्रकृति से चंचल, दुबला पतला, शीघ्रकोपी, एवं पवन प्रकृति होती हैं।

(४) **आकाशप्रकृति**-आकाश प्रकृति बाले ज्ञानी, पण्डित, अच्छी वाणी बोलने बाले, खुली आँखें सुशिक्षित, शान्त तथा धीर प्रकृति बाले होते हैं।

(५) **देवप्रकृति**-दानप्रियता, प्रेमपूर्वकव्यवहार, व्यवहारपटु, सत्यनिष्ठा पर आघात होनें पर बहुत क्रोधी, आदि इसके गुण होते हैं।

(६) **मानवप्रकृति**-मानवप्रकृति, भूषणप्रियता, गानकुशल, व्यवस्थापक तथा राजसी वृति होती हैं।

(७) **राक्षसप्रकृति**-उग्रकर्म, दुष्टचेष्टा, पापरति, क्रोधी तथा दम्भी होता हैं।

(८) **पिशाचप्रकृति**-प्रेतप्रकृति, मलीन, मोटा, चलायमान, बकवादी, तथा बुरी आत्माओं के चपेट में अनर्थ करनें बाला होता हैं।

(९) **चतुष्पदप्रकृति**-पशु के समान आचरण, मोटा शरीर तथा मोटी बुद्धि का बहुत खाने बाला एवं नीच संगति बाला होता हैं।

कुछ विशेष लक्षण-सभी लम्बे बुद्धिमान नहीं कि सभी नाटे मूर्ख नहीं होते। नाटेलोग यदि पतली चमड़ी के शुभ लक्षणों से युक्त हो तो बुद्धिमान होते हैं। पिंगलनेत्र, तथा कालाक्ष, अतिकृष्ण नेत्र बाले पवित्र तथा सुशील नहीं होते। अर्थात् अपवाद स्वरूप ही कोई-२ व्यक्ति होते हैं सामान्यतः नहीं होते। दीर्घ दन्तबालों का मूर्ख होना, रोमयुक्त मानव का अल्पायु होना लम्बे मानव का निष्ठुर होना, आदि ये विपरीत लक्षण भी अपवाद स्वरुप दिखाई पड़ते हैं। कहा भी हैं-

दीर्घदन्ताः क्वचिन्मूर्खाः क्व खल्वाटोऽपि निर्धनः।
क्वचित्काणो भवेत्साधुः क्वचिद्गानवती सती।।

ये सब विपरीत फल भी सामुद्रिक परीक्षण में दिखाई देते हैं। अतः वहाँ अन्य लक्षणों के परीक्षण भी करने चाहिये। ये सब विपरीत फल भी अपवाद स्वरूप दीखे तो तारतम्य से निर्धारण करना चाहिये।

कुछ विशेष लक्षण चिन्ह तथा योग-यदि दोनों हथेली में वाजू जैसा दो चक्र या दो दक्षिणावर्त्त भौरी के चिन्ह हों तो मानव चक्रवर्त्ती सम्राट् या तत् सदृश होता है। यह अद्वितीय पराक्रम का योग योग बनाता है। यदि हाथ के हथेली में दक्षिणावर्त्त चिन्ह या शंख अति व्यक्त हो तो मानव धार्मिक तथा धनवान होता हैं। भाग्यवानों के हाथ में पांचों अंगुलियों में दक्षिणावर्त्त चक्र या शंख अग्रभाग में हो तो अतिसुखदायक होता हैं।

यदि बामावर्त्त चक्र या आवर्त्त या शंख हो तो कष्ट देता है। कान तथा नाभी में दक्षिणवर्त्त या चक्र दक्षिणावर्त्त हो तो अति शुभप्रदायक होते हैं। यदि सिर में एक दक्षिणावर्त्त चक्र या चूड़ा का आवर्त्त हो अति शुभप्रद होता है। यदि सिर में यही चक्र चूड़ा या आवर्त्त बामावर्त्त हो तो भिक्षाटन से उदर पोषण येन केन प्रकारेण करने बाला होता है। बाये हाथ में दक्षिणावर्त्त, तथा दाहिने हाथ में बामावर्त्त आवर्त्त हो तो पूर्व अवस्था अति भोगमय होता हैं। यदि ललाट में बाम या दक्षिण आवर्त्त का चक्र वा भौंरी हो वह दुःखी होता है। उसकी आयु कम होती है। अर्थात् वह अल्पायु होता है। पैर के तलवे में यदि दो चक्र हो तो अति दीन हीन तथा मूर्ख एवं घूमक्कड़ होता है। इस प्रकार ये चिन्ह विभिन्नरेखाओं के प्रभाव को कम तथा अधिक करते हैं।

छायाविचार

अप्रकाश पिण्ड-में छाया होती हैं। स्व प्रकाशपिण्ड में छाया नहीं होती। सूर्य स्वप्रकाश पिण्ड है, अतः सूर्यपिण्ड पर किसी भी प्रकार की कोई छाया बनने का कोई स्थान नहीं हैं। भूपृष्ठ पर पाञ्चभौत्तिक पदार्थो की छाया सूर्यप्रकाश रहने पर पार्थिव पदार्थो की छाया सूर्यप्रकाश के विरुद्धदिशा में अवरोधक वस्तु से बनती हैं। मानव के शरीर में पञ्चमहाभूतों में जिस तत्व की अधिकता होती है उस भूतविशेष की छाया मुख्य होती है। मानवशरीर स्पर्शित प्रकाश से शरीर का एक भाग प्रकाशित तथा मानव संस्पर्शित तेज के विरुद्धदिशा में शरीर की छाया बनती है। जिन भूततत्वों की प्रधानता होती है, उससे अन्य लक्षण आच्छादित हो जाते हैं। इसी को मानव छाया (कान्ति) कहते हैं। अर्थात् मानव के शरीर में जिस भूत की प्रधानता होती है वह भूत विशेष अन्य भूतलक्षणों को गौण कर स्वयं मुख्य हो जाता है।

ये शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के प्रभाव को दर्शाते हैं। देह के बाहर यही छाया अपने तेज को फैलाती है। जैसे निर्मल स्फटिक के घड़े में रखा दीप की ज्योति की तरह प्रकाशवान् छाया के महाभूत भेद से ५ भेद बनते हैं।

(१) **पार्थिवच्छाया**-दांत, नख, रोम, बाल, त्वचा, चमकीले, स्थिररेखा, नेत्र सुन्दर, तथा मन प्रफुल्लित होता है तथा इसका प्रभाव उत्तम होता है। धन, सुख तथा उत्तम भोग प्रदायक होता है।

(२) **जलच्छाया**-नवीन मेघ से गिरे जल के समान जलछाया होती है। यह सर्व सिद्धि दायिनी तथा सौभाग्यदायिनी होती है।

(३) **अग्निच्छाया**-सूर्य, मूंगा, सोना, अग्नि तथा रत्न के दीप्तांश की तरह अग्निछाया होती है। पौरुष, पराक्रम, विजय तथा धन को साधने वाली यह छाया होती है।

(४) **वायवीच्छाया**-रुक्ष, मलिन, दीनता, चंचलता, दुष्टता आदि वायवी छाया के लक्षण हैं। यह छाया, मारण, बन्धन, प्रदायिका, तथा धननाशिनी होती है।

(५) **आकाशच्छाया**-इस की छाया-'निर्मल, स्फटिकमणि के समान, सुन्दर, छाया को आकाशछाया कहते हैं। यह कल्याण, धन, सुख, पुत्र, तथा सौभाग्य प्रदायक है।

ये पाञ्चभौतिक छाया मानवीय संरचना से सम्बद्ध होने से महत्वपूर्ण तथा विभिन्न प्रभावों को एक दिशा प्रदान करने में आधार स्तम्भ होते हैं।

इनके अतिरिक्त सूर्य, विष्णु, इन्द्र, यम तथा चन्द्र की छायाएँ भी होती हैं। कुछ आचार्य पूर्व भूतछाया से इसे भी जोड़ते हैं तथा उनके समान प्रभाव बताते हैं, लेकिन प्राचीनशास्त्र में इनके अलग लक्षण तथा फल फल प्राप्त होते हैं।

स्वर-वाणी तथा स्वर-अच्छी बोली, मन को प्रसन्न करने वाली, सारस या कोयल, या मृदंग के समान धीर गम्भीर, उदात्त वाणी ऊंची तथा बड़ी हो तो ये सम्पत्ति दायिनी होती हैं। नगाड़ा, बैल, मेघ, मृदंग, मोर, हिरण, चकवा के समान वाणी से मानव बड़ा आदमी, राजा या उसके जैसा होता है।

टूटी-फूटी, बहुत धीरे या अस्पष्ट, खैची हुई, बड़े जोर या बहुत धीरे, रुक रुक कर, दीन एवं हीन बोली सौभाग्यहीनों की होती है। भेड़िया, कौआ, उलूक, बन्दर, ऊंट, गीदड़, गधा, सुअर, जैसी बोली वाले दुष्ट तथा नीच प्रकृति के होते हैं। मधुर कर्कश रूक्ष, तेज, मन्द, मध्यम आदि के आधार पर मानवीय चेतना आदि का तथा कण्ठ के स्फुटता आदि का भी ज्ञान होता है।

गन्ध-गन्ध भेद नासिका द्वारा गन्ध ग्रहण करते हैं। हमारी नासिका कितनी निर्दुष्ट है, इसका ज्ञान इससे होता है। स्वांस एवं पसीना से उत्पन्न गन्ध शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। यदि गन्ध में मन रम जाए तो उत्तम, तथा वितृष्णा उत्पन्न हो तो अधमगन्ध जानना चाहिय। कर्पूर, अगर, चन्द्र, कस्तूरी, चमेली, तमाल, (आमनूस) के पत्ते के समान, तथा हाथी के मद के समान शरीर का गन्ध सुख, धन एवं भोग प्रदायक है। दुर्गन्ध, अप्राकृतिक गन्ध, मच्छी के अंडे के सड़ने का गन्ध, रक्त का गन्ध नीम, चरबी, काक के अंडे, बगुले के अंडे तथा बुरे गन्ध यदि शरीर से वा पसीने एवं कपड़े से निकले तो दुःख एवं दारिद्र्य कारक होते हैं।

वर्ण-रंग तथा गुणवत्ता-गुणवतृता के भेद से बुद्धिविज्ञान, बल विवेक एवं अनुशासन, उद्योग व्यवसाय तथा औदार्य, तथा श्रम एवं शिल्प ये प्रधान व्यक्तित्व भेद होते हैं।

सात्विकता एवं बुद्धिमत्ता प्रथमवर्ग में सर्वविध व्यवहार का नियन्त्रक होता हैं। अनुशासन एवं रक्षा प्रयुक्त बल द्वितीय भेद में परिगणित होते है बल का नियन्त्रक बुद्धि होती है। उद्योग कृषि वाणिज्य तथा दानशीलता तृतीय भेद के अन्तर्गत है। इनकी रक्षा तथा नियमन में बुद्धि तथा बल दोनों घटक महत्वपूर्ण होते हैं।

सर्वविध व्यवहारिक कार्य तथा प्रयुक्तश्रम चतुर्थवर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ये चारो प्रकार की क्षमताएँ व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों के सर्वाङ्गीण विकास में मुख्य घटक हैं। वैसे बुद्धि, बल तथा अर्थ के विकास में श्रम मुख्य घटक है। यद्यपि ये चारो क्षमताएँ मानव में न्यूनाधिक रूप से होती है, लेकिन स्वभाव से प्रकृति के अनुसार जो क्षमता मुख्य होती है, उसके आधार पर मानवीय वर्ण त्रिलोकीय सापेक्षता से निर्धारित करना ज्योतिष शास्त्रीय वर्ण विचार हैं।

वर्ण का एक अन्य अर्थ रंग एवं रूप भी हैं। गोरा, एवं काला दो मुख्य वर्ण दृष्ट होते हैं। गोरे के श्वेत रक्त एवं पीत ये तीन भेद है। काले के श्याम नीलश्याम, दूर्वाश्याम, हरितश्याम, तथा पूर्ण काला आदि अनेक भेद हैं। ये सभी वर्ण अपने आप में अच्छे होते हैं। यदि ये चमकयुक्त तथा दीप्त हो तथा मानव स्वस्थ्य हो तथा शरीर से कोई दुर्गन्ध नहीं निकलता हों तो शुभप्रद है। इसके विपरीत लक्षण से युक्त रहने पर अशुभ होता है। सभी प्रकार के गोरे तथा सांवले अच्छे होते हैं यदि वे रुक्ष आदि दुर्गुणों से युक्त नहीं हों। अति काला, अतिगोरा, कुछ काला तथा कुछ गोरा, तथा संकीर्ण अच्छा नहीं होता कमल के फूल के पराग के समान गौर, प्रियंगु-धाय के फूल के समान सांवरा तथा काजल के तुल्य काला बहुत चमकनें बाला वर्ण भी शुभप्रद नहीं होता है। अतः वर्ण गुणवत्ता बौद्धिकक्षमता तथा रंग आदि के द्योतक हैं।

सत्व-आन्तरिक सत्त्व तथा दृढता-दुःख में दुःखी नहीं की, सुख में उद्वेग नहीं, शंका तथा शोक से हीन, उत्सव में आनन्दित, तथा सदा धीरज से रहने बाला, सात्त्विक होता है। जिनमें ये सभी लक्षण हों, लक्ष्मी जी की सदा उस पर कृपा बनी रहती है। त्वचा में भोग, मांस में सुख, अस्थि में धन, नेत्र में सौभाग्य चलनें में मान, शब्द में आज्ञा का बोधक यह सत्त्व है। सत्त्वनिष्ठा में सभी समाहित हैं स्त्रियों का सौभाग्य तथा आभूषण, की तरह पुरुषों में सत्त्व का महत्त्व है। सत्त्वहीन निरादर पाता है। पुरुष के गति से वर्ण, वर्ण से स्वर, स्वर से भी महत्वपूर्ण सत्त्व होता है। अतः सत्त्व की अधिकता से पुरुष धन्य होता है। सत्त्वहीन भाग्यहीन होता है।

मुख्य से रूप, रूप से धन, धन से सत्त्व महत्त्वपूर्ण होता है। सत्त्व के अनुसार गुण होते हैं। अतः सत्त्व सभी गुणों तथा लक्षणों में मुख्य होता है। सद्भाव, सद्विचार, सच्चिन्ता, शान्तमन ये सब सत्त्व के गुण हैं। सभ्यपत्ति तथा विपत्ति में सात्विक सदा अविचल रहता है। यदि सत्त्व बाह्यलक्षण में किसी भी प्रकार नहीं दीखे उसकी लक्ष्मी स्थिर नहीं होती। अन्य

समस्त लक्षण एक ओर तथा सत्त्व को एक पलड़े पर रखकर विमर्श करना चाहिये। अतः अंगलक्षण के शुभ होने तथा सत्त्व के प्रकटभेद से शुभाशुभ का निर्धारण कर हस्तरेखाओं के अनुसार मानवीय त्रिकाल जन्य शुभाशुभ निर्धारण ही इस शास्त्र का वास्तविक उद्देश्य हैं।

स्त्रीलक्षण-नारी लक्षण परीक्षण में पुरुष की तरह-आकार प्रकार, रंग रूप, सुगंध, दीप्ति-क्रान्ति, चक्रादि चिह्न, सत्त्व, स्वर, गति आदि मुख्य लक्षण विचारणीय होते हैं। नारियों के भी पांव के तलवे से सिर के बाल तक नख शिख वर्णनक्रम से समस्त लक्षण परीक्षणीय होते हैं।

प्रकृति लक्षण-स्वभाव एवं प्रकृति की दृष्टि से श्लेष्मादिक तथा स्वभावस्था दो मुख्य भेद हैं। प्रथम के ३ तथा द्वितीय भेद के भी १२ उपभेद बनते है। कमल तथा दूर्वाङ्कर के समान श्यामा स्वभावतः स्थिर नारी स्नेह की चाहतबाली, सत्यभाषिणी, सुमधुरभाषिणी, श्यामा, रक्तवर्णीया, श्वेतवर्णीया, तथा सुकोमलाङ्गी बहुत सौभाग्यवान् पुत्रों की जननी होती है। चिकने नख, बाल, त्वचा, तथा सुन्दर नेत्र बाली क्षमाशील, तथा सत्यनिष्ठ, होती है। इस प्रकार की नारी परम कल्याण कारिणी होती है। सीमन्त के दोनों भाग बराबर हो, तथा दोनों जुड़े बराबर तथा लम्बे हो, हाथ पैर बराबर तथा समाङ्ग हो, ऐसी नारी सत्यनिष्ठा, सौभाग्यशाली पराक्रमी सन्तान, से युक्त तथा स्वयं भी पराक्रमी होती है। शरीर स्थूल नहीं हो, चमकीले नरम रसमयी त्वचा तथा पुष्प जैसे अनुलेपन से युक्त धर्माचरणशीला, दयावती, कमल के समान हाथपैर बाली रमणी सभी प्रकार से सौभाग्यवती होती है। ये सब नारी के उत्तमभेद हैं। उत्तमप्रकृति एवं तदुत्पन्न गुण के साथ मानसिक तथा आत्मबल का परीक्षण भी करना चाहिये। चेष्टा, स्वर, वाणी, तथा व्यवहार एवं विभिन्न अवस्थाभेद से किए गये परीक्षण आज भी ठीक परिणाम देते हैं।

मध्यम प्रकृति प्रभेद-तथा मिश्रप्रकृति की अंगना में गुण तथा दोष दोनों सन्दर्भ होते हैं जो उपर्युक्त परीक्षण से स्पष्टतः जाने जाते हैं। त्रिविध गुण अंकपाश के भेद से ५ महाभूत, आनुवंशीकी भेद, वातावरण, ताप एवं शीत भेद, मिट्टी, जल एवं वायु के योगजभेद, तथा शिक्षादीक्षा, आदि के भेद से पुंस्त्री भेदों की परीक्षा विधिवत् करने के बाद ही सामुद्रिक की सापेक्षता से हस्तादि परीक्षण कर सर्वविध आजन्म निधनान्त शुभाशुभ निर्धारण करना चाहिये।

विशुद्ध प्रकृति-इससे समबद्ध पुरुष तथा नारी विरले हैं। अधिकांश मिश्रित प्रकृति के होते हैं। इसमें अनेक कारण हैं मनुष्यों के मिश्रित प्रकृति के अनेक भेद होते हैं मानव की प्रकृति सामान्यतः सौम्य होती है, लेकिन राग द्वेष से मुक्त नहीं होती। मानव देह धारी के देवता, विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, असुर, दानव, नाग, पिशाच, नर, बन्दर, गदहा, बिल्ली, सिंह, बाघ, आदि के समान प्रकृति होती है, जिसे बड़ी साबधानी से जानना तथा निर्धारित करना होता हैं।

मिश्र लक्षण-जो नारी नीचे से तनु तथा ऊपर से भारी हो, मेढ़क के समान कुक्षी (कोख) हो, तथा बृक्ष के समान दीखे इस प्रकार की नारी एक पुत्र को जन्म देती है जो चक्रवर्त्ती सम्राट् या उसके समान पराक्रमी होता है। स्त्री के ललाट में त्रिशूल का नैसर्गिक चिन्ह से वह हजारों स्त्रियों की स्वामिनी होती है।

शहद के समान वर्ण की सुन्दर आँखें चिकना कमनीय सुन्दर शरीर, श्यामाङ्गी हंस के समान गति तथा वाणी, बाली नारी धनधान्य से परिपूर्ण, सम्राज्ञी होती है, तथा आठ पुत्रों की माता होती है। वे पुत्र भी परम पराक्रमी होते हैं। यह उत्तमोत्तम योग हैं।

पुरुष तथा नारी के चार-चार मुख्य भेद ४ × ४ = १६ हो जाते हैं। दिशा भेद, देशभेद तथा कालभेद से इसके असंख्यभेद हो जाते हैं। १६ × १६=२५६ भेदों को सूक्ष्म पारखी परख सकता है। इससे अधिक भेद अतीन्द्रियता के त्रिविध भेदों से गम्य है। शश, मृग, अश्व, तथा गर्दभ पुरुष का पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी तथा हस्तिनी से क्रमशः उत्तम योग होता है। इस युग में आहार, विहार तथा निष्ठा के दूषण के कारण शशपुरुष तथा पद्मिनी नारी इस युग में दुर्लभ हैं। शश का चित्रिणी से योग मध्यम, शंखिनी से अधम तथा हस्तनी से अधमाधम होता है। इसी प्रकार मृग का शंखनी से मध्यम, तथा हस्तिनी से अधम योग होता है। पद्मिनी से उत्तम चित्रिणी से उत्तमोत्तम योग होते हैं। इसी प्रकार अश्वपुरुष का चित्रिणी से उत्तम, हस्तिनी से मध्यम तथा पद्मिनी से अधम योग होता है। गर्दभ का शंखनी योग मध्यम, चित्रिणी योग अधम है। अपने वर्ग को छोड़कर आसन्न दो भेद मध्यम तथा अन्य भेद अधम योग कारक होते हैं।

●●●

आर्यभट-प्रथम

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

आचार्य आर्यभट का जन्म शक ३९८ (ई. सन् ४७६) में हुआ था। स्वयं अपने जन्म समय का उल्लेख गणितीय ढंग से करते हुए अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभटीय में लिखा हैं-

तीन युगपाद तथा साठ-साठ वर्षों की साठ आवृत्ति होने पर इनकी आयु २३ वर्ष की थी।[1] इस के अनुसार गणना करने पर भी यही परिणाम आता है। यथा-कथन के अनुसार सत्य, त्रेता, द्वापर तीन युग पाद तथा कलि के ६० वर्षों की ६० आवृत्ति अर्थात् (६० × ६०) = ३६०० वर्ष बीत जाने पर आर्यभट की आयु २३ वर्ष की थी। वर्तमान शक १९२६ में कलि के ५१०८ वर्ष बीत चुके हैं। अतः ५१०८-३६००=१५०८। शक १९२६-१५०८=४२१ शक। अर्थात् शक ४२१ में इनकी आयु २३ वर्ष की थी। इस लिए ४२१-२३=३९८ शक जन्म काल सुनिश्चित होता है।

उक्त कथन की सार्थकता सिद्ध करते हुए डॉ० गोरख प्रसाद ने लिखा[2] हैं कि कलि संवत् ३५७७ में इनका जन्म हुआ था तथा ग्रहों की गणना हेतु इन्होंने कलि संवत् ३६०० निश्चित किया था, क्योंकि इनके ग्रन्थ में कहीं भी शक, संवत् का उल्लेख नहीं हैं।

इस सन्दर्भ में शंकरबालकृष्ण दीक्षित[3] ने सैद्धान्तिक प्रमाण के आधार पर जन्म समय के औचित्य को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि वर्षमान के आधार पर भी यही जन्मकाल सिद्ध होता है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त वर्षमान ३६५.१५.३१.३० दिनादि है तथा आर्यभट का वर्षमान ३६५.१५.३१.१५ दिनादि है। इस प्रकार दोनों में १५ विपल का अन्तर आता है। यह अन्तर ३६०० वर्षों में १५ घटी तुल्य हो जाता है। मूल पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त में कलियुगारम्भ गुरुवार की मध्यरात्रि में माना गया है तथा आर्यभट ने उससे १५ घटी बाद अर्थात शुक्रवार के सूर्योदय से माना है। अतः कलियुग के ३६०० वर्ष बीत जाने पर, शक ४२१ में दोनों के अनुसार मध्यम मेष संक्रान्ति अर्थात वर्षारम्भ एकही समय में होता है। इससे प्रकट होता है कि सूर्योदय में युगारम्भ मानने के कारण जो १५ घटी का अन्तर पड़ा था उसी को दूर करने के लिए आर्यभट ने वर्षमान १५ घटी न्यून माना हैं।

उक्त प्रमाणों के आधार पर भी आर्यभट का जन्म समय तो निर्विवाद है किन्तु जन्म स्थान को लेकर कुछ मतान्तर अवश्य है। आर्यभटीय में कुसुमपुर का उल्लेख करते हुए आचार्य ने लिखा है 'कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्' इस कथन के आधार पर कुछ लोग इनका

---

१. षष्ट्यब्दानां षष्टियर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः। त्र्यधिकविंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः।३-२०।

२. भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ ८१, ३. भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ २९९।

जन्म स्थान कुसुम पुर (वर्तमान पटना) मानते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि इनका जन्म दक्षिण में केरल और कर्नाटक की सीमा पर कुसुमपुर नामक स्थान पर हुआ है।

दक्षिण भारत में मानने के प्रमुख दो आधार हैं-१ भट उपधि प्रायः केरल में होती हैं। २ इनके ग्रन्थ (आर्यभटीय) की प्रथम उपलब्ध प्रति मलयालम लिपि में थी, जिसके आधार पर डॉ० केर्न ने आर्यभटीय का सम्पादन एवं प्रकाशन करवाया था।

कुछ लोगों का मत है कि इनका जन्म महाराष्ट्र में अश्मक नामक स्थान पर हुआ था तथा बिहार के कुसुम पुर में राज्याश्रय प्राप्त कर वहीं इन्होंने अध्ययन और लेखन कार्य सम्पन्न किया। आर्यभटीय के भाष्यकार प्रथम भास्कर ने आर्यभट को अश्मक शब्द से ही संबोधित किया हैं। "सञ्चिन्त्याशु वदाश्मकस्य गणितं ज्ञातं त्वया चेद्यदि"।[1] यहाँ 'अश्मकस्य गणितम्' का अभिप्राय अश्मक देशवासी आर्यभट की गणित से हैं। प्रथम भास्कर के अनुसार अश्मक देश नर्मदा और गोदावरी के बीच अवस्थित है। परन्तु बौद्धग्रन्थ दीर्घनिकाय के अनुसार बुद्ध के काल में अश्मक लोग पशचिमोत्तर प्रान्तों से आकर नर्मदा और गोदावरी के बीच बस गये।[2] यहाँ भी यही आशय है कि अश्मक देशवासी आर्यभट अध्ययन हेतु कुसुमपुर (पटना) में आये थे। डी०जी० आप्टे के अनुसार नालन्दा विश्वविद्यालय में ज्योतिष शांस्त्र के उच्च्व अध्ययन की समुचित व्यवस्था थी। सम्भवतः वहाँ वेधशाला की भी व्यवस्था उस समय थी। इसी आकर्षण में आर्यभट ने अपना कार्यक्षेत्र कुसुम पुर वर्तमान पटना को चुना। एक पद्य में आर्यभट को सूर्यावतार कहा गया है तथा उसी पद्य से नालन्दा विश्वविद्यालय के कुलपति होने का भी संकेत मिलता है। "सूर्यः स्वयं कुसुमपुर्यभवत् कलौ तु भूगोलवित् कुलप आर्यभटाभिधानः"।[3] यद्यपि इस पद्य का लेखक ज्ञात नहीं है फिर भी इस पद्य का महत्व इस लिए है कि कवि ने एक ही पंक्ति में तीन बातों को स्पष्टरूप से व्यक्त किया है। एक तो आर्यभट को सूर्यावतार दूसरे उनका जन्मस्थान कुसुम पुर, तीसरा आर्यभट कुलप अर्थात् कुलपति थे।

प्रसङ्गात् यहाँ खगौल रेलवे स्टेशन की चर्चा करना भी आवश्यक समझता हूँ जो पटना के निकटवर्ती दानापुर स्टेशन के पास है। खगौल स्टेशन के समीप ही खगौल नामक एक ग्राम भी है, जहाँ आर्यभट नामक एकविद्यालय भी हैं। पटना से पश्चिम दिशा में लगभग १५-२० कि०मी० की दूरी पर स्थित खगौल ग्राम भी खगोल वेत्ता आर्यभट की स्मृति का साक्षी हैं।

---

१. आर्यभटीयम, २.१।

२. दीर्घ निकाय, ६८।

३. सिद्धान्तपञ्चकविधावपि दृग्विरुद्धमौढ्योपरागमुखखेचरचारक्लृप्तौ।
सूर्यः स्वयं कुसुमपुर्यभवत् कलौ तु भूगोलवित् कुलप आर्यभटाभिधानः।। भा०ज्यो०, पृष्ठ-२७४।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है। कि ज्योतिषशास्त्र का अस्तित्व आर्यभट के पूर्व भी विकसित रुप में था किन्तु वेदांग काल के बाद एक अन्तराल दिखलाई देता है जिसमें किसी महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना उपलब्ध नहीं होती इस लम्बे अन्तराल को भंग करते हुए आचार्य आर्यभट ने ज्योतिष के क्षेत्र में क्रान्तिकारी कार्य कर अपना एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित कर दिया।

आचार्य आर्यभट की लघुकाय रचना आर्यभटीम् के १२१ पद्यों में ही समस्त ज्योतिष के सिद्धान्तों को प्रतिपादित कर दिया गया हैं, जो अपने आप में एक उदाहरण हैं। ये कुशल गणितज्ञ एवं खगोलज्ञ होने के साथ साथ अत्यन्त निर्भीक थे। इनकी अद्‌भुत प्रतिभा के कारण इन्हें सूर्य का अवतार माना जाता है। आज भी इनकी असन्दिग्ध उपलब्धियाँ अनुसन्धान की दृष्टि से अद्वितीय मानी जाती हैं। गणित और खगोल उन्हें हस्तामलकवत् होचुका था। पूर्ववर्ती आचार्यों ने पृथ्वी पर दिन-रात्रि के परिवर्तन का कारण सूर्य भ्रमण को ही माना है किन्तु आर्यभट ने इस भ्रम का निवारण करते हुए पृथ्वी के भ्रमण को कारण माना। इन्होंने पृथ्वी की दैनन्दिन गति (अक्षभ्रमण) की घोषणा कर सम्पूर्ण ज्योतिष जगत को चमत्कृत कर दिया था। अक्षभ्रमण को उदाहरण पूर्वक बतलाते हुए कहा कि जब हम नौका पर बैठ कर यात्रा करते हैं तो नदी के किनारे स्थित बृक्षादि विपरीत दिशा में चलते हुए प्रतीत होते है तथा नौका स्थिर सी प्रतीत होती है।[1] इसी प्रकार का भ्रम हम पृथ्वीवासियों को होता है। हमें पृथ्वी स्थिर तथा ग्रहनक्षत्रादि विपरीत दिशा में चलते हुए प्रतीत होते हैं। जब कि हम पृथ्वी के साथ-साथ स्वयं भ्रमण करते हैं। सैद्धान्तिक रूप से भूभ्रमण के उल्लेख की यह सर्व प्रथम घटना थी। यहाँ यह स्पष्ट है कि आर्यभट ने दैनन्दिन अक्षभ्रमण का ही उल्लेख किया है। पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा का उन्होंने "प्राणेनैति कलां भू:" द्वारा संकेत मात्र ही किया है।[2] जिसका अभिप्राय है कि पृथ्वी एक प्राण (१० विपल) में एक कला चलती है। परमेश्वर प्रभृति परवर्ती आचार्यों ने आर्यभट के मूल पाठ 'प्राणेनैति कलां भू:' में पाठान्तर कर भू के स्थान पर भं कर दिया। इस परिवर्तन से आर्यभट का सिद्धान्त ही विपरीत होगया। इसकी व्याख्या की गई कि आचार्य ने पृथ्वी के भ्रमण को न बता कर भपञ्जर के भ्रमण का संकेत दिया है। यदि पाठान्तर को प्रमाण न माना जाय तो पृथ्वी की दैनन्दिन (अक्षभ्रमण) तथा वार्षिक (चक्र भ्रमण) दोनों का स्पष्ट ज्ञान आचार्य आर्यभट ने कर लिया था, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। किन्तु इसे पाठान्तर द्वारा विवादास्पद बना दिया गया है। सच्चाई यही है कि आर्यभट ने भूचलन के सिद्धान्त का रहस्य ज्ञात कर लिया था। उस काल के वैज्ञानिक जगत के लिए यह आविष्कार एक

---

१. अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्। अचलानि भान्ति तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम्।। आर्यभ., ४.६।

२. प्राणेनैति कलां भूः खयुगांशे ग्रहजवो भवांशेऽर्कः। आर्यभ, १.६।

महत्वपूर्ण घटना थी। साथ ही इस प्रकार की घोषणा एक अदम्य साहस और निर्भीकता की परिचायक भी थी। इस महत्वपूर्ण रहस्योद्धाटन का श्रेय एकमात्र आचार्य आर्यभट को ही जाता है। आर्यभट ने किसी भी पूर्ववर्ती सिद्धान्त को यथावन स्वीकार नहीं किया। इन्होंने स्वयं वेध कर जो उचित परिणाम प्राप्त किया उसी को प्रमाण माना। इसके लिए इन्हें समकालीन आचार्यों द्वारा आलोचना का पात्र भी बनना पड़ा किन्तु इन आलोचनाओं से प्रभावित न होकर निर्भीकता से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे। काल विवेचन में भी इन्होंने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की। इनकी कालगणना पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अत्यन्त सरल है। इनकी कालगणना में ७२ महायुगों का एक मनु का प्रमाण माना गया है। जब कि अन्य सिद्धान्तों में ७१ महायुगों का एक मनु माना गया हैं। इनकी कालगना इस प्रकार हैं-

४३,२०,००० सौर वर्षो का १ महायुग।

७२ महायुग का १ मनु।

१००८ महायुग = १४ मनु का १ कल्प।

इनकी कालगणना में सन्ध्या सन्ध्यांशों को स्थान नहीं दियागया है तथा चारों युग पादों के प्रमाण को समान माना है। इस गणना की विशेषता यह है कि प्रत्येक कल्प का प्रथम दिन एक ही होता है तथा प्रत्येक युगपाद के अन्त में सभी ग्रहों के भगण पूर्णाकों में आते हैं। इस प्रकार इनकी कालगणना अधिक सरल एवं वैज्ञानिक है। गणित के क्षेत्र में भी इनकी अनेक उपलब्धियाँ आज भी भारतीय मनीषा का मानबर्धन कर रही हैं।

गणित के क्षेत्र में आर्यभट द्वारा प्रतिपादित वर्गमूल और घनमूल की पद्धति आज भी प्रचलित है। व्यास और परिधि के सम्वन्ध का मान आर्यभट द्वारा साधित ही सूक्ष्मतम माना जाता है, जो सूक्ष्मता हेतु दशमलव के चार अंको तक ग्रहण किया गया है। पाश्वात्य गणित के यशस्वी विद्वान आर्किमिडीज ने इस सम्बन्ध को पाई द्वारा व्यक्त किया था, किन्तु इसका मान आर्यभट के मान की अपेक्षा स्थूल माना जाता है। व्यास और परिधि के सम्बन्ध को प्रतिपादित करते हुए आर्यभट ने 'चतुरधिकं शतमष्टगुणं' इत्यादि कारिका लिखी है। जिसका अभिप्राय यह है कि यदि व्यास का मान २०,००० फुट हो तो परिधि का मान ६२८३२ होगा। इसी से मिलता जुलता सिद्धान्त भास्कराचार्य ने भी प्रतिपादित किया है। यथा-व्यास को ३९२७ से गुणा कर १२५० से भाग देने पर सूक्ष्म परिधि का मान तथा व्यास को २२ से गुणा कर ७ से भाग देने पर स्थूल परिधि का मान ज्ञात होता हैं।

ज्या साधन भी आर्यभट की अद्‌भुत देन हैं। इतिहासकारों ने यद्यपि इसका श्रेय ग्रीक और अरबदेशीय गणितज्ञों को दिया है किन्तु गणितीय दृष्टि से देखा जाय तो पाश्चात्य गणिवशों ने पूर्णज्या का ही प्रयोग किया है। आर्यभट ने ही सर्व प्रथम अर्धज्या का साधन कर ग्रह गणित को एक नया आयाम दिया। ग्रीक या अरबी गणित में नवम शताब्दी के पूर्व अर्धज्या का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त गणित के अन्य पक्षों के प्रतिपादन के साथ-साथ इन्होंने वर्गसमीकरण और कुट्टक जैसी अद्‌भुत गणित प्रक्रिया का विवेचन कर विश्व के गणितज्ञों को एक मचत्कारिक उपहार दिया। इस प्रकार की गणित का ज्ञान इनसे पूर्व सम्भवतः किसी भी देश के गणितज्ञों को नहीं था।

आर्यभट के समय में सबसे बड़ी समस्या अंको के सन्दर्भ में थी। अंको को प्रदर्शित करने का कोई भी सरल ढंग नहीं था। इस लिए आर्यभट ने अंकों को व्यक्त करने के लिए एक नई परम्परा का ही आविष्कार कर डाला। जिसके माध्यम से संख्या के बड़े से बड़े मान को सरलता से प्रकट किया जा सकता हैं। एकही पद्य में इन्हों ने अंको की प्रक्रिया को निर्धारित कर दिया है।

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङ्मौ यः।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्तवर्गे वा।। (आर्यभ-१/२)

अर्थात् कवर्गादि वर्गाक्षरों के लिए १, १००, १०००० आदि वर्ग संख्याओं का तथा तथा यकारादि अवर्गाक्षरों में १०, १०००, १००००० आदि संख्याओं का बोध करना चाहिए। ङ और म के योग से (ङ = ५, म = २५) = ३० य का मान होता हैं।

स्वर और वर्गाक्षर तथा स्वर और अवर्गाक्षर मिलकर कुल १८ संख्या स्थानों को प्रकट करते हैं, जो निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हैं-

वर्गाक्षर और उनकी संख्यायें-

क = १	च = ६	ट = ११	त = १६	प = २१
ख = २	छ = ७	ठ = १२	थ = १७	फ = २२
ग = ३	ज = ८	ड = १३	द = १८	ब = २३
घ = ४	झ = ९	ढ = १४	ध = १९	भ = २४
ङ = ५	ञ = १०	ण = १५	न = २०	म = २५

अवर्गाक्षरों की संख्यायें-

य = ३०	र = ४०	ल = ५०	व = ६०
श = ७०	ष = ८०	स = ९०	ह =१००

स्वरों की संख्यायें-

संख्या ज्ञान हेतु केवल ९ स्वरों का ही ग्रहण किया गया हैं-

अ = १	इ = १००	उ = $१००^{२}$	ऋ = $१००^{३}$	लृ = $१००^{४}$
ए = $१००^{५}$	ऐ = $१००^{६}$	ओ = $१००^{७}$	औ = $१००^{८}$	

१. वर्गाक्षर और स्वरों के योग से संख्यायें-

१.	क्	+	अ	=	क	=	१
२.	क्	+	इ	=	कि	=	१००
३.	क्	+	उ	=	कु	=	१००००
४.	क्	+	ऋ	=	कृ	=	१००००००
५.	क्	+	ऌ	=	क्ऌ	=	१००००००००
६.	क्	+	ए	=	के	=	१००००००००००
७.	क्	+	ऐ	=	कै	=	१००००००००००००
८.	क्	+	ओ	=	को	=	१००००००००००००००
९.	क्	+	औ	=	कौ	=	१००००००००००००००००

२. अवर्गाक्षर और स्वरों के योग से संख्यायें-

१.	य्	+	अ	=	य	=	३०
२.	य्	+	इ	=	यि	=	३०००
३.	य्	+	उ	=	यु	=	३०००००
४.	य्	+	ऋ	=	यृ	=	३०००००००
५.	य्	+	ऌ	=	य्ऌ	=	३०००००००००
६.	य्	+	ए	=	ये	=	३०००००००००००
७.	य्	+	ऐ	=	यै	=	३०००००००००००००
८.	य्	+	ओ	=	यो	=	३०००००००००००००००
९.	य्	+	औ	=	यौ	=	३०००००००००००००००००

इस प्रकार वर्गाक्षरों से ९ तथा अवर्गाक्षरों से ९ कुल १८ स्थानों की संख्यायें वनती हैं। इसी विधि से सभी अक्षरों से संख्याओं का निर्माण होता है।

ख्	+	अ	=	ख	=	२
ख्	+	इ	=	खि	=	२००
ग्	+	अ	=	ग	=	३
ग्	+	इ	=	गि	=	३०० इत्यादि
य्	+	अ	=	य	=	३०
य्	+	इ	=	यि	=	३०००
र्	+	अ	=	र	=	४०
र्	+	उ	=	रु	=	४००००० इत्यादि

इन्हीं नियमों से आर्यभट ने बड़ी से बड़ी संख्याओं का प्रयोग किया है। एक महायुग में ग्रहों के भगणों का उल्लेख करते हुए आचार्य ने लिखा है-

युगरविभगणाःख्युघृ शशिचयगियिङुशुछृलृकुङिशिबुण्लृखृषृ।
प्राक्शनिढुङ्विघ्वगुरुखिच्युभ कुजभद्लिझ्नुखृ भृगुबुधसौराः। (आर्यभ, १.३)

एक महायुग में रवि भगण ख्युघृ अर्थात् खु यु घृ इन अक्षरों की उक्त नियमानुसार संख्यायें इस प्रकार होंगी-

खु = २००००, यु = ३००००० घृ = ४००००००

इनका योग = ४३२०००० एक महायुग में रवि भगणों की संख्या

इसी प्रकार शशि चयगियिङुशुछृलृ चन्द्रभगण

च = ६, य = ३०, गि = ३००, यि = ३०००, ङु = ५००००

शु = ७००००० छृ = ७०००००० लृ = ५०००००००

इन सबका योग = ५७७५३३३६ एक महायुग में चन्द्रभगण।

कु भूमि का भगण-ङि शि वु ण्लृ खृ षृ = १५८२२३७५००

शनि का भगण-ढु ङि वि घ व = १४६५६४

गुरु का भगण-खि रि चु यु भ = ३६४२२४

भौम का भगण-भ दि लि झु नु खृ = २२९६८२४

इसी प्रकार सभी ग्रहों एवं उच्चों के भगण पठित किये गये हैं। यह आर्यभट की अद्भुत देन है।

वर्तमान भारत में ज्योषितशास्त्र की तीन परम्परायें प्रचलित हैं। १. सौर परम्परा, २. आर्य परम्परा, ३. ब्राह्म परम्परा।

१. सौर परम्परा-भगवान सूर्य द्वारा प्रवर्तित है। इस परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त है।
२. आर्यपरम्परा आर्यभट से आरम्भ होती है, उस परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ आर्यभट द्वारा विरचित आर्यभटीयम् है।
३. ब्राह्मपरम्परा-यह परम्परा ब्रह्मगुप्त द्वारा व्यवहार में आई है तथा इसका प्रमुख ग्रन्थ ब्रह्मगुप्त द्वारा विरचित ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त है।

आर्यभट की परम्परा का सम्मान उनके समकालीन आचार्य ब्रह्मगुप्त ने भी किया है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त द्वारा साधित ग्रहों में आर्यभटीय के अपेक्षा स्थूलता का न केवल अनुभव किया अपितु उसे स्वीकार करते हुए उसे शुद्ध करने का सफल प्रयास भी किया। अपने नवीन ग्रन्थ खण्डखाद्यकम् में आचार्य ब्रह्मगुप्त ने आर्यभटीयम् के ग्रहों की शुद्धता को स्वीकार करते हुए लिखा है- वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यफलम् (खण्ड, १.१)

आचार्य आर्यभट की दो कृतियों का उल्लेख मिलता है। १. आर्यभटीयम्, २. आर्य-सिद्धान्त। इनमें आर्य-सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। कहीं कहीं इसके विषय में आंशिक सूचनाएं ही उपलब्ध हैं। आर्यभटीय न केवल एक मौलिक रचना है अपितु इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं उपस्थापन पद्धति में भी सर्वत्र मौलिकता लक्षित होती है। अत्यन्त अल्प शब्दों में अधिक से अधिक विषयों का समावेष इनकी प्रमुख विशेषता है। मात्र १२१ पद्यों में लिखा गया यह ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है।

१. गीतिका पाद। (१३ पद्य)
२. गणितपाद। (३३ पद्य)
३. कालक्रियापाद। (२५ पद्य)
४. गोलपाद। (५० पद्य)

१. गीतिका पाद में ग्रहों के महा युगीय भ्रमण, ब्राह्मदिवस मान, आकाशकक्षा का विस्तार, सूर्य-चन्द्र और पृथ्वी का योजन व्यास, मन्दोच्च एवं शीघ्रोच्चों का परिचय आदि विषय प्रतिपादित हैं। यहां एक ही पद्य में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, और मंगल, गुरु बृहस्पति आदि के युगीय भगणों की संख्या पठित कर दी गई है। यहाँ सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि पृथ्वी की भगण संख्या देकर आर्यभट ने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया कि पृथ्वी भी चक्रभ्रमण करती है। इस प्रकार की घोषणा उस काल के लिए न केवल आश्चर्योत्पादक रही अपितु अत्यन्त चुनौती पूर्ण थी। इसके साथ-साथ पृथ्वी, चन्द्र और सूर्य के बिम्ब व्यासों का मान, मन्द-शीघ्र परिधि का विवेचन तथा ३°, ४५° अन्तर पर ज्यामानों का अनयन किया गया है।

२. गणित पाद में दसगुणोत्तर संख्याओं से लेकर कुट्टक तक की गणित का वर्णन किया गया है। बीच वर्ग, वर्गमूल, श्रेढी गणित, त्रैराशिक, घन-घनमूल, त्रिभुज-वृत्त और गोल का क्षेत्रफल, व्यास-परिधि का संबंध (दशमलव के चार अंकों तक, जो पाई के मान से सूक्ष्म है), समीकरण, व्यस्तविधि के साथ-साथ शंकु की छाया द्वारा ऊचाँई और कर्ण का आनयन आदि अनेक गणितीय विषयों का निरूपण किया गया है।

३. कालक्रियापाद में ज्योतिष के सैद्धान्तिक विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। जिसमें कालमान प्रमुख हैं। यहां एक कल्प का प्रमाण १००८ महायुग माना गया है। जबकि अन्य सभी आचार्यों ने १००० महायुगों का एक कल्प स्वीकार किया है।

४. गोलपाद में गोलीय विषयों का निरूपण किया गया है। जिसमें विषुवसम्पात, ग्रहों के पात, भूभ्रमण मार्ग, देशान्तरसाधन, ग्रहों के उदयास्त एवं कालांश, लग्नसाधन, ग्रहण गणित, दृक्कर्म, लम्बन, नति तथा ग्रहयुति की चर्चा है।

इस प्रकार एक लघुकाय ग्रन्थ में अंक गणित, बीजगणित, रेखागणित इन तीनों प्रकार की गणित के साथ-साथ समस्त सैद्धान्तिक विषयों का जिस प्रकार सारगर्भित विवेचन किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि आर्यभटीय के प्रकाश में आने से अनेक सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक भ्रान्तियों का निराकरण हो गया।

आर्यभट वस्तुतः विलक्षण प्रतिभा के वैज्ञानिक थे। इन्होंने सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का अवलोकन अवश्य किया होगा किन्तु अपने सिद्धान्तों को वेध और गणितीय परिष्कारों के आधार पर ही स्थापित किया है। यही कारण है कि भारतीय दैवज्ञों और वैज्ञानिकों में आर्यभट का स्थान सर्वोपरि है। आधुनिक वैज्ञानिक ने भी आर्यभट के वैदुष्य और अद्भुत प्रतिभा को सम्मान पूर्व स्वीकार किया है। इसीलिए प्रथम भारतीय उपग्रह का नाम आर्यभट रखा गया। आज भी आर्यभट उपग्रह अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हुए अनुसन्धान कार्य में संलग्न है जो प्रतिदिन आर्यभट की स्मृति को जीवन्त रख रहा है।

अपना जन्म काल बतलाते हुए आर्यभट ने ३६०० गत कलि का उल्लेख किया है। इसके अनुसार कलि के ३६०० वर्ष जिस दिन पूर्ण हुए उस दिन ग्रीगोरियन कैलेण्डर के अनुसार २१ मार्च ४९९ ई० रविवार था। ३६०० गत कलि में अयनांशाभाव के कारण सायन और निरयन दोनों मेषारम्भ एक ही दिन २१ मार्च को होते थे। वर्तमान समय में निरयन मेषारम्भ १३ अप्रैल को होता है। इसलिए बिहार रिसर्च सोसाइटी ने आर्यभट जयन्ती की तिथि १३ अप्रैल सुनिश्चित की है जो उचित एवं तथ्यपरक है।

आर्य सिद्धान्त के कुछ उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि यह आर्यभट की पहली रचना हो सकती है, क्योंकि आर्यसिद्धान्त के मानों की अपेक्षा आर्यभटीयम् के मान अधिक शुद्ध और सूक्ष्म हैं। उदाहरणार्थ कुछ मान प्रस्तुत हैं-

		आर्य सिद्धान्त		आर्यभटीयम्	
१.	आकाश कक्षा	३२४०००	योजन	२१६०००	योजन
२.	भूव्यास	१६००	योजन	१०५०	योजन
३.	सूर्यबिम्ब व्यास	६४८०	योजन	४४१०	योजन
४.	चन्द्रबिम्ब व्यास	४८०	योजन	३१५	योजन

इन साक्ष्यों के आधार पर स्वतः सिद्ध हो जाता है कि आचार्य अपनी ही मान्यताओं में यदि संशोधन कर रहे हैं तो निश्चय ही उसके पीछे कोई गहन अनुसन्धान ही कारण होगा। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि संशोधित रचना निःसन्देह बाद की होगी। इसी के साथ यहां संदेह का भी अवसर बनता है कि इतनी प्रौढ़ रचना २३ वर्ष की आयु में सम्भव नहीं है। अतः प्रबल सम्भावना है कि आर्यभटीयम् की रचना प्रौढ़ावस्था में हुई हो, क्योंकि आचार्य ने ग्रन्थ रचना के काल का निर्देश नहीं किया है। उन्होंने केवल यही कहा है ३६०० कलिवर्ष बीतने पर उनकी आयु २३ वर्ष की थी।

आर्यभटीयम् के ऊपर प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ अन्य अनेक विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं में भाष्य किये हैं। प्राचीन भाष्यकारों में भास्कर प्रथम, प्रभाकर, सोमेश्वर, सूर्यदेव यज्वा, परमेश्वर, यल्लय, नीलकण्ठ सोमयाजी, रघुनाथ राजा आदि प्रमुख है। कोदण्ड रामा और विरूपाक्ष का तेलगु भाष्य तथा घटी गोपा का मलयालम भाष्य प्रसिद्ध है। आचार्य बलदेव मिश्र एवं डॉ० रामनिवास राय का हिन्दी अनुवाद तथा डॉ० कृपाशंकर शुक्ल का अंग्रेजी अनुवाद आज भी सुलभ हैं।

●

भारतीय ज्योतिष में जैन परम्परा

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

ज्योतिष के क्षेत्र में जैन आचार्यों का भी वहुत वड़ा योगदान हैं। जैन साहित्य में ज्योतिष ग्रन्थों का विपुल भण्डार हैं। ज्योतिष के क्षेत्र में फलित और गणित की समानताओं के होने पर भी जैन-ज्योतिष में जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में कुछ अन्तर हैं। इनका कारण दार्शनिक मान्यताओं में तात्विक अन्तर का होना हैं। जैन ज्योतिष के मूल सिद्धान्तों को सार रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से सिद्धान्त-संहिता-होरा तीनों स्कन्धों से कुछ विषयों पर यहाँ विचार किया गया हैं।

१. ग्रह भ्रमण का केन्द्र

जैनाचार्यों ने ग्रह-भ्रमण का केन्द्र सुमेरु पर्वत को माना है, जवकि अन्यत्र ध्रुव देश या निरक्ष को केन्द्र माना है। जहाँ वैदिक आचार्यों द्वारा सम्पूर्ण गणित और फलित ध्रुव केन्द्र के आधार पर प्रतिष्ठित है, वहाँ जैनाचार्यों का ग्रह गणित सुमेरु केन्द्र[1] के आधार पर स्थित है। ग्रह नित्य गतिशील[2] होते हुए मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। ग्रहों की गति द्वारा ही काल की स्थिति[3] मानी जाती है। जैन मान्यता के अनुसार इस जम्बू द्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा माने गये हैं। एक सूर्य जम्बू द्वीप की पूरी प्रदक्षिणा दो अहोरात्र में करता है। सूर्य प्रदक्षिणा की गति उत्तरायण और दक्षिणायन इन दो भागों में विभक्त है और इनकी वीथियाँ-गमन मार्ग १८३ से कुछ अधिक है, जो सुमेरु की प्रदक्षिणा के रूप में गोल, किन्तु बाहर की ओर फैलते हुए हैं। इन मार्गो की चौड़ाई ४८/६१ योजन है तथा एक मार्ग से दूसरे मार्ग का अन्तर दो योजन बतलाया गया है। इस प्रकार कुछ भागों की चौड़ाई और अन्तरालों का प्रमाण ५१० योजन है, जो कि ज्योतिषशास्त्र की परिभाषा में चार (संचार) क्षेत्र कहलाता है। ५१० योजन में से १८० योजन चार क्षेत्र जम्बू द्वीप में और अवशेष ३३० योजन लवण समुद्र में हैं।[4] सूर्य एक मार्ग को लगभग दो दिन में पूरा करता है, जिससे ३६६ दिन या एक वर्ष उसे पूरा करने में लगता हैं।

सूर्य जब जम्बूद्वीप के अन्तिम आभ्यन्तर मार्ग से बाहर की ओर निकलता हुआ लवण समुद्र की ओर जाता है, तब बाह्य लवण समुद्र के अन्तिम मार्ग पर चलने तक के काल को दक्षिणायन और जब सूर्य लवण समुद्र के बाह्य अन्तिम मार्ग से भ्रमण करता हुआ

---

१. तत्वार्थसूत्र ४/१३।

२. तत्वार्थसूत्र, ४/१३।

३. वही, ४/१४।

४. तिलोयपण्णत्ति, ७/११७।

आभ्यन्तर जम्बूद्वीप की ओर आता है, उसे उत्तरायण कहते हैं। इस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन वर्षमान, योजनात्मिका गति एवं भ्रमण मार्गों की स्थिति सुमेरु के आधार पर ही वर्णित हैं।

इतना ही नहीं 'विषुव' का विचार भी सुमेरु के अनुसार ही बतलाया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'त्रिलोकसार' और 'जम्बूद्वीपपण्णत्ति' में 'विषुव' का विचार उक्त केन्द्रानुसार ही किया गया है। यहाँ इस विचार को स्पष्ट करने के लिये नाक्षत्र, चान्द्र, सावन और सौर मानों का प्रतिपादन किया जाता है। जैन चिन्तकों ने पञ्चवर्षात्मक युग का मान श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से माना[1] हैं।

एक नाक्षत्र वर्ष = ३२७ ५१/६७ दिन

एक चान्द्र वर्ष = ३५४ १२/६२ दिन

एक सावन वर्ष = ३६० दिन

एक सौर वर्ष = ३६६ दिन

आधिक मास सहित एक चान्द्र वर्ष = ३८३ दिन २१ १८/६२ मुहूर्त्त।

सुमेरु केन्द्रानुसार एक पंचवर्षीय युग में चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र का भोग (संयोग) ६७ बार करता है। ये ही ६७ चन्द्रमा के भगण कहलाते हैं। अतः पंचवर्षीय एक युग के दिनादि का मान इस प्रकार होगा–

एक युग में सौर दिन	= १८००
एक युग में चान्द्र मास	= ६२
एक युग में चान्द्र दिन	= १८६०
एक युग में क्षय दिन	= ३०
भगण या नक्षत्रोदय	= १८३०
चान्द्र भगण	= ६७
चान्द्र सावन दिन	= १७६८
एक अयन से दूसरे अयन पर्यन्त सौर दिन	= १८०
एक अयन से दूसरे अयन तक सावन दिन	= १८३

---

१. सावण बहुल पंडिवये-सूरप्रज्ञप्ति।

चान्द्र वर्ष = २९ ३२/६२ × १२ = ३५४ १२/६२ अधिक मास सहित चान्द्र वर्ष = ३८३ ४४/६२ दिन

सौर वर्ष = ३० १/२ × १२ = ३६६ दिन, यहाँ १/२ मान गणित के अनुसार पूरा नहीं आता हैं।

किन्तु १/३६६ मुहूर्त का अन्तर आता है। अतएव वर्ष ३६५ दिन से कुछ अधिक होता है, जो कि आजकल के वर्षमान के तुल्य हैं।

जैन मनीषियों ने तिथि का आनयन भी उक्त प्रक्रिया द्वारा ही किया हैं, जो इस प्रकार है-जो चान्द्र संवत्सर में ३५४ १२/६२ दिन होते है, अतएव एक चान्द्र मास में ३५४ १२/६२ १२ = २९ ३२/६२ दिन होते है और एक चन्द्रमास में दो पक्ष होते हैं। इसलिए २९ ३२/६२ दिन = २९ ३२/६२ × १५ मुहूर्त = ४४२ ४६/६२ मुहूर्त शुक्ल पक्ष और इतने ही मुहूर्त कृष्ण पक्ष के भी होते है। इसी हिसाब से एक तिथि का मान = २९ ३२/६२ ३० दिन = ६१/६२ दिन = ६१/६२ × ३० × ३० = २५ ३२/६२ मुहूर्त। तिथि के भी दिन और रात्रि के भेद से दो भेद हैं। सौर दिन की अपेक्षा से दिन तिथि और रात्रि तिथि के पाँच-पाँच भेद हैं। इस प्रकार पर्व तिथियों, दैनिक तिथियों एवं सौर तिथियों का आनयन भी मेरु केन्द्र के आधार पर किया है। पञ्चवर्षात्मक युग का मान मानकर पञ्चांग गणित और ग्रह गणित दोनों की साधनिका उक्त गणनानुसार घटित की गयी है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जैन चिन्तकों द्वारा निरूपित मान में किंचित् स्थूलता है, और उत्तरकालीन ज्योतिषियों द्वारा प्रतिपादित मान में सूक्ष्मता है।

इस स्थूलता का परिहार महेन्द्र सूरि ने नाड़ी वृत्त के धरातल में गोल पृष्ठस्थ सभी वृत्तों का परिणमन करके नयी विधि द्वारा किया है। इनके इस ग्रन्थ का नाम यन्त्रराज है। इस ग्रन्थ पर मलयेन्दु सूरिकी संस्कृत टीका भी है। सुमेरु केन्द्र मानने पर भी परमा क्रान्ति तेईस अंश पैतीस कला मानी गयी है। इसमें क्रमोत्क्रमज्यानयन, भुजकोटिज्या का चाप साधन क्रान्तिसाधन द्युज्याखण्डसाधन, द्युज्याफलानयन, अक्षांश से उन्नतांश साधन, अभीष्ट वर्ष के ध्रुवादि का साधन, दृक्कर्म साधन, द्वादश राशियों के विभिन्न वृत्त सम्बन्धी गणितों का साधन, इष्टशंकु से छायाकर्ण-साधन, यन्त्र शोधन प्रकार और उसके अनुसार विभिन्न

आभ्यन्तर जम्बूद्वीप की ओर आता है, उसे उत्तरायण कहते हैं। इस प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन वर्षमान, योजनात्मिका गति एवं भ्रमण मार्गों की स्थिति सुमेरु के आधार पर ही वर्णित हैं।

इतना ही नहीं 'विषुव' का विचार भी सुमेरु के अनुसार ही बतलाया गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'त्रिलोकसार' और 'जम्बूद्वीपपण्णत्ति' में 'विषुव' का विचार उक्त केन्द्रानुसार ही किया गया है। यहाँ इस विचार को स्पष्ट करने के लिये नाक्षत्र, चान्द्र, सावन और सौर मानों का प्रतिपादन किया जाता है। जैन चिन्तकों ने पञ्चवर्षात्मक युग का मान श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से माना[1] हैं।

एक नाक्षत्र वर्ष = ३२७ ५१/६७ दिन

एक चान्द्र वर्ष = ३५४ १२/६२ दिन

एक सावन वर्ष = ३६० दिन

एक सौर वर्ष = ३६६ दिन

आधिक मास सहित एक चान्द्र वर्ष = ३८३ दिन २१ १८/६२ मुहूर्त्त।

सुमेरु केन्द्रानुसार एक पंचवर्षीय युग में चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र का भोग (संयोग) ६७ बार करता है। ये ही ६७ चन्द्रमा के भगण कहलाते हैं। अतः पंचवर्षीय एक युग के दिनादि का मान इस प्रकार होगा-

एक युग में सौर दिन	= १८००
एक युग में चान्द्र मास	= ६२
एक युग में चान्द्र दिन	= १८६०
एक युग में क्षय दिन	= ३०
भगण या नक्षत्रोदय	= १८३०
चान्द्र भगण	= ६७
चान्द्र सावन दिन	= १७६८
एक अयन से दूसरे अयन पर्यन्त सौर दिन	= १८०
एक अयन से दूसरे अयन तक सावन दिन	= १८३

१. सावण वहुल पंडिवये-सूरप्रज्ञप्ति।

चान्द्र वर्ष = २६ $^{३२}/_{६२}$ × १२ = ३५४ $^{१२}/_{६२}$ अधिक मास सहित चान्द्र वर्ष = ३८३ $^{४४}/_{६२}$ दिन

सौर वर्ष = ३० $^{१}/_{२}$ × १२ = ३६६ दिन, यहाँ $^{१}/_{२}$ मान गणित के अनुसार पूरा नहीं आता हैं।

किन्तु $^{१}/_{३६६}$ मुहूर्त का अन्तर आता है। अतएव वर्ष ३६५ दिन से कुछ अधिक होता है, जो कि आजकल के वर्षमान के तुल्य हैं।

जैन मनीषियों ने तिथि का आनयन भी उक्त प्रक्रिया द्वारा ही किया हैं, जो इस प्रकार है-जो चान्द्र संवत्सर में ३५४ $^{१२}/_{६२}$ दिन होते है, अतएव एक चान्द्र मास में ३५४ $^{१२}/_{६२}$ १२ = २६ $^{३२}/_{६२}$ दिन होते है और एक चन्द्रमास में दो पक्ष होते हैं। इसलिए २६ $^{३२}/_{६२}$ दिन = २६ $^{३२}/_{६२}$× १५ मुहूर्त = ४४२ $^{४६}/_{६२}$ मुहूर्त शुक्ल पक्ष और इतने ही मुहूर्त कृष्ण पक्ष के भी होते है। इसी हिसाब से एक तिथि का मान = २६ ३२/६२ ३० दिन = $^{६१}/_{६२}$ दिन = ६१/६२ × ३० × ३० = २५ $^{३२}/_{६२}$ मुहूर्त। तिथि के भी दिन और रात्रि के भेद से दो भेद हैं। सौर दिन की अपेक्षा से दिन तिथि और रात्रि तिथि के पाँच-पाँच भेद हैं। इस प्रकार पर्व तिथियों, दैनिक तिथियों एवं सौर तिथियों का आनयन भी मेरु केन्द्र के आधार पर किया है। पञ्चवर्षात्मक युग का मान मानकर पञ्चांग गणित और ग्रह गणित दोनों की साधनिका उक्त गणनानुसार घटित की गयी है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जैन चिन्तकों द्वारा निरूपित मान में किंचित् स्थूलता है, और उत्तरकालीन ज्योतिषियों द्वारा प्रतिपादित मान में सूक्ष्मता है।

इस स्थूलता का परिहार महेन्द्र सूरि ने नाड़ी वृत्त के धरातल में गोल पृष्ठस्थ सभी वृत्तों का परिणमन करके नयी विधि द्वारा किया है। इनके इस ग्रन्थ का नाम यन्त्रराज है। इस ग्रन्थ पर मलयेन्दु सूरिकी संस्कृत टीका भी है। सुमेरु केन्द्र मानने पर भी परमा क्रान्ति तेईस अंश पैतीस कला मानी गयी है। इसमें क्रमोत्क्रमज्यानयन, भुजकोटिज्या का चाप साधन क्रान्तिसाधन द्युज्याखण्डसाधन, द्युज्याफलानयन, अक्षांश से उन्नतांश साधन, अभीष्ट वर्ष के ध्रुवादि का साधन, दृक्कर्म साधन, द्वादश राशियों के विभिन्न वृत्त सम्बन्धी गणितों का साधन, इष्टशंकु से छायाकर्ण-साधन, यन्त्र शोधन प्रकार और उसके अनुसार विभिन्न

राशि और नक्षत्रों के गणित का साधन, द्वादश भाव और नवग्रहों के स्पष्टीकरण का गणित एवं ग्रह साधन द्वारा तिथि नक्षत्रादि गणित का साधन किया गया है। अतएव संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मेरु को केन्द्र मानने पर भी ग्रहों के साधन में विशेष अन्तर नहीं आता है। स्पष्ट ग्रहों के आनयनार्थ जो ऋणात्मक या धनात्मक संस्कार किये जाते हैं, उनका वर्णन भी 'सूर्यपण्णत्ति' ज्योतिष्करण्डक एवं यन्त्रराज आदि ग्रन्थों में आया हैं।

ग्रह-कक्षा एवं ग्रह-गति सम्बन्धी विशेषताएँ

ग्रह कक्षाओं का वर्णन सूर्य सिद्धान्त, सिद्धान्त शिरोमणि, सिद्धान्त तत्व विवेक आदि जैनेतर ग्रन्थों में आया हैं। जैन ग्रन्थों में भी ग्रह कक्षाओं का निर्देश सर्वार्ध सिद्धि, राजवार्तिक, तिलोयसार, तिलोयपण्णत्ति एवं जम्बूदीवपण्णत्ति जैसे ग्रन्थों में भी सर्वत्र विद्यमान हैं।

जैन मनीषियों ने बतलाया है कि इस समान भूमितल से ७१० योजन ऊपर तारागण विचरण करते हैं। इससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य की कक्षा हैं। इससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा की कक्षा हैं। चन्द्रकक्षा से चार योजन ऊपर नक्षत्र कक्षा है और इससे चार योजन ऊपर बुध कक्षा हैं। बुध कक्षा से तीन योजन ऊपर शुक्र कक्षा, शुक्र कक्षा से तीन योजन ऊपर बृहस्पति कक्षा और बृहस्पति कक्षा से तीन योजन ऊपर भौम कक्षा और तीन योजन ऊपर शनिश्चर कक्षा हैं। इस प्रकार ग्रहों की कक्षाएँ तिर्यक रुप से अवस्थित[1] हैं।

जैन मान्यता में भी वातवलयों के आधार पर भूमि और ग्रह कक्षाओं को अवस्थित माना हैं। लोक को वातवलय वेष्टित किये हुए हैं और ग्रह कक्षाएँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति द्वारा अवस्थित हैं। ग्रह कक्षाओं की स्थिति में जो अन्तर दिखलाई पड़ता हैं, उस अन्तर के रहने पर सूक्ष्म गणित मान में कोई विशेष भेद नहीं आता है। अवएव ग्रह कक्षाओं की दृष्टि से जैन ज्योतिष की अपनी विशेषता हैं।

ग्रहगति सम्बन्धी विशेषता

जैनाचार्यों ने गगन खण्ड कर ग्रहों की गतियों का आनयन किया है। यह गति तीन प्रकार की हैं-(१) गगन खण्डात्मक, (२) योजनात्मक और (३) अंशात्मक। गगनखण्डात्मक गति का आनयन त्रिलोकसार में किया गया है। इसी ग्रन्थ के आधार पर योजनात्मिका गति भी निकाली जा सकती हैं। अंशकलात्मक गति आनयन की विधि ज्योतिष्करण्डक और यन्त्रराज में वर्णित हैं। यों तो सूर्यादि ग्रह के गमन मार्ग दीर्घ वृत्ताकार हैं। अतः उससे अंशात्मक गति के निकालने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं आती हैं। आरम्भ में योजनात्मिका गति को कलात्मिका गति बनाने की युक्ति दी गयी हैं। गगनखण्डों को प्रतिविकलात्मक माना गया हैं।

---

१. तिलोयसार, गाथा ३३२ तथा सर्वार्ध सिद्धि, ज्ञानपीठ संस्करण, पृष्ठ-२४५।

चन्द्र गगन खण्ड = १७६८

रवि गगन खण्ड = १८३० } ये गमन करने के कलात्मक खण्ड हैं, सूक्ष्म गणित
नक्षत्र गगन खण्ड =१८३५ } के अनुसार इनका चापात्मक मान प्रतिविकलात्मक हैं।

अभिजित् का मान ६३० गगनखण्ड, जघन्य नक्षत्रों का १८०५ गगन खण्ड, मध्यम नक्षत्रों के २०१० गगन-खण्ड, उत्तम नक्षत्रों के ३०१५ गगनखण्ड हैं। यह नक्षत्रों की कलात्मक मर्यादा का मान हैं।

ग्रहण विषयक विशेषता

ग्रहण के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही विचार होता आ रहा हैं। जिस प्रकार मेघ सूर्य को ढ़क देता है, वैसे ही राहु चन्द्र को और केतु सूर्य के विमान को आच्छादित कर देता हैं। इस मान्यता की समीक्षा उत्तरकालीन ज्योतिषियों ने करते हुए ग्रहण का यथार्थ कारण अवगत कर गणित द्वारा आनयन का प्रयास किया है। छादक, छाद्य, छादनकाल और छादन की स्थिति का आनयन गणित प्रक्रिया द्वारा किया गया हैं। तिलोयपण्णत्ती में राहु और केतु को ग्रहण का कारण बतलाया है तथा गणित विधि द्वारा ग्रहण की आनयन विधि को प्रस्तुत किया है। यन्त्रराज में सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का विवेचन करते हुए लम्बन, और नति का आनयन कर ग्रहण की स्थिति ज्ञात की है। तिलोयपण्णत्ती में चन्द्रमा की कलाओं और ग्रहण को अवगत करने के लिए चन्द्र विम्ब से चार प्रमाणांगुलि नीचे कुछ कम एक योजन विस्तार वाले कृष्ण वर्ण के दो प्रकार के राहुओं की कल्पना की गई है। इनमें एक तो दिनराहु और दूसरा पर्वराहु के विमान का बाहुल्य २५०/८००० योजन है। दिन राहु की गति चन्द्रमा की गति के समान मानी गयी है और उसे ही चन्द्रकलाओं का कारण कहा[१] हैं।

पर्व राहु चन्द्र ग्रहण का कारण है। राहु का इस स्थिति में आना गति विशेष के कारण नियमित रूप से होता हैं। सूर्य के १८४ वलय माने हैं। प्रत्येक वलय का विस्तार सूर्य व्यास के समान है, तथा प्रथम वलय और मेरु के बीच का अन्तराल ४४८२० योजन हैं। चन्द्र का भी इतना ही अन्तराल माना गया हैं। प्रत्येक वलय वीथि का अन्तराल दो योजन[२] है। जम्बूद्वीप के मध्य बिन्दु को केन्द्र मानकर सूर्य के प्रथम पथ त्रिज्या ४९८२० योजन है। दोनों सूर्य और चन्द्र सम्मुख स्थित रहते[३] हैं। अन्तिम वलय वृत्त में स्थित रहने पर दोनों

---

१. तिलोयपण्णत्ती, ७/२०१।

२. वही, गाथा, ७/२१६.२१७।

३. वही, ७/२२८।

सूर्यो के बीच का अन्तर २ × (५००३३०) योजन रहता है। सूर्य के वलय वृत्त भी चन्द्र के वलय वृत्त के समान समापन, असमापन और कुन्तल के समान होता है। इस प्रकार चन्द्रमा के पन्द्रह वलय और सूर्य के १८४ वलय होते है। अपनी गगनखण्डात्मक गति के अनुसार जब राहु और चन्द्र एक समान सूत्र में बद्ध जैसे प्रतीत होते है, तो चन्द्र ग्रहण लगता है और केतु जब सूर्य के गमन वलय में समान सूत्र में आ जाता है तो सूर्य ग्रहण होता हैं।

भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न नगरों में ये ग्रहण की स्थिति कब और किस प्रकार घटित होगी इस की जानकारी परिधियों के आनयन द्वारा की गयी हैं जिसे आज की भाषा में अक्षांश और रेखांश कहते हैं। नगरियों की परिधि का विकास क्रम उत्तरोत्तर ७१५७ सही ६/८ और १४७८६ योजन बढ़ता हुआ[1] बतलाया हैं। परिधियों का असमानत्व भी है। इस असमानत्व का आनयन समत्वरण गति द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए यों कहा जा सकता है कि ४८ मिनट में प्रथम वलय की गति ५२५१ सही २९/६० है, तो एक मिनट में कितनी योजन होगी। इस प्रकार योजनात्मक गति निकाल कर ग्रहण का समय आनयन किया है। इस विधि से सूर्य और चन्द्र ग्रहणों का समय प्रत्येक नगर और स्थान में जाना जा सकता हैं।

सृष्टि प्रलय

जैन मान्यता में संसार का कोई स्रष्टा स्वीकार नहीं किया गया है। यह संसार स्वयं सिद्ध हैं, अनादिनिधन हैं, किन्तु भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पण काल के अन्त में खण्ड प्रलय होता है, जिससे कुछ पुण्यात्माओं को, जो विजयार्द्ध की गुफाओं में छिप गये थे, छोड़ सभी जीव नष्ट हो जाते है। उपसर्पण के दुःषम-दुःषम नाम प्रथम काल में जल, दुग्ध और घृत की वृष्टि से जब पृथ्वी स्निग्ध रहने योग्य हो जाती है, तो वे बचे हुए जीव आकर पुनः बस जाते हैं और उनका संसार चलने लगता है। जैन मान्यता में बीस कोड़ा-कोड़ी अद्धा सागर का कल्प काल बताया गया हैं। इस कल्प काल के दो भेद है- एक अवसर्पण और दूसरा उत्सर्पण। अवसर्पण काल के सुषम-सुषम, सुषम-दुःषम, दुःषम-सुषम, दुःषम और दुःषम-दुःषम ये छः भेद तथा उत्सर्पण के दुःषम-दुःषम-सुषम, सुषम-दुषम और सुषम-सुषम ये छः भेद माने गये हैं। सुषम-सुषम का प्रमाण चार कोड़ा-कोड़ी सागर, सुषम का तीन कोड़ा-कोड़ी सागर, सुषम-दुःषम का दो कोड़ा-कोड़ी सागर, दुःषम-सुषम का बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर, दुःषम का इक्कीस हजार वर्ष होता है। प्रथम और द्वितीय काल में भोग-भूमिकी रचना, तृतीय काल के आदि में भोगभूमि और

---

१. तिलोयणण्णत्ति, गाथा ७/२४६।

अन्त में कर्मभूमि की रचना रहती है। इस तृतीय काल के अन्त में चौदह कुलकर उत्पन्न होते है, जो प्राणियों को विभिन्न प्रकार की शिक्षाएँ देते हैं। प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय में जव मनुष्य को सूर्य और चन्द्रमा दिखलायी पड़े, तो वे इनसे सशंकित हुए और अपनी शंका दूर करने के लिए उनके पास गये। उन्होंने सूर्य और चन्द्रमा सम्वन्धी ज्येतिष विषयक ज्ञान की शिक्षा दी। द्वितीय कुल करने नक्षत्र विषयक शंकाओं का निवारण कर अपने युग के व्यक्तियों को आकाश मंडल की समस्त बातें वतलाई।

ठाणांग[1] और प्रश्न व्याकरण अंग में पञ्चवर्षात्मक युग एवं युगानुसार ग्रह नक्षत्र आदि की आनयन विधि प्रतिपादित है। इस प्रकार जैन चिन्तकों ने नक्षत्रों का कुल, उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन का वर्णन किया[2] है। चन्द्रमा के साथ स्पर्श करने वाले एवं उसका वेध करने वाले नक्षत्रों का भी कथन आया[3] है। अतएव इस आलोक में यह कहा जा सकता है कि ग्रहगणित सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ जैन ज्योतिष में समाहित है।

भारतीय ज्योतिर्ग्रन्थों में ज्योतिष्करण्डक पहला जैन ग्रन्थ है, जिसमें लग्न का विचार किया गया है। राशि और लग्न के संबंध में फैली हुई भ्रान्त धारणा कि "भारतीयों ने इन सिद्धान्तों को ग्रीक से अपनाया है", ई० पूर्व शताब्दी में रचे गये उक्त ग्रन्थ से निरस्त हो जाती है।

जातक फल निरूपण संबंधी विशेषताएँ

जैन मान्यता में ग्रह कर्मफल के सूचक बतलाये गये हैं। कुवलयमाला में लिखा है- "पुव्व-कय-कम्म-रइयं सुहं च दुक्खं च जायए देहे" अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के उदय, क्षयोपशम आदि के कारण जीवधारियों को सुख और दुःख की प्राप्ति होती है। सुख-दुःख का देने वाला ईश्वर या अन्य कोई दिव्य शक्ति नहीं है। ग्रह कर्मफल की सूचना देते हैं। अतः वे सूचक निमित्त हैं, कारक निमित्त नहीं। निश्चित राशि और अंशों में रहने वाले ग्रह व्यक्तियों के कर्मोदय, कर्मक्षयोपशम या कर्मक्षय की सूचना देते है। जैन मान्यता में अट्ठासी ग्रह, अगणित नक्षत्र और तारिकाएँ बतलायी गयी हैं, इन इनमें प्रधान नव ग्रह ही हैं, और ये ज्ञानावरणादि कर्मों के सूचक हैं। बृहस्पति को ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम का प्रतीक माना जा सकता है। इसका विचार राशि अंश आदि के अनुसार कर, बाह्य व्यक्तित्व और अन्तरंग व्यक्तित्व का निरूपण किया जाता है। मोक्षगामी व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण प्रधान रूप से बृहस्पति द्वारा ही सम्भव है।

दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशमादि का प्रतीक बुध है। इस ग्रह द्वारा बुध संबंधी

---

१. ठाणांग, ५/३/१० तथा समवायांग ६१ सूत्र।

२. तहा कहन्ते कुला उवकुला कुलावकुला आहितोत्ति वदेज्जा, -प्रश्न व्याकरण १०/५।

३. ठाणांग, ८/१००।

चांचल्य, वाक्-चातुर्य, नेत्रज्योति, आनन्द, उत्साह, विश्वास, अहंकार आदि बातों का विचार किया जाता है। साधारणतः यह आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है।

अनात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा गुरु और बुध इन दोनों प्रतीकों द्वारा (ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न मिश्रित) स्कूलीय शिक्षा, कालेज शिक्षण, वैज्ञानिक प्रगति, साहित्यिक शक्ति, लेखन क्षमता, प्रकाशन क्षमता, धातुओं के परखने की बुद्धि, खण्डन-मण्डन शक्ति, चित्र और संगीत कला आदि का विचार किया जाता है। शारीरिक दृष्टिकोण से इस प्रतीक द्वारा मस्तिष्क, स्नायु क्रिया, जिह्वा, श्रवणशक्ति, ज्ञानेन्द्रियों की अन्तरंग और बाह्यक्षमता आदि का विश्लेषण विवेचन किया जाता है।

वेदनीय कर्मोदय का प्रतीक शुक्र है। शुक्र को शुभ दशा साता वेदनीय की सूचक है और अशुभ दशा असाता वेदनीय की। यह आन्तरिक व्यक्तित्व का भी प्रतीक है। सूक्ष्म मानव चेतनाओं की विधेय क्रियाओं का प्रतिनिधित्व भी इसके द्वारा होता है। प्राणी की भोगशक्ति का परिज्ञान भी शुक्र से प्राप्त किया जाता है।

अन्तराय कर्म क्षयोपशम को मंगल की स्थितियों द्वारा अवगत किया जाता है। यह मानव जाति के कल्याण का प्रतीक है और विभिन्न प्रकार विपत्तियों और बाधाओं का सूचक है। यों इसे बाह्य व्यक्तित्व के मध्यम रूप का व्यञ्जक माना है।

दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम का प्रतीक शनि है। यह समस्त ग्रहों में विशेष महत्वपूर्ण है। मानव प्राणी सांसारिक विषयभोगों में आसक्त हो, आधिभौतिक और आधिदैविक साधनों से त्रस्त हो जब वह आत्मा की ओर उन्मुख होता है, तो दर्शन मोहनीय कर्म के प्रतीक शनि का फलादेश माना जाता है।

चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम का सूचक राहु है। यह विचारशक्ति और क्रिया शक्ति का भी द्योतक है। जिस व्यक्ति पर राहु का पूर्ण प्रभाव रहता है, वह व्यक्ति संसार त्यागी बनता है अथवा घर में उदासीन रूप से निवास करता है। भक्ति योग, असम्प्रज्ञात समाधि, अनासक्त योग, ध्यानावस्था, आत्मानुभूति आदि का प्रतिनिधि भी इसे माना गया है।

आयुकर्मोदय का प्रतीक चन्द्रमा है। चन्द्रमा के द्वारा मनुष्य की आयु, अरिष्ट, मानसिक क्षमता, आन्तरिक शक्ति आदि का ज्ञान किया जाता है। शरीर पर इसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है।

आत्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से यह संवेदन, आन्तरिक इच्छा, उतावलापन, भावना, कल्पना सतर्कता एवं लाभेच्छा पर प्रभाव डालता है।

गोत्र कर्म का प्रतीक केतु ग्रह है। यह जीवन की उच्च एवं नीच भावनाओं की अभिव्यंजना करता है। इसके द्वारा कुल, जाति एवं रहन-सहन की जानकारी प्राप्त की जाती है। केतु को कष्ट और विपत्तियों के विश्लेषण का प्रतीक भी माना गया है।

नामकर्मोदय का प्रतीक रवि या सूर्य है। इसकी सात किरणें मानी गयी हैं, जो मोहनीय और गोत्रकर्म की छोड़ शेष कर्मों की अभिव्यंजना करती हैं। मनुष्य विकास में सहायक इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन तीनों की सूचना सप्त किरणों द्वारा प्राप्त होती है। आत्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से यह प्रभुता, ऐश्वर्य, प्रेम, उदारता, महत्वाकांक्षा, आत्मविश्वास, आत्मनियन्त्रण, विचार और भावनाओं का संतुलन एवं सहृदयता का प्रतीक है। इस प्रकार जैन चिन्तकों के अनुसार ग्रहों का फलसूचक निमित्त के रूप में उपस्थित होता है। व्यक्ति अपने प्रबल पुरुषार्थ द्वारा, सूचित फलादेश में उत्कर्ष, अपकर्ष, संक्रमण आदि कर सकता हैं।

स्वप्न शास्त्र एवं निमित्त शास्त्र सम्बन्धी विशेषताएँ

जैन मान्यता में शरीर के स्वस्थ रहने पर स्वप्न कर्मोदय के अनुसार घटित होने वाले शुभाशुभ फल के द्योतक बतलाये गये है। स्वप्न का अन्तरंग कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय के क्षयोपशम के साथ मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति के जितना अधिक इन कर्मो का क्षयोपशम होगा, उस व्यक्ति के स्वप्नों का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। तीव्र कर्मों के उदय वाले व्यक्तियों के स्वप्न निरर्थक एवं सारहीन होते हैं। इसका मुख्य कारण जैनाचार्यो ने[1] यही बतलाया है कि सुषुप्तावस्था में भी आत्मा तो जागृत ही रहती है। केवल इन्द्रियों और मन की शक्ति विश्राम करने के लिए सुषुप्त सी हो जाती है, पर ज्ञान की उज्ज्वलता से क्षयोपशम जन्म शक्ति के कारण निद्रित अवस्था में जो कुछ देखते हैं, उसका सम्वन्ध हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवन से रहता है। इस प्रकार स्पप्न सम्बन्धी विशेषताएँ प्राप्त होती है। दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, भाविक और विकृत ये सात प्रकार के स्वप्न विस्तृत फलादेश सहित निरूपित किये गये हैं। किस स्वप्न का फल कितना किस अवस्था में घटित होता है, इसका भी विचार किया गया है।

बाह्य निमित्तों को देखकर आगे होने वाले इष्टानिष्ट फल का निरूपण निमित्त शास्त्र में आया है। निमित्त शास्त्र विषयक स्वतंत्र रचनाएँ जैनाचार्यों की ही उपलब्ध होती हैं। जैनेतर ज्योतिष में संहिता शास्त्र के अन्तर्गत निमित्त के कतिपय विषयों का विवेचन अवश्य किया गया है पर कुछ विषय ऐसे है, जिसका विवेचन केवल जैन ज्योतिष में ही प्राप्त होता है। व्यंजन, अंग, स्वर, भौम, छिन्न, अन्तरिक्ष, लक्षण और स्वप्न इन आठ निमित्तें में से छिन्न, लक्षण और स्वर का जितना और जैसा विवेचन जैन ज्योतिष में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं। अन्तरिक्ष, अंग, भौम और स्वप्न का संहिता ग्रन्थों में कथन आया है, पर छिन्न और स्वर निमित्त के संबंध में संहिता ग्रन्थ मौन है। ऋषि पुत्र निमित्त शास्त्र और

---

१. भद्रवाहु संहिता, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १/८-१४।

भद्रबाहु निमित्त के साथ ज्ञान दीपिका में छिन्न और स्वर का विस्तारपूर्वक निरूपण आया है। अतएव निमित्त वर्णन की दृष्टि से भी जैन ज्योतिष का पृथक् स्थान है।

ज्योतिष को प्रतिपादन का कारण बतलाते हुए भद्रबाहु संहिता के प्रारम्भ में बताया है कि मुनियों की निर्विघ्न चर्या, श्रावकों के कल्याण एवं राजाओं के राज्य व्यवस्था के परिज्ञानार्थ इस शास्त्र का निरूपण किया जाता है। बीतरागी साधु इस शास्त्र का अध्ययनकर संघ के निर्विघ्न विचरण हेतु विचार करते हैं, और श्रावक अपने कर्तव्य और धर्म के निर्वाह के हेतु परिवेश और परिस्थिति का विचार करते[१] हैं। इस तरह ज्योतिष का उपयोग धर्म, संस्कृति और समाज सेवा के लिये किया गया है।

जैन ज्योतिष साहित्य का उद्भव और विकास

आगमिक दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र का विकास विद्यानुवादांग में किया गया है। षट्खंडागम धवलाटीका[२] में रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट, दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित, रोहष, बल, विजय, नैऋत्य, वरुण, अर्यमन् और भाग्य ये पन्द्रह मुहूर्त आये हैं।[३]

मुहूर्तों की नामावली वीरसेन स्वामी की अपनी नहीं है, किन्तु पूर्व परम्परा से प्राप्त श्लोकों को उन्होंने उद्घृत किया है। अतः मुहूर्त चर्चा पर्याप्त प्राचीन है।

प्रश्नव्याकरण में नक्षत्रों की मीमांसा कई दृष्टिकोणों से की गई है। समस्त नक्षत्रों को कुल, उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन कर वर्णन किया गया है। यह वर्णन प्रणाली ज्योतिष के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, उत्तरा फाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, मूल एवं उत्तराषाढ़ ये नक्षत्र कुलसंज्ञक, श्रवण, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहणी, पुनर्वसु, अश्लेषा, पूर्वफल्गुनी, हस्त स्वाति एवं पूर्वाषाढ़ा ये नक्षत्र उपकुलसंज्ञक और अभिजित, शतभिषा, आर्द्रा एवं अनुराधा कुलोपकुल संज्ञक है। यह कुलोपकुल का विभाजन पूर्णमासी को होने वाले नक्षत्रों के आधार पर किया गया है। अभिप्राय यह है कि श्रावण मास के धनिष्ठा, श्रवण और अभिजित् भाद्रमास के उत्तराभाद्रपद, पूर्वाभाद्रपद और शतभिषा, आश्विन मास के अश्विनी और रेवती, कार्तिक मास के कृत्तिका और भरणी, अगहन या मार्गशीर्ष मास के मृगशिरा और रोहिणी, पौष मास के पुष्य, पुनर्वसु और आर्द्रा, माघ मास के मघा और अश्लेषा, फाल्गुन मास के उत्तराफल्गुनी और पूर्वाफल्गुनी, चैत्रमास के चित्रा और हस्त, वैशाख मास के विशाखा और स्वाती, ज्येष्ट मास के ज्येष्ठा, मूल और अनुराधा एवं आषाढ़ मास के

---

१. भद्रबाहु संहिता, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, १/८-१४।

२. धवलाटीका, जिल्द ४, पृ० ३१८।

३. वैदिक वाङ्मय में शंकु की छाया के आधार पर मुहूर्त्तों का विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार है- १. रौद्र, २. श्वेत, ३. मैत्र, ४. सारभट, ५. सावित्र, ६. वैराज, ७. विश्वावसु, ८. अभिजित् इस क्रम तथा अभिजित् से व्युत्क्रम से १५ मुहूर्त कहे गये हैं।

उत्तराषाढ़ा और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र बताये गये हैं।[1] प्रत्येक मास की पूर्णमासी को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुलसंज्ञक, दूसरा उपकुलसंज्ञक और तीसरा कुलोपकुल संज्ञक होता है। इस वर्णन का प्रयोजन इस महीने का फल निरूपण करना है। इस ग्रन्थ में ऋतु, अयन, मास, पक्ष और तिथि संबंधी चर्चाएँ भी उपलब्ध हैं।

समवायांग में नक्षत्रों की ताराएँ, उनके दिशाद्वार आदि का वर्णन है। कहा गया है- ''कत्ति-आइया सत्तणमवत्ता पुव्वदारिया। मराइया सत्तषमवत्ता दाहिणदारिआ। अणुराहा-इया सत्तणक्खत्ता। धाणिट्ठाइया सत्तणक्खत्ता उत्तरदारिया।[2] अर्थात् कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और अश्लेषा ये सात नक्षत्र पूर्वद्वार, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तराफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति और विशाखा ये नक्षत्र दक्षिणद्वार, अनुराधा, ज्येष्ठ, मूल पूर्वाषाढ़ा उत्तरषाढ़ा अभिजित् और श्रवण ये सात नक्षत्र पशिचमद्वार एवं धनिष्ठा, शतभिषा पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी और भरणी ये सात नक्षत्र उत्तर द्वार वाले हैं। समवायांग १/६, २/४, ३/२, ५/८ में आयी हुई ज्योतिष चर्चाएँ महत्वपूर्ण है।

ठाणांग में चन्द्रमा के साथ स्पर्श योग करने वाले नक्षत्र का कथन किया गया है। वहाँ बतलाया गया है- कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा ये आठ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ स्पर्श योग करने वाले हैं। इस योग का फल तिथियों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार नक्षत्रों की अन्य संज्ञाएँ तथा उत्तर, पशिचम, दक्षिण और पूर्व दिशा की ओर से चन्द्रमा के साथ योग करने वाले नक्षत्रों के नाम और उनके फल विस्तार पूर्वक बतलाये गये हैं। ठाणांग में अंगारक, काल, लोहिताक्ष, शनैश्चर कनक, कनक-कनक, कनकवितान, कनक-संतानक, सोमहित, आश्वासन, कज्जोवग, कर्वट, अयस्कर, दंदुयन, शंख, शंखवर्ण, इन्द्राग्नि, धूमकेतु, हरि, पिंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्त, भानवक्र, काश, स्पर्श, धुर, प्रमुख, विकट, विसन्धि, विमल, पीपल, जटिलक, अरुण, अगिल, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सौवास्तिक, वर्द्धमान, पुष्पमानक, अंकुश, प्रलम्ब, नित्यलोक, नित्योदयित, स्वयंप्रभ, उसम, श्रेयंकर, प्रेयंकर, आयंकर, प्रभंकर अपराजित, अरज, अशोक, विगतशोक, निर्मल, विमुख, वितत, विलस्त, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवर्तक, एकजटी, द्विजटी, करकरीक, राजगल, पुष्पकेतु एवं भावकेतु आदि ८८ ग्रहों के नाम बताए गये हैं।[3] समवायांग में भी उक्त ८८ ग्रहों का कथन आया है।

ऐतिहासज्ञ विद्वान् गणित ज्योतिष से भी फलित को प्राचीन मानते हैं। अतः अपने कार्यों की सिद्धि के लिये समयशुद्धि की आवश्यकता आदिम-मानव को भी रही होगी। इसी

---

१. प्रश्नव्याकरण, १०५।
२. समवायांग, सं. ७, सं. ५ ।
३. ठाणांग, पृ० ९८-१०००।

कारण जैन आगम ग्रन्थों में फलित ज्योतिष के बीज-तिथि नक्षत्र, योग, करण, वार, समयशुद्धि, दिनशुद्धि आदि की चर्चाएँ विद्यमान है।

जैन ज्योतिष-साहित्य का सांगोपांग परिचय प्राप्त करने के लिये निम्न चार कालखण्डों में विभाजित कर हृदयंगम करने में सरलता होगी।

आदिकाल - ई० पू० ३०० से ६०० ई० तक।

पूर्वमध्यकाल - ६०१ ई० से १००० ई० तक।

उत्तर मध्यकाल - १००१ ई० से १७०० ई० तक।

अर्वाचीन काल - १७०१ से १९६० ई० तक।

आदिकाल की रचनाओं में सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, अंगविज्जा, लोकविजयन्त्र एवं ज्योतिष्करण्डक आदि उल्लेखनीय है। सूर्यप्रज्ञप्ति प्राकृत भाषा में लिखित एक प्राचीन रचना है। इस पर मलयगिरि की संस्कृत टीका है। ई० सन् से दो-सौ वर्ष पूर्व की यह रचना निर्विवाद सिद्ध है। इस में पंचवर्षात्मक युग मानकर तिथि, नक्षत्रादि का साधन किया गया है। भगवान महावीर शासन तिथि श्रावणकृष्ण प्रतिपदा से, जबकि चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र पर रहता है, युगारम्भ माना गया है।

सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य के गमनमार्ग, आयु, परिवार आदि के प्रतिपादन के साथ पंचवर्षात्मक युग में अयनों के नक्षत्र, तिथि और मास का वर्णन भी किया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय प्रायः सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। विषय की अपेक्षा यह सूर्यप्रज्ञप्ति से अधिक महत्वपूर्ण है इसमें सूर्य की प्रतिदिन की योजनात्मिका गति निकाली गयी है तथा उत्तरायण और दक्षिणायन की वीथियों का अलग-अलग विस्तार निकाल कर सूर्य और चन्द्र की गति निश्चित की गई है। इसके चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान तथा तापक्षेत्र का संस्थान विस्तार से बताया गया है। इसमें समचतुस्र, आदि विभिन्न आकारों का खण्डन कर सोलह वीथियों में चन्द्रमा को समचतुस्र गोल आकार बताया गया है। इसका कारण यह है कि सुषम-सुषम काल के आदि में श्रावणकृष्ण प्रतिपदा के दिन जम्बूद्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व दक्षिण अग्निकोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम-दक्षिण नैऋत्य कोण में चला। अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुस्र संस्थान था, पर उदय होते समय ये ग्रह वर्तुलाकार निकले, अतः चन्द्रमा और सूर्य का आकार अर्धकपीठ-अर्ध समचतुस्र गोल बताया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में छाया साधन किया गया है और छाया प्रमाण पर से दिनमान भी निकाला गया है। ज्योतिष की दृष्टि से यह विषय बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहाँ प्रश्न किया गया है कि जब अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना

---

१. गए वा सेसे वा जाव चऊ भाग गए सेसे वा। चन्द्र प्रज्ञप्ति, ९-५।

शेष रहा? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिए। यहाँ विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर पहले अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत और दो तिहाई भाग अवशेष तथा दोपहर के बाद अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दो तिहाई भाग प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिए। पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिये। पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग नत और तीन चौथाई भाग शेष, डेढ़ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और चार पंचम भाग (४/५ भाग) अवशेष दिन समझना चाहिए।[1] इहं ग्रन्थ में सोल, त्रिकोण, लम्बी, चौकोर वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का आनयन किया गया है। चन्द्रमा के साथ तीस मुहूर्त तक योग करने वाले श्रवण, धनिष्टा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वाफल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल और पूर्वाषाढ़ ये पन्द्रह नक्षत्र बताए गये हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति के १९वें प्राभृत में चन्द्रमा को स्वतः प्रकाशमान बतलाया है तथा इसके घटने बढ़ने का कारण भी स्पष्ट किया है। १९वें प्राभृत में पृथ्वी तल से सूर्यादि ग्रहों की ऊँचाई बतलायी गयी है।

ज्योतिष्करण्ड एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अयनादि के कथन के साथ नक्षत्र लग्न का भी निरूपण किया गया है। यह लग्न निरूपण की प्रणाली सर्वथा नवीन और मौलिक है-

लग्गं च दक्खिणाय विसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे।
लग्गं साईवि सुवेसु पंचसु वि दक्खिणे अयणे।।

अर्थात् अश्विनी और स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये हैं। जिस प्रकार नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को राशि कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को लग्न बताया गया है।

इस ग्रन्थ में कृत्तिकादि, धनिष्ठादि, भरण्यादि, श्रवणादि एवं अभिजित आदि नक्षत्र गणनाओं की विवेचना की गयी है। ज्योतिष्करण्ड का रचना काल ई० पू० ३०० के लगभग है। विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

अंगविज्जा का रचनाकाल कुषाण-गुप्त युग का सन्धिकाल माना माना गया है। शरीर के लक्षणों से अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या चिन्हों से किसी के लिए शुभाशुभ फल का कथन करना ही इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय है। इस ग्रन्थ में कुल साठ अध्याय है। लम्वें अध्यायों का माहात्म्य प्रभृति विषयों का विवेचन किया है। गृह प्रवेश, यात्रारम्भ, वस्त्र, यान, धान्य, चर्या, चेष्टा आदि के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन किया गया है। प्रवासी घर कव और कैसी स्थिति में लौटकर आयेगा, इसका विचार ४५वें अध्याय में किया गया है। ५२वें अध्याय में इन्द्र धनुष, विद्युत, चन्द्रग्रह, नक्षत्र, तारा, उदय, अस्त्र, अमावस्या, पूर्णमासी

मंडल वीथी, युग, संवत्सर, ऋतु मास, पक्ष, लव मुहूर्त, उल्कापात, दिशादाह आदि निमित्तों से फलकथन किया गया है। सत्ताईस नक्षत्र और उनसे होने वाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। संक्षेप में इस ग्रन्थ में अष्टांग निमित्त का विस्तारपूर्वक विभिन्न दृष्टियों से कथन किया गया है।

लोकवियज यंत्र भी एक प्राचीन ज्योतिष रचना है। यह प्राकृत भाषा में ३० गाथाओं में लिखा गया है। इसमें प्रधान रूप से सुभिक्ष, दुर्भिक्ष की जानकारी बतलायी गयी है। आरम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहा है-

पणमिय पयारविंदे तिलोयनाहस्स जगपईवस्स।
पुच्छामि लोयविजयं जंतं जंतूण सिद्धिकायं।।[1]

जगत्पति-नाभिराय के पुत्र त्रिलोकनाथ ऋषभ देव के चरण कमलों में प्रणाम करके जीवों की सिद्धि के लिये लोकविजय यन्त्र का प्रतिपादन किया गया है। कृषि शास्त्र दृष्टि से भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

कालकाचार्यः- यह निमित्त और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा से शककुल साहि को स्ववश किया था तथा गर्दभिल्ल को दण्ड दिया था। जैन परम्परा में ज्योतिष के प्रवर्तकों में इनका मुख्य स्थान है। यदि यह आचार्य निमित्त और संहिता का निर्माण न करते, तो उत्तरवर्ती जैन लेखक ज्योतिष को पाप श्रुत समझकर अछूता ही छोड़ देते।

वराहमिहिर ने बृहज्जातक में कालक संहिता का उल्लेख किया है। इनके मत से ग्रहों का केन्द्र सुमेरू पर्वत है, यह नित्य गतिशील होते हुए मेरू की प्रदक्षिणा करते हैं। चौथे अध्याय में ग्रह-नक्षत्र प्रकीर्णक और तारों का भी वर्णन किया गया है।

पूर्वमध्यकाल में गणित और फलित दोनों ही प्रकार के ज्योतिष का यथेष्ट विकास हुआ। इसमें ऋषिपुत्र, महावीराचार्य, चन्द्रसेन, श्रीधर प्रभृति ज्योतिर्विदों ने अपनी अमूल्य रचनाओं के द्वारा साहित्य की श्री वृद्धि की।

भद्रबाहु के नाम पर अर्हच्चूड़ामणिसार नामक एक प्रश्नशास्त्र संबंधी ७४ प्राकृत गाथाओं में रचना उपलब्ध है। यह रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की है, इसमें तो सन्देह है। हमें ऐसा लगता है कि यह भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई थे, अतः संभव है कि इस कृति के लेखक यह द्वितीय भद्रबाहु ही होंगे। आरम्भ में वर्णों की संज्ञाएँ बतलायी गयी है। अ इ ए ओ, ये चार स्वर तथा क च ट त प य श ग ज ड द ब ल स ये चौदह व्यंजन अलिंगित संज्ञक हैं। इनका सुभग, उत्तर और संकट नाम भी है। आ ई ऐ औ, ये चार

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ० १०७।

स्वर तथा ख छ ठ थ फ ए ष घ झ ढ ध भ व ह ये चौदह व्यंजन दग्ध संज्ञक है। इनका विकट, संकट, अधर और अशुभ नाम भी है। प्रश्न में सभी अलिंगित अक्षर हों, तो प्रश्नकर्ता की कार्य सिद्धि होती है। प्रश्नाक्षरों के दग्ध होने पर भी कार्यसिद्धि का विनाश होता है। उत्तर संज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने से उत्तरतम और उत्तराधर तथा अधर स्वरों से संयुक्त होने पर उत्तर और अधर संज्ञक होते हैं। अधर संज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने पर अधराधरतर संज्ञक होते हैं। दग्धसंज्ञक व्यंजनों से मिलने से दग्धतम संज्ञक होते हैं।[1] इन संज्ञाओं के पश्चात् फलाफल निकाला गया है। जय-पराजय, लाभालाभ, जीवन-मरण आदि का विवेचन भी किया गया है। इस छोटी सी कृति में बहुत कुछ निवद्ध कर दिया गया है। इस कृति की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसमें मध्यवर्ती क ग और त के स्थान पर य श्रुति पायी गयी है।

करलक्खण- यह सामुद्रिक शास्त्र का छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें रेखाओं का महत्व, स्त्री और पुरुष के हाथों के विभिन्न लक्षण, अंगुलियों के बीच के अन्तराल, पर्वों के फल, मणिबन्ध, विद्यारेखा, कुल, धन, उर्ध्व, सम्मान, समृद्धि, आयु, धर्म, व्रत आदि रेखाओं का वर्णन किया है। भाई, वहन, सन्तान आदि की द्योतक रेखाओं के वर्णन के उपरान्त अंगुष्ठ के अधोभाग में रहने वाले यवका विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिपादन किया गया है। यवका यह प्रकरण नौ गाथाओं में पाया जाता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ग्रन्थकार ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है।

इयं करलक्खणमेयं समासओ दंसिअं जइजणस्स।
पुव्वायरिएहि णरं परिक्खउणं वयं दिज्जा।।६१।।

यतियों के लिए संक्षेप में करलक्षणों का वर्णन किया गया है। इन लक्षणों द्वारा व्रत ग्रहण करने वाले की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जव शिष्य में पूरी योग्यता हो, व्रतों का निर्वाह कर सके तथा व्रती जीवन को प्रभावक बना सके, तभी उसे व्रतों की दीक्षा देनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि इस ग्रंथ का उद्देश्य जनकल्याण के साथ नवागत शिष्य की परीक्षा करना ही है। इसका प्रचार भी साधुओं में रहा होगा।

ऋषिपुत्र का नाम भी प्रथम श्रेणी के ज्योतिर्विदों में परिगणित है। इन्हें गर्ग का पुत्र भी कहा गया है। गर्ग मुनि ज्योतिष धुरन्धर विद्वान थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके संवंध में लिखा मिलता है।

जैन आसीज्जगद्वंद्यो गर्गनामा महामुनिः।
तेन स्वयं विनिर्णीते यं सत्पाशास्त्रकेवली।।
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम्।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना।।

---

१. अर्हच्चूड़ामणिसार, गाथा-१०-८ ।

सम्भवतः इन्हीं गर्ग के वंश में ऋषिपुत्र हुए होंगे। इनका नाम ही इस बात का साक्षी है कि किसी ऋषि के वंशज थे अथवा किस मुनि के आर्शीवाद से उत्पन्न हुए थे। ऋषिपुत्र का एक निमित्त शास्त्र ही उपलब्ध है। इनके द्वारा रची गई एक संहिता का भी मदनरत्न नामक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है। ऋषिपुत्र के उद्धरण वृहत्संहिता की महोत्पली टीका में उपलब्ध है।

ऋषिपुत्र का समय वराहमिहिर के पहले होना चाहिए। यतः ऋषिपुत्र का प्रभाव वराहमिहिर पर स्पष्ट है। यह दो एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

ससलोहिवण्णहोवरि संकुण इत्ति होइ णायब्बो।
संगामं पुंण घोरं खग्गंसूरो णिवेदई।। (-ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्र)

शश-रूधिरुरनिभे भानौ नभस्थले भवन्ति संग्रामाः। (-वराहमिहिर)

अपने निमित्त शास्त्र में पृथ्वी पर दिखाई देने वाले, आकाश में दृष्टि गोचर होने वाले और विभिन्न प्रकार के शब्द श्रवण द्वारा प्रगट होने वाले इन तीन प्रकार के मिमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया। वर्षोत्पात, देवोत्पात, राजोत्पात, उल्कोत्पात, गंधर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों द्वारा शुभाशुभत्व की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की है।

हरिभद्र की लग्नशुद्धि या लग्नकुंडिका नाम की रचना मिलती है। हरिभद्र दर्शन, कथा और आगम शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। इनका समय आठवीं शती माना जाता है। इन्होंने १४४० प्रकरण-ग्रंथ रचे हैं। इनकी अब तक ८८ रचनाओं का पता मुनि जिन-विजयजी ने लगाया है। इनकी २६ रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

लग्नशुद्धि प्राकृत भाषा में लिखी गयी ज्योतिष रचना है। इसमें लग्न के फल, द्वादश भावों के नाम, उनसे विचारणीय विषय, लग्न के संबंध में ग्रहों का फल, ग्रहों का स्वरूप, नवांश, उच्चांश आदि का कथन किया गया है। जातकशास्त्र या होराशास्त्र का यह ग्रन्थ है। उपयोगिता की दृष्टि से इसका अधिक महत्व है। ग्रहों के बल तथा लग्न की सभी प्रकार से शुद्धि पापग्रहों का अभाव, शुभग्रहों का सद्‌भाव वर्णित है।

महावीराचार्य-ये धुरन्धर गणितज्ञ थे। ये राष्ट्रकूट वंश के अमोधवर्ष नृपतुंग के समय में हुए थे। अतः इनका समय ई० सन् ८५० माना जाता है। इन्होंने ज्योतिष पटल और गणितसार-संग्रह नाम के ज्योतिष ग्रंथों की रचना की है। ये दोनों ही ग्रन्थ गणितज्योतिष के हैं? इन ग्रन्थों से इनकी विद्वत्ता का ज्ञान सहज ही में आँका जा सकता है। गणितसार के प्रारम्भ में गणित की प्रशंसा करते हुए बताया है कि गणित के बिना संसार के किसी भी शास्त्र की जानकारी नहीं हो सकती है। कामशास्त्र, गान्धर्व, नाटक, सूपशास्त्र, वास्तुविद्या, छन्दःशास्त्र, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण, कला प्रभृति का यथार्थ ज्ञान गणित के बिना सम्भव नहीं है, अतः गणित विद्या सर्वोपरि है।

इस ग्रंथ में संज्ञाधिकार, परिकर्मव्यवहार, कलासवर्णव्यवहार, प्रकीर्ण व्यवहार, त्रैराशिक व्यवहार, मिश्रक व्यवहार, क्षेत्र गणित व्यवहार, खातव्यवहार एवं छायाव्यवहार नाम के प्रकरण है। मिश्रक व्यवहार में समकुट्टीकरण, विषमकुट्टीकरण और मिश्रकुट्टीकरण आदि अनेक प्रकार के गणित है। पाटीगणित और रेखागणित की दृष्टि में इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। इसके क्षेत्र व्यवहार प्रकरण में आयत को वर्ग और वर्ग को वृत्त में परिणित करने के सिद्धान्त दिये गये हैं। समत्रिभुज, विषमत्रिभुज, समकोण, चतुर्भुज, विषमकोण, चतुर्भुज, वृत्तक्षेत्र, सूची व्यास, पंचभुजक्षेत्र एवं बहुभुज क्षेत्रों का क्षेत्रफल तथा घनफल निकाला गया है।

ज्योतिषपटल में ग्रहों के चार क्षेत्र सूर्य के मण्डल, नक्षत्र और ताराओं के संस्थान, गति, स्थिति और संख्या आदि का प्रतिपादन किया है।

चन्द्रसेन- के द्वारा केवलज्ञान होरा नामक महत्वपूर्ण विशालकाय ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ कल्याण वर्मा के पीछे रचा गया प्रतीत होता है। इसके प्रकरण सारावली से मिलते जुलते हैं पर दक्षिण में रचना होने के कारण कर्णाटक प्रदेश के ज्योतिष का पूर्ण प्रभाव है। इन्होंने ग्रन्थ के विषय को स्पष्ट करने के लिये बीच-बीच में कन्नड़ भाषा का भी आश्रय लिया है। यह ग्रन्थ अनुमानतः चार हजार श्लोकों में पूर्ण हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा है-

होरा नाम महाविद्या वक्तव्यं च भवद्धिदम्।
ज्येतिर्ज्ञानैकसारं भूषणं बुधपोषणम्।।

इन्होंने अपनी प्रशंसा भी प्रचुर परिमाण में की है-

आगमः सदृशो जैनः चन्द्रसेनसमो मुनिः।
केवली सद्दशी विद्या दुर्लभा सचराचरे।।

इस ग्रन्थ में हेमप्रकरण, दाम्यप्रकरण, शिलाप्रकरण, मृत्तिकाप्रकरण वृषप्रकरण, कर्पास गुल्म-वल्कल-तृण-रोम-चर्म-पटप्रकरण, संख्याप्रकरण, नष्टद्रव्य प्रकरण, निर्वाह प्रकरण, अपत्य प्रकरण, लाभलाभप्रकरण, स्वरप्रकरण, स्वपन प्रकरण, वास्तु प्रकरण, भोजन प्रकरण, देहलोहदीक्षा प्रकरण, अंजनविद्या प्रकरण एवं विष प्रकरण आदि हैं। ग्रन्थ के आद्योपान्त देखने से अवगत होता है कि यह संहिता विषयक रचना है, होरा विषयक नहीं।

श्रीधर-ये ज्योतिष शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान हैं। इनका समय दशवीं शती का अन्तिम भाग है। ये कर्णाटक प्रान्त के निवासी थे। इनकी माता का नाम अब्बोका और पिता का नाम बलदेव शर्मा था। इन्होंने बचपन में अपने पिता से ही संस्कृत और कन्नड़ साहित्य

का अध्ययन किया था। प्रारम्भ में ये शैव थे, किन्तु बाद में जैन धर्मानुयायी हो गये थे। इनकी गणितसार और ज्योतिर्ज्ञानविधि संस्कृत भाषा में तथा जातकतिलक कन्नड़-भाषा में रचानाएँ हैं। गणित-सार में अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न, समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागनुबन्ध, भागमात्र जाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्डप्रतिमाण्ड, मिश्रक व्यवहार, भाव्यक व्यवहार, एकपत्रीकरण, सुर्वणगणित, प्रक्षेपक, गणित, समक्रय विक्रय, श्रेणी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, खातव्यवहार, चित्रिव्यवहार, काष्ठकव्यवहार, राशिव्यवहार एवं छाया व्यवहार आदि गणितों का निरूपण किया है। सम्भवतः ज्योतिज्ञान विधि और जातक तिलक भी इन्हीं की रचनायें हैं।

मल्लिसेन-संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके पिता का नाम जिनसेन सूरि था, ये दक्षिण भारत के धारदण्ड जिले के अन्तर्गत गदगतालुका नामक स्थान के रहने वाले थे। इनका समय ई० सन् १०४३ माना गया है। इनका आयसद्भाव नामक ज्योतिष ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आरम्भ में ही कहा गया हैः-

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदायसद्भावम्।
तत्सम्प्रत्यार्थाभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन।।
ध्वजधूमसिंहमण्डल वृषाश्वगजवायसा भवन्तयायाः।
ज्ञायन्ते ते विद्वद्‌भिरिहैकोत्तरगणनया चाष्टौ।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इनके पूर्व भी सुग्रीव आदि जैन मुनियों के द्वारा इस विषय की और रचनाएँ भी हुई थीं, उन्हीं के सारांश को लेकर आयसद्भावकी रचना की गई हैं। इस कृति में १९५ आर्याएँ और अन्त में एक गाथा, इस तरह कुल १९६ पद्य है। इसमें ध्वज, धूम, सिंह मण्डल, वृष, खर, गज ओर वायस इन आठों आर्यों के स्वरूप और फलादेश वर्णित हैं।

भट्टवोसरि-आयज्ञानतिलक नामक ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बराचार्य शमनन्दी के शिष्य भट्टवोसरि है। यह प्रश्न-शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें २५ प्रकरण और ४१५ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकर्ता की स्वोपज्ञ वृत्ति भी हैं। दामनन्दीका उल्लेख श्रवणवेल्गोलक शिलालेख नं० ५५ में पाया जाता हैं। ये प्रभाचन्द्राचार्य के सधर्मा या गुरु भाई थे। अतः इनका समय[1] विक्रय संवत् की ११ वीं शती है और भट्टवोसरि का भी समय इन्हीं के आस-पास का हैं।

इस ग्रन्थ में ध्वज, धूम, सिंह, गज, खर, श्वान, वृष, ध्वांक्ष इन आठों आर्यो द्वारा प्रश्नों के फलादेश का विस्तृत विवेचन किया है। इसमें कार्य-अकार्य, हानि-लाभ, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि आदि का विचार विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रश्न शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

---

१. प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, संपादक-जुगलकिशोर मुख्तार, प्रस्तावना, पृष्ठ ९५-९६ तथा पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना, १०१-१०२।

उदयप्रभदेव-इनके गुरु का नाम विजयसेन सूरि था। इनका समय ई० सन् १२२० बताया जाता हैं। इन्होंने ज्योतिष विषयक आरम्भ सिद्धि अपरनाम व्यवहार चर्या ग्रन्थ की रचना की हैं। इस ग्रन्थ पर वि० सं० १५४४ में रत्नशेखरसूरि के शिष्य हेमहंसगणि ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका में इन्होंने मुहूर्त सम्बन्धी साहित्य का अच्छा संकलन किया हैं। लेखक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थोक्त अध्यायों का संक्षिप्त नामकरण निम्न प्रकार दिया हैं।

दैवज्ञदीपकलिकां व्यवहारचर्यामारम्भसिद्धिमुदयप्रभदेवानाम्।
शास्ति क्रमेण तिथिवारमयोगराशि-गोचर्यकार्यगमवास्तुविलग्नाभिः।

हेमहंसगणि ने व्यवहारचर्या नाम की सार्थकता दिखलाते हुए लिखा हैं-

"व्यवहारः शिष्टजनसमाचारः शुभतिथिवारमासादिषु शुभकार्यकरणादिरुपन्तस्य चर्या।" यह ग्रन्थ मुहूर्त चिन्तामणि के समान उपयोगी और पूर्ण है। मुहूर्त विषय की जानकारी इस अकेले ग्रन्थ के अध्ययन से की जा सकती हैं।

राजादित्य-इनके पिता का नाम श्रीपति और माता का नाम वसन्ता था। इनका जन्म कोंडिमण्डल के "यूविनबाग" नामक स्थान में हुआ था। इनके नामान्तर राजवर्म, भास्कर और वाचिराज बताये जाते हैं। ये विष्णुवर्धन राजा की सभा के प्रधान पण्डित थे। अतः इनका समय सन् ११२० के लगभग है। यह कवि होने के साथ-साथ गणित और ज्योतिष के माने हुए विद्वान थे। 'कर्णाटक कवि चरिते' के लेखक का कथन है कि कन्नड़ साहित्य में गणित का ग्रन्थ लिखने वाला यह सबसे बड़ा विद्वान् था। इनके द्वारा रचित व्यवहार गणित, क्षेत्रगणित, व्यवहार रतन तथा जैन-गणित सूत्रटीकोदाहरण और लीलावती ये गणित ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पद्मप्रभ सूरि-नागौर तापागच्छीय पट्टावली से पता चलता है कि ये वादिदेव सूरि के शिष्य थे। इन्होंने भुवनदीपक या ग्रहभावप्रकाश नामक ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ पर सिंहतिलक सूरि ने वि० सं० १३६६ में एक विवृति लिखी है। "जैन-साहित्य का इतिहास" नामक ग्रन्थ में इन्होंने इनके गुरु का नाम विबुधप्रभ सूरि बताया है। भुवनदीपक का रचनाकाल वि० सं० १२४४ है। यह ग्रन्थ छोटा होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, इसमें ३६ द्वार प्रकरण हैं। राशि स्वामी, उच्चनीचदत्व, मित्र-शत्रु राहु का ग्रह, केतुस्थान, ग्रहों के स्वरूप, द्वादश भावों से विचारणीय बातें इष्टकालज्ञान, लग्न सम्बन्धी विचार विनष्टग्रह राजयोग का कथन, लाभालाभ विचार, लग्नेशकी सिथति का फल, प्रश्न द्वारा गर्भ प्रश्न द्वारा प्रसवज्ञान, यमजविचार, मृत्युयोग, चौर्य ज्ञान, द्रेष्काणादिके फलों का विचार विस्तार से किया है। इस ग्रन्थ में कुल १७० श्लोक है। इसकी भाषा संस्कृत हैं।

नरचन्द्र उपाध्याय-ये कासद्रुहगच्छ के सिंहसूरि के शिष्य थे। इन्होंने ज्योतिष शास्त्र के कई ग्रन्थों की रचना की है। वर्तमान में इनके बेड़ा जातक वृत्ति, प्रश्नशतक, प्रश्न

चतुर्विंशतिका, जन्मसमुद्र टीका, लग्नविचार और ज्योतिष प्रकाश उपलब्ध हैं। नरचन्द्र ने सं० १३२४ में माघ सुदी ८ रविवार को बेड़ाजातक वृत्ति की रचना १०५० श्लोक प्रभाव में की है। ज्ञानदीपिका नाम की एक अन्य रचना भी इनकी मानी जाती है। ज्योति प्रकाश, संहिता और जातक संवंधी महत्वपूर्ण रचना है।

अट्ठकवि या अर्हदास-ये जैन ब्राह्मण थे। इनका समय ई० सन् १३०० के आस-पास है। अर्हदान के पिता नागकुमार थे। अर्हदास कन्नड़ भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने कन्नड़ से अट्ठगत नामक ज्योतिष का महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। शक संवत् की चौदहवीं शताब्दी में भास्कर नाम के आन्ध्र कवि ने इस ग्रन्थ का तेलगू भाषा में अनुवाद किया था। अट्ठमत में वर्षा के चिन्ह, आकस्मिक लक्षण, शकुन, वायुचक्र, गृहप्रवेश, भूकम्प, भूजातफल, उत्पात लक्षण, परिवेषलक्षण, इन्द्रधनुर्लक्षण, प्रथमगर्भलक्षण, द्रोणसंख्या, विद्युतलक्षण, प्रतिसूर्यलक्षण, संवत्सरफल, ग्रहद्वेष, मेघों के नाम, कुलवर्ण, ध्वनिविचार, देशवृष्टि, मासफल, राहुचन्द्र, १४ नक्षत्रफल, संक्रान्ति फल आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

महेन्द्रसूरि-ये भृगुपुर[1] निवासी मदन सूरि के शिष्य फिरोज शाह तुगलक के प्रधान सभापण्डित थे। इन्होंने नाड़ीवृत्त के धरातल में गोल पृष्ठ सभी वृत्तों का परिणमन करके यन्त्रराज नामक ग्रह गणित का उपयोगी गन्थ लिखा है। इनके शिष्य मलयेन्दु सूरि ने इस पर सोदाहरण टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में परमाक्रान्ति २३ अंश ३५ कला मानी गयी है। इसकी रचना शक संवत् १२६२ में हुई है। इसमें गणिताध्याय, यन्त्रघटनाध्याय, यन्त्ररचनाध्याय यन्त्रशोधनाध्याय और यन्त्रविचारणाध्याय ये पाँच अध्याय हैं। क्रमोत्क्रमज्यानयन, भुजकोटिज्या का चापसाधन, क्रान्तिसाधक धुज्याखंडसाधन, धुज्याफलानयन, सौम्य गणित के विभिन्न गणितों का साधन, अक्षांश से उन्नतांश साधन, ग्रन्थ के नक्षत्र ध्रुवादिक से अभीष्ट वर्ष के ध्रुवादिक का साधन, नक्षत्रों के दृक्कर्मसाधन, द्वादश राशियों के विभिन्नकृत संवंधी गणितों का साधन, इष्ट शंकु से छायाकरण साधन यन्त्रशोधन प्रकार और उसके अनुसार विभिन्न राशि नक्षत्रों के गणित का साधन, द्वादश भाव और नवग्रहों के स्पष्टीकरण का, गणित एवं विभिन्न यन्त्रों द्वारा सभी ग्रहों के साधन का गणित बहुत सुन्दर ढंग से वताया गया है। इस ग्रन्थ में पंचांग निर्माण करने की विधि का निरूपण किया गया है।

भद्रबाहुसंहिता अष्टांग निमित्त का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भ के २७ अध्यायों में निमित्त और संहिता विषय का प्रतिपादन किया गया है। ३०वें अध्याय में अरिष्टों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ का निर्माण श्रुत केवली भद्रबाहु के वचनों के आधार पर हुआ है। विषयनिरूपण और शैली दृष्टि से इसका रचना काल ८-६वीं शती

---

१. अभूद्भृगपुरे वरे गणक-चक्रचूड़ामणिः कृती नृपतिसंस्तुतो मदनसूरिनामा गुरुः।
तदीयपदशालिना विरचिते सुयन्त्रागमे, महेन्द्रगुरुणोद्धृताजनि विचारणा यन्त्रजा।
-यन्जराज, अ० ५ श्लोक ६७।

के पश्चात् नहीं हो सकता है। हाँ, लोकोपयोगी रचना होने के कारण उसमें समय-समय पर संशोधन और परिवर्तन होता रहता है।

इस ग्रन्थ में व्यंजन, अंग, स्वर, भौम, छत्र, अंतरिक्ष, लक्षण एवं स्वप्न इन आठों निमित्तों का फलनिरूपण सहित विवेचन ग्रहयुद्ध, स्वप्न, मुहूर्त, तिथि, करण, शकुन, पाक, ज्योतिष, वास्तु इन्द्रसम्पदा लक्षण, व्यंजन, चिन्ह, लग्न, विद्या, औषध, प्रभृति सभी निमित्तों के बलाबल, विरोध और पराजय आदि विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। यह निमित्तशास्त्र का बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ है। इससे वर्षा, कृषि, धान्यभाव एवं अनेक लोकोपयोगी बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि के रचयिता समन्तभद्र का समय १३वीं शती है। ये समन्तभद्र विजयप के पुत्र थे। विजयप के बड़े भाई नेमिचन्द्र के प्रतिष्ठातिलक की रचना आनन्द संवत्सर में चैत्रामास की पंचमी को की है। अतः समन्तभद्र का समय १३वीं शती है। इस ग्रन्थ में धातु, मूल, जीव, नष्ट, लाभ, हानि, रोग, मृत्यु, भोजन, शयन, शकुन, जन्म, कर्म, अस्त्र, शल्य, वृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सिद्धि, असिद्धि आदि विषयों का प्ररूपण किया गया है। प्रश्नकर्ता के वाक्य या प्रश्नाक्षरों को ग्रहण कर संयुक्त, असंयुक्त, अभिहित और अभिघातित इन पाँचों द्वारा तथा आलिंगित अभूधूमित और दग्ध इन तीनों क्रियाविशेषणों के द्वारा प्रश्नों के फलाफल का विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में मूक प्रश्नों के उत्तर भी निकाले गये हैं। यह प्रश्न शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

हेमप्रभ-इनके गुरू का नाम देवेन्द्र सूरि था। इनका समय चौदहवीं शती का प्रथम पाद है। संवत् १३०५ में त्रैलोक्य प्रकाश रचना की गयी है। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं- त्रैलोक्यप्रकाश और मेघमाला।[1]

त्रैलोक्यप्रकाश बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ११६० श्लोक हैं। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से फलित ज्योतिष की अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आरम्भ में ११० श्लोकों में लग्न ज्ञान का निरूपण है। यह ग्रन्थ २५ अध्यायों में विभक्त है। तथा जातक एवं संहिता स्कन्ध के अनेक विषयों का समावेष यहाँ किया गया है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा स्वयं ही इन्होंने की है।[2]

श्रीमद्देवेन्द्रसूरीणां शिष्येण ज्ञानदर्पणः।
विश्वप्रकाशः कलितः श्रीहेमप्रभसूरिणा।।

---

१. जैन ग्रंथावली, पृ० ३५६, २. त्रैलोक्य प्रकाश, श्लोक-४३०।

गणित में जैनाचार्यों का योगदान

गणित के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों ने मौलिक रचनायें प्रस्तुत की हैं। उनके अनुसार कुछ बिन्दु यहाँ प्रस्तुत हैं-

गणित के दो प्रधान तत्व हैं-संख्या और आकृति। संख्या से अंकगणित और बीजगणित की उत्पति हुई है तथा आकृति से ज्यामिति और क्षेत्रमिति की। बेबीलोन और सुमेर सभ्यता के समानान्तर ही भारत वर्ष में भी ज्योतिष तथा गणित के सिद्धान्त प्रचलित थे। वैदिक यज्ञ और कुण्डमान के सम्पादनार्थ शुल्वसूत्र एवं वेदांग ज्योतिष का प्रचार ईस्वी सन् से ८०० वर्ष पूर्व ही हो चुका था। कर्मकाण्ड शुभ समय पर सम्पन्न करना आवश्यक माना जाता था। अतः समय शुद्धि को ज्ञान करने के हेतु पंचांग बनने लगे थे। जैन ग्रन्थ ज्योतिषकरण्डक में ग्रीक पूर्व लग्न प्रणाली उपलब्ध होती हैं। जैनाचार्यों के त्रिलोक प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति प्रभृति ग्रन्थों में गणित के अनेक ऐसे मौलिक सिद्धान्त निबद्ध हैं, जो भारतीय गणित में अन्यत्र नहीं मिलते।

भारतीय गणित एवं ज्योतिष के अध्ययन के आधार पर जैनाचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गयी गणित सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओं को निम्नांकित रूप में उपस्थित किया जा सकता हैं-

(१) संख्या स्वरूप निर्धारण एवं संख्याओं का वर्गीकरण।
(२) स्थानमान सिद्धान्त।
(३) घातांक सिद्धान्त।
(४) लघुगणक सिद्धान्त।
(५) अपूर्वांक भिन्न राशियों के विभिन्न उपयोग और प्रकारान्तर।
(६) गति स्थिति प्रकाश प्यवमान गणित सम्बन्धी सिद्धान्त।
(७) ज्यामिति और क्षेत्रमिति सम्बन्धी विभिन्न आकृतियों के प्रकार परिवर्तन एवं रूपान्तरों के गणित।
(८) अलौकिक गणित का निरूपण।
(९) गणित सिद्धान्तों के आध्यात्मिक उपयोग एवं व्यावहारिक प्रयोगों का विवेचन।

संख्या-स्वरूप-

जिससे जीव, अजीव आदि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे संख्या कहते हैं। जैनाचार्यों ने एक से गणना तो मानी है, पर एक को संख्या नहीं माना। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा हैं-

एयादीया गणना बीयादीया दृवंति संखेज्जा।
तीयादीणं णियमा कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा[1]।।
(त्रिलोकसार गाथा १६)

एकादिका गणना द्वयादिका संख्याता भवन्ति त्र्यादीनां नियमात् कृतिरिति संज्ञा ज्ञातव्या। यस्य कृतौ मूलमदनीय शेषे वर्गिते वर्धिते साकृतिरिति। एकस्य द्वयोश्च कृति-लक्षणाभावात् एकस्य नो कृतित्वं द्वयोरवक्तव्यमिति कृतित्वं त्र्यादीनामेव तल्लक्षणयुक्तत्वात् कृतित्वं युक्तम्। -माधवचन्द्र टीका।

अर्थात् एकादि को गणना, दो आदि को संख्या एवं तीन आदि को कृति कहते हैं। एक और दो में कृतित्व नहीं है, यतः जिस संख्या के वर्ग में से मूल को धटाने पर जो शेष रहे, उसका वर्ग करने पर उस संख्या से अधिक राशि की उपलब्धि हो, वही कृति हैं। यह धर्म तीन आदि संख्याओं में ही पाया जाता हैं।

एक के संख्यात्व का निषेध करते हुए लिखा हैं-''इहैको गणना संख्यां न लभते, यतः एकस्मिन् घाटे दृष्टे घटादि वस्तु दूदं विष्ठति इत्यमेव प्रायः प्रतीतिरुपपद्यते, नैक संख्या विषयत्वेन अथवा दानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु न प्रायः कश्चित् गणयति यतोऽसं-व्यवहारर्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसंख्यां लभते तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनसंख्या।''[2]

अर्थात् एककी गिनती गणना संख्या में नहीं है। यतः घट को देख कर यहाँ घट हैं, इसकी प्रतीति होती हैं, उसकी तादाद के विषय में कुछ ज्ञान नहीं होता अथवा दान, समर्पणदि काल में एक वस्तु की प्रायः गिनती नहीं की जाती। इसका कारण असंव्यवहार सम्यक् व्यवहार का अभाव अथवा गिनने से अल्पत्व का बोध होना हैं।

जैनमनीषियों ने गणित के तर्क ज्ञान द्वारा गणना और संख्या में अन्तर व्यक्त किया हैं। संख्या का मूलाधार तत्व 'समूह' है और समूह 'एक' वस्तु से नहीं बनता। समूह का निर्माण दो आदि वस्तुओं से ही होता है, अतः एक को संख्या नहीं कहा जाता। अनुमान यह है-''दो आदि राशियाँ संख्या हैं, क्योंकि इनसे समूहों का निर्माण होता है। जिससे समूह का निर्माण सम्भव न हो, वह संख्या नहीं। एक राशि में समूह निर्माण की क्षमता नहीं है, अतः एक राशि संख्या नहीं हैं''

---

१. संख्यायन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्था येन तज्ज्ञानं संख्येत्युच्यते। सम्यक् रूपाप्यते प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या-अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ७, संख्या शब्द।

२. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ७, पृ० ६७
एयादीय गयणा दो आदीया वि जाय संखेत्ति।
तीयादोणं णियमा कदित्तो सण्णादु वोदव्वा।। घवला टीका ६, पृ० २७६।

अंक विज्ञान का कार्य एक के बिना सम्भव नहीं है। यतः गणना-गिनती एक से मानी जाती है और गणित की समस्त क्रियाएँ इसी अंक से आरम्भ होती है। इस प्रकार गणना और संख्या के सूक्ष्म भेद का विश्लेषण कर गणित सम्बन्धी तार्किक प्रतिभा का परिचय दिया है। आज गणित विज्ञान में तर्क का उपयोग किया जा रहा है और तर्क का आधार गणित को स्वीकार किया जा रहा है।

संख्या की उत्पति एवं उसके लिखने के प्रकार-संख्या की उत्पत्ति के दो कारण हैं-(१) व्यवहारिक या व्यावसायिक और (२) धार्मिक। संख्या ज्ञान के बिना लेन-देन सम्बन्धी कोई भी व्यवहारिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता है। धर्म के साथ भी संख्या का सम्बन्ध हैं। जैनाचार्यों के आत्मानुसन्धान के लिए संख्या का अन्वेषण किया हैं। व्यक्त वस्तुओं के पूर्व ज्ञान द्वारा आत्मा की शक्ति के विकास को अवगत किया जाता हैं।

वैदिक ज्योतिष की तरह ही जैन सहित्य में संख्याओं को लिखने की परम्परा रहीं हैं। विशेषतः तीन परम्पराओं का उल्लेख मिलता हैं-१. अंकों द्वारा, २. अक्षर संकेतों द्वारा, ३. शब्द संकेतों द्वारा।

अक्षर संकेतों द्वारा संख्या की अभिव्यक्ति आचार्य नेमिचन्द्र चर्कवर्ती के गोम्मटसार में उपलब्ध होती है। छेदागम और चूर्णियों में भी यह प्रणाली पायी जाती हैं।

इस क्रमानुसार अंकों का परिज्ञान निम्न प्रकार किया जाता [१]।

क = १, ख = २, ग = ३, घ = ४, ङ = ५, च = ६, छ = ७, ज = ८, झ = ६, ञ = ०, ट = १, ठ = २, ड = ३, ढ = ४, ण = ५, त = ६, थ = ७, द = ८, ध = ६, न = ०, प = १, फ = २, ब = ३, भ = ४, म = ५, य = १, र = २, ल = ३, व = ४, श = ५, ष = ६, स = ७, ह = ८,

अ से अः तक सभी स्वर = ०।

जैन साहित्य में ज्योतिष शास्त्र का विपुल भण्डार हैं। सिद्धान्त संहिता होरा तीनों स्कन्धों पर जैनाचार्यों के महत्वपूर्ण कार्य हैं। जातक स्कन्ध में प्रायः प्राचीन भारतीय ज्योतिष शास्त्र के ही विषय है। किन्तु संहिता और सिद्धान्त में कुछ मौलिक में कार्य भी है। सैद्धान्तिक विषयों के सामान्य परिचय के अनन्तर कुछ गणितीय विषयों का उल्लेख भी आवश्यक हैं।

भगवान महावीर की वाणी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग ओर द्रव्यानुयोग, इन चार अनुयोगों में विभाजित है। करणानुयोग में अलौकिक और लौकिक गणित शास्त्र सम्वन्धित तत्वों का स्पष्टीकरण किया गया है। लौकिक जैन गणित की मौलिकता और

---

१. कटपयपुरस्थवर्णे नवनवपंचाष्टकल्पितैः क्रमशः।
स्वरञनशून्यं संख्यामात्रोपारिमाक्षरं त्याज्यम्।। जीवकाण्ड गाथा १५७ की टीका।

महत्ता के सम्वन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है। कि जैनाचार्यों ने केवल धार्मिकोन्नति में ही जैन गणित का उपयोग नहीं किया, वल्कि अनेक व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने के लिये इस शास्त्र का प्रणयन किया है। भारतीय गणित के विकास एवं प्रचार में जैनाचार्यों का प्रधान हाथ रहा है। जिस समय गणित का प्रारम्भिक रूप था, उस समय जैनों ने अनेक बीजगणित एवं मेन्सुरेशन सम्बन्ध समस्याओं को हल किया था।

प्रो० वेबर ने इन्डियन एन्टीक्वैरी नामक पत्र में अपने एक निबन्ध में वतलाया है कि जैनों का 'सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण गणित-ग्रन्थ है। वेदाङ्ग ज्योतिष के समान केवल धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिये ही इसकी रचना नहीं हुई हैं, वल्कि इसके द्वारा ज्योतिष की अनेक समस्याओं को सुलझा कर जैनाचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया हैं।

मैथिक सोसाइटी के जर्नल में डॉ० शामशास्त्री, प्रो० एम० विन्टरनित्स, प्रो० एच० बी० ग्लासनेप और डॉ० सुकुमार रंजन दास ने जैन गणित की अनेक विशेषताएँ स्वीकार की हैं। डॉ० बी० दत्त ने कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसाइटी से प्रकाशित वीसवें बुलेटिन में अपने निबन्ध "On Mahvira's Solutions of Ratinal Triangles and Quadrilaterals" में मुख्य रूप से महावीराचार्य के त्रिभुज एवं चतुर्भुज के गणित का विश्लेषण किया है। हमें जैनागमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए गणित सूत्र मिलते हैं। इन सूत्रों में से कितने ही सूत्र अपनी निजी विशेषता के साथ वासनागत सूक्ष्मता भी रखते हैं। प्राचीन गणित सूत्रों में ऐसे भी कई नियम हैं, जिन्हें अन्य गणितज्ञ १४ वीं और १५ वीं शताब्दी के बाद व्यवहार में लाये हैं। गणितशास्त्र के संख्या सम्बन्धी इतिहास के ऊपर दृष्टिपात करने से यह भँली-भाँति अवगत हो जाता है कि प्राचीन भारत में संख्या लिखने के अनेक कायदे थे-जैसे वस्तुओं के नाम, वर्णमाला के नाम, डेनिश ढंग के संख्या नाम, मुहावरों के संक्षिप्त नाम और भी कई प्रकार के विशेष चिन्हों द्वारा संख्याएँ लिखी जाती थीं[1]। जैन गणित के फुटकर नियमों में उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त दाशमिक क्रम के अनुसार संख्या लिखने का भी प्रकार मिलता है। जैन गणित ग्रन्थों में अक्षर संख्या की रीति के अनुसार दशमलव और पूर्ण संख्याएँ भी लिखी हुई मिलती हैं। इन संख्याओं का स्थान-मान बाई ओर से लिया गया है। श्रीधराचार्य की ज्योतिर्ज्ञान विधि में आर्यभट के संख्या से भिन्न संख्या क्रम लिखा गया है। इस ग्रन्थ में प्रायः अब तक के उपलब्ध सभी संख्याक्रम लिखे हुए मिलते हैं। हमें वराहमिहिर विरचित "बृहत्संहिता" की भट्टोत्पली टीका में भद्रबाहु की सूर्यप्रज्ञप्ति-टीका के कुछ अवतरण मिले हैं। जिनमें गणित सम्बन्धी सूक्ष्मताओं के साथ संख्या लिखने के सभी

---

१. संख्या सम्वन्धी विशेष इतिहास के लिये देखिये 'गणित का इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ २-५४।

व्यवहार काम में लाये गये हैं। भट्टोत्पलने ऋषिपुत्र, भद्रबाहु और गर्ग, इन तीन जैनाचार्यों के पर्याप्त वचन उद्घृत किये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भट्टोत्पल के समय में जैन गणित बहुत प्रसिद्ध रहा था, अन्यथा वे इन आचार्यों का इतने विस्तार के साथ स्वपक्ष की पुष्टि के लिये उल्लेख नहीं करते। अनुयोग द्वार के १४२ वें सूत्र में दशमलव क्रम के अनुसार संख्या लिखी हुई मिलती है। जैन शास्त्रों में जो कोड़ा-कोड़ी का कथन किया गया है, वह वर्गिक क्रम से संख्याएँ लिखने के क्रम का द्योतक है। जैनाचार्यों ने संख्याओं के २६ स्थान तक बताये हैं। १ का स्थान नहीं माना है क्योंकि १ संख्या नहीं हैं। अनुयोग द्वार के १४६ वें सूत्र में इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है-''से किं तं गणणासंखा? एक्को गणणं न उवइ, दुप्पभिइ संखा''। इसका तात्पर्य यह है कि जव हम एक वर्तन या वस्तु को देखते है तो सिर्फ एक वस्तु या वर्तन, ऐसा ही व्यवहार होता है, गणना नहीं होती। इसी को मलधारी हेमचन्द्र ने भी लिखा हैं।

जैन गणितशास्त्र की महानता के द्योतक फुटकर गणित सूत्रों के अतिरिक्त स्वतंत्र भी कई गणित-ग्रन्थ हैं। इनमें त्रैलोक्यप्रकाश, (श्रेष्ठचन्द्र), गणित साठसौ (महिमोदय), गणितसर, गणितसूत्र (महावीराचार्य), लीलावती कन्नड़ (कवि राजकुँवर), लीलावती कन्नड़ (आचार्य नेमिचन्द्र), एवं गणितसार (श्रीधर) आदि ग्रन्थ प्रधान हैं। अभी हाल में ही श्रीधराचार्य का जो गणितसार उपलब्ध हुआ है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पहले मुझे सन्देह था कि कहीं यह अजैन ग्रन्थ तो नहीं है, पर इधर जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उनके आधार से यह सन्देह बहुत कुछ दूर हो गया है। एक सबसे प्रबल प्रमाण यह उपलब्ध हुआ कि महावीराचार्य के गणितसार में ''धर्म-धनर्णयोर्वर्गो मूले स्वर्णे तयोः क्रमात्! ऋणं स्वरूपतोऽवर्गो यतस्तस्मात्र तत्पदम्''-यह श्लोक श्रीधराचार्य के गणितसार का है। इससे यह जैनाचार्य महावीराचार्य से पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। श्रीपति के 'गणिततिलक' पर सिंहतिलक सूरिने एक वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति में श्रीधर के गणितसार के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। इस वृत्ति की लेखन-शैली जैन गणित के अनुसार है, क्योंकि सूरिजी ने जैन गणितों के उद्धरणों को अपनी वृत्ति में दूध-पानी की तरह मिला दिया है। जो हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैनों में श्रीधर के गणित सार की पठन-पाठन प्रणाली अवश्य रही थी। श्रीधराचार्य की ज्योतिर्ज्ञान विधि को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि इन दोनों ग्रन्थों के कर्ता एक ही हैं। इस गणित शास्त्र के पाटीगणित, त्रिंशतिका और गणितसार भी नाम बताए गये हैं। इसमें अभिन्न गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न-समच्छेद, भाग-जाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नव-राशिक, भाण्ड-प्रतिभाण्ड, मिश्रव्यवहार, भाव्यकव्यवहार, एकपत्रीकरण, सुवर्णगणित, प्रक्षेपकगणित, समक्रयविक्रय गणित, श्रेणी व्यवहार एवं छाया व्यवहार के गणित उदाहरण सहित बतलाये गये हैं। सुधाकर द्विवेदी जैसे प्रकाण्ड गणितज्ञ ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है-

"भास्करेणाऽस्यानेके प्रकारास्तस्करवदपहृताः। अहो अस्य सुप्रसिद्धस्य भास्करादितोऽपि प्राचीनस्य विदुषोऽन्यकृतिदर्शनमन्तरा समये महान् संशयः। प्राचीना एकशास्त्रमात्रैकवेदिनो नाऽऽसन् ते च वहुश्रुता वहुविषयवेत्तार आसन्नत्र न संशयः।"

इससे स्पष्ट है कि यह गणितज्ञ भास्कराचार्य के पूर्ववर्ती प्रकाण्ड विद्वान थे। स्वतंत्र रचनाओं के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने अनेक अजैन ग्रन्थों पर वृत्तियाँ भी लिखी हैं। सिंहतिलक सूरिने 'लीलावती के' ऊपर भी एक वड़ी वृत्ति लिखी है। इनकी एकाध स्वतंत्र रचना गणित संवंधी भी होनी चाहिये।

लौकिक जैन गणित को अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित इन तीन भागों में विभक्त कर विचार करने की चेष्टा की जायेगी।

इन पंक्तियों में विद्वान् लेखक ने महावीराचार्य की विशेषता को स्वीकार किया है। महावीराचार्य ने वर्ग करने की अनेक रीतियाँ बतलाई हैं। इनमें निम्नलिखित मौलिक और उल्लेखनीय हैं- "अन्त्य अंक का वर्ग करके रखना, फिर जिसका वर्ग किया है उसी अंक को दूना करके शेष अंकों से गुणा करके रखना, फिर अग्रिम अंक का वर्ग कर रखे तथा उसी अंक को द्विगुणित कर शेष अंकों को गुणा कर रखें। इसी क्रम से गुणनफल को एक स्थान आगे बढ़ाकर रखे। अन्त में अग्रिम संख्या का वर्ग रखकर योग करने से अभीष्ट संख्या का वर्ग होगा। फिर जिसका वर्ग किया है उसी अंक को दूना करके शेष अंकों से गुणा कर एक अंक आगे हटाकर रखना। इस प्रकार अन्त तक वर्ग करके जोड़ देने से इष्टराशि का वर्ग हो जाता है।" उदाहरण १३२ का वर्ग करना है-

$(१^{१})$ १ =	१				
१ × २ = २, २ × ३ =		६			
१ × २ = २, २ × २ =			४		
$(३^{२})$ =			९		
३ × २ = ६, ६ × २ =			१	२	
$(२^{२})$ =					४
	१	७	४	२	४

तिलोयपण्णत्ति में संकलित घन लाने वाले सूत्र १-२ निम्नलिखित प्रकार से वनाये गये हैं-

१. पद के वर्ग को चयसे गुणा करके उसमें दुगने पद से गुणित मुख को जोड़ देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसमें से चयसे गुणित पद प्रमाण को घटा कर शेष को आधा कर देने पर प्राप्त हुई राशि के प्रमाण संकलित घन होता है।

२. पद का वर्ग कर उसमें से पद के प्रमाण को कम करके अवशिष्ट राशि को चयके प्रमाण से गुणा करना चाहिये। पश्चात् उसमें पद से गुणित आद्य को मिला कर और फिर उसका आधा कर प्राप्त राशि में मुख के अर्द्ध भाग से गुणित पद के मिला देने पर संकलित घन का प्रमाण निकलता है।

●●●

ब्रह्मगुप्त

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

ब्राह्म परम्परा के अनुयायी तथा वेध प्रक्रिया के संस्थापक आयार्च ब्रह्मगुप्त का जन्म शक ५२० में राजस्थान और गुजरात के मध्यवर्ती क्षेत्र में हुआ था। श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार इनका जन्म आबू पर्वत के निकट आवू से ४० मील पश्चिमोत्तर दिशा में लूणी नदी के पास उत्तरी गुजरात तथा मारवाण की सीमा पर स्थित भिन्नमाल नामक स्थान में हुआ था। प्राचीन काल में यह स्थान गुजरात का हिस्सा था। इसे भिलमाल या श्रीमाल नाम से भी जाना जाता है। सिद्धान्त के संज्ञाध्याय के अनुसार चाप वंश के व्याघ्रमुख नामक राजा के शासनकाल शक ५५० में इन्हों ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना की तथा शक ५५० में इनकी आयु ३० वर्ष की थी। इनका जन्म शक ५२० अर्थात् ई० सन् ५९८ में हुआ था। इनके पिता का नाम जिष्णुगुप्त था। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार भिल्लमाल उस समय उत्तर गुजरात की राजधानी थी। व्याघ्रमुख राजा के शासनकाल में इन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की थी। इस लिए इन्हें भिल्लमालकाचार्य भी कहा जाता था। शंकरबालकृष्ण दीक्षित के अनुसार चावणे या चापोत्कट वंश का राज्य सन् ७५६ ई० से ९४१ ई० पर्यन्त रहा। सम्भवतः यह चावणे वंश ही ब्रह्मगुप्त द्वारा निर्दिष्ट चापवंश रहा होगा। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त इनकी पहली कृति हैं। ब्राह्मसिद्धान्त नाम से कई सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं। कुछ लोगों ने पञ्चसिद्धान्तोक्त ब्राह्म सिद्धान्त को तथा कुछ लोगों ने विष्णुधर्मोत्तर पुराणान्तर्गत ब्राह्मसिद्धान्त को इनकी रचना का आधार माना हैं। महान भाषाशास्त्री अलबेरुनी (अबू रेहान मुहम्मद इब्न अहमद अलबरुनी) को केवल ब्रह्मगुप्त विरचित ब्रह्म सिद्धान्त की ही जानकारी थी। उपलब्ध ब्राह्मसिद्धान्त का परिचय प्रस्तुत करते हुये अलबरुनी ने लिखा हैं कि-इसका नाम ब्रह्मा के नाम पर पड़ा है और इसकी रचना ब्रह्मगुप्त ने की हैं जो जिष्णु का पुत्र था, मुल्तान एवं अनहिलवाड़ा के वीच अनहिलवाड़ा से १६ योजन की दूरी पर स्थित भील्लमाल नामक नगर का निवासी था।[1] कुछ लोग ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त को इनकी मौलिक रचना मानते है तथा कुछ लोग पूर्ववर्ती ब्राह्म सिद्धान्तों में से किसी एक को इसका आधार मानते हैं। परन्तु स्वयं ब्रह्मगुप्त के अनुसार-

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम्।
अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन।।
संसाध्य स्पष्टतरं बीजं नलिकादियन्त्रेभ्यः।
तत्संस्कृतग्रहेभ्यः कर्तव्यौ निर्णयादेशौ।।[2]

१. श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम्। पञ्चाशत् संयुक्तैर्वर्षशतैः पञ्चव्यतीतैः।। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः सज्जनगणितज्ञगोलविद्प्रीत्यै। त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन।। ब्रा०स्फु० सि० ७,८.

२. भारत अलवेरुनी पृष्ठ, ६६-६७ (डॉ० एडवर्ड सी० सखाऊके अंग्रेजी अनुवाद का नूरनबी अब्वासी द्वारा हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् ब्राह्मसिद्धान्त जो अत्यन्त प्राचीन होने से त्रुटिपूर्ण हो गया था। उसे जिष्णु के पुत्र ब्रह्मगुप्त ने परिष्कृत कर स्पष्ट कर दिया। नलिकादि यन्त्रों द्वारा स्फुटबीज साधन कर उससे संस्कृत ग्रहों द्वारा निर्णय और आदेश करना चाहिये। ब्रह्मगुप्त के इन वाक्यों तथा इनके द्वारा गृहीत मानों के आधार पर इनके ग्रन्थ का प्रमुख स्रोत विष्णुधर्मोत्तर पुराणान्तर्गत ब्रह्मपुराण ही माना जाता है। परन्तु इनकी मौलिकता भी उल्लेखनीय हैं।

(१) ब्रह्मगुप्त का वर्ष मान सभी सिद्धान्तों से भिन्न है। पञ्च-सिद्धान्तिका के सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान ३६५-१५-३१-३०, आर्य-सिद्धान्त का वर्षमान ३६५-१५-३१-१५ तथा ब्रह्मगुप्त का ३६५-१५-३०-२२-३० हैं। उक्त सिद्धान्तों की तुलना में ब्रह्मगुप्त का वर्षमान क्रमशः १-७-३० पलादि तथा ५२-३० विपलादि न्यून है।

(२) ब्रह्मगुप्त ने सायन सङ्क्रान्तियाँ ग्रहण की है। यह तथ्य शक ५४० में मेष सङ्क्रान्ति की गणना से प्रकाश में आया, क्यों कि जिस समय ब्रह्मगुप्त के मत से सूर्य का मेष राशि में संक्रमण हुआ उस समय से ५४-१-५३ घट्यादि पश्चात् आर्य सिद्धान्त से तथा ५४-५-५१ घट्यादि पश्चात् सूर्यसिद्धान्त से सूर्य का सङ्क्रामण मेष राशि में हुआ था। इतना ही नहीं उस काल में किसी भी समय की सायन संक्रान्ति का काल ब्रह्मगुप्त की गणना से साम्य रखता था। शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने दूसरा उदाहरण देते हुए लिखा हैं कि शक ५०६ में ब्राह्मसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति चैत्रशुक्ल ३ भौमवार दिनांक १८ मार्च सन् ५८७ के उज्जयिनीके मध्यम सूर्योदय से ५६ घटी ४० पल पर आती हैं। उस वर्ष में सायन स्पष्ट रवि की संक्रान्ति भी उसी दिन उसी समय आती है। ब्रह्मगुप्त का जन्म शक ५२० में हुआ था। उन्हों ने शक ५४० के आसन्न वेध करना आरम्भ किया होगा। शक ५४० में ब्राह्मसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेष संक्रान्ति चैत्र कृष्ण १ शनिवार को ५७ घटी २२ पल पर आती है तथा उस समय सायन स्पष्ट रवि का मान ० राशि ० अंश ३० कला आता है। अर्थात् ब्रह्मगुप्त की मेष संक्रान्ति के लगभग ३० घटी पूर्व सायन मेष संक्रान्ति होती है। मेष संक्रान्ति के समय ३० घटी में सूर्य की क्रान्ति लगभग १२ कला बढ़ती है। अतः शक ५४० में ब्राह्मसिद्धान्तीय मेष संक्रान्ति के समय सूर्य विषुव वृत्त से केवल १२ कला उत्तर रहा होगा। यदि उस दिन सूर्योदय के समय ही ब्राह्मसिद्धान्त की संक्रान्ति हुई होती तो उस समय पूर्व विन्दु से १२ कला उत्तर की ओर सूर्य का मध्यविन्दु दिखाई दिया होगा। इस अन्तर के कारण यही हो सकते हैं-१. मेष संक्रान्ति सूर्योदय में ही नहीं हुआ करती थी। २. दिक्साधन में भी कुछ कलाओं की अशुद्धि होने की सम्भावना है। ३. वेध के साधन स्थूल थे। इन कारणों को ध्यान में रखते हुए यह सहज में जाना जा सकता है कि १२ कलाओं की अशुद्धि होना असम्भव नहीं है। इससे निश्चित रूप से यही ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त ने

सायन रवि के मेषसंक्रमण को ही मेष संक्रमण माना था। इस सन्दर्भ में ब्रह्मगुप्त का यह पद्य भी विचारणीय हैं।

यदि भिन्नाः सिद्धान्ता भास्करसंक्रान्तयोऽ पि भेदसमाः।
स स्पष्टः पूर्वस्यां विषुवत्यर्कोदयो यस्य।। २४.४।

अर्थात् यदि सिद्धान्त भिन्न हैं तो सूर्य की संक्रांतियाँ भी उसी भेदानुसार ही होनी चाहिए। परन्तु वह सूर्य तो विषुव दिन में उदय के समय पूर्व में स्पष्ट दिखाई देता है। इसका आशय यही है कि सूर्य की संक्रान्तियाँ आकाश में भिन्न-भिन्न समयों में नहीं दिखाई देगीं। यहाँ विषुव दिन के सूर्योदय कालीन सूर्य का उल्लेख हैं। अतः वह सायन ही है और यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मगुप्त ने यह बात वेध के आधार पर लिखी है। उन्होंने अयन की चर्चा नहीं की हैं। इससे यह अनुमान है कि उन्हें अयन गति का ज्ञान नहीं था। यदि उस समय अयनगति का ज्ञान रहा भी होगा तो यह स्पष्ट है कि ब्रह्मगुप्त ने अयन का विचार नहीं किया है। अतः उनकी दृष्टि में सायन और निरयन दो भिन्न पदार्थ नहीं थे। उन्होंने अपने सिद्धान्त को इस प्रकार बनाया कि उससे सायन ही सूर्य आये। सायन और निरयन की यह अभेद व्यवस्था उन्हीं के काल तक थी। इसका कारण यही था कि आचार्य ब्रह्मगुप्त ने प्राचीन परम्परा से प्रभावित होकर अपने काल में पड़ने वाले संक्रान्ति के अन्तर (५४ घटी) को कलियुगारम्भ से ग्रन्थरचना काल के अन्तर्गत विभक्त कर अपनी त्रुटि का समाधान कर लिया। इस संशोधन से यद्यपि वर्षमान में कुछ न्यूनता आगई किन्तु मेष संक्रान्ति में सूर्योदय ठीक पूर्व दिशा में होने की गणित को उन्होंने व्यवस्थित कर लिया। इस प्रक्रिया से तत्काल तो वे सन्तुष्ट होगये किन्तु एक बहुत बड़ा प्रश्न छोड़ गये कि सायन संक्रान्तियों को ग्रहण करते हुये सायन वर्षमान का ग्रहण क्यों नहीं किया? अन्ततः उनके समर्थक आचार्य भास्कर को यह कहना पड़ा-

''नहि क्रान्तिपातो नास्तीति वक्तुं शक्यते। प्रत्यक्षेण तस्योपलब्धत्वात्। उपलब्धिप्रकारमग्रे वक्ष्यति। तत् कथं ब्रह्मगुप्तादिभिर्निपुणैरपि नोक्त इति चेत्। तदा स्वल्पत्वात् तैर्नोपलब्धः।'' (वासनाभाष्य : गो०ब० १७-१८)

आचार्य भास्कर ने स्वयं प्रश्न उठा कर स्वयं समाधान भी कर दिया कि अत्यन्त स्वल्प होने के कारण ब्रह्मगुप्त ने अयन गति का ग्रहण नहीं किया। अब अधिक होने के कारण उसका ग्रहण करनाआवश्यक है। यद्यपि सायन निरयन का विवाद आज भी है। परम्परा यही है कि वेध हेतु गणना सायन की की जाती है किन्तु पञ्चाङ्गों का निर्माण निरयन पद्धति से ही किया जाता है। आचार्य ब्रह्म गुप्त का वर्षमान भगण आदि उनकी मौलिक कल्पना हैं। इससे स्पष्ट हैं कि ब्रह्मगुप्त ने गोल गणित को भली भाति समझ लिया था। किन्तु परम्परा का अनुसरण एवं पूर्वाचार्यों का सम्मान भी उन्हें अभीष्ट था। इस लिए अपने मत का केवल संकेत कर पुनः परम्परा पर आगये।

ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त

इस ग्रन्थ में कुल २४ अध्याय हैं तथा कुल श्लोक संख्या १००८ है। इनमें से आरम्भ के दस अध्यायों में सामान्यतया ज्योतिष के सैद्धान्तिक विषयों का प्रदिपादन किया गया है। शेष अध्यायों में गणितीय विषयों के साथ-साथ कुछ अन्य विषयों का भी उल्लेख किया गया है। यथा-दूषणाध्याय, अङ्कगणित, बीजगणित तथा यन्त्रों का वर्णन पृथक्-पृथक् चार अध्यायों में तथा अन्य अध्यायों में उपपत्तियाँ दी गई हैं। अलबेरुनी ने भी ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त की अध्याय क्रम से सूची दी हैं।

प्रथम अध्याय में भूमण्डल की प्रकृति, आकाश और पृथ्वी का आकार, अ. २-में ग्रहों की परिक्रमा, कालगणना, मध्यमग्रहानयन, वृत्तांश की ज्या साधन, अ.३-ग्रहों के स्थानों का शोधन, अ. ४-छाया नतांश- उन्नतांश का साधन, अ. ५-ग्रहों के उदयास्त का साधन अ. ६. श्रृङ्गोन्नति का साधन, अ. ७- चन्द्रग्रहण, अ. ८-सूर्यग्रहण, अ. ९-चन्द्रमा का प्रतिविम्ब साधन, अ. १०-ग्रहों के समागम और युति का साधन आदि २४ अध्यायों की विषय सूची दी गई है। सूची के अन्त में लेखक ने स्वयं लिखा है कि ये चौवीस अध्याय हैं। लेकिन एक पचीसवाँ अध्याय भी हैं। जिसका शीर्षक ध्यानग्रह अध्याय है तथा जिसमें अनुमान से निर्मेयों का समाधान करने का प्रयत्न किया है, गणितीय परिकलन से नहीं। मैंने इस अध्याय को सूची में इस लिये नहीं गिनवाया है कि उसने जो दावे किये हैं उनका गणितज्ञों ने खण्डन किया है। मेरा विचार है कि ये स्थापनायें इस लिये की गयी हैं कि उनसे सभी खगोल शास्त्रीय पद्धतियों का तात्विक अनुपात निकल आये वरना इस विज्ञान के किसी भी निर्मेय का भला गणित से इतर किसी अन्य विषय के द्वारा कैसे समाधान किया जा सकता हैं।[1] प्रतिपादित विषयों एवं मानों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त आचार्य की मौलिक रचना है। बहुत सम्भव है कि पूर्व उल्लिखित ब्राह्म सिद्धान्तों से भिन्न यह नवीन सिद्धान्त हो। डॉ० एस० बालचन्द्रराव के इस कथन से भी इस धारणा को समर्थन मिल रहा हैं।

"पूर्व में कहा गया था कि ब्रह्मगुप्त के इस सिद्धान्त के अलावा दो और ब्राह्म या पैतामह सिद्धान्त हैं जो शाकल्य तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में संकलित हैं परन्तु ब्रह्मगुप्त की रचना इन दोनों से खगोलीय तत्त्वों के सन्दर्भ में स्वतन्त्र हैं। वस्तुतः ब्रह्मगुप्त के बाद केवल उनका ग्रन्थ ही ब्राह्मसिद्धान्त के नाम से जाना जाता रहा हैं।"[2]

शंकरबालकृष्णदीक्षित ने भी संकेत किया है कि ब्राह्मसिद्धान्त की ग्रहभगण संख्यायें अन्य सिद्धान्तों से भिन्न हैं, पर ब्राह्म सिद्धान्त और आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा लाए

---

१. भारत, अलबेरुनी, पृष्ठ-६६-६७।

२. इण्डियन मेथामेटिक्स एण्ड एस्ट्रोनोमी, पृष्ठ १०४।

हुए शके ४२१ के मध्यम ग्रहों में विशेष अन्तर नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है ब्रह्मगुप्त ने अपने समय में वेधानुकूल ग्रह लाने के लिए उनके भगणों की स्वयं कल्पना की हैं। मन्दोच्च और पातों की तुलना से भी उनका तद्विषयक अन्वेषण ज्ञात होता है। इस प्रकार वर्षमान, ग्रहभगण संख्या और उच्च पात भगणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता हैं कि ब्रह्मगुप्त स्वयं वेध करने वाले अन्वेषक थे और ज्योतिषशास्त्र में यही सबसे अधिक महत्व की बात है। स्पष्टाधिकार के द्वितीय अध्याय में उन्होंने लिखा है कि ब्रह्मोक्त रवि-शशि और उनके द्वारा लाई हुई तिथि ही शुद्ध है। अन्य तन्त्रों द्वारा लाई हुई दूरभ्रष्ट हैं।[1] यह विश्वास पूर्ण उक्ति भी यही संकेत देती है कि ब्रह्मगुप्त गणितागत मानों का वेध द्वारा परीक्षण भी किया करते थे। पूर्ववर्ती अन्य सिद्धान्तों पर कटाक्ष करते हुए कहा हैं कि अन्य सिद्धान्तों से साधित सूर्य संक्रान्तियाँ भिन्न आती हैं। एसी स्थिति में किस सिद्धान्त को शुद्ध और प्रामाणिक माना जाय। स्पष्ट सिद्धान्त वही होगा जिससे साधित मेष और तुला की सूर्यसंक्रान्ति के समय पूर्व स्वस्तिक पर ही सूर्योदय दृश्य हो।[2]

अंक गणित

ब्रह्मगुप्त निःसन्देह महान् गणितज्ञ थे। उन्होंने अपने गणित की प्रशंसा में स्वयं लिखा हैं-

नाचार्यो ज्ञातैरपि तन्त्रैरार्यभटविष्णुचन्द्राद्यैः।
यो ब्रह्मधूलिकर्मविदाचार्यत्वं भवति तस्य।[3]

अर्थात् आर्यभट विष्णुचन्द्र आदि आचार्यों के तन्त्रों को जान लेने मात्र से कोई आचार्य नहीं होता। आचार्यत्व तभी प्राप्त होता है, जव ब्रह्मगुप्त के धूलिकर्मादि गणित का ज्ञान कर लेता हैं। अपनी गणित का परिचय देते हुए आचार्य ने लिखा हैं बीस परिकर्म तथा संकलितादि छायान्त आठ व्यवहारों का ज्ञान जिसे हो जाता है वहीं गणितज्ञ होता हैं।[4]

उक्त कथन से यह व्यक्त होता है कि ब्रह्मगुप्त ने गणित को अत्यधिक महत्व दिया हैं। यही कारण है कि सोदाहरण सभी परिक्रमों तथा व्यवहारों का विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थ में किया हैं। कुछ विद्वानों का मत हैं कि संकलन-व्यवकलन, शून्य तथा ऋण अंक का सर्वप्रथम प्रयोग ब्रह्मगुप्त ने ही किया था। व्यास और परिधि के सम्बन्ध को भी १० के वर्गमूल के तुल्य परभाषित किया है।

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ-३०६।
२. यदि भिन्नाः सिद्धान्ता भास्करसंक्रान्तयोपि भेदसमाः। स्पष्टः पूर्वस्यां विषुवत्यर्कोदयो यस्य।।
ब्र० स्फु० सि० २४.४।
३. ब्रा० स्फु० सि०, भग्रहयुत्यधिकार, ६२।
४. परिकर्म विंशतिं यः संकलिताद्यां पृथक् विजानाति। अष्टौ च व्यवहारान् छायान्तान् भवति गणकः।।
-ब्र.स्फु.सि., ग. अ.-१।

बीजगणित

वस्तुतः अंक गणित का मूल भी बीजगणित में ही निहित है, जैसा कि भास्कराचार्य ने लिखा हैं-

उत्पादकं यत् प्रवदन्ति बुद्धेरधिष्ठितं सत्पुरुषेण सांख्या।
व्यक्तस्य कृत्स्नस्य तदेकबीजमव्यक्तमीशं गणितं च वन्दे।। (बीजग.)

अर्थात् सभी अंक गणित के सूत्रों या प्रक्रियाओं का मूल बीजगणित में ही निहित है। बीजगणित की गूढ़ प्रक्रिया भी कुट्टक में निहित है। इसी लिए ब्रह्मगुप्त ने कहीं पर बीजगणित को भी कुट्टक गणित के नाम से व्यवहृत किया है। कुट्टक का महत्व बतलाते हुए आचार्य ने लिखा हैं कि प्रायः बहुत से प्रश्नों के उत्तर कुट्टक के बिना नहीं मिल पाते हैं। अतः मैं कुट्टक गणित को (प्रश्नों उदाहरणों के साथ) कह रहा हूँ। यथा प्रकरण के आरम्भ में ही लिखा हैं-

प्रायेण यतः प्रश्नाः कुट्टाकारादृते न शक्यन्ते।
ज्ञातुं वक्ष्यामि ततःकुट्टाकारं सह प्रश्नैः।। कु.१।

इसके अतिरिक्त बीजगणित के अन्तर्गत, शून्यपरिकर्म, संकलन, व्यवकलन, समीकरण, मध्यमाहरण, वर्गप्रकृति तथा भावित आदि गणित प्रक्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया है।[1] इनकी गणितीय विवेचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि पाइथागोरस और पेल्स आदि के नामों से प्रसिद्ध अनेक प्रमेयों को आचार्य ब्रह्मगुप्त ने बहुत पहले ही सिद्ध कर लिया था।

खगोल-प्रायः सभी सिद्धान्तकारों ने कल्पारम्भ तथा सृष्ट्यारम्भ को पृथक्-पृथक् काल में माना है, किन्तु ब्रह्मगुप्त ने दोनों को साथ-साथ माना हैं। इनके द्वारा दिये गये सभी ग्रहों के भगणों के मान कल्पारम्भ के अतिरिक्त किसी भी अन्य समय में एक साथ एक ही विन्दु पर सभी ग्रहों की स्थिति सूचित नहीं करते हैं। जैसा कि भारतीय ज्योतिष में दर्शाया गया हैं।

कल्पीय भगणमान[2]

ग्रह	भोगभगण	मन्दोच्च-भगण	पातभगण	ग्रह	भोगभगण	मन्दोच्चभगण	पातभगण
सूर्य	४३२००००००	४८०	....	बुध	१७९३६९९९८९८४	३३२	५२१
चन्द्र	५७७५३३०००००	....	....	गुरु	३६४२२६४५५	८५५	६३

१. कुट्टकर्णधनाव्यक्तमध्यहरणैकवर्णभावितकैः। आचार्यस्तन्त्रविदां ज्ञातैर्वर्गप्रकृत्या च।। कु. २।
२. भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ-३०२।

चन्द्रोच्च	४८८१०५८५८	....	....	शुक्र	७०२२३८६४६२	६५३	८६३
राहु	२३२३१११६८	....	....	शनि	१४६५६७२६८	४१	५८४
मंगल	२२६६८२८५२२	२६२	२६७	....	....	....	....

पृथ्वी के स्वरूप को समुचित रूप से प्रतिपादित करने के साथ-साथ पृथ्वी के आकर्षण शक्ति का भी निरूपण किया है। ब्रह्मगुप्त के इस सिद्धान्त को प्रकाशित करते हुए पाश्वात्य विद्वान् थामस खोसी ने लिखा है कि जैसे पानी का प्रवाह उसका स्वभाव है उसी प्रकार किसी भी पिण्ड को अपनी ओर आकर्षित करने का पृथ्वी का भी स्वभाव है। इसी लिए आकाशस्थ पिण्ड पृथ्वी की ओर गिरता है।[1] आचार्य भास्कर ने इसी आशय को सिद्धान्त शिरोमणि में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है-

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समं समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।[2]

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का स्पष्ट उल्लेख दोनों आचार्यों ने कर दिया है। अनन्तर भू केन्द्रिक ग्रहकक्षा के आधार पर दो दिनों के मध्यम ग्रहों का साधन कर उनके अन्तर को ग्रहगति मान कर अनुपात द्वारा कल्पग्रह-भगण के साधन का सूत्र दिया है कि-

ज्ञातं कृत्वा मध्यं भूयोऽन्यदिने तदन्तरं भुक्तिः।
त्रैराशिकेन भुक्त्या कल्पग्रहमण्डलानयनम्।।[3]

अर्थात् यदि एक दिन में दिनद्वयान्तर तुल्य गति तो कल्पकुदिन में क्या? कल्पग्रहभगण। इस प्रकार ब्रह्मगुप्त ने अंकगणित से लेकर ग्रहगणित तक अनेक सिद्धान्तों का प्रदिपादन कर अपनी अद्भुति प्रतिभा का परिचय दिया, जिसका सम्मान परवर्ती विद्वानों ने भी किया है। आज भी गणित के क्षेत्र में ब्रह्मगुप्त का नाम आदर के साथ लिया जाता हैं।

खण्डखाद्यकम्-यह ब्रह्मगुप्त की दूसरी प्रसिद्ध कृति है। इसकी रचना आचार्य ने ६७ वर्ष की अवस्था में की थी। इसके नामकरण के सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक आधार उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः रुचिकर एवं सरल सिद्धान्त सूचित करना ही उद्देश्य रहा हो। इस सन्दर्भ में अलबरुनी ने लिखा है-

''सुग्रीव नामक एक बौद्ध ने खगोलशास्त्र पर एक पुस्तिका लिखी जिसका नाम उसने 'दधिसागर' रखा। उसके एक शिष्य ने भी उसी प्रकार की एक पुस्तक लिखी जिसका नाम

---

१. एलीमेन्टरी नम्बर थियोरी विद् एप्लीकेशन्स, पृष्ठ-५६७।
२. सिद्धान्त-शिरोमणि, (गो०अ०)।
३. ब्रा० स्फु० सि०, शं० छा० १२।

था 'कुरबाबय' अर्थात् धान्यपर्वत। बाद में उसने एक और पुस्तक लिखी जिसका नाम रखा लवणमुष्टि अर्थात् मुट्ठी भर नमक इस लिए ब्रह्मगुप्त ने अपनी पुस्तक का नाम खाद्यक रखा जिसका उद्देश्य यह बताना था कि इस विज्ञान पर जो भी ग्रन्थ लिखा जाय उसके नाम में सभी प्रकार की खाद्यसामग्री (जैसे दही, चावल, नमक आदि) का उल्लेख किया जाय।''

आगे अलबेरुनी लिखता है-''करण खण्डखाद्यक नामक पुस्तक में आर्यभट के सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। इस लिए ब्रह्मगुप्त ने बाद में एक और पुस्तक लिखी जिसे उसने उत्तर खण्डखाद्यक यानी खण्डखाद्यक की व्याख्या नाम दिया। इस पुस्तक के बाद एक और पुस्तक लिखी गई जिसका नाम था खण्डखाद्यक टिप्पणी जिसके बारे में मुझे यह जानकरी नहीं है कि उसका रचयिता ब्रह्मगुप्त है या कोई और। उसमें खण्डखाद्यक में प्रयुक्त परिकलनों के स्वरूप के कारण स्पष्ट किये गये हैं। मेरा ख्याल है कि यह बलभद्र की रचना हैं।''[1]

नामकरण का कारण जो भी हो किन्तु ग्रन्थ रचना का उद्देश्य तो स्पष्ट है। ब्रह्मगुप्त ने स्वयं लिखा है-

वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचायार्यभटतुल्यफलम्।
प्रायेणार्यभटेन व्यवहारः प्रतिदिनं यतोऽशक्यः।
उद्वाहजातकादिषु तत्समफललघुतरोक्तिरतः।।

आर्यभट की गणना के अनुसार विवाह, जातक आदि से सम्बन्धित प्रतिदिन के कार्यो की सिद्धि सम्भव नहीं होपाती है इसलिए आचार्य आर्यभट के तुल्य (शुद्ध) फल देने वाले सरल रीतियों से युक्त खण्डखाद्यकम् की रचना कर रहा हूँ। इस सन्दर्भ में यह भी सम्भावना की जाती है कि आर्यभट सिद्धान्त उनकी गणनायें शुद्ध और सूक्ष्म थी। उनके अनुपात में ब्रह्मगुप्त की गणना में कुछ त्रुटियाँ दिखलाई दी। इसलिए अपने सिद्धान्त की त्रुटियों का निराकरण करते हुए परिष्कृत एवं सरल खण्डखाद्यकम् की रचना की, जो शुद्धता में आर्यभट के तुल्य है। यद्यपि ब्रह्मगुप्त आर्यभट के प्रबल आलोचक थे फिर भी उन्हों ने आर्यभट की विशेषताओं को न केवल स्वीकार किया अपितु अपनी त्रुटियों का परिष्कार भी किया।

खण्डखाद्यकम् दो भागों में हैं। १. पूर्वखण्ड, २. उत्तर खण्ड। (सम्भवतः उत्तर खण्ड को ही अलबेरुनी ने उत्तर खण्डखाद्यम् नामक दूसरी रचना लिखा हैं।) पूर्वखण्ड में ९ अधिकार तथा १९४ पद्य (आर्यायें) हैं तथा उत्तर खण्ड में ५ अधिकार और ७१ आर्यायें हैं। पूर्वार्ध की अपेक्षा उत्तरार्ध अधिक परिष्कृत है। क्यों कि पूर्वार्ध में स्वीकृत मानों को उत्तरार्ध में संशोधित किया है।

---

१. भारत, अलबेरुनी, पृष्ठ-६७।

इसके अतिरिक्त भी खण्डखाद्यकम् में कुछ मूलभूत परिवर्तन किये गये हैं। इस ग्रन्थ में ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के वर्षमान का ग्रहण न कर मूल सूर्यसिद्धान्त के वर्षमान का ग्रहण किया गया है, जो ३६५-१५-३१-३० है। युग प्रवृत्ति का समय सूर्योदय में न मान कर सूर्य सिद्धान्त की तरह मध्यरात्रि में माना गया है। शंकरवालकृष्ण दीक्षित ने लिखा है कि गन्थ के आरम्भ में ५८७ शक का उल्लेख है। उस वर्ष स्पष्टमान से वैशाख शुक्ल प्रतिपदा रविवार को आती है। इसमें क्षेपक उसके पूर्व की मध्यरात्रि अर्थात् चैत्रकृष्ण अमावास्या शनिवार की मध्यरात्रि के हैं और वहीं से अहर्गण साधन किया गया है। मूल सूर्यसिद्धान्तानुसार मध्यम मेष संक्रान्ति उसी शनिवार को १२ घटी ६ पल पर आती है। जो क्षेपक ग्रहण किये गये हैं वे निम्न्न लिखित तालिका में दर्शाये गये हैं।[1]

ग्रह	रा.	अं	क	वि.	ग्रह	रा.	अं	क.	वि.
सूर्य	००	००	३२	२२	बुध	०६	००	४४	४६
चन्द्र	००	०६	०६	४३	गुरु	०६	०४	२५	१६
चन्द्रोच्च	१०	०८	२८	०६	शुक्र	१०	००	१६	१४
राहु	००	१८	४७	२३	शनि	०६	०६	४१	१६
मंगल	०३	१०	१३	०६	.....	.....	.....	.....	.....

शक ५८७ के चैत्र कृष्ण अमावास्या शनिवार की मध्यरात्रि के मूल सूर्यसिद्धान्त के भगणादि द्वारा लाये गये ग्रहों में से चन्द्रोच्च और राहु को छोड़कर शेष सभी उपर्युक्त क्षेपकों से बिलकुल ठीक-ठीक मिलते हैं। आर्यभटीय सिद्धान्त द्वारा लाये गये ग्रह इनसे नहीं मिलते। इससे सिद्ध होता है कि वर्षमान, अहर्गणारम्भ और प्रायः क्षेपक इन सब बातों में खण्डखाद्यकरण का मूल सूर्यसिद्धान्त से साम्य रखता है। अलबेरुनी का यह कथन कि 'खण्डखाद्यकम्' में आर्यभट के सिद्धान्तों को ग्रहण किया गया हैं-उसकी या अनुबादकों की भूल भी हो सकती है। यह स्पष्ट है- कि ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्तों के परिष्कार में सूर्यसिद्धान्त का आधार लिया है न कि आर्यभट का।

वस्तुतः ब्रह्मगुप्त महान् गणितज्ञ होने के साथ-साथ सफल वेधकर्ता भी थे। इसलिये उन्होंने अपने ही सिद्धान्तों में त्रुटियाँ देख कर स्वयं ही उनके परिष्कार का प्रयास किया।

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ-३०८।

पूर्व खण्ड में ब्रह्मगुप्त ने सूर्य का मन्दोच्च २ राशि २० अंश लिखा है, किन्तु उत्तर खण्ड में शुद्ध कर २ राशि १७ अंश कर दिया। इसी प्रकार अन्य ग्रहों के मन्दोच्चों में भी परिष्कार किया है। बुध और शुक्र के शीघ्रफल तथा शनि के गणितागत मन्द फल में संशोधन किया गया है, जो निम्न तालिका द्वारा दर्शाया गया हैं।

ग्रह	पूर्वखण्ड	उत्तर खण्ड	अन्तर
सूर्य मन्दोच्च	२ रा. २० अंश	२°, १७'	-००.०३°
भौम मन्दोच्च	३ रा. २० अंश	४ रा. ७ अंश	+००.१७°
गुरु मन्दोच्च	५ रा. १० अंश	५ रा. २० अंश	+००.१०°
शुक्र शीघ्रफल	गणितागत		-००.०१°.१४'
शनि मन्दफल	गणितागत		-००.०५°
बुधशीघ्रफल	गणितागत		बुधशी.फ.- $\frac{\text{बुशी.फ}}{१६}$

उक्त विवरणों से स्पष्ट है कि खण्डखाद्यकम् के पूर्व खण्ड में प्रतिपादित विषयों की अपेक्षा उत्तर खण्ड में अधिक सूक्ष्म गणितीय विवेचन उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में आचार्य ब्रह्मगुप्त की गणितीय एवं खगोलीय ज्ञान एवं प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता हैं।

●●●

भास्कराचार्य-द्वितीय

प्रो. सर्वनारायण झा

भास्कराचार्य द्वितीय सिद्धान्तज्योतिष के अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान हुए हैं। सम्पूर्ण विश्व में इनकी ख्याति रही है। इनके द्वारा रचित सिद्धान्त शिरोमणि एवं करण कुतूहल सर्वत्र प्रसिद्ध है। सिद्धान्त शिरोमणि के चार भाग हैं। १. लीलावती (पाटीगणित), २. बीजगणित ३. गोलाध्याय एवं ४. गणिताध्याय। विभिन्न स्थानों पर प्राप्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भास्कर द्वितीय की कुछ और भी कृतियाँ रहीं होगी । जिनमें विवाहपटल, भास्कर-व्यवहार और सर्वतोभद्रयन्त्र का तो उल्लेख भी प्राप्त होता है। सिद्धान्त शिरोमणि सिद्धान्तग्रन्थ[1] है और करणकुतूहल करणग्रन्थ आचार्य भास्कर का जन्म शक संवत् १०३६[2] में यजुर्वेदीय माध्यन्दिनशाखाध्यायी शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मणकुल में सह्यपर्वत के पास विज्जडविड् नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम महेश्वर था। वे उनके गुरु भी थे।[3]

अकबर ने शके १५०९ में भास्कराचार्य के लीलावती का परशियन भाषा में अनुवाद करवाया था[4]। उस अनुवादक का मत है कि भास्कराचार्य द्वितीय का जन्म बेदर में हुआ था। बेदर सोलापूर से लगभग १५० कि०मी० पूर्व मोगलई में है। वह स्थान सह्य पर्वत के पास नहीं है। मोगलई में बेदर से लगभग पचास कि०मी० पश्चिम में कल्याण नाम का एक प्रसिद्ध शहर है। भास्कराचार्य के काल में वहाँ चालुक्य वंश का राज्य था। इतने पास में रहकर भी उस राज्य के साथ भास्कराचार्य जैसे विद्वान् का सम्बन्ध नहीं रहना अस्वाभाविक सा लगता है। चंगदेव के शिलालेख के 'जैत्रपालेन यो नीतः'[5] वाक्य से पता चलता है कि भास्कराचाय्र के पुत्र लक्ष्मीधर को राजा जैत्रपाल ने पाटणपुर से बुलवाया था। पाटणपुर गाँव यादवों की राजधानी देवगिरि के पास ही है और सह्यपर्वत की एक शाखा चाँदबड़ की पहाड़ी से लगी है। बहाल नामक गाँव जहाँ भास्कर के वंशज अनन्तदेव का बनवाया हुआ मन्दिर है, वह भी पाटण के पास लगभग तीस कि०मी० पर है। उसके पास

---

१. त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमाच्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः।।

२. रसगुणपूर्णमही (१०३६) समशकनृपसमये ऽभवन्ममोत्पत्तिः।
(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, प्रश्नाध्याय, श्लो० सं० ५८ पूर्वार्द्ध)

३. आसीत् सह्यकुलाचलाश्रितपुरे त्रैविद्यविद्वज्जने नाना सज्जनधाम्नि विज्जडविडे शाण्डिल्यगोत्रो द्विजः।
श्रौतस्मार्तविचारसारचतुरो निःशेषविद्यानिधिः साधूनामवधिर्महेश्वरकृती दैवज्ञचूडामणिः।।
तज्जस्तच्चरणारविन्दयुगलप्राप्तप्रसादः सुधीः (सिद्धान्तशिरोमणि, गोला, प्रश्ना, श्लो, ६१-६४)

४. पॉट्स अल्जेब्रा (१८८६) भाग-२।

5. चंगदेव का शिलालेख श्लो० सं० २२ (एपिग्राफिका इण्डिका, ग्र. १, पृष्ठ-३४०)

ही विज्जड़विड़ जैसा गाँव था। इस समय इसकी प्रसिद्धि नहीं है। संभवतः यही भास्कराचार्य का गाँव रहा हो।

वंश परम्परा

खानदेश में चालीस गाँव लगभग पन्द्रह कि०मी० दूर नैर्ऋत्य दिशा में पाटण नामक एक उजाड़ गाँव हैं। वहाँ भवानी मन्दिर में एक शिलालेख प्राप्त हुआ था।[1] शिलालेख में इस प्रसङ्ग से सम्बद्ध कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।

> शाण्डिल्यवंशे कविचक्रवर्ती त्रिविक्रमोऽभूत्तनयोऽस्य जातः।
> यो भोजराजेन कृताभिधानो विद्यापतिर्भास्करभट्टनामा।।१७।।
> तस्मात् गोविन्दसर्वज्ञो जातो गोविन्दसन्निभः।
> प्रभाकरः सुतस्तस्मात् प्रभाकर इवापरः।।१८।।
> तस्मान्मनोरथो जातः सतां पूर्णमनोरथः।
> श्रीमन्महेश्वराचार्यस्ततोऽजनि कवीश्वरः।। १९।।
> तत्सूनुः कविवृन्दवन्दितपदः सद्वेदविद्यालता-
> कन्दः कंसरिपुप्रसादितपदः सर्वज्ञविद्यासदः।
> यच्छिष्यैः सह कोऽपि नो विवदितुं दक्षो विवादी क्वचि-
> च्छ्रीमान् भास्करकोविदः समभवत् सत्कीर्तिपुण्यान्वितः।।२०।।
> लक्ष्मीधराख्योऽखिलसूरिमुख्यो वेदार्थवित् तार्किकचक्रवर्ती।
> क्रतुक्रियाकाण्डविचारसारविशारदो भास्करनन्दनोऽभूत्।। २१।।
> सर्व-शास्त्रार्थदक्षोऽयमिति मत्वा पुरादतः।
> जैत्रपालेन यो नीतः कृतश्च विबुधाग्रणीः ।।२२।।
> तस्मात् सुतः सिंघणचक्रवर्तिर्दैवज्ञवर्योऽजनि चंगदेवः।
> श्रीभास्कराचार्यनिबद्धशास्त्रविस्तारहेतोः कुरुते मठं यः।।२३।।
> भास्कररचितग्रन्थाः सिद्धान्तशिरोमणिप्रमुखाः।
> तद्वंशकृताश्चान्ये व्याख्येया मन्मठे नियमात्।।२४।।

शिलालेख के उपरिलिखित अंशों से दो प्रमुख बिन्दु स्पष्ट होते हैं। १. भास्कराचार्य के पौत्र चंगदेव यादववंशीय सिंघण राजा के ज्योतिषी थे। इस सिंघण राजा का राज्य देवगिरि में शके ११३२ से ११५९ तक था। भास्कराचार्य के पौत्र चंगदेव ने सिद्धान्त

---

१. (क) जर्नल आफ आर.एम.एस.एन.एस., ग्रन्थ-१, पृष्ठ-४१४
(ख) एपिग्राफिका इण्डिका, ग्रन्थ-१, पृष्ठ-३४०।
(ग) भारतीयज्योतिष, पृष्ठ ३४३, शंकरवालकृष्ण दीक्षित, हिन्दी अनुवाद-श्री शिवनाथ झारखण्डी, प्रका. उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष-१९९०, द्वितीय संस्करण।

शिरोमणि आदि प्रमुख ग्रन्थों और उनके वंश के अन्य विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों के अध्यापन हेतु पाटण में एक मठ स्थापित किया था। राजा[1] सिंघण के माण्डलिक निकुंभवंशीय सोइदेव ने शके ११२८ में उस मठ के लिए कुछ सम्पत्ति दान के रूप में दी थी। सोइदेव के भाई हेमाड़ी ने भी कुछ सम्पत्ति दान में दी थी। डॉ० शंकरबालकृष्ण दीक्षित जी का कहना है कि उनके समय में भी वह मठ तो नहीं था किन्तु मठ का चिह्न मात्र अवशेष था।

उक्त शिलालेख से भास्कराचार्य के वंशावली का ज्ञान होता हैं।

भास्कराचार्य की वंशावली

त्रिविक्रम	छठवें पूर्व पुरुष
भास्करभट्ट	पांचवें पुरुष
गोविन्द	चौथे पुरुष
प्रभाकर	प्रपितामह
मनोरथ	पितामह
महेश्वर	पिता
भास्कर	
लक्ष्मीधर (पुत्र)	
चंगदेव (पौत्र)	

शिलालेख[2] के आधार पर ऊपर लिखित वंशावली में भास्कराचार्य के पिता का नाम महेश्वर है और इनका गोत्र शाण्डिल्य है। भास्कर ने स्वयं भी सिद्धान्त शिरोमणि में पिता का नाम महेश्वर और गोत्र शाण्डिल्य लिखा है। वंशावली[3] में भास्कर के पंचम पूर्वपुरुष का नाम भास्करभट्ट हैं। भास्करभट्ट को भोजराज का विद्यापति कहा गया है जिन्होंने राजमृगाङ्क की रचना की थी।

जैसा कि बताया जा चुका है कि आचार्य भास्कर का जन्म शक सं० १०३६ में हुआ था। इनके पाँचवे पूर्व पुरुष भास्करभट्ट (भोजराज का विद्यापति) द्वारा राजमृगाङ्क की रचना शके ६६४ में होना संभव प्रतीत होता है। भास्कराचार्य की तरह यदि ग्रन्थ रचना ३५ वर्ष की उम्र के आस-पास की होगी तो उनका जन्म शके ६३० के आस-पास माना जा सकता है। तदनुसार भास्कर भट्ट और भास्कराचार्य में लगभग १०० वर्षो का अन्तर स्वाभाविक प्रतीत होता हैं।

---

१. हेमाड़ी और सोइदेव द्वारा मठ के लिए सम्पत्ति दिए जाने की बात का ज्ञान शिलालेख के अन्य अंशों से हुआ होगा। क्योंकि उद्धृत अंश में यह प्रसंग नहीं हैं।

२. शिलालेख का पता सर्वप्रथम कैलासवासी डॉ० भाऊदाजी ने लगाया था।
जर्नल, आर.ए.एस.ए.एस. ग्रन्थ-१, पृ.-४१४ में प्रकाशित।

३. सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, प्रश्ना, श्लो, ६१।

शिलालेख में अङ्कित है कि राजा जैत्रपाल ने सिद्धान्त शिरोमणिकार भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को लाकर अपनी सभा में रखा था। लक्ष्मीधर का पुत्र (भास्कर का पौत्र) चंगदेव सिंघण चक्रवर्ती का ज्योतिषी था। यादववंशीय राजा जैत्रपाल का राज्य देवगिरि में शके १११३ से ११३२ तक था और उनके पुत्र सिंघण का ११३२ से ११६८ तक था।[1] वंशावली और इतिहास के मध्य विसंगति नहीं दिख रही हैं।

खानदेश में ही चालीसगाँव से १५ कि० मी० उत्तर की ओर गिरण के नजदीक बहाल नाम का एक गाँव है। वहाँ सारजा[2] देवी का मन्दिर है। उसमें एक शिलालेख पाया गया था जिसमें लिखा है कि शाण्डिल्यगोत्रीय मनोरथ के पुत्र महेश्वर हुए और उनके पुत्र श्रीपति। श्रीपति के पुत्र गणपति और गणपति के पुत्र अनन्तदेव हुए। ये यादववंशीय सिंघण राजा के दरबार में प्रधान ज्योतिषी थे। यहाँ भी मनोरथ के पुत्र महेश्वर थे ऐसा प्रमाण मिलता है। शिलालेख में लिखा है कि अनन्तदेव ने ११४४ में द्वारजा देवी का मन्दिर बनवाया। यह शिलालेख भी उन्हीं का बनवाया हुआ है। मनोरथ के पुत्र महेश्वर हुए और महेश्वर के पुत्र श्रीपति। पूर्व शिलालेख के आधार पर निर्मित वंशावली में महेश्वर का पुत्र भास्कर लिखा है। ऐसा संभव है कि महेश्वर के भास्कर के अतिरिक्त भी पुत्र हों, जिनका नाम श्रीपति हो। वास्तव में क्या स्थिति थी इसका स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि इस कुल में विद्वत्परम्परा बहुत काल तक रही और कुल बड़ा ही प्रतिष्ठित रहा है। चंदेल के शिलालेख के आधार पर निर्मित वंशावली के अनुसार प्रथम पुरुष त्रिविक्रम-'दमयन्ती कथा' नामक ग्रन्थ के कर्त्ता हैं।

भास्कराचार्य की अद्भुत प्रतिभा उनके कार्यो से स्पष्टतया लक्षित होती है। उनकी सूझ बूझ अन्य पारम्परिक आचार्यो की अपेक्षा कुछ भिन्न थी जिससे उनका एक पृथक् व्यक्तित्व स्थापित हुआ। इन्होंने कुछ नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की जिससे ज्योतिष शास्त्र के स्थापित सिद्धान्तों में परिष्कार हुआ। इन में उदयान्तर बहुचर्चित हैं। इसके साथ -साथ उन्होंने पृथ्वी की अकर्षक शाक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यथा

आकृष्टशक्तिश्च मही तथा यत्
खस्थं गुरुं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति
समे समन्तात क्व पतत्वियं खे।।

आर्थात् आकाश में कोई भी वस्तु हो उसे पृथ्वी आपनी आकर्षण शाक्ति से अपनी ओर खींच लेती है तथा वस्तु गिरती हुई प्रतीत होती हैं।

---

१. दक्षिण का इतिहास (अंग्रेजी) पृष्ट ८२, प्रो० भाण्डारकर।
२. इस विषयक लेख इण्डिका, ग्रन्थ-३, पृ.-११२ में छपा था। शंकरबालकृष्ण दीक्षित का कहना है कि इसमें सारजा देवी के स्थान पर द्वारजा देवी पाठ छपा है।

भास्कर की इस उपलब्धि को इतिहासकारों ने प्रकाश में नहीं लाया, जब कि भास्कर से लगभग छह सौ वर्ष बाद सर आइजक न्यूटन इसी सिद्धान्त 'पृथ्वी की आर्कषण शाक्ति' को प्रतिपादित कर इतिहास पुरुष हो गये।

इसी प्रसंग में आचार्य भास्कर ने पृथ्वी के गोलत्व और उसके ऊपर निवास करने वाले मनुष्य आदि की स्थिति का जो सजीव चित्रण किया है वह भी अद्वितीय हैं। इन्होंने लिखा है कि पृथ्वी पर जो व्यक्ति जहाँ है अपने आपको ऊपर मानता है। किन्तु पृथ्वी पर एक दूसरे के सापेक्ष्य मानवादि की स्थिति भिन्न भिन्न अवस्था में होती है। जो व्यक्ति अपने को ऊपर समझता है वहाँ से ९०° अंश की दूरी स्थित व्यक्ति ऊपर वाले के सापेक्ष तिर्यक् अर्थात् लेटा हुआ तथा १८०° की दूरी पर स्थित व्यक्ति उलटा लटका सिर नीचे पैर पृथ्वी पर पानी में छाया पुरुष की तरह प्रतीत होता है। वास्तविक स्थिति इसी प्रकार होती हैं। इस प्रकार के वर्णनों से ज्ञात होता हैं कि आचार्य भास्कर सृष्टि की अनेक गुत्थियों को सुलझा चुके थे। किन्तु परम्परा के भीरु होने से वे विशेषकर पृथ्वी के सम्बन्ध में बहुत से रहस्यों का उद्घाटन नहीं कर पाये। उन्हें अपनी परम्पराओं के प्रति अन्धविश्वास था इसलिए स्मृति वाह्य सिद्धान्तों को उन्होंने प्रकट नहीं किया ।

लीलावती

भास्कराचार्य विरचित सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ का प्रथम भाग लीलावती के नाम से प्रसिद्ध है। इसे अङ्कगणित या पाटीगणित भी कहा जाता है। लीलावती ग्रन्थ में भास्कराचार्य के न केवल ज्योतिष विषयक पाण्डित्य का प्रदर्शन होता है अपितु एक सरस कवि का रूप भी दृष्टिगोचर होता है। इसमें २७८ पद्य हैं। उदाहरणों का स्पष्टीकरण आदि गद्य में भी किया गया है।

लीलावती के प्रारंभ में जहाँ भास्कराचार्य ने अपने समय के प्रचलित सोने-चाँदी, भूमि, अन्न आदि के माप तौल के पारिभाषिकों[1] (बराटक, काकिणी, पण, द्रुम, निष्क, गुञ्जा, माषा, कर्ष, पल अङ्गुल, हस्त, दण्ड, क्रोश, योजन, खारिका, द्रोण, आढ़क, प्रस्थ, कुडव आदि) का उल्लेख किया है, वहीं दशगुणोत्तर अंकों की नामावली का भी वर्णन किया है। इसमें एक से आरम्भ कर दश, सौ, हजार, दश हजार, लाख, दशलाख, करोड़ अर्ब, दशअर्ब, खर्ब, दशखर्ब, महापद्म, शङ्कु, जलधि, अन्त्य, मध्य और परार्ध तक की संज्ञाओं का उल्लेख किया है।[2] इसके बाद पूर्णाङ्कों का योग अन्तर, गुणा, भाग, वर्ग , वर्गमूल, घन और घनमूल के सूत्र और उदाहरण हैं। इन आठों को परिकर्माष्टक के नाम से जाना

---

१. परिभाषा श्लो० सं० २-१० (लीलावती, टीकाकार पं० लषणलाल झा, पृष्ठ संख्या २-४, चौखम्वा सुरभारती। वाराणसी-१९९४)

२. लीलावती, अभिन्नपरिकर्माष्टक, संख्यास्थानानि, श्लो० २-३।

जाता है। इसके बाद भिन्न परिकर्माष्टक, शून्यपरिकर्माष्टक, इष्टकर्म, त्रैराशिक, पञ्चराशि, श्रेढ़ी भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षेत्रों और घनों के क्षेत्रफल, घनफल इत्यादि विषयों के सूत्र और उदाहरण हैं। अन्त में खात, राशि, छाया व्यवहार, कुट्टक, अङ्कपाश आदि के गणित सूत्र और उदाहरण वर्णित हैं।

आधुनिक दशमलव पद्धति का मूल भास्कराचार्य के सावयव अङ्कों का सूक्ष्ममूल आनयन पद्धति में परिलक्षित होता है। ऐसा चिन्तन अनुचित नहीं है। क्योंकि, **तत्कृत्योर्योगपदं कर्णः, दोः कर्णवर्गयोर्विवरात् मूलं कोटिः राश्योरन्तरवर्गेण द्विघ्ने घाते युतेः तयोः"** इत्यादि के प्रसङ्ग में लीलावती में दशमलव पद्धति का मूल माना जा सकता है।

अवर्गाङ्क के सावयव सूक्ष्म मूल निकालने का भास्कर द्वितीय का मौलिक गणित इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य हैं। जैसे-

भुज ३ $^{१}/_{४}$ कोटि ३ $^{१}/_{४}$, इसका कर्ण निकालना हैं।

$$\sqrt{\left(\frac{१३}{४}\right)^२ + \left(\frac{१३}{४}\right)^२} = \text{कर्ण या} \quad \sqrt{\frac{१६९}{१६}+\frac{१६९}{१६}} = \text{कर्ण}$$

$\frac{३३८}{१६}=\frac{१६९}{८}$ यहाँ $\frac{१६९}{८}$ का मूल नहीं मिलता है। क्योंकि १६९ का मूल तो निरवयव १३ प्राप्त हो जाता है लेकिन ८ का निरवयव मूल नहीं मिलता है। इसका मूल सावयव (दशमलव में) आता है इसके लिए भास्कराचार्य का कहना हैं कि-

वर्गेण महतेष्टेन हताच्छेदांशयोर्वधात्।
पदं गुणपदच्छिछन्नाच्छिद्भुक्तं निकटं भवेत्।।

अर्थात् हर और भाज्य के गुणनफल को किसी बड़े इष्ट अंक के वर्ग से गुणाकर गुणनफल के अङ्क के मूल में अभीष्ट बड़े अङ्क के मूल से भाग दे देने से उस अभीष्ट अवर्गाङ्क का मूल सूक्ष्म या सूक्ष्मासन्न हो जाता है। इसे दशमलव पद्धति का मूल माना जा सकता है।

चतुर्भज क्षेत्र

एक चतुर्भुज क्षेत्र है जिसकी दोनों भुजाएँ क्रमशः ५२ और ३९ हैं। जिसकी भूमि आधार ६० के तुल्य और मुख २५ हाथ के तुल्य है। प्राचीनों ने इस क्षेत्र को अतुल्य लम्बक कहते हुए इसके दोनों कर्णों को क्रमशः ५६ और ६३ के तुल्य कहा हैं।[१] यहाँ अन्य

१. लीलावती क्षेत्रव्यवहार, सूत्र ३०, श्लो० १-२ (टीकाकार पं० लषणलाल झा)

कर्णों का मान ज्ञात करना हैं। यदि यह चतुर्भुज समलम्बक हो तो लम्ब और दोनों कर्णों का मान ज्ञात करना है। भास्कराचार्य प्राचीनों (ब्रह्मगुप्तादि) के इस गणित को एकदेशीय कहकर अपना सिद्धान्त निःसंकोच स्थापित करते हुए कहते हैं कि, चतुर्भुज के चारों भुजाओं के मान नियत होने पर भी उसके नियत कर्ण नहीं होते हैं। कर्णों की नियत स्थिति नहीं होने से लम्ब मानों में भी अन्तर पड़ता है। जिससे चतुर्भुज का क्षेत्रफल एक रूप का न होकर अनेक रूप का हो सकता हैं। जैसे-दोनों भुजाएँ आधार से बड़ी नहीं होती है। इस कथन के अनुसार ५६ के स्थान पर कर्ण को ३२ मानने से इसी चतुर्भुज का दूसरा

कर्ण $७६\frac{२२}{२५}$ आता हैं।
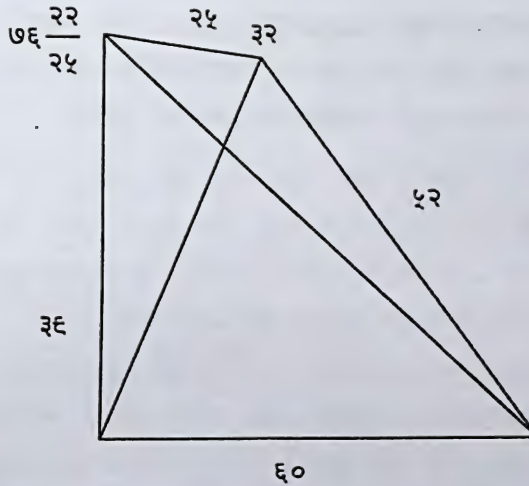
लीलावती में वृत्तक्षेत्र गणित

भास्कराचार्य का वृत्त क्षेत्रफल, वृत्तपृष्ठफल, गोलक्षेत्र, घनफल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने वृत्त के व्यास और परिधि का सम्बन्ध ७ और २२ का बताया है। उदाहरण के लिए यदि किसी वृत्त का व्यास ७ हैं। तो परिधि २२ होगी। भास्कराचार्य ने व्यास और परिधि का सम्बन्ध-

> व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्यैः परिधिः स सूक्ष्मः।
> द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथशैलैः स्थूलोऽथवा स्याद्व्यवहारयोग्यः।।

सूत्र के द्वारा बताया हैं।[1] यदि किसी के व्यास को मापकर उसकी परिधि को मापते हैं तो परिधि की लम्बाई व्यास की लम्बाई से लगभग २२/७ गुणी होती है। इसका

१. लीलावती, क्षेत्रव्यवहार, श्लो० ४० (लषण लाल झा)

वास्तविक मान अङ्कों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इसका आसन्न (लगभग) मान ग्रीक भाषा में π (पाई) से व्यक्त किया जाता है। π का मान सात दशमलव अङ्कों तक ३.१४१५९२६ होता है। भास्कराचार्य ने इसका सूक्ष्ममान ३९२७/१२५० माना है। जो दशमलव में ३.१४१६ होता है। यह पूर्वोक्त मान के आसन्न है।

लीलावती में शरानयन पद्धति

यह एक अनुपम सूत्र है। शर का साधन तो अनेक प्रकार से किया जा सकता है किन्तु भास्कराचार्य ने लीलावती में जो सूत्र बताया है वह तो वास्तव में अनुपम है। उन्होंने कहा है-

> **ज्याव्यासयोगान्तरघातमूलं व्यासस्तदूनो दलितः शरः स्यात्।**
> **व्यासाच्छरोनाच्छरसंगुणाच्च मूलं द्विनिघ्नं भवतीह जीवा।।**
> **जीवार्धवर्गे शरभक्तयुक्ते व्यासप्रमाणं प्रवदन्ति वृत्ते[१]।।**

अर्थात् जीवा और व्यास के योग और अन्तर के गुणनफल के मूल को व्यास में घटाकर आधा करने से शर होता है और व्यास और शर के अन्तर को शर से गुणाकर उसके मूल को द्विगुणित करने पर जीवा होती है। जीवा के आधे के वर्ग में शर से भाग देकर लब्धि जो हो उसमें शरजोड़ने से वृत्त का व्यास होता है।

इसीतरह समकोण त्रिभुज में आधार रेखा में सर्प का तथा कर्ण रेखा मयूर का समानगति से गमन[२] अङ्कपाश[३] कुट्टक[४] आदि गणित अत्यन्त चमत्कारपूर्ण हैं।

लीलावती के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भास्कराचार्य ने लीलावती की रचना के पूर्व अनेक पारम्परिक गणित ग्रन्थों का अध्ययन किया था। जैसे-ब्रह्मसिद्धान्त[५], गणितसार[६] सारसंग्रह[७], आर्यसिद्धान्त[८], सिद्धान्तशेखर[९] आदि। इस कृति की बहुत प्रसिद्धि हुई। यही कारण है कि देश और विदेश में इसकी सैकड़ो मातृकाएँ यत्र-तत्र सुरक्षित हैं।

---

१. लीलावती, क्षेत्रव्यवहार, श्लो० ४३-४४ पृष्ठ २९० (सम्पादक, टीकाकार, डॉ० लषणलाल झा)
२. लीलावती, पृष्ठ-१९४।
३. वहीं, पृष्ठ-३९४।
४. वहीं, पृष्ठ-३२६।
५. ब्रह्मगुप्त, शक ६५०।
६. श्रीधर, शक ७७५ के पूर्व।
७. महावीर, शक ७७५।
८. आर्यभट, द्वितीय, शक ८७५।
९. श्रीपति, शक ९६१।

अनुवाद

हिन्दी[1], अंग्रेजी[2], कन्नड़[3] और परसियन[4] भाषा में इसका अनुवाद किया गया।

टीकाएँ

विवरणा,[5] गणितामृतसागरी[6] (अङ्कामृतसागरी), गणितामृतकूपिका,[7] बुद्धिविलासिनी,[8] कर्मप्रदीपिका,[9] क्रियाक्रमकरी[10] निःसृष्टार्थदूती[11] (निःसृष्टदूती), मितभाषिणी[12] गणितामृतलहरी[13] सर्वबोधिनी[14] लीलावतीभूषण[15] लीलावतीविवृत्ति[16] पाटीगणितकौमुदी,[17] मनोरंजना,[18] तेलगू,[19] संस्कृत,[20] मराठी[21] हिन्दी[22] आदि टीकाएं लिखी गईं। इनके अतिरिक्त मोषदेव (१४७२ के पूर्व), लक्ष्मीदास (१५०१), महीधर (१५८७), परशुराम (१६५६ के पूर्व), कृपाराम (लगभग १७६०), नीलाम्बर झा (लगभग १८५०), दामोदर, देवीसहाय, परशुराम (द्वितीय), रामदत्त, लक्ष्मीनाथ, वृन्दावन और श्रीधर मैथिल ने भी लीलावती की टीकाएं लिखीं। लीलावती के टीकाकारों की सूची वहुत लम्बी बन सकती है यदि सभी टीकाकारों के विषय में अनुसन्धान किया जाय। बहुत सारे ऐसे नाम और टीकाएं हैं जिनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

---

१. अमीचन्द, जयपुर, १८४२।

२. कोलब्रूक, जे० टेलर-१८६३, सन्दर्भ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर-प्रो० डेविड पिंग्री से उद्धृत किया हैं। पृष्ठ संख्या ६१ (ज्योतिष भाग) संख्या जेन गोण्डा।

३. राजादित्य, पाविनवेग, होयसाल वल्लाल को डोरसमूद्र (११७३-१२२०) द्रष्टव्य : मेथमेटिक्स इन कर्नाटक ऑफ द मिडिल एजेज। भरत कौमुदी ग्र.१, इलाहाबाद-१६४५, पृ. १२७-१३६। एम.एम. भट्ट, व्यवहार गणित इन कन्नड-(मद्रास)।

४. अवु-अल् फैदी (१५५५-१६०५), मैदिनी मुल्ला (१६६३-४) तथा मोहम्मद अमीन (१६६१-७८)-हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, ज्योतिष-प्रो. डेविड पिंग्री, संपादक-जेन-खोण्डा, पृ. ६१।

५. परमेश्वर-अश्वत्थग्राम, केरला (१४३२)। ६. गंगाधरन, जम्बूसार, गुजरात (१४२०)।

७. सूर्यदास, पाथोपुरा, गोदावरी (१५४१)। ८. गणेश, नन्दीग्राम (१५४५)।

६. नारायण, केरला (१५५०)। १०. शंकर (इसके कुछ भाग केरला के नारायण ने पूर्ण किए) केरला (१५५६)। ११. मुनीश्वर (विश्वरूप), वाराणसी (१७०० के आरंभ में)।

१२. रङ्गनाथ (मुनीश्वर के समकालीन) वाराणसी। १३. रामकृष्ण सह्याद्रि, जालपुर १६८७।

१४. श्रीधर महापात्र, दोलापुर, नीलगिरि, ओड़िशा, १७१७। १५. रामचन्द्र एवं धनेश्वर।

१६. मुनीश्वर लगभग १५५७ शक। १७. नारायण (नृसिंहदैवज्ञ का पुत्र) १३५७।

१८. रामकृष्णदेव (ससदादेव का पुत्र)।

१६. ताड़कमल्ल वेंकटकृष्ण राव।

२०. बापूदेव शास्त्री, वाराणसी, १८८३, मुरलीधर ठाकुर, मिथिला, १६२८, दामोदर मिश्र, मिथिला, सीताराम झा, मिथिला, वाराणसी १६७०, दयानाथ झा, मिथिला।

२१. वी.पी. खानपुरकर, पूना, १८६७।

२२. आर.एस. शर्मा, १६०७, लषण लाल झा, १६६१, सीताराम झा, मिथिला, वारणसी-१६७०, आचार्य रामचन्द्र पाण्डेय, वाराणसी-१६६३।

प्रकाशन

लीलावती यद्यपि बहुत पहले से प्रकाशित रही होगी, लेकिन जो साक्ष्य मिल जाए हैं उनमें लीलावती का प्रकाशन जे. टेलर द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद १८१६ में बाम्बे से, एच.टी. कोलबूक के द्वारा अपने ग्रन्थ अलजेब्रा विथ अरिथमेटिक एण्ड मेंसुरेशन में लन्दन से १८१७ में, एच.सी. बैनर्जी के द्वारा कोलब्रूक के अंग्रेजी अनुवाद के साथ कलकत्ता से १८६३ और १६२७ में, १८३२ में पुनः कलकत्ता से, उसके बाद वहीं से तारानाथ शर्मा द्वारा महीधर की टीका के साथ सम्पादन और प्रकाशन १८४६, १८५२ और १८७८ में, मद्रास से वी. रामचन्द्रशास्त्री स्वामी द्वारा तेलगू टीका का सम्पादन और प्रकाशन १८६३ में, जीवाननन्द विद्यासागर द्वारा कलकत्ता से १८७६ में, सुधाकर द्विवेदी द्वारा वाराणसी से १८७८ में, हिन्दी अनुवाद १६१२ में वाराणसी से, म.म. वापूदेव शास्त्री द्वारा वाराणसी से १८८३ में, भुवनचन्द्र वशाक द्वारा कलकत्ता से १८८५ में, कोलब्रुक का अंग्रेजी अनुवाद, एच.सी. बैनर्जी द्वारा कलकत्ता से १८६३ में, उसका पुनर्मुद्रण वहीं से १६२७ में, वी.पी. खानपुरकर द्वारा मराठी टीका के साथ पूणे से १८६७ में, आर.एस. शर्मा के द्वारा हिन्दी टीका के साथ १६०७ में बाम्बे से, राधावल्लभ द्वारा १६१३ में कलकत्ता से, श्री मुरलीधर ठाकुर द्वारा अपनी संस्कृत टीका के साथ वाराणसी से १६२८ एवं १६३८ में, डी. आप्टे द्वारा गणेश और महीधर की टीका के साथ पुणे से १६३७ में, दामोदर मिश्र की टीका के साथ दयानाथ झा द्वारा दरभंगा से १६५६ में, एस. शर्मा द्वारा पं. लषणलाल झा की टीका के साथ १६६१ में वाराणसी से, संस्कृत एवं हिन्दी टीका के साथ सीताराम झा द्वारा वाराणसी से १६७० में, शंकर एवं नारायण की टीका के साथ के.वी. शर्मा द्वारा होशियारपुर से १६७५ में और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय द्वारा १६६३ में काशी से प्रकाशित हुई। इसके बाद भी उपरिलिखित प्रकाशनों के पुनर्मुद्रण हो रहे हैं। अनेकों सम्पादक, प्रकाशक और टीकाकार इस सूची में आने योग्य होंगे। किन्तु जिनके उद्धरण या ग्रन्थ तक मेरी दृष्टि पहुंच सकी उनका उल्लेख करने का प्रयास किया है।

ग्रन्थ का नाम लीलावती क्यों?

इस प्रश्न के उत्तर में दो पक्ष उपस्थित हुए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि लीलावती उनकी (भास्कराचार्य) पुत्री थी और कुछ विद्वानों का मत है कि लीलावती उनकी पत्नी का नाम था। इस विषय में बाहृय साक्ष के रूप में कोई उद्धरण मुझे नहीं मिल पाया हैं। अन्तः साक्ष्य के रूप में कतिपय श्लोकों को उद्धत करते हुए मेरा मत है कि इस गणित ग्रन्थ का नाम यदि किसी की स्मृति में रखा गया है तो वह उनकी पत्नी तो हो सकती है किन्तु पुत्री होने की संभावना नहीं दिखती है। कदाचित् पत्नी को ऐसा सम्बोधन किया हो या कवि

लोगों की कल्पित नायिका भी हुआ करती है। दोनों में से जो कुछ भी हो। अन्तः साक्ष्य दोनों की पुष्टि करती हैं।

जैसे-१. अये बाले ! लीलावति ! मतिमति ब्रूहि सहितान्
द्विपञ्चद्वात्रिंशत् त्रिनवति.........[1]

उक्त श्लोक अंकों के योग के प्रसंङ् में लिखा हैं। यहाँ अये बाले ! प्रयोग किया हैं। उसके ठीक आगे 'बाले बालकुरङ्गलोलनयने'[2] प्रयोग किया हैं।

२. वर्गानयन के सन्दर्भ में एक श्लोक है-'सखे नवानां च चतुर्दशानां ब्रूहि त्रिहीनस्य'[3] यहाँ सखे! सम्बोधन किया है।

३. घनमूल साधन के क्रम में 'घनपदं च ततोऽपि धनात्सखे'[4] में भी सखे! सम्बोधन किया है।

४. व्यस्तगणित के उदाहरण में 'राशिं वेत्सि हि चञ्चलाक्षि'[5] में चञ्चलाक्षि सम्बोधन किया हैं।

५. विश्लेष जाति गणित का उदाहरण देते हुए 'पञ्चांशोऽलिकुलात्', कदम्बमगमत्... ....में मृगाक्षि[6] और कान्ते सम्बोधन किया हैं।

७. 'जीवानां वयसो मौल्ये तौल्ये वर्णस्य हैमने' में १६ वर्ष की स्त्री का अधिक महत्त्व बताना और २० वर्ष की स्त्री का कम महत्त्व बताना आदि उद्धरण प्राप्त होता है। 'प्राप्नोति चेत् षोडशवत्सरा स्त्री द्वात्रिंशतं विंशतिवत्सरा किम्'[7]।

उपरिलिखित समस्त अन्तः साक्ष्य पर विचार करने से ऐसा सोचा जा सकता है कि कोई विद्वान् अपनी पुत्री से इस प्रकार गणित के प्रश्न नहीं पूछेगा। इसलिए अनुमान किया जा सकता हैं कि ग्रन्थ का नाम यदि किसी प्रिय व्यक्ति के नाम पर ही रखा गया है तो वह प्रिय व्यक्ति भास्कराचार्य की पत्नी हो इसकी सर्वाधिक संभावना है। पुत्री की संभावना तो नहीं ही हैं। हाँ ! एक बात संभव है कि अन्य कवियों की तरह किसी कल्पित नायिका का नाम लीलावती हो और उसे सम्बोधित कर लीलावती के प्रश्न पूछे गये हों। अस्तु ! लीलावती गणित की दृष्टि से जितना सूक्ष्म हैं उतना ही काव्य की दृष्टि से सरस भी हैं।

---

१. लीलावती, अभिन्नपरिकर्माष्टक पृष्ठ संख्या-१०, श्लोक संख्या-१।
२. लीलावती, अभिन्नपरिकर्माष्टक पृष्ठ-१५।
३. वहीं, पृष्ठ-२४।
४. वहीं, पृष्ठ-३१।
५. वहीं, पृष्ठ-७४।
६. वहीं, पृष्ठ-८०।
७. वहीं, व्यस्त त्रैराशिक उदाहरण १, सूत्र-१।

बीजगणित

यह संस्कृत माध्यम का एक विशिष्ट बीजगणितीय ग्रन्थ हैं। तुलनात्मक दृष्टि से यह कुछ अधिक कठिन ग्रन्थ है इसलिए लीलावती की तरह यह अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया हैं। इस ग्रन्थ में २१३ श्लोक और कुछ गद्य भी हैं। इसकी सैकड़ों मातृकाएँ देश और विदेश के ग्रन्थालयों में सुरक्षित हैं। इसमें मुख्य रूप से जिन बिन्दुओं का प्रतिपादन किया गया है उनमें प्रमुख हैं-धन और ऋण संख्याओं का जोड़ घटाव, गुणा और भाग, वर्ग और वर्गमूल, शून्य का संकलन (योग) और वियोग (घटाव), अव्यक्तादि की संकल्पना, उनके वर्ग और मूल, अनेकवर्ण षड्विध, करणी (अवर्ग) का योग, वियोग, गुणन, भाग, वर्ग और वर्गमूल, कुट्टक, वर्ग प्रकृति, चक्रवाल, एकवर्ण-समीकरण, अव्यक्तवर्गसमीकरण, अनेकवर्णसमीकरण, अनेक वर्ण मध्यमाहरण और भावित।

यद्यपि भास्कराचार्य के बीजगणित के सभी विषय अपने-आप में महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी कतिपय महत्त्वपूर्ण स्थलों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। बीजगणित में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय है। **कुट्टक**[1] उदाहरण के लिए आप देखें-२२१ को किससे गुणा करें और उस गुणनफल में ६५ जोड़ दें और योगफल में १९५ का भाग दें तो वह संख्या निः शेष हो जाती हैं। इसके लिए भास्कराचार्य ने सूत्र प्रस्तुत किया है..........

> **भाज्यो हारः क्षेपकश्चापवर्त्यः केनाप्यादौ सम्भवे कुट्टकार्थम्।**
> **येनच्छिनौ भाज्यहारौ न तेन क्षेपश्चेत्तद्दुष्टमुद्दिष्टमेव।।**

इस सूत्र का उपयोग प्राचीनाचार्य सृष्ट्यादि से वर्तमान शकवर्ष के किसी भी अभीष्ट दिन के अहर्गण ज्ञान से कल्पसावन दिन में कल्पग्रहभगण तो इष्ट अहर्गण में ग्रह की राश्यादि क्या होगी ?

$$\text{जैसे-}\frac{\text{क० ग्र० भ०} \times \text{इ० अह.}}{\text{कल्प सावन दिन}} = \text{इष्टग्रहभगण} + \text{भगणशेष। अतः भगणशेष को}$$

$$\frac{\text{१२ से गुण करने पर भगणशेष} \times \text{१२}}{\text{कल्प सावन दिन}} = \frac{\text{गतराशि} + \text{भगणशेष}}{\text{कल्प सावन दिन}}$$

इसी प्रकार आगे विकलादि शेष ज्ञातकर गुणक और लब्धि के ज्ञान से विलोम क्रिया से विकलादि को शेषादि समझकर कल्प सावन दिन का ज्ञान करते थे।

वर्ग प्रकृति[2] ऐसा अङ्क जिसका मूल पूर्णाङ्क हो जाता है। जैसे वह कौन सा वर्गाङ्क है जिसको ८ से गुणाकर उसमें एक जोड़ दें तो वह अंक वर्गाङ्क ही रहता हैं।

१. करणीषड्विधम्, कुट्टकाध्यायः श्लो-१।

२. इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्या क्षुण्णो युक्तो वर्जितो वा स येन।
मूलं दद्यात् क्षेपकं तं धनर्णं मूलं तच्च ज्येष्ठमूलं वदन्ति।।
बीजगणितम्, वर्गप्रकृतिः, श्लो० संख्या-१

चक्रवालगणित[1] (वर्गप्रकृति और कुट्टक से सम्बद्ध) चक्र की तरह भ्रमणशील होने के कारण इस गणित का नाम चक्रवाल रखा गया हैं। इसका उदाहरण देखें-

> **का सप्तषष्ठिगुणिताकृतिरेकयुक्ता**
> **का चैकषष्ठिगुणिता च सखे सरूपा।**
> **स्यान्मूलदा यदि कृतिप्रकृतिर्नितान्तं**[2]
> **तच्चेतसि प्रबद तां विततां लतावत्।।**

अर्थात् कौन सा वर्ग है जिसे ६७ से गुणाकर उसमें एक का वर्ग जोड़ देने से लब्धाङ्क वर्गाङ्क हो जाता हैं या उसका निरवयव मूल मिल जाता हैं।

एकवर्णसमीकरण[3]

किसी एक व्यक्ति के पास ३०० रु० हैं और छः घोड़े हैं और दूसरे के पास दश घोड़े हैं और १०० रू० कर्ज है। धन की दृष्टि से दोनों ही बराबर हैं तो एक घोड़े का मूल्य कितना है? यहां अव्यक्त कल्पना द्वारा एकवर्ण समीकरण किया गया है।

वर्णात्मक अव्यक्त राशि का गणित[4]

किसी भ्रमर झुण्ड के आधे का मूल मालती पुष्प पर, समग्र भ्रमर झुण्ड का ८/९ अलिनी पुष्प पर और शेष एक भ्रमर अपनी भ्रमरी की खोज में रात्रि में कमल पुष्प के निरुद्ध होने पर रातभर अपनी नायिका का द्वार खटखटाता रहा। सूर्योदय होने पर कमलपुष्प के स्वयं उद्घाटित होने पर दोनों का मिलन हो पाया। यहां वर्गात्मक अव्यक्त राशि की अपेक्षा की गई है। इसके हल में भास्कराचार्य के पूववर्ती श्रीधराचार्य का निम्नलिखित सूत्र सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया गया है।

> **चतुराहतवर्गसमै रूपैः पक्षद्वयं गुणयेत्।**
> **अव्यक्तवर्गरूपैर्युक्तौ पक्षौ ततो मूलम्।।**

यह सूत्र आज भी नवीन बीजगणितज्ञों द्वारा उतना ही आदर पा रहा है।

---

१. ह्स्वज्येष्ठपदक्षेपान् भाज्यप्रक्षेपभाजकान्। कृत्वा कल्प्यो गुणस्तत्र तथा प्रकृतितश्च्युते।। गुणवर्गे प्रकृत्योने.......। बीजगणितम्, चक्रवालम्-श्लो, १-४।

२. बीजगणितम्, चक्रवालम्, उदाहरण श्लो-१।

३. यावत्तावत् कल्प्यमव्यक्तराशेर्मानं तस्मिन् कुर्वतोद्दिष्टमेव। तुल्यौ पक्षौ साधनीयौ प्रयत्नात् त्यक्त्वा शिप्त्वा वापि संगुण्य भक्त्वा।। एकाव्यक्तं शोधयेदन्य.......बीजगणितम्, एकवर्णसमीकरणम्, श्लो, १-३, एकस्य रूपत्रिशती षडश्वा.....। बीजगणितम्, एकवर्णसमीकरणम्, उाहरणं, श्लोक-१।

४. अलिकुलदलमूलं मालतीं यातमष्टौ........बीजगणितम्, एकवर्णमध्यमाहरणम्, उदाहरणम्, श्लोक-१।

भावित[1]

अनेक वर्णों के परस्पर गुणन, भजन, वर्ग घनवर्ग, मूल, घनमूल, ऋण और धनादि क्षेप संबंध के अव्यक्त समीकरणों में अ, क, ल, य आदि के अव्यक्त गणित संबंधों से अभीष्टराशि का ज्ञान कर सकना बीजगणित विद्या का एक सैद्धान्तिक चमत्कार है। आचार्य भास्कर ने बीजगणित की पूर्णता भावित नामक अध्याय से की है। वहाँ उदाहरण है-

> **चतुस्त्रिगुण्यो राश्योः संयुतिर्द्वियुता तयोः।**
> **राशिघातेन तुल्या स्यात् तौ राशी वेत्सि चेद्वद।।**

अभिप्राय है कि कोई दो राशियाँ हैं जिन्हें क्रमशः ४ और ३ से गुणाकर दोनों के गुणनफल में २ जोड़ देते हैं तो वह अंक संख्या उक्त दोनों राशियों के गुणनफल के तुल्य हो जाती है। इस प्रकार के प्रश्नों का हल जानने के लिए भास्कराचार्य ने भावित नाम का अध्याय बीजगणित में सम्मिलित किया।

अनुवाद-इस ग्रन्थ का अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। मैंने हर संभव प्रयास किया है कि अनुवादकों का नाम इसमें सम्मिलित कर सकूँ। फिर भी सभी लोगों तक मेरी दृष्टि पहुँच सकी ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जितनी सूचना उपलब्ध हो सकी उसे सञ्चित करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ का मराठी,[2] पर्सियन,[3] जर्मन,[4] और अंग्रेजी,[5] भाषा में अनुवाद होने का उद्धरण मिल पाया है।

टीका-भास्करीय बीजगणित की कुछ तो बहुत प्राचीन टीकाएँ हैं और कुछ बाद के ज्योतिर्विदों ने की हैं। प्राचीन टीकाएँ जिनका उल्लेख मिल पाया है वे हैं बीजनवांकुरा[6] (बीजपल्लव या कल्पलतावतार), बीजप्रबोध,[7] बीजविवृत्तिकल्पलता[8] और कृपाराम के

---

१. मुक्त्वेष्टवर्णं सुधिया परेषां कल्प्यानि मानानि यथेप्सितानि।
तथा भवेद्भावितभङ्ग एवं स्यादाद्यबीजक्रिययेष्टिसिद्धिः।। बीजगणितम्, भावितम्, श्लोक. सं.१

२. वी०पी० खानपुरकार, पूणे-१६१३।

३. अता-उल्लाह रुशदी ने मुगल शाहजहाँ के लिए (१६२८-१६३६)।

४. "इयूवेर्दी अलजेब्रा देस भास्कर" -एच् ब्रॉखहाउस में प्रकाशित (१८५१)

५. इ. स्ट्रेची, विद नोट्स-एस्. डेविस. द्वारा कोलब्रूक, लन्दन-१६१३।

६. कृष्ण (लगभग शक १५२४) ये जहाँगीर बादशाह के ज्योतिषी थे।

७. रामकृष्ण, अमरावती के रहने वाले पं० लक्ष्मण के पुत्र थे और महीश्वर के शिष्य थे।

८. परशुराम।

उदाहरण इसके अतिरिक्त संस्कृत,[1] हिन्दी[2] और मराठी[3] में बाद में भी टीकाएँ लिखीं गई जिनकी हरसंभव सूचना सञ्चित करने का प्रयास किया है।

प्रकाशन

कलकत्ता से १८३४, १८३८ और १८४६ में प्रकाशित हुआ। जर्मन अनुवाद के साथ १८५१ में प्रकाशित। पुनः १८५३ में कलकत्ता से प्रकाशित। बनारस से डॉ० गणेश पाठक द्वारा १८७८ में प्रकाशित। १८७८ में जीवानन्द विद्यासागर द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित। म० म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा अपनी संस्कृत टीका सहित १८८८ में वाराणसी से प्रकाशित। वी०पी० खानपुर के द्वारा अपनी मराठी टीका सहित पुणे से १९१३ में प्रकाशित। राधावल्लभ द्वारा अपनी संस्कृत टीका सहित कलकत्ता से १९१७ में प्रकाशित। मुरलीधर झा द्वारा अपनी संस्कृत टीका और म०म० सुधाकर द्विवेदी की टीका के साथ १९२७ में वाराणसी से प्रकाशित। राधाकृष्ण शास्त्री और कृष्ण की संस्कृत टीका के साथ १९८५ में तञ्जौर से प्रकाशित। कोलब्रूक का अंग्रेजी अनुवाद पुणे से १९३० में प्रकाशित। दुर्गा प्रसाद द्विवेदी द्वारा अपनी संस्कृत टीका सहित लखनऊ से १९४१ में प्रकाशित। अच्युतानन्द झा द्वारा बनारस से जीवनाथ की सुबोधिनी टीका और अपनी संस्कृत और हिन्दी टीका १९४६ में प्रकाशित। एच्.टी. कोलब्रूक, लन्दन-१८१७। डी.एम्. मेहता, भावनगर-१९३१। पं० श्री विशुद्धानन्द गौड़ द्वारा १९६२ में चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित और सविमर्श सोदाहरण संस्कृत "वासना" सुधा हिन्दी व्याख्या सहित पं० देवचन्द्र झा द्वारा १९८३ के आसपास कृष्णदास अकादमी, वाराणसी से प्रकाशित हुए।

सिद्धान्त शिरोमणि-

लीलावती और बीजगणित के बाद सिद्धान्त शिरोमणि के ग्रहगोलाध्याय और ग्रहगणिताध्याय का क्रम आता है। आजकल प्रायः विश्वविद्यालयों में पहले ग्रहगणिताध्याय का अध्यापन किया जाता है। उसके बाद गोलाध्याय का। इससे कई बार भ्रम की स्थिति पैदा होती है कि पहले ग्रह-गणिताध्याय की रचना हुई फिर बाद में गोलाध्याय लिखा गया। किन्तु गणिताध्याय में जो अन्तः साक्ष्य प्राप्त होते हैं इससे प्रतीत होता है कि पहले गोलाध्याय लिखा गया है और उसके बाद गणिताध्याय। इस प्रसङ्ग में गणिताध्याय के कुछ

---

१. सुधाकर द्विवेदी, वाराणसी-१८८८, कलकत्ता-१९१७, मुरलीधर झा, वाराणसी-१९२७, कृष्ण-१९५८, अच्युतानन्द झा, वाराणसी-१९४६ (जीवनाथ-सुबोधनी टीका)।

२. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, लखनऊ १९४१, अच्युतानन्द झा, वाराणसी-१९४६, देवचन्द्र झा, वाराणसी-१९८३, विशुद्धानन्द गौड़ पुनः सम्पादित बलदेव मिश्र की टीका बनारस-१९६२।

३. वी०पी० खानपुरकर, पुणे-१९१३।

साक्ष्य नीचे प्रस्तुत हैं। खखेषु वेद षड्गुणा[1] ..... के वासनाभाष्य के अन्त में अत्रोपपत्तिर्गोले समं भसूर्यावुदितौ इत्यादिना कथिता व्याख्याता च।............द्युचरचक्रहतो दिनसंचयः[2] का भाष्य करते हुए कहा है कि तत्कारणं गोले कथितं व्याख्यातञ्च। चैत्रादियातास्तिथयः पृथक्स्थाः[3] की उत्पत्ति लिखते हुए यथा गोले कथितम्-दर्शाग्रतः संक्रमकालतः प्राक् सदैव तिष्ठत्यधिमासशेषम्। साग्रात्[4] सचक्राच्च खगात् श्लोक के भाष्य में इति प्रश्नाध्याये कुट्टक विधिना वक्ष्ये। लम्बज्यागुणितो[5] भवेत् कुपरिधिः स्पष्टस्त्रिभज्याहृतः की उपपत्ति की जगह 'अत्रोपत्तिर्गोले' लिखा है। प्रोक्तो[6] योजनसंख्याय कुपरिधिः के भाष्य के आरम्भ में भूपरिधेरुपपत्तिर्गोले कथ्यते। यत्र[7] रेखापुरे साक्षतुल्यः.....की उपपत्ति की जगह अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन गोलेऽभिहिता च। चरघ्नभुक्तिर्द्युनिशासु भक्ता[8] श्लोक की उपपत्ति के अन्त में गोले सम्यगभिहिता इह संक्षिप्तोक्ता। तात्कालिकीकरणकारणता गोले कथिता व्याख्याता च। भाकृतीन्[9] कृति-संयुतेः पदं की उपपत्ति की जगह अस्योपपत्तिर्गणिते कथिता ऐसा लिखा है। प्रसंग है छाया से कर्ण और कर्ण से छाया के आनयन का। इसकी संगति नहीं बैठ पायी है।

उद्धृत अन्तः साक्ष्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले गोलाध्याय लिखा है और उसके बाद में गणिताध्याय लिखा है। परम्परा से यह सुनता आ रहा हूँ कि सिद्धान्त शिरोमणि का मूल श्लोक पहले लिखा गया और वासनाभाष्य बाद में लिखा गया।[10] मूल श्लोक पहले गणिताध्याय का लिखा गया और उसके बाद में गोलाध्याय का। जहां तक वासनाभाष्य का प्रश्न है तो उसके लिए तो अन्तः साक्ष्य स्पष्ट कहता है कि पहले गोलाध्याय का भाष्य लिखा गया और उसके बाद गणिताध्याय का। चूँकि अन्तः साक्ष्य सबसे बड़ा प्रमाण होता है। उसे ही आधार माना गया है। पूर्वापर लेखन में जो भी लिखा गया हो, लेकिन दोनों ही (गणिताध्याय और गोलाध्याय) एक दूसरे के पूरक हैं।

---

१. गणिताध्याय, मध्यमा, भगणा० श्लो० सं० ७।
२. गणिताध्याय, मध्यमा० ग्रहानयनाध्याय श्लो० सं० ५।
३. गणिताध्याय, मध्यमा० ग्रहानयनाध्याय श्लो० सं० ७।
४. गणिताध्याय, मध्यमा० ग्रहानयनाध्याय श्लो० सं० १५।
५. गणिताध्याय, मध्यमा० भूपरिधि स्फुटीकरण श्लो० सं० २।
६. गणिताध्याय, मध्यमा० भूपरिधि स्फुटीकरण श्लो० सं० १।
७. गणिताध्याय, मध्यमा० भूपरिधि स्फुटीकरण श्लो० सं० ३।
८. गणिताध्याय, स्फुटीकरण श्लो० सं० ५३।
९. गणिताध्याय, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लो० सं० ११।
१०. सं० वि०वि० दरभङ्गा में जो ग्रन्थ पढ़ाया जाता था उसमें आरंभ गणिताध्याय से होता था और अन्तिम भाग गोलाध्याय था। लेकिन गोलाध्याय के भाष्य में गणिते प्रतिपादितम् न लिखकर गणिताध्याय में लिखा गया है कि गोले प्रतिपादितम्।

गणिताध्याय और गोलाध्याय

सिद्धान्तशिरोमणि के नाम से जाने जाने वाले गणिताध्याय और गोलाध्याय बहुत ही महत्वपूर्ण भाग हैं। भारतीय खगोलविद्या के ग्रन्थों में इनका अनुपम स्थान रहा है। विद्वान लोग इसे ब्राह्म पक्ष की परवर्ती कृति के रूप में देखते हैं। कहा जाता है सिद्धान्तशिरोमणि ब्राह्मपक्ष का एक ऐसा ग्रन्थ है जो ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त के बाद इस परम्परा को दृढ़ता से आगे ले जाता है। इतना ही नहीं मध्यमाधिकार के ग्रहभगणादिमान और परिध्यंश तो ब्रह्मगुप्त के ही है जबकि ऐसा प्रतीत होता है कि बीजसंस्कार राजमृगाङ्क के अनुसार हैं। इन दोनों अध्यायों का प्रारूप यदि देखा जाय तो लगेगा लल्लाचार्य का धीवृद्धिदतन्त्र ही हैं। सिर्फ ज्योत्पत्ति और ऋतुवर्णन पृथक् प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त भास्कराचार्य ने बहुत सारे संशोधन किए और प्राचीनाचार्यो के बहुत सारे मान आगम के रूप में स्वीकार किए। बहुत ही महत्त्वपूर्ण और नया सूत्र यदि खोजा जाय तो भास्कर की कृति में उदयान्तर संस्कार (कालसमीकरण) का उल्लेख मिलता हैं। यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से उत्तम तो हैं ही विषय प्रतिपादन में समास शैली का आश्रय लिया है। भाष्य और उपपत्ति लेखन की दृष्टि से तो उस धारा की सर्वोत्तम कृति मानी जा सकती है। समीक्षा की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस शास्त्र के इतने बड़े विद्वान ने अपना समय वेध करने में नहीं लगाकर सारा समय विचार में लगाया। हो सकता था कि इनकी दृष्टि यदि वेध की ओर गई होती तो संसार को और भी महत्त्वपूर्ण कोई कृति मिल पाती। सिद्धान्त शिरोमणि के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि यह ग्रन्थ वेधसाध्य ज्ञान से नहीं अपितु विचारसाध्य ज्ञान से भरा पड़ा है। सामान्य से सामान्य और गम्भीर से गम्भीर दोनों ही विषयों के सरल और प्रपञ्चपूर्ण भाष्य और उपपत्ति लेखन का भास्कर का पाण्डित्य अद्वितीय हैं। यह अतिशयोक्ति नहीं सत्य है कि केवल सिद्धान्त शिरोमणि मात्र के अध्ययन से भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष का समग्र अध्ययन हो जाता है। यही कारण रहा होगा कि भास्कराचार्य की इतनी प्रसिद्धि हुई हैं। सिद्धान्त शिरोमणि की उत्कृष्टता के कारण तत्कालीन उत्तम और सामान्य न जाने कितने ग्रन्थों का लोप हो गया होगा। इन्होंने जिन ग्रन्थों को आगम माना है उनका भी प्रचार-प्रसार और अध्ययन अध्यापन सिद्धान्त शिरोमणि के बाद अत्यल्प हो गया फिर अन्य ग्रन्थों की जो भी स्थिति हुई हो।

आर्यभट्ट प्रथम से भास्कर पर्यन्त का काल भारतीय ज्योतिष के पूर्णविकास का काल माना जा सकता है। यही समय है जब बगदाद के खलीफा भारत से ज्योतिषी ले गये। संस्कृत ज्योतिष ग्रन्थों का अरबी और लेटिनभाषाओं में अनुवाद हुआ। अरब और ग्रीस के लोग ज्योतिष शास्त्र में भारत के शिष्य बने और अयन गति का चिन्तन परकाष्ठा पर पहुँचा। अब इन बिन्दुओं से अनुमान किया जा सकता है कि ज्योतिष शास्त्र के इस उन्नति काल में न जाने कितने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकार हुए होंगे। लेकिन आज कुछ का तो नाम मात्र

पता है और अधिकांश का तो कुछ भी ज्ञात नहीं हैं। बेरुनी[1] ने करणचूड़ामणि लोकानन्दकृत लोकानन्दकरण और भहिलकृत भहिलकरण का नाम लिखने के बाद (भाग-६, पृष्ठ १५७) लिखा है कि ऐसे असंख्य ग्रन्थ हैं। जबकि आज किसी भी ग्रन्थ का अता-पता नहीं है। भास्कराचार्य के ग्रन्थों का प्रचार उनके ग्रन्थ का महत्त्व और वंश की सम्पन्नता के कारण भारत के कोने-कोने तक तो है ही अनेक विदेशी भाषाओं में भी इनके अनुवाद किए गये।

वेध की दृष्टि से कोई नई बात तो नहीं मिल पाई है लेकिन उपपत्ति मूलक चिन्तन तो नया है ही। गोल तो बिलकुल हस्तामलक की तरह था। त्रिप्रश्नाधिकार में इन्होंने बहुत सी नवीन बातें लिखी हैं। शंकु सम्बन्धी इष्ट दिक् छाया साधन, पातसाधन का नया सूत्र शर का क्रान्तिवृत्त पर लम्ब होने का विचार, उदयान्तर आदि बिल्कुल नया चिन्तन है। यद्यपि इक्वेशन ऑफ टाइम नाम का एक संस्कार पाश्चात्य ज्योतिष में हैं लेकिन उसमें भुजान्तर और उदयान्तर दोनों अन्तर्निहित हैं।

उदयान्तर

सूर्य की गति क्रान्तिवृत्त में सदा एक सी नहीं रहती है (आधुनिक मत से पृथ्वी की वार्षिक गति प्रतिदिन एक सी नहीं रहती है।) इष्टकालिक मध्यम और स्पष्ट सूर्य के अन्तर (फलसंस्कार) के कारण स्पष्ट सूर्योदय आगे पीछे होता रहता है। इसे भुजान्तर[2] संस्कार कहा हैं। पृथ्वी अपनी धूरी पर विषुवद्वृत्त में घूमती है। इसलिए क्षितिज में क्रान्तिवृत्तीय ३०० का उदय होने में जितना समय लगता है नाड़ीवृत्त के ३०० का उदय होने में सदा उतना ही समय नहीं लगता हैं। इसी विवेचन को भास्कराचार्य ने उदयान्तर[3] कहा है। यह संस्कार भास्कराचार्य का एक आविष्कार है। रङ्गनाथ ने सूर्य सिद्धान्त[4] स्पष्टाधिकार की टीका लिखने के क्रम में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सूर्य सिद्धान्तकार को भी यह संस्कार अभीष्ट था। लेकिन स्वल्पान्तर के कारण उन्होंने इसका परित्याग कर दिया। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर भट्ट ने उदयान्तर के खण्डन का दुराग्रह किया है यह बात सभी जानते हैं।

---

१. भारतीय ज्योतिष, डॉ० शंकर बाल कृष्ण दीक्षित, पृष्ठ संख्या ३४७, (हिन्दी संस्करण-१६६०)
२. भानोः फलं गुणितमर्कयुतस्य राशेः......सि० शि० गणिताध्यायः, स्पष्टा० श्लो० संख्या ६१।
३. युक्तायनांशस्य तु मध्यमस्य भुक्तासवोऽर्कस्य निरक्षदेशे.....सि० शि० गणिता स्पष्टा, श्लो० संख्या ६२-६३।
४. सूर्यसिद्धान्त स्प० श्लो० संख्या ५६ (रङ्गनाथ की टीका)।

गणिताध्याय

गणिताध्याय में ग्रहखगोल विषय का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया गया है। विषय की दृष्टि से इसे बारह भागों में विभक्त किया गया है। इन्हें बारह अधिकार के नाम से जाना जाता है। १. मध्यमाधिकार, २. स्पष्टाधिकार, ३. त्रिप्रश्नाधिकार, ४. पर्वसम्भवाधिकार, ५. चन्द्रग्रहणाधिकार, ६. सूर्यग्रहणाधिकार, ७. ग्रहच्छायाधिकार, ८. उदायास्ताधिकार, ६. चन्द्रश्रृङ्गोन्नत्यधिकार, १०. ग्रहयुति अधिकार, ११. भग्रहयुति अधिकार और १२. पाताधिकार।

गोलाध्याय

ग्रहगोलाध्याय और ग्रहगणिताध्याय एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही अध्यायों में ग्रहसंबंधी गणित है। गोलाध्याय में कहीं-कहीं पर खगोलीय विषयों को अधिक स्पष्ट और विस्तृत किया है। विषयविभाग की दृष्टि से गोलाध्याय को चौदह भागों में बाँटा गया है। १. गोलप्रशंसाध्याय, २. गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय, ३. भुवनकोश, ४. मध्यमगतिवासना, ५. छेद्यकाधिकार, ६. ज्योत्पत्ति-वासना ७. गोलबन्धाधिकार, ८. त्रिप्रश्नवासना, ६. ग्रहणवासना, १०. उदयास्तवासना, ११. शृङ्गोन्नतिवासना, १२. यन्त्राध्याय, १३. ऋतुवर्णनाध्याय और १४. प्रश्नाध्याय।

वासनाभाष्य, मिताक्षरा, मरीचि, शिरोमणिप्रकाश जैसे सुप्रसिद्ध टीका के अतिरिक्त म०म० मुरलीधर[1] ठाकुर, गिरिजाप्रसाद[2] द्विवेदी, केदारदत्त जोशी[3] और धूलिपाल अर्कसोमयाजी[4] प्रभृति विद्वानों ने गणिताध्याय पर टीकाएं लिखीं।

प्रकाशन

एल० विलकिन्सन,[5] जीवानन्दविद्यासागर,[6] वी०पी० खानुपरकर,[7] आशुबोध भूषण और नित्यबोधविद्यारत्न[8] दत्तात्रेयआप्टे,[9] केदारदत्तजोशी,[10] एशियाटिक सोसाइटी का

---

१. काशी संस्कृत सीरिज १४६, बनारस-१६५०। २. लखनऊ-१६११।
३. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। ४. केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति।
५. कलकत्ता से मिताक्षरा के साथ १८४२-१८५३।
६. कलकत्ता से मिताक्षरा के साथ १८८१।
७. मराठी अनुवाद और टीका, पुणे-१६१३।
८. कलकत्ता से मिताक्षरा के साथ १६१५।
६. मिताक्षरा और शिरोमणि प्रकाश के साथ पुणे १६३६-४१।
१०. मिताक्षरा और अपनी संस्कृत और हिन्दी टीका के साथ वाराणसी से १६५०।

जर्नल[1] और धूलिपाल अर्कसोमयाजी[2] ने गणिताध्याय का प्रकाशन करवाया।

गोलाध्याय का अनुवाद

गोलाध्याय के अनुवाद हिन्दी, बंगाली, मराठी, लैटिन और अंग्रेजी भाषाओं में हुए हैं।

टीकाएँ

वासनाभाष्य, मिताक्षरा, मरीचि, गणिततत्त्वचिन्तामणि, शिरोमणि प्रकाश, और वासनावार्तिक जैसे सुप्रसिद्ध टीकाओं के अतिरिक्त हिन्दी और मराठी में भी अनेक टीकाएँ लिखी गई है। शंकर बालकृष्ण दीक्षिता जी का कहना है कि ज्ञानराज के पुत्र सूर्यदास ने सूर्यप्रकाश नाम की टीका सम्पूर्ण सिद्धान्त शिरोमणि पर लिखी, जिनमें लीलावती और बीजगणित की टीका शक १४६३ की है। प्रथम आर्यभट के टीकाकार परमादीश्वर ने सिद्धान्तदीपिका नाम की टीका लिखी थी यह भी दीक्षित जी को सुनने को मिला था। इसके अतिरिक्त भी दीक्षित जी ने कुछ विद्वानों के नामों को अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है। जैसे- विश्वनाथ का उदाहरण, राजगिरि प्रवासी, चक्र चूड़ामणि, जयलक्ष्मण या जयलक्ष्मी, मोहनदास, लक्ष्मीनाथ, वाचस्पतिमित्र और हरिहर। हो सकता है और भी बहुत सारे टीकाकार हुए होंगे।

प्रकाशन

गोलाध्याय का प्रकाशन एल० विलकिन्सन,[3] वापूदेवशास्त्री,[4] चन्द्रदेव,[5] गणपतिदेव,[6] जीवानन्द विद्यासागर,[7] आशुबोधिविद्यासागर और नित्यबोधिविद्यासागर,[8] आर० एम० चट्टोपाध्याय,[9] उदयनारायण,[10] वी०पी० खानपुरकर,[11] गिरिजाप्रसाद द्विवेदी,[12] राधावल्लभ,[13] और दत्तात्रेय आप्टे आदि विद्वानों ने करवाया।

---

१. जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल।
२. केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९८०।
३. कलकत्ता १८१२, १८५६।
४. बनारस १८६६।
५. बनारस १८९१।
६. बनारस १८२६।
७. कलकत्ता १८८०, १८९९ ८. कलकत्ता १९१५।
९. कलकत्ता १९२१ १०. उदयनारायण सिंह, मुम्बई १९०५।
११. वी०पी० खानपुरकर, मुम्बई १९११, पुणे १९१३।
१२. गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, लखनऊ १९११, डॉ० केदारदत्त जोशी, का० हि० विश्व० वि०, वाराणसी-१९६१-६४।
१३. रसिकमोहन चट्टोपाध्याय, कलकत्ता-१८८७।

करणकुतूहल

यह एक प्रमुख करण ग्रन्थ रहा है। इसे ब्रह्म पक्ष का पोषक माना जाता है। इसका आरंभकाल शक ११०५ (२३ फरवरी ११८३) है। भास्कराचार्य ने इस ग्रन्थ को ब्रह्मतुल्य कहा है लेकिन यह राजमृगाङ्गोक्त वीज संस्कृत ब्रह्तुल्य है। इसका नाम ग्रहागम कुतूहल भी है। पहले इसकी बहुत प्रसिद्धि थी। ग्रहलाघवोक्त ब्रह्मपक्षीय ग्रह इसी के हैं। इससे गणित करने के लिए जगच्चन्द्रिकासारिणी नामक एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें दश अधिकार हैं। मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदयास्त, शृङ्गोन्नति, ग्रहयुति, पात और पर्वसंभव इन अधिकारों में क्रमश १७, २३, १७, २४, १०, १६, ५, ७, १६, ५ = १४० पद्य हैं। अन्त में नीरदाध्याय नाम का एक अध्याय है। उसमें ७ श्लोक हैं। यह उनका अपना भी हो सकता है।

●●●

होरा स्कन्ध विमर्श

डॉ. अशोक थपलियाल

अनेक रहस्यों से युक्त ज्योतिष शास्त्र महासमुद्र है। ब्रह्माण्ड के अनेक तत्त्वों रहस्योद्घाटन में प्रवृत्त ज्योतिषशास्त्र में ग्रह-नक्षत्र, धूमकेतु, उल्कापात आदि ज्योतिःपदार्थों के स्वरुप, गति, स्थित्यादि निरीक्षण करने पर ये तारे क्या वस्तु हैं? इनमें पूर्व की ओर गतिमान ज्योतिःपुंज क्या हैं? चन्द्र का स्वरुप प्रतिदिन क्यों बदलता रहता है? स्वच्छ पूर्णिमा की रात्रि को कभी चन्द्र धूमिल या कुछ देर के लिए अदृश्य सा क्यों हो जाता है? स्वच्छ दिन में कभी कभी सूर्य की प्रभा क्षीण क्यों पड़ जाती है? ॠतुओं का आवागमन का चक्र कैसे चलता है? इत्यादि क्या? क्यों? और कैसे? जैसे प्रश्नों ने उसे उद्वेलित किया। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर जानने की चाह ने ज्योतिषशास्त्र की नींव रखी। हमारे ऋषि-महर्षियों एवं पूर्वाचार्यों ने भी ज्योतिःपदार्थों की गति-स्थित्यादि के अतिरिक्त आकाश में घटने वाली ग्रहण जैसी आश्चर्यजनक घटनाओं का भी सतत निरीक्षण करके द्वारा प्राणियों पर पड़ने वाले शुभाशुभ प्रभाव का विश्लेषण कर ज्योतिषशास्त्र के मानक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनके द्वारा रचित ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तरुपी अनमोल रत्न ज्योतिशास्त्र की अमूल्य धरोहर हैं। वैदिक दर्शन की अवधारणा पर आधारित ज्योतिशास्त्र वेदांग के नेत्र के रूप में प्रतिष्ठित है।[1] वेदांग ज्योतिष में सभी वेदांगों में इसकी प्रधानता स्वीकार की गयी है। यथा-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्ध्नि संस्थितम्।।[2]

'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्' ज्योतिषशास्त्र की इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहते हैं।[3] वस्तुतः ग्रहनक्षत्रों की गतिविधि एवं प्रभाव के विषय में जो कुछ भी ज्ञान है वह सब ज्योतिष ही है। प्राणियों पर ग्रहादिकों के प्रभाव का अध्ययन कर उसके अनुसार शुभाशुभफलकथन ही ज्योतिष का मुख्योद्देश्य है। जैसा भास्कर ने भी कहा है-

"ज्योतिश्शास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते।"[4]

---

१. 'वेचचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषम्'। सि. शि. गणिताध्याय मध्य. कालमा. श्लो.११
२. आर्च ज्यो. श्लो. ३५
३. भारतीय ज्योतिष-नेमिचन्द्र शास्त्री पृ. १७
४. सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय गोलप्रशंसा ६

ज्योतिषशास्त्र के मुख्यतया सिद्धान्त, होरा एवं संहिता ये तीन स्कन्ध है।[1] सिद्धान्त-स्कन्ध गणितात्मक है। इसमें मुख्यतया ग्रहों की गति, स्थिति, दिग्देश एवं कालगणनाविषयकी विवेचना प्राप्त होती है।[2] ग्रहों के प्रभाव का अध्ययन कर शुभाशुभफलनिरूपण होरा एंव संहिता का वर्ण्य विषय है। मुख्यतया काल को आधार बनाकर ही फलविवेचना के लिए जन्मकालीन ग्रहों की स्थिति के अनुसार कुण्डली का निर्माण किया जाता है। जन्मकुण्डली के द्वादश भावों में स्थिति ग्रहों के परस्परसम्बन्धादि का विचार कर वैयक्तिकफल का विवेचन होरास्कन्ध में किया जाता है। समष्टिगतफल का विवेचन संहितास्कन्ध में प्राप्त होता है। संहितास्कन्ध में शकुन, वास्तुप्रभृति विषय भी आते हैं।[3] इस प्रकार मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन कर उसे समुचित मार्गदर्शन देना ज्योतिषशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है।

होरा स्कन्ध : अर्थ एवं प्रयोजन-

मानव जीवन के सुख-दुःख, इष्टानिष्ट आदि सभी शुभाशुभविषयों का विवेचन करने वाले शास्त्र ही होराशास्त्र है। होरा शब्द की उत्पत्ति अहोरात्र शब्द से हुई है। अहोरात्र शब्द के प्रथम एवं अन्तिम अक्षर का लोप करने पर होरा शब्द निष्पन्न होता है।[4] एक राशि में २ होराएं होती हैं। सम्पूर्ण अहोरोत्र में क्रान्तिवृत्तस्थ १२ राशियों का स्पर्श पूर्व क्षितिज में हो जाता है, जिस कारण १२ लग्न एक दिनरात में होते हैं।[5] अतः १२ लग्नों की २४ होराएं होती है। वस्तुतः जन्मकुण्डली में लग्न का अत्यधिक महत्व है। साथ ही सूक्ष्म विवेचन हेतु होरा-कुण्डली का भी विचार किया जाता है। बृहज्जातक की होराभिप्रायनिर्णयटीका के अनुसार अहोरात्र का मेषादि राशि भेदों का अर्थात सप्तमांश, नवमांश, द्वादशांश, त्रिंशांशादियों का प्राणपर्यन्त होरा संज्ञा है।[6] इसी आधार पर इसे होराशास्त्र के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। होराशास्त्र का दूसरा नाम जातकशास्त्र भी है।

वैदिक दर्शन की पुनर्जन्म की अवधारणा के अनुसार मनुष्य निरन्तर शुभाशुभ कर्मों में निरत रहता है। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इस सूक्ति के अनुसार उसे

---

१. सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदसस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिःशास्त्रममनुत्तम्।। - नारद संहिता १/४
ज्योतिषशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितम्।। बृहत्संहिता १/४
ज्योतिःशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितम्-बृहत्संहिता उपनयन, ६
२. त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमादित्यादि। सि. शि. गणिताध्याय मध्य. श्लो.६
३. तत्कात्स्न्र्योपनयस्य नाम मुनिभिः संकीर्त्यते संहिता-बृहत्संहिता उपनयन. ६
४. होरेत्यहोरात्रविकल्पमेके वांछन्ति पूर्वापरवर्णलोपात् १/३
५. लग्न-'यत्र लग्नमपण्डलं कुजे तद्गृहाद्यमिह उच्यते प्राचीति।' सि. शि. गोला, त्रिप्रश्न. २६
६. बृहज्जातक होराभिप्रायनिर्णयटीका, सम्पादन व अनुवाद-डॉ. वेदनारायण चौधरी, पृ. ८७

कर्मों का फल अवश्य भोगना है परन्तु एक साथ ही या एक ही जन्म में समस्त कर्मों का फल मिलना सम्भव नहीं है। अतः उसे अनेक धारणा करने पड़ते हैं, जिसमें वह अपने कर्मों का फल भोगता है। इस प्रकार कर्मों के विपाक के तीन भेद बन जाते हैं-संचित प्रारब्ध एवं क्रियमाण। किसी भी प्राणी द्वारा वर्तमान क्षण तक किया समस्त कर्म, चाहे वह इस जन्म का हो अथवा पूर्व जन्मों का, संचित कर्म है। इसका फलविवेचन जन्मकुण्डली में योगायोगविचार से किया जाता है। जैसे-राजयोग, दरिद्रयोग आदि। अनेक जन्म-जन्मान्तरों के संचितकर्मों का फल एक साथ भोगना सम्भव नहीं है। अतः संचित कर्मों में से जितने कर्मों के फल का उपभोग को प्राणी पहले भोगना प्रारम्भ करता है वह प्रारब्ध या भाग्य कहलाता है। इसका विवेचन ज्योतिष में दशाविचार से होता है। जो कर्म अभी हो रहा है या किया जा रहा है, इसका विवेचन अष्टकवर्ग के आधार पर गोचर अथवा तात्कालिक ग्रहस्थित्यनुसार किया जाता है। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र का यह स्कन्ध जन्मकुण्डली की ग्रहस्थिति के आधार पर मनुष्य के द्वारा जन्म जन्मान्तरों में किए गए शुभाशुभ कर्मों के विपाक को जातक के शुभाशुभफल के रूप में प्रकाशित करता है।[1]

इसलिए आचार्य वराहमिहिर का कथन है कि यह शास्त्र मनुष्य के लिए उसी प्रकार पथनिर्देशन का कार्य करता है जैसे गहन अन्धकार में दीपक।[2]

अतः होराशास्त्र का प्रयोजन ग्रहनक्षेत्रों की गतिस्थित्यनुसार कुण्डली निर्माण कर जातक के जीवन में आने वाले सुख दुःखादि का अनुमान कर उसे अपने कर्तव्यों द्वारा अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रेरित करना है।

होरा स्कन्ध का वर्ण्यविषय-

होरास्कन्ध में मुख्यतया ग्रह एवं राशियों का स्वरूपवर्णन, ग्रहों की दृष्टि उच्च-नीच, मित्रामित्र, बलाबल आदि का विचार, द्वादशभावों द्वारा विचारणीय विषय एवं उनमें स्थित ग्रहों का शुभाशुभ फलविवेचन, जातक का अरिष्टविचार, वियोनिजन्मविचार, राजयोग, प्रव्रज्यायोग, दरिद्रयोग आदि अनेकविध शुभाशुभ योगविचार, सूर्यकृत योग, चन्द्रकृत योग, नाभसयोग, आयुर्दायविचार, अष्टकवर्गविचार, होरा-सप्तमांशादि दशवर्ग साधन, ग्रहविंशोपकादि बलसाधन, विंशोत्तरी आदि दशान्तर्दशादि का साधन, नक्षत्रादिजननफलविचार आदि विषय सम्मिलित हैं। वस्तुतः होराशास्त्र के विभिन्न मानकग्रन्थों में एक समान रूप से उपर्युक्त सभी विषय न होकर न्यूनाधिक रूप में प्राप्त होते हैं। वर्ण्यविषय में न्यूनाधिकत्व होते हुए भी सभी का मुख्य उद्देश्य व्यष्टिगत फलविवेचन अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का जन्मकालीन

---

१. कर्मार्जितं पूर्वभवे सदादि यत्तस्य पक्तिं समभिव्यनक्ति। बृहज्जातक १/३
यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।

२. व्यंजयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।। लघुजातक १/३

ग्रहों की स्थिति एवं तदनुसार दशा इत्यादि के आधार पर शुभाशुभ फलकथन करना है। बृहत्संहिता के सांवत्सरसूत्राध्याय में होराशास्त्र के वर्ण्य विषय विशद रूप से वर्णित है।[1]

होरा स्कन्ध का उद्‌भव एवं विकास-

भारतीय त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिषशास्त्र की अवधारणा को वैदिककाल से ही अनुभव किया जा सकता है। वेद विश्व के प्राचीनतम साहित्य हैं। यद्यपि इनका वर्ण्य विषय ज्योतिष नहीं है परन्तु इनमें प्रसंगवश उपलब्ध व्यावहारिक ज्योतिषीय वर्णन तत्कालीन उत्कृष्ट ज्योतिषीयज्ञान का परिचायक है। 'प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्' एवं 'यादसे गणकम्' जैसे मन्त्र उस समय के ज्योतिर्विदों के महत्व को द्योतित करते हैं।[2]

आचार्य शंकरबालकृष्ण दीक्षित के अनुसार तैतिरीयब्राह्मण से ज्योतिर्विद कुछ ऋषियों के नामों का वर्णन मिलता है। ज्यातिर्निबन्ध में नारद के मतानुसार ज्योतिश्शास्त्र के प्रवर्तक १८ ऋषियों के नाम प्राप्त होते हैं-

ब्रह्माचार्यो वशिष्ठोऽत्रिर्मनुः पौलस्त्यरोमशौ।
मरीचिरंगिरा व्यासो नारदः शौनको भृगुः।।
च्यवनो यवनो गर्गः कश्यपश्च पराशरः।
अष्टादशैते गम्भीरा ज्योतिःशास्त्रप्रयोजकाः।।

कश्यप संहिता में वर्णित १८ प्रवर्तकों के नामों में उपर्युक्त 'आचार्य' के स्थान पर 'सूर्य', 'रोमंश' के स्थान पर 'लोमश' तथा 'पौलस्त्य' के स्थान पर 'पौलिश' नामभेद मिलता है। आचार्य सुधाकरद्विवेदी ने १९ ज्योतिश्शास्त्र के प्रवर्तकों का उल्लेख गणकतरंगिणी में किया है-

विश्वसृङ्नारदो व्यासो वशिष्ठोऽत्रिः पराशरः।
लोमशे यवनः सूर्यो च्यवनः कश्यपो भृगुः।।
पुलस्त्यो मनुराचार्यः पौलिशः शौनकोऽङ्गिरा।
गर्गो मरीचिरित्येते ज्योतिःशास्त्र प्रवर्त्तकाः।।[3]

उपर्युक्त १८ या १९ ज्योतिश्शास्त्र के प्रवर्तक ऋषियों में प्रायः वैदिक ऋषियों के नाम सम्मिलित हैं। ये सभी आचार्य त्रिस्कन्धज्योतिर्विद थे। इनमें से कुछ आचार्यों के ग्रन्थ आज

---

१. बृहत्संहिता सांवत्सरसूत्राध्याय १७-१८
२. वाजसनेयी संहिता ३०/१० एवं ३०/२०
३. गणकतरंगिणी पृ. १

भी प्राप्य है। यथा-महर्षिपराशर कृत 'बृहत्पाराशर होराशास्त्र', नारदकृत 'नारद संहिता' एवं 'नारदीय ज्योतिषम्', 'कश्यपसंहिता', 'वसिष्ठसंहिता', 'भृगुसंहिता', 'गर्गसंहिता', 'सूर्यसिद्धान्त' इत्यादि, परन्तु इनमें आश्चर्यजनकरूप से 'वेदांगज्योतिष' के प्रणेता लगधमुनि का नाम नहीं है। अस्तु! इस प्रकार त्रिस्कन्धज्योतिषशास्त्र की प्राचीन वैदिक परम्परा अभिलक्षित होती है परन्तु यह परम्परा प्रायः आचार्य वराहमिहिर से पूर्व खण्डित एवं लुप्तप्राय अनुभूत होती है। यवनों ने भारतीय ज्योतिष के साथ अपनी पद्धति का समन्वय कर एक नयी पद्धति 'ताजिकशास्त्र' को प्रस्तुत किया, जिसमें जातकपद्धति के समान ही वर्षप्रवेशलग्न के आधार पर वर्षभर का शुभाशुभ फल विवेचित किया जाता है। आचार्य वराहमिहिर ने यवनों के ज्योतिष ज्ञान की प्रशंसा में कहा है-

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजः।।[1]

वराहमिहिर एवं उनके पश्चाद्वर्ती जातकशास्त्र के मानकग्रन्थों में यवनों का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है।

होराशास्त्र के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ-

होरास्कन्ध पर ऋषि जैमिनी कृत 'जैमिनी सूत्रम्' ग्रन्थ है जो अपने सूत्रपद्धति के द्वारा फलकथन हेतु प्रसिद्ध है। पराशरमुनि कृत 'बृहतपाराशरहोराशास्त्र' को होरास्कन्ध का सम्पूर्ण ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ कहा जा सकता है। इनका 'लघुपाराशरी' नामक अन्य ग्रन्थ भी समुपलब्ध है। आचार्यवराहमिहिर (प्रायः पांचवी शती शककाल) रचित 'बृहज्जातकम्' एवं 'लघुजातकम्' अप्रतिम ग्रन्थ हैं। बृहज्जातक को होराशास्त्र का प्रतिनिधिभूत ग्रन्थ कहा जा सकता है, जिस पर भट्टोत्पल (नवीं शताब्दी शककाल) द्वारा की गई टीका अत्यन्त उत्कृष्ट है। इनके ग्रन्थों में मय, यवन, शक्ति, जीवशर्मा, मणित्थ, विष्णगुप्त देवस्वामी, सिद्धसेन, सत्याचार्य आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] आचार्य कल्याणवर्मा कृत 'सारावली' (५५७ ई.), आचार्यवराहमिहिर के पुत्र पृथुयशा कृत षट्पंचाशिका, चन्द्रसेन कृत केवलज्ञानहोरा, श्रीपति विरचित श्रीपतिपद्धति, रत्नावली, रत्नामाला एवं रत्नसार, बल्लालसेन रचित अद्‌भुतसागर, पद्‌मसूरि कृत भुवनदीपक, नरचन्द्र कृत बेडाजातकवृत्तिः, प्रश्नशतक, ज्योतिषप्रकाश आदि ग्रन्थ, केशव रचित जातकपद्धति, ताजिकपद्धति आदि ग्रन्थ, ढुण्ढिराज विरचित जातकाभरण, वैद्यनाथ कृत जातक पारिजात, नीलकण्ठ रचित ताजिकनीलकण्ठी, महिमोदय कृत ज्योतिषरत्नाकर, गणेश कृत जातकालंकर इत्यादि

---

१. बृहत्संहिता सांवत्सरसूत्रा. ३०
२. भारतीय ज्योतिष-नेमचिन्द्र शास्त्री, पृ. ९५

होराशास्त्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी फलितज्योतिष के कई प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतानुसार नवीन प्रकार से ग्रन्थों की रचना की।

होरास्कन्ध की आवश्यकता एवं लोकोपयोगिता-

कुछ विद्वानों का कथन है कि जब पूर्वजन्मार्जित शुभाशुभकर्मों के फल की प्राप्ति अवश्यम्भावी है तो उसका ज्ञान कराने वाले होरास्कन्ध की क्या आवश्यकता है? क्योंकि जो होना है, वह तो होकर ही रहता है। परन्तु ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण रूप से भाग्य के भरोसे बैठकर ही यदि कृषक खेती करना छोड़ दे तो अन्नादि की उत्पत्ति कैसे होगी? नीति वचनों में भी कहा गया है- **'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।'** होराशास्त्र तो कर्मप्रधान शास्त्र है जो पूर्वजन्मार्जित कर्मों के फल को क्रियमाण कर्म के द्वारा न्यूनाधिक करने में विश्वास रखता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यदि होराशास्त्र के द्वारा कर्मविपाक को न्यूनाधिक किया जा सकता है तो श्री राम, युद्धिष्ठिर जैसे शक्तिमान एवं सामर्थ्यशाली व्यक्तियों को दुःख नहीं भोगना पड़ता? अथवा होराशास्त्र के द्वारा भविष्यफल जानकर किसी को भी कभी दुःख नहीं उठाना पड़ेगा। यहाँ कर्मों की विचित्रता को ध्यान में रखना होगा। कुछ कर्म दृढ़ या स्थिर होते हैं तथा कुछ शिथिलमूलक या उत्पातसंज्ञक। जैसा कि वृद्धयवन में कहा गया है-

यद्यद्विधानं नियतं प्रजानां ग्रहर्क्षयोगप्रभवं प्रसूतौ।
भाग्यानि तानीत्यभिशब्दयन्ति वार्ता नियोगेति दशा नराणाम्।।
तदर्थविज्ञैर्द्विविधं निरुक्तं स्थिराख्यमौत्पात्तिकसंज्ञकं च।
कालक्रमाज्जातकनिश्चितं यत् कर्मोपसर्पिस्थिरमुच्यते तत्।।
सप्तग्रहाणां प्रथितानि यानि स्थानानि जन्मप्रभवानि सद्भिः।
तेभ्यः फलं चारग्रहाः क्रमस्था दद्युर्यदौत्पातिकसंचितं तत्।।'[1]

अतः जहाँ पर जन्मपत्रिकादि से दशाफलकालक्रमद्वारा रोगसम्भावना या अरिष्ट सम्भावना है, अथवा जब सन्तान, विद्या, धनादि का अभाव होने के कारण प्रगट होता है वहाँ ग्रहशान्ति, मणिधारण, मंत्रजाप, दान, औषधिधारण आदि उपचारों से प्रतिबन्धक योगों को शिथिल करने का प्रयास किया जा सकता है। जिस प्रकार दृढ़मूलवृक्ष भी प्रबल झंझावात से हिलकर जीर्ण या कमजोर हो जाता है उसी प्रकार दृढ़कर्मों का अशुभ फल भी कम तो अवश्य किया जा सकता है। इसीलिए सूक्ति है- 'हन्यते दुर्बलं दैवं पौरुषेण विपश्चिता'।[2] शुभाशुभफलप्रद भाग्य कब फलीभूत होगा? आपना पूर्ण फल देगा अथवा कुछ कम? इत्यादि

---

१. वृद्धयवनजातक, संग्रहाध्याय १-३
२. होरारत्न, ११-१२

का ज्ञान भी होराशास्त्र से ही सम्भावित है। यह शास्त्र शुभाशुभफलविपाक को जन्मकुण्डलजी के लग्नादिद्वादशभावों में स्थित स्वोच्च मूल, त्रिकोण, स्वगृह, मित्रगृहादि शुभस्थानों अथवा शत्रुगृह, नीचगृह, अस्तादि अशुभ स्थानों या स्थितियों में स्थित नवग्रहो के परस्पर शुभाशुभ सम्बन्धों के आधार पर दशान्तर्दशादि के माध्यम से दिन, पक्ष, मास, वर्षादि के रूप में सूचित करता है। इसके आधार पर शुभाशुभफलविपाक समय में मनुष्य यथासम्भव जागरूक होकर मणि, मंत्र, औषधि आदि उपायों से अशुभफल को न्यून तथा शुभ ग्रह के बल में वृद्धि करके सत्फल प्राप्त कर सकता है। इसीलिए कल्याणवर्मा का दैवज्ञों के लिए निर्देश है कि-

विधात्रा लिखिता यस्य ललाटेऽक्षरमालिका।
दैवज्ञास्तां पठेत् प्राज्ञः होरानिर्मलचक्षुषा।।[1]

होराशास्त्र के ज्ञान से मनुष्य भावी सुख-दुःखादि का ज्ञान कर अपने पौरुष से उसे अनकूल बना सकता है। यह शास्त्र मनोवैज्ञानिक रूप से उसे दुःखादि अशुभ परिस्थितियों को झेलने में सम्बल प्रदान करता है। इस प्रकार प्राणीमात्र पर पड़ने वाले शुभाशुभ प्रभाव का अध्ययन कर फलकथन करना एवं मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन कर उसे समुचित मार्गदर्शन देना ही होराशास्त्र की लोकोपयोगिता सिद्ध करता है। यह शास्त्र रोग के साध्यासाध्यत्वादि का निर्णय करके एवं उसके सम्भावित काल का अनुमान प्रस्तुत कर आयुर्वेद की महान सहायता करता है। इसी प्रकार जातक की अभिरुचि, दक्षता, स्वभावादि का विश्लेषण करके उसे भावी जीवन में अपने कार्यक्षेत्र का चुनाव करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। अतः जातकशास्त्र की लोकोपयोगिता को द्योतित करते हुए आचार्य कल्याणवर्मा का कथन है-

अर्थार्जने सहायः पुरुषाणामापदर्णवे पोतः।
यात्रासमये मन्त्री जातकमपहाय नास्त्यपरः।।[2]

भारतीय वैदिक दर्शन में 'कर्मवाद' का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसके अनुसार संसार में प्राणी अनवरत कर्म में ही निरत रहता है। वह चाह कर भी इससे अलग नहीं हो सकता है। कर्म करने पर उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। आत्मा अजर एवं अमर है परन्तु कर्मबन्धन के फलस्वरूप उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कर्मबन्धन से मुक्ति केवल तभी मिल सकती है जब मनुष्य को आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान हो जाता है। प्राणी के

---

१. सारावली २/१
२. सारावली होराशब्दनिरूपणाध्याय ५

शुभाशुभकर्मों का फल उसे वर्तमान जीवन में कब, कहाँ और किस रूप में प्राप्त होगा, इत्यादि समस्त जिज्ञासाओं का उत्तर जानने का एकमात्र उपकरण होराशास्त्र है। इसका मुख्यकार्य ग्रहनक्षत्रों की गतिस्थित्यनुसार कुण्डली निर्माण कर जातक के जीवन में आने वाले सुख दुःखदि का अनुमान कर उसे अपने कर्तव्यों द्वारा अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रेरित करना है।

यही प्रेरणा मानव के लिए दुःखविघातक एवं पुरुषार्थसाधक होती है।

●●●

सिद्धान्तज्योतिष

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय

सिद्धान्तज्योतिष को परिभाषित करते हुये आचार्य भास्कर ने लिखा है कि जहाँ त्रुटि (काल की लघुतम इकाई) से लेकर प्रलयान्त काल तक की काल गणना की गई हो, कालमानों के सौर-सावन-नाक्षत्र आदि भेदों का निरूपण किया गया हो, ग्रहों की मार्ग-वक्र-शीघ्र-मन्द आदि गतियो का निरूपण हो, अंक (पाटी) गणित, एवं बीजगणित दोनों गणित विधाओं का विवेचन किया गया हो, उत्तर सहित प्रश्नों का विवेचन हो, पृथ्वी की स्थिति, स्वरूप एवं गति का निरूपण हो, ग्रहों की कक्षा क्रम एवं वेधोपयोगी यन्त्रों का जहाँ वर्णन किया गया हो उसे सिद्धान्त ज्योतिष कहा गया है।[1]

इस परिभाषा से ही व्यक्त होता रहा है कि सिद्धान्त का क्षेत्र कितना विस्तृत तथा प्रामाणिक है। यहाँ जो भी नियम या सिद्धान्त ग्रह गणना के लिए बनाये जाते है वे गणित और वेध द्वारा परीक्षण के बाद ही प्रकाश में लाये जाते हैं। आज की प्रमुख विडम्बना है कि ग्रन्थों का अध्ययन तो हो रहा है, किन्तु प्रयोग पक्ष (वेध) पूर्णतः उपेक्षित हो गया है। परिणामतः सिद्धान्तज्योतिष में क़ई शतकों से परिष्कार अवरुद्ध है। भारत का यह एक विशिष्ट विज्ञान स्थूल होता जा रहा है।

सिद्धान्त के क्षेत्र में सर्व प्रथम ब्राह्म-वसिष्ठ-रोमक-पौलिश तथा सूर्य इन पाँच सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है, जिनका संकलन आचार्य वराहमिहिर ने ४२७ शक के आसन्न किया था। इनके अतिरिक्त मौलिक रचना के रूप में प्रथम की आर्यभटीयम् लगभग ४२१ शक में आयी। इस लघुकाय ग्रन्थ के आने से सिद्धान्त के क्षेत्र में एक नई दृष्टि का संचार हुआ। आर्यभट ने परम्परा से हटकर युग एवं मनु के मानों में परिवर्तन किया। ७१ महायुग के स्थान पर ७२ महायुगों का एक मन्वन्तर माना। इसी प्रकार पृथ्वी को स्थिर न मानकर उसे चल बतलाया[2]।

शक ५५० के आसन्न भिन्नमाल निवासी बाह्मसिद्धान्त को आधार माना किन्तु अति प्राचीन होने के कारण ब्राह्मसिद्धान्त को आधार माना किन्तु अति प्राचीन होने के कारण ब्राह्मसिद्धान्त के त्रुटियों को देखते हुये उसे यथावत स्वीकार न करते हुये उन्हें परिष्कृत

---

१. त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना-मानप्रभेदः क्रमा-
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः।। (सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय, श्लो. ६)

२. अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भान्ति तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायाम्।। (आर्यभटीयम्)

किया। प्रायः आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त इन्हीं दोनों आचार्यों की कृतियों को आधार मान कर परवर्त्ती आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की।

सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रायः एक साम्य देखा जाता है। सभी ग्रन्थों में मध्यमाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार तक प्रायः साम्य रहता है। इसके बाद अध्यायों में भिन्नता रहती है। इन अधिकारों के नाम सार्थक हैं तथा विषयानुसार हैं। इसीलिए इन नामों को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया। मध्यमाधिकार में सर्वप्रथम अहर्गण का साधन किया जाता है। सिद्धान्त ग्रन्थों के अहर्गण का साधन कल्पारम्भ से इष्ट दिन तक, तन्त्र ग्रन्थों में युगारम्भ से इष्ट काल तक, तथा करण ग्रन्थों में शकारम्भ से अभीष्ट काल पर्यन्त अहर्गण निकालने का विधान दिया गया है। अहर्गण ज्ञात होने पर अनुपात (त्रैराशिक) से मध्यम ग्रहों का साधन किया जाता है।

अनन्तर स्पष्टाधिकार में मन्दफल-शीघ्रफल दोनों संस्कारों का साधन कर मध्यम ग्रह में संस्कार करने से इष्टकालिक स्पष्ट ग्रह होते हैं।

त्रिप्रश्नाधिकार-इस अधिकार का नाम दिक्-देश और काल सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान के कारण रखा गया है। इस अधिकार में सर्वप्रथम दिक् साधन की विधि बतलाई गई है। अनन्तर अक्षांश, देशान्तर साधन द्वारा किसी स्थान अथवा स्थान विशेष को ज्ञात करने की विधि दी गई है। स्थान का ज्ञान हो जाने पर वहाँ की पलभा ज्ञात कर उस स्थान के क्षितिज पर सभी राशियों के उदयमान का आनयन किया जाता है। उदयमान ज्ञान कर क्षितिजस्थ लग्न का साधन किया जाता है।

लग्न-राशिचक्र के दैनिक भ्रमण काल ६० घटी में (२४ घण्टे) में राशिचक्र का प्रत्येक भाग स्थानीय क्षितिज को स्पर्श करता है। जिस समय क्षितिज पर जिस राशि के भाग का स्पर्श होगा उसके काल की वही लग्न होगी।

पलभा-सायन मेष संक्राति के समय समतल धरातल पर द्वादश अंगुल शंकु की छाया अंगुलात्मक मान में स्थानीय पलभा होती है।

अक्षांश-स्थानीय क्षितिज से ध्रुवतारा की उन्नति कोणीय मान से अक्षांश तुल्य होती है। यह दूरी दोनों ध्रुवों एवं खमध्य में जाने वाली याम्योत्तर वृत्त में मापी जाती है। यह दक्षिणोत्तर अन्तर को व्यक्त करता है।

देशान्तर-दो स्थानों के पूर्वापर अन्तर को देशान्तर कहा जाता है। इसका मापन रेखादेश से किया जाता है। प्राचीन काल में रेखादेश लंका, उज्जैन, कुरुक्षेत्र आदि देशों से होता हुआ उत्तर में ध्रुव प्रदेश तक जाता था।

नाड़ी वृत्त-ध्रुव स्थान से ९०° अंश पर स्थित वृत्त (आकाश के मध्य में पूर्व से पश्चिम जाने वाला वृत्त) नाड़ी वृत्त होता है। इसे काल वृत्त भी कहते है। इसी में काल गणना की जाती है।

कदम्ब-ध्रुव स्थान से स्थूल मान से २४° अंश की दूरी पर ध्रुव के चतुर्दिक भ्रमण करने वाला वृत्त कदम्ब वृत्त कहलाता है।

क्रान्ति वृत्त-कदम्ब स्थान से ९०° अंश की दूरी पर क्रान्ति वृत्त होता है। यह कदम्ब के अनुसार २४ अंश तक उत्तर से दक्षिण तक चलता है। इसे राशि वृत्त भी कहते है। यह सूर्च के भ्रमण का पथ भी है।

ग्रह कक्षा-भारतीय ज्योतिष में ग्रह कक्षा भूकेन्द्रिक बतलायी गई है। पृथ्वी के ऊपर चन्द्र-बुध-शुक्र-सूर्य-मंगल-गुरु तथा शनि की ऊर्ध्व-ऊर्ध्व क्रम से कक्षायें है। सभी ग्रह अपनी-अपनी कक्षा में समान गति से समान योजन चलते हैं। जिनकी कक्षा का प्रमाण छोटा है वह शीघ्र ही अपनी कक्षा में भ्रमण पूर्ण कर लेते हैं तथा जिनकी कक्षा बृहद् है उनके भ्रमण काल में अधिक समय लगता है। इसलिए समान गति होने पर सभी ग्रह समान काल में भगण पूर्ति नहीं कर पाते। ग्रहों की कोणीय मान से गति भिन्न-भिन्न होती है। उसी को मध्यमगति के रूप में ग्रहण किया गया है।

चन्द्र ग्रहण-चन्द्र ग्रहण पूर्णिमा को सम्भव होता है। भूमि की छाया में प्रवष्टि होने से चन्द्रविम्ब अदृश्य हो जाता है। उसे ग्रहण कहते है। यह ग्रहण दो प्रकार का होता है-खण्ड ग्रहण, तथा खग्रास (पूर्णग्रहण)।

सूर्य ग्रहण-अमावस्या को चन्द्र और सूर्य एक ही राशि पर होते है। अतः भूवासियों के लिए चन्द्रमा सूर्य विम्ब के लिए अवरोधक हो जाता है।[1] इसलिए सूर्य विम्ब का कुछ भाग कुछ स्थानों से दृश्य नहीं होता। किन्तु वही भाग दूसरे स्थान से दीख सकता है। सूर्य ग्रहण तीन प्रकार का होता है-खण्ड ग्रहण, कंकण तथा खग्रास ग्रहण।

पृथ्वी का ग्रहण[2]-पृथ्वी का ग्रहण-अमावस्या को होता है। चन्द्रपिण्ड की छाया पृथ्वी पर पड़ती है। यह दृश्य किसी अन्य पिण्ड से देखने पर दिखलाई पड़ता है। जितना भाग छाया से आच्छादित होता है, पृथ्वी के उतने भाग का ग्रहण होता है।

इन सब विषयों का विस्तृत विवेचन तथा इनके साधन की प्रक्रिया सिद्धान्त, तन्त्र एवं करण ग्रन्थों में दिखलाई गई है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर भारत में प्रचलित पच्चांगों का निर्माण होता है। इनके अतिरिक्त चन्द्रश्रृगोंन्नति, ग्रहयुति एवं ग्रहों के उदयास्तादि का भी साधन किया जाता है।

---

१. छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभा छादकच्छाद्यमानैक्यखण्डं कुरु।
तच्छरोनं भवेच्छन्नमेतद्यदा ग्राह्यहीनावशिष्टं तु खछन्नकम्।। (ग्रहलाघवम्, चन्द्रग्रहणाधिकार, श्लो.५)
अपि च-छादको भास्करस्येन्दुरधस्ताद् घनवाद् भवेत्।
भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ।। (सूर्यसिद्धान्त, चन्द्रग्रहणाधिकार, श्लो. ९)

२. किंचेन्दुविम्बस्य रविग्रहे या छाया पृथिव्यां पतितास्ति दृष्टा।
ततसम्मुखेन्दुस्थितदृग्वशाच्च बुधैः प्रकल्प्यं ग्रहणं पृथिव्याः।। (सि.त.वि., सू.ग्र. २,३)

सिद्धान्त ज्योतिष में जिन आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान है उनका तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

आचार्य	समय	प्रमुख कृति
आर्यभट	शक ३६८	१. आर्यभटीयम्
वराहमिहिर	शक ४०७	१. पंचसिद्धान्तिका २. बृहत्संहिता ३. बृहज्जातक ४. योगयात्रा ५. लघुजातक
ब्रह्मगुप्त	शक ५२०	१. ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त
लल्ल	शक ५६०	१. धीवृद्धिद तन्त्र
मुजांल	शक ८५४	१. लघुमानस
भास्कराचार्य	शक १०३६	१. सिद्धान्त शिरोमणि (लीलावती + बीजगणित, गणिताध्याय + गोलाध्याय) २. करण कुतूहल
केशव	शक १४१८	१. ग्रहकौतुक
गणेश	शक १४२०	१. ग्रहलाघव २. बृहच्चिन्तामणि ३. लघुचिन्तामणि
मुनीश्वर	शक १५२५	१. सिद्धान्त सार्वभौम

कमलाकर	शक १५३०	१. सिद्धान्त तत्त्व विवेक
जयसिंह	शक १६१५	१. वेधशालाओं का निर्माण
वापूदेव शास्त्री (नृसिंह)	शक १७४३	१. रेखागणित २. त्रिकोणमिति
वेंकटेश वाबू केतकर	शक १७७५	१. केतकीग्रहगणितम्
सुधाकर द्विवेदी	शक १७८२	१. दीर्घवृत्तलक्षणम् २. भाभ्रमरेखानिरूपणम् ३. प्रतिभाबोधकम् ४. वास्तवचन्द्रश्रृङ्गोन्नति ५. विचित्रप्रश्नसभङ्गः ६. द्युचरचार ७. गोलीय रेखागणित ८. गणकतरंगिणी।

●●●

लेखक

१. **प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी**
श्री लाल बहादुर शा.रा.सं.
विद्यापीठ, ज्योतिष विभाग
नई दिल्ली-१६

२. **स्व. चौधरी श्री नारायण सिंह**
संस्थापक-राष्ट्रभाषा विद्यालय,
रामनगर-वाराणसी

३. **प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी**
श्री बिहारी लाल शर्मा
प्रवक्ता ज्योतिष विभाग-श्री लाल
बहादुर

४. **डा. सच्चिदानन्द मिश्र**
अध्यक्ष, ज्योतिष विभाग,
काशी हिन्दू वि.वि.,
वाराणसी

५. **डा. पी.वी.वी. सुब्रहमण्यम्**
असि. प्रो., ज्योतिष विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
भोपाल

६. **प्रो. मोहन गुप्त**
कुलपति
महर्षि पाणिनी सं. एवं वैदिक
विश्वविद्यालय,
उज्जैन

७. **डा. रविशंकर भार्गव**
वरिष्ठ सहायक सम्पादक
बापू दे शास्त्री पंचाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

८. **डा. विनय कुमार पाण्डेय**
प्रवक्ता-ज्योतिष विभाग
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय
वाराणसी

९. **डा. गिरिजा शंकर शास्त्री**
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
ईश्वर शरण डिग्री कालेज
इलाहाबाद विश्व विद्यालय,
इलाहाबाद

१०. डा. शत्रुघ्न त्रिपाठी
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान
श्री रणवीर परिसर, शास्त्री नगर
जम्मू

११. डा. विनोद राव पाठक
व्याख्याता, रणवीर संस्कृत
महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्व
विद्यालय वाराणसी

१२. प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय
पूर्व अध्यक्ष, ज्योतिष विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
३८, मानस नगर दुर्गाकुण्ड
वाराणसी

१३. प्रो. सर्व नारायण झा
प्राचार्य,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान
गंगानाथ झा परिसर,
इलाहाबाद

१४. डा. अशोक थपलियाल
असि. प्रो. (ज्योतिष)
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
भोपाल

१५. श्री बिहारी लाल शर्मा
प्रवक्ता, ज्योतिष विभाग
श्रीलाल बहादुर शा. रा.सं.
विद्यापीठ, दिल्ली

सम्पादक

प्रो.रामचन्द्रपाण्डेय

संक्षिप्त परिचय :

जन्म– ०३ जुलाई १९४१ ई०

उच्च शिक्षा–
१९६५ में वा.संस्कृतविश्वविद्यालय,
वाराणसी से सिद्धान्त ज्योतिष में दो स्वर्णपदक प्राप्त तथा १९७१ ई. में फलित ज्योतिष से प्रथम श्रेणी में आचार्य। १९६९ ई. में सं.सं.वि.वि. वाराणसी से सिद्धान्त ज्योतिष में विद्यावारिधि (पी.एच.डी.)। शोधप्रबन्ध प्रकाशित।

सेवा कार्य–
केन्द्रियसंस्कृतविद्यापीठ, जम्मू (राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, नई दिल्ली) के ज्योतिष विभाग में **व्याख्याता**, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ज्योतिष विभाग में **रीडर, प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष तथा संकायप्रमुख।**

कृतियाँ सम्पादन–
विश्वपंचांग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,काशिका ट्रिनीडाड पंचांग **के प्रधान सम्पादक,** नैसर्गिकी अर्धवार्षिक पत्रिका का **सम्पादन** ,१४ पुस्तक व ६० लेख प्रकाशित, वामनपुराण, कूर्म पुराण का संयुक्त प्रकाशन।

सम्मान– पुरस्कार
राष्ट्रपति सम्मान– संस्कृत, महामहिम राष्ट्रपति द्वारा। दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा वर्ष २०११ में भास्कराचार्य सम्मान; २०११ में महामहिम राष्ट्रपति द्वारा ब्रह्मर्षि सम्मान; २००७ में आर्यभट सम्मान-राजभवन, जयपुर, अ.भा.प्रा.ज्यो.संस्थान, जयपुर। २००६ में उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान का विशिष्ट सम्मान; वेद-ज्योतिष अनुसन्धान संस्थान, मोदीनगर, मेरठ से कणाद सम्मान

अन्यकार्य–
५५ राष्ट्रिय, १२ अन्ताराष्ट्रिय **संगोष्ठियों में** अध्यक्ष, मुख्यवक्ता, वक्ता के रुप में **प्रतिभागिता** ६ संगोष्ठियों का आयोजन, ३० छात्रों का शोधनिर्देशन– २५ शोध उपाधि प्राप्त। नैसर्गिक शोध संस्था की स्थापना। ज्योतिष प्रयोगशाला एवं लघु तारामण्डप की स्थापना। प्रायोगिक ज्योतिष शिक्षण का प्रारम्भ, जम्मू, वाराणसी, जयपुर।

सम्मानित पद–
पीठाध्यक्ष– सवाई जयसिंह ज्योतर्विज्ञान पीठ, ज.रा.राजस्थान संस्कृतविद्यालय, जयपुर, २००६-२००९
अध्यक्ष– सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थान, वाराणसी।
सचिव/प्रबन्धक– नैसर्गिक शोध संस्था, वाराणसी।
अध्यक्ष– भारतीय वैज्ञानिकों की विश्वस्तरीय मान्यता प्रतिष्ठापन समिति।

"संस्कृत वाङ्मय का बृहद इतिहास" के षोडश खण्ड ज्योतिष में त्रिस्कन्ध ज्योतिष के साथ–साथ वेद, वेदांग से लेकर ज्योतिष के आधुनिक आचार्यों तक का क्रमबद्ध इतिहास परक विकास प्रस्तुत किया गया है।

इस खण्ड के तेईस अध्यायों में लेखकों ने भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता, अरबी और भारतीय ज्योतिष, स्वरविद्या, वास्तुविद्या, सामुद्रिक शास्त्र सहित भारतीय ज्योतिष में जैन परम्परा आदि विषयों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है।

प्रथम अध्याय में वेदांग ज्योतिष, द्वितीय अध्याय में वेद वेदांग एवं पुराणों में ज्योतिष, तृतीय अध्याय में भुवनकोश का निरुपण हुआ है। चतुर्थ एवं पंचम अध्यायों में क्रमशः स्वर विद्या तथा वास्तुविद्या का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। षष्ठ से एकादश अध्यायों में काल विज्ञान का क्रमिक वर्णन, ग्रहण, चन्द्र सूर्य पृथ्वी, भारतीय पंचांग, वराहमिहिर और पंचसिद्धान्तिका, दृग्गणित, वेध एवं वेधशालाओं की परम्परा पर चिन्तन किया गया है। द्वादश अध्याय में अरबी एवं भारतीय ज्योतिष पर विद्वान् लेखक ने मंथन किया है। त्रयोदश से पंचदश अध्यायों में आचार्य नीलकण्ठ और ज्ञानराज, म०म० बापूदेव शास्त्री तथा म०म० सुधाकर द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित कराया गया है। षोडश से अंतिम तेंइसवें अध्याय तक में क्रमशः संहितास्कन्ध, सामुद्रिक शास्त्र का स्वरुप परम्परा एवं इतिहास, आर्यभट्ट प्रथम, भारतीय ज्योतिष में जैन परम्परा, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य द्वितीय, होरा स्कन्ध विमर्श तथा सिद्धान्त ज्योतिष को स्थान दिया गया है।

सम्पादक प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय और प्रधान सम्पादक प्रो. श्रीनिवास रथ की भूमिका, नैवेद्यम् एवं अस्मदीयम् से अलंकृत यह ज्योतिष खण्ड भारतीय विज्ञान विशेषकर ज्योतिष शास्त्र में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं और शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।